भूमिका

(प्रथम संस्करण)

वेद के स्वरूप, महत्त्व तथा सिद्धान्त से परिचय प्राप्त करना प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का, प्रधानतः प्रत्येक भारतीय का, नितान्त आवश्यक कर्तव्य है। वेद हमारी संस्कृति के मूल स्रोत हैं, हमारी सभ्यता को उच्चकोटि तक पहुँचानेवाले ग्रन्थ-रत्न हैं, जिनकी विमल प्रभा देश तथा काल के दुर्भेद्य आवरण को छिन्न-भिन्न कर आज भी विश्व के अध्यात्मपारखी जौहरियों की आँखों को चकाचौंध बनाती है। जो लोग वेद के भीतर संसार की समस्त भौतिक तथा ऐहिक विद्याओं, कलाओं और आविष्कारों को ढूँढ़ निकालने का अश्रान्त परिश्रम करते हैं, वे नहीं जानते कि वेद तथा ज्ञान में अन्तर है। विद् धातु तथा ज्ञा धातु में सामान्यतः ऐक्य होने पर भी मूलतः पार्थक्य है। भौतिक विद्याओं की जानकारी का नाम है ज्ञान तथा अध्यात्म-शास्त्र के तथ्यों की अवगति का अभिधान है वेद। एक का लक्ष्य बाह्य विषयों के विश्लेषण की ओर रहता है, तो दूसरे का लक्ष्य आन्तर विषयों के विश्लेषण की ओर रहता है। यह पार्थक्य संस्कृत से सम्बद्ध अनेक यूरोपीय भाषाओं के शब्दों के अनुशीलन से भी स्पष्टतः जाना जा सकता है। जर्मन भाषा में दो सम्बद्ध धातु हैं—केनेन तथा वाइसेन। अंग्रेजी में दो सम्बद्ध शब्द हैं—नालेज तथा विजडम। इनमें केनेन तथा नो का साक्षात् सम्बन्ध है संस्कृत के ज्ञा धातु से और वाइसेन तथा विजडम का सम्बन्ध है विद् धातु से[1]। फलतः इन विदेशी शब्दों के भी अर्थों में वही भेद है, जो संस्कृत के ज्ञान तथा वेद शब्दों के अर्थ में है। इसीलिए हमारी दृष्टि में वेद का मौलिक तात्पर्य अध्यात्म-शास्त्र की समस्याओं का हल करना है। सायण के अनुसार वेद का वेदत्व प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा अगम्य उपाय के बोधन में है—

विश्व के आद्य ग्रन्थ, भारतीय धर्म के कमनीय कल्पद्रुम, आर्यसंस्कृति के प्राण-दाता वेद के रूप तथा रहस्य, स्वरूप तथा सिद्धान्त का ज्ञान भारतीय संस्कृति के

---

1. Kennen; Weisen, Knowledge Wisdom.

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥

उपासक के लिये नितान्त आवश्यक है, परन्तु दुःख की बात है कि वेदों के गाढ़ अनुशीलन की बात तो दूर रहे, उनके साथ हमारा सामान्य परिचय भी नहीं है। वेदों के परिचायक ग्रन्थों की नितान्त आवश्यकता बनी है।

वेद हमारे वैदिक धर्म के मूलग्रन्थ हैं। भारत के वर्तमान धर्म, धार्मिक विकास तथा दर्शन के नाना सम्प्रदायों के यथार्थ ज्ञान के लिए वेद का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। साधारण शिक्षित जनों की तो कथा ही न्यारी है, जब हमारे संस्कृत की शिक्षा-दीक्षा से मण्डित पण्डित-जन भी वेद से बहुत ही कम परिचय रखते हैं। सच तो यह है कि हमने पुराण तथा दर्शन की ओर अधिक ध्यान देकर वेदों के प्रति बड़ी उदासीनता दिखलाई है। हम लोगों ने उस अमूल्य निधि को सन्दूक के अन्दर बन्द कर रखा है। न आप उससे लाभ उठाते हैं न दूसरों को लाभ उठाने का अवसर देते हैं। इसलिए आज वेद के प्रति हमारा अज्ञान पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है; वेद की हमारी अवहेलना अंतिम कोटि को स्पर्श कर रही है। इस अज्ञान को दूर करने के लिए मेरा यह एक लघु प्रयास है।

वेद के प्रति प्राचीन भारतीय समीक्षकों की विचारधारा एक छोर पर है, तो नव्य पाश्चात्य आलोचकों की दूसरी छोर पर। इस ग्रन्थ में इन दोनों छोरों को मिलाने का यथाशक्ति उद्योग किया गया है। दोनों प्रकार की समीक्षाओं तथा मन्तव्यों का निर्देश उचित स्थान पर किया गया है। ग्रन्थ में तीन खण्ड हैं। प्रवेशखण्ड में वेद से सम्बद्ध रखने वाले प्रारम्भिक विषयों का—जैसे वेद का महत्त्व, स्वरूप, वेदानुशीलन की पद्धति, वेद का आविर्भावकाल—विवरण प्रस्तुत किया गया है। इतिहास-खण्ड में वेद तथा वेदाङ्ग का क्रमबद्ध इतिहास है। यह खण्ड ग्रन्थ का मेरुदण्ड है। मैंने वेद के नाना ग्रन्थों के विषय-विवेचन की ओर विशेष लक्ष्य रखा है, जिससे पाठकों के सामने वेद के अन्तरङ्ग का यथासाध्य पूर्ण चित्र प्रस्तुत हो। संस्कृति-खण्ड में वैदिक संस्कृति के मान्य सिद्धान्त संक्षेप में उपस्थित किये गये हैं। इस प्रकार वेद के साहित्य का इतिहास और तत्कालीन संस्कृति का विवरण एक ही ग्रन्थ में संक्षेप में निबद्ध करने का यह प्रयास उभयदृष्टि वाले पाठकों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा—ऐसी मेरी पूरी धारणा है।

लेखक वेद की गम्भीरता तथा रहस्यवादिता में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला एक आस्तिक जन है। फलतः वेद की नवीन दृष्टि से ऐतिहासिक मीमांसा करने पर

(•)

भी वह उसे अध्यात्मशास्त्र का एक द्युतिमान् निधि मानता है जिसका मूल्य वर्तमानयुग के लिए भी अत्यन्त अधिक है। स्थानाभाव से वैदिक मन्त्रों के रहस्यों का उद्घाटन नहीं हुआ है, परन्तु स्थान-स्थान पर उनके भीतर वर्तमान गम्भीर सिद्धान्तों की ओर संकेत अवश्यमेव कर दिया गया है। यह ग्रन्थ आचार्य तथा एम० ए० परीक्षा के छात्रों की आवश्यकताओं को भी दृष्टि में रखकर लिखा गया है। इसलिए नवीन तथ्यों के विवरण देने की अपेक्षा परिनिष्ठित सिद्धान्तों का ही विवेचन अधिक है। परिशिष्ट में वैदिक व्याकरण और स्वरप्रक्रिया के नियमों का संक्षिप्त परिचय छात्रों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

मकर संक्रान्ति,
सं० २०११, १-१४-५५ } बलदेव उपाध्याय

(२)

ग्रन्थ का नवीन परिवर्धित संस्करण पाठकों के सामने रखते हुये मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। इस ग्रन्थ का आमूल संस्कार किया गया है जिससे सामान्य जिज्ञासुजनों का तथा उच्चकक्षा के विद्यार्थियों का विशेष कल्याण होगा; ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। परिवर्धित स्थलों का निर्देश इस प्रकार है :—

(१) 'वेद के भाष्यकार' शीर्षक नवीन परिच्छेद में ज्ञात महत्त्वशाली भाष्यकारों का विवरण प्रस्तुत किया गया है जिनकी तुलना में सायणाचार्य के कार्य तथा महत्त्व का आलोक पूर्णतया स्फुटित होता है। (२) ऋग्वेदीय दशम मण्डल के तुलनात्मक काल का परिचय विशेषतः दिया गया है। (३) अथर्ववेद के स्वरूप तथा आविर्भाव का विवरण पहिली बार यहाँ किया गया है। (४) शतपथ के विषय का विस्तृत विवरण देने के अनन्तर वेद के साहित्यिक वैशिष्ट्य का यहाँ सोदाहरण परिचय दिया गया है। 'वैदिक आख्यान' का रोचक वर्णन तुलनात्मक दृष्टि से पहिली बार इस संस्करण में किया गया है। इसी प्रकार के अन्य परिवर्धन स्थान-स्थान पर किये गये हैं। (६) सिन्धुसभ्यता का संक्षिप्त परिचय वैदिक सभ्यता के विस्तार को समझाने के लिये परिशिष्ट रूप में किया गया है। (७) वैदिक व्याकरण वाले परिशिष्ट में वैदिक स्वर का सोदाहरण वर्णन इस संस्करण की विशिष्टता है। (८) वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणों की भाषा में भी पर्याप्त पार्थक्य है। इस भाषाशास्त्रीय विषय का सूक्ष्म विश्लेषण कर वैदिक भाषा के विकास का पूर्ण निर्देश इस ग्रन्थ के अन्तिम

परिशिष्ट में किया गया है। इस प्रकार यह संस्करण प्रथम संस्करण की तुलना में विषय की विस्तृत विवेचना में, भाषाशास्त्रीय नवीन विषयों के विश्लेषण में तथा साहित्यिक वैशिष्ट्य के सन्निवेश में कहीं अधिक पूर्ण तथा परिमार्जित है। विश्वास है कि इस संशोधन तथा परिमार्जन से छात्रों का विशेष लाभ होगा।

मैं उन सज्जनों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनका सहयोग ग्रन्थ को उपयोगी बनाने में विशेष लाभदायक सिद्ध हुआ है। गुरुवर महामहोपाध्य श्री गोपीनाथ कविराज जी का मैं विशेष अभार मानता हूँ जिनके लेखों और मौलिक व्याख्यानों से मुझे विषय के समझने में नई दृष्टि प्राप्त हुई है। वैदि व्याकरण सम्बन्धी परिशिष्ट प्रस्तुत करने का श्रेय मेरे सुयोग्य सहयोगी पण्डित कान्तानाथ शास्त्रीय तैलंग एम० ए० को है जिन्होंने पाण्डित्य तथा परिश्रम से इसे तैयार करने में सहायता दी है। ग्रन्थ के लिखने में और प्रूफ देखने में मेरे ज्येष्ठ पुत्र—गौरीशंकर उपाध्याय एम० ए०, बी० टी०—ने मेरी विशेष सहायता की है।

अन्त में भगवान् काशीपति विश्वनाथ से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि उन्हीं की अनुकम्पा तथा प्रसाद से उपार्जित ज्ञानकणिका का यह परिणत फल अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफलता लाभ करे तथा वेद के अनुपम उपदेशों और गम्भीर सिद्धान्तों की ओर राष्ट्रभाषा के माध्यम द्वारा जिज्ञासुजनों का ध्यान आकृष्ट करे।

इदं न ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः।

शारदी पूर्णिमा,
सं० २०१५, २७-१०-५८

बलदेव उपाध्याय

परिवर्धित संस्करण

(३)

हर्ष का विषय है कि यह लोकप्रिय ग्रन्थ अपने नवीन परिवर्धित संस्करण में प्रकाशित हो रहा है। बहुत दिनों से यह ग्रन्थ अलभ्य था और विद्वानों को इसकी अप्राप्ति से विशेष क्लेश था। अब विश्वनाथ की अनुकम्पा से यह ग्रन्थ इस परिबृंहित संस्करण में सुलभ हो रहा है। इस बार भी इसमें अनेक स्थलों पर नवीन विषयों का समावेश किया गया है। परिवर्धन के स्थल इस प्रकार हैं—

(१) वेदों के आध्यात्मिक रहस्यों के उद्घाटन के निमित्त अनेक विद्वान् जागरूक हैं। इनमें अरविन्द का मत विशेष महत्त्व रखता है। पृष्ठ २१-२७ पर इनके मत का विशेष विवरण उपन्यस्त किया गया है। (२) वेदों तथा अवेस्ता में गाथा का माहात्म्य अधिक है। इसलिये पृष्ठ २४६ पर गाथा के विषय में तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। (३) शुल्ब-सूत्र से ही भारतीय रेखागणित का आरम्भ होता है। इन सूत्रों में यज्ञीय वेदी के निर्माण का विषय विस्तार के साथ दिया गया है। इसलिये इन शुल्ब-सूत्रों का विस्तृत विवरण परिशिष्ट के रूप में पृथक् रूप से दिया गया गया है। (४) सामवेदीय ब्राह्मणों के सुन्दर वैज्ञानिक संस्करण इधर प्रकाशित हुए हैं। फलतः इनका विशिष्ट विवरण प्रस्तुत कर विषय को साङ्गोपाङ्ग बनाने की चेष्टा की गई है। (५) अनुक्रमणी का निर्माण सर्वथा नवीन है। अनुक्रमणी के कई विभाग किये गये हैं। ग्रन्थ, ग्रन्थकार, भौगोलिक स्थान आदि के अतिरिक्त विशिष्ट शब्दों की अनुक्रमणी दी गई है। विशिष्ट शब्दों से तात्पर्य उन शब्दों से है जो वैदिक काल तथा साहित्य के पारिभाषिक पदों की कोटि में आते हैं। ग्रन्थ में वे स्थान निर्दिष्ट कर दिये गए हैं जहाँ इनकी व्याख्या की गई है और लक्षण दिये गये हैं। वैदिक समाज से सम्बद्ध शब्दों की भी संख्या कम नहीं है। इनका भी यहाँ उल्लेख किया गया है। इन विशिष्ट शब्दों का अनुशीलन वैदिक भाषा की जानकारी के लिये भी नितान्त आवश्यक है। (६) ग्रन्थ-सूची विस्तार से प्रथम बार अब प्रस्तुत की गई है। वेद के मूल ग्रन्थों की संख्या उतनी अधिक नहीं है, परन्तु उनकी व्याख्या, समीक्षा, भाषा, धर्म, देवता, समाज, दर्शन, आदि के विषय में यूरोपीय तथा भारतीय विद्वानों ने एक विपुल ग्रन्थ-

राशि का ही निर्माण किया है। शोध पत्रिकाओं में भी प्रति वर्ष एतद्विषयक गम्भीर निबन्ध प्रकाशित होते रहते हैं। इस अनुक्रमणी में केवल प्रख्यात ग्रन्थों का ही उल्लेख किया गया है। इस विषय में दो विद्वानों ने बड़ा ही व्यापक तथा प्रामाणिक ग्रन्थ प्रस्तुत किया है— (क) फ्रेंच विद्वान् डा० रेनो का 'बिब्लिओ थीक वेदीक' आरम्भ से लेकर १९३० तक प्रकाशित वैदिक ग्रन्थों की सूची देता है। (ख) भारतीय विद्वान् डा० दाण्डेकर ने 'वेदिक बिब्लियोग्राफी' के दो भाग प्रकाशित किये हैं। प्रथम भाग में १९३० सन्—१९४५ सन् तक पन्द्रह वर्षों में प्रकाशित वैदिक ग्रन्थों का विषय-क्रम से निर्देश है तथा द्वितीय भाग में १९४५—१९६० तक के प्रकाशित ग्रन्थों, निबन्धों, लेखों तथा समीक्षणों का विपुल विस्तृत निर्देश है। जिज्ञासुजनों को इन उपादेय ग्रन्थों का उपयोग नितान्त अपेक्षित है। मैंने स्थानाभाव के कारण लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों के ग्रन्थों का संक्षिप्त उल्लेख करना यहाँ उचित समझा है। मुझे पूरा विश्वास है कि इन अनुक्रमणियों से इस ग्रन्थ का महत्त्व पहिले से अधिक बढ़ गया है और वह वेद-तत्त्व के जिज्ञासु विद्वानों तथा छात्रों के लिये अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

इस संस्करण के तैयार करने तथा प्रूफ संशोधन में मेरे छात्र पण्डित परमेश्वर पाण्डेय (साहित्याचार्य तथा पालिभाषाचार्य) ने मुझे विशेष सहायता दी है। इसके लिये वे मेरे आशीर्वाद तथा धन्यवाद के भाजन हैं। भगवान् भूतभावन की कृपा से यह ग्रन्थ वेद के महनीय तत्त्वों का आलोक सर्वत्र प्रसारित करता रहे जिससे एतद्विषयक अज्ञानान्धकार-ध्वस्त होकर ज्ञान-सूर्य का सार्वभौम प्रकाश हो। तथास्तु—

अस्मभ्यं तद् दिवो अद्भ्यः पृथिव्या-
स्त्वया दत्तं काम्यं राध आगात्।
शं यत् स्तोतृभ्य आपये भवा-
त्युरुशंसाय सवितर्जरित्रे ॥
(ऋग्वेद २।३८।११)

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी
पौषी पूर्णिमा, २०२३ सं०
२६–१–६७

बलदेव उपाध्याय
संचालक
अनुसन्धान-संस्थान

विषयसूची

प्रवेश खण्ड

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

पञ्चम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

——:०:——

इतिहास खण्ड

सप्तम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद

नवम परिच्छेद

दशम परिच्छेद

संस्कृति खण्ड

एकादश परिच्छेद

द्वादश परिच्छेद

त्रयोदश परिच्छेद

चतुर्दश परिच्छेद

पञ्चदश परिच्छेद

षोडश परिच्छेद

परिशिष्ट खण्ड

वैदिक साहित्य

[१]

प्रवेश खण्ड

(१) वेद का महत्त्व
(२) वेद और ब्राह्मणदर्शन
(३) वैदिक अनुशीलन का इतिहास
(४) वेद के भाष्यकार
(५) वेद की व्याख्यापद्धति
(६) वेद का रचनाकाल

सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा ।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी ॥
विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः ।
विद्याभेदाः प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः ॥

(वाक्यपदीय, १।९-१०)

प्रथम परिच्छेद

वेद का महत्त्व

भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान नितान्त गौरवपूर्ण है। श्रुति की दृढ़ आधारशिला के ऊपर भारतीय धर्म तथा सभ्यता का भव्य विशाल प्रासाद प्रतिष्ठित है। हिन्दुओं के आचार-विचार, रहन-सहन, धर्म-कर्म को भली भाँति समझने के लिए वेदों का ज्ञान विशेष आवश्यक है। अपने प्रातिभ चक्षु के सहारे साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के द्वारा अनुभूत अध्यात्मशास्त्र के तत्त्वों की विशाल विमल राशि का ही नाम 'वेद' है। स्मृति तथा पुराणों में वेद की पर्याप्त प्रशंसा उपलब्ध होती है। मनु के कथनानुसार वेद पितृगण, देवता तथा मनुष्यों का सनातन, सर्वदा विद्यमान रहनेवाला चक्षु है। लौकिक वस्तुओं के साक्षात्कार के लिए जिस प्रकार नेत्र की उपयोगिता है, उसी प्रकार अलौकिक तत्त्वों के रहस्य को जानने के लिए वेद की उपादेयता है। इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपाय को बतलाने वाला ग्रन्थ वेद ही है। वेद का 'वेदत्व' इसी में है कि वह प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा दुर्बोध तथा अज्ञेय उपाय का ज्ञान स्वयं कराता है। ज्योतिष्टोम याग के सम्पादन से स्वर्ग प्राप्ति होती है, अतः वह ग्राह्य है तथा कलञ्ज-भक्षण से अनिष्ट की उपलब्धि होती है, अत एव वह परिहार्य है। इसका ज्ञान तार्किक-शिरोमणि भी हजारों अनुमानों की सहायता से भी नहीं कर सकता। इस अलौकिक उपाय के जानने का एकमात्र साधन हमारे पास वेद ही है।

> प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
> एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

वेद की भारतीय धर्म में इतनी प्रतिष्ठा है कि अनेक प्रबल तर्क के सहारे विपक्षियों की युक्तियों को छिन्न भिन्न कर देनेवाले तर्ककुशल आचार्यों के सामने भी यदि कोई वेदविरोध दृष्टिगोचर होता है, तो उनका मस्तक स्वभावतः नत हो जाता है। हम ईश्वरविरोध को सह्य कर सकते हैं, परन्तु वेद से आंशिक विरोध भी हमारी दृष्टि में नितान्त वर्जनीय है। ईश्वर की सत्ता न माननेवाले भी दर्शन 'आस्तिकता' से विहीन नहीं माने जाते, परन्तु वेद की प्रामाणिकता को

अनङ्गीकार करने के कारण दर्शनों पर नास्तिकता की पक्की छाप पड़ी रहती है। 'आस्तिक' वही है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास रखे तथा 'नास्तिक' वही है जो वेद की निन्दा करे। इस प्रकार वेदों का माहात्म्य हिन्दूधर्म में नितान्त उच्चतम तथा विशाल है। शतपथ-ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है कि धन से परिपूर्ण पृथिवी के दान करने से जितना फल होता है, वेदों के अध्ययन से भी उतना ही फल मिलता है, उतना ही नहीं; प्रत्युत उससे भी बढ़कर अविनाशशाली अक्षय्य लोक को मनुष्य प्राप्त करता है। अतः वेदों का स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक तथा उपादेय है:—

"यावन्तं ह वै इमाँ पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददत् लोकं जयति, त्रिभिस्तावन्तं जयति; भूयांसं च अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।" (शत० ११।५।६१)।

वेदज्ञ की प्रशंसा में मनु की यह उक्ति बड़ी मार्मिक है—वेदशास्त्र के तत्त्व को जाननेवाला व्यक्ति जिस किसी आश्रम में निवास करता हुआ कार्य का सम्पादन करता है, वह इसी लोक में रहते हुए भी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(मनुस्मृति १२।१०२)।

जब भारतीय धर्म की जानकारी के लिए वेदों को इतना महत्त्व प्राप्त है, तब इनका अनुशीलन प्रत्येक भारतीय का आवश्यक कर्तव्य होना ही चाहिए। महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार षडङ्ग वेद का अध्ययन तथा ज्ञान प्रत्येक ब्राह्मण का सहज कर्म होना चाहिए (ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मो षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च)। मनु ने क्षोभभरे शब्दों में वेदानध्यायी विप्र की कटु निन्दा की है कि जो द्विजन्मा वेद का बिना अध्ययन किये अन्य शास्त्रों में परिश्रम करता है, वह जीवित दशा में ही अकेले नहीं, बल्कि पूरे वंश के साथ शूद्रत्व को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। द्विज का द्विजत्व तो इसी में है कि वह गुरु के द्वारा उपनीत होकर वेदों का अध्ययन करे, परन्तु इस कार्य के अभाव में वह द्विजत्व से वंचित होकर शूद्र-कोटि में सद्यः प्रविष्ट हो जाता है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

(मनु २।१६८)।

अतः उचित तो यह था कि अन्य ग्रन्थों के अध्ययन की अपेक्षा हम वेदानुशीलन को महत्त्व देते, वैदिक धर्म तथा भारतीय संस्कृति के विशुद्ध रूप को समझने के लिए वेद के तत्त्वों के अध्ययन में समय बिताते, परन्तु आजकल वेदाध्ययन की दशा बड़ी दयनीय है। विदेशी भाषा का अध्ययन ही हमारी उदर-पूर्ति का प्रधान साधन होने के कारण हमारे अथक परिश्रम का विषय बना हुआ है। संस्कृत भाषा के पढ़ने वालों की भी रुचि वेदों की ओर नहीं है। काव्य-नाटक की कोमल रसमयी कविता के आस्वादन करने में ही हम अपने को भाग्यशाली समझते हैं, वेदों को फूटी नजर से भी नहीं देखते।

क्या यह खेद का विषय नहीं है कि काव्य-नाटक के अनुशीलन में ही हम अपने अमूल्य समय को बिताकर अपने कर्तव्यों की समाप्ति समझने लगते हैं और इसके मूल स्रोतभूत वेद तथा वैदिक संस्कृति से परिचय पाने में भी हम मुँह मोड़े हुए रहते हैं। साधारण संस्कृतानभिज्ञ जनता की तो बात ही न्यारी है, हम उन पण्डितों तथा शास्त्रियों से भी परिचित हैं जो केवल अष्टाध्यायी के कतिपय सुप्रसिद्ध अल्पाक्षर सूत्रों के ऊपर शास्त्रार्थ करने मे घंटों बिता देते हैं, परन्तु वेद के सीधे सरल मन्त्रों के भी अर्थ करने में अपने को नितान्त असमर्थ पाते हैं। क्या यह हमारे लिए लज्जा की बात नहीं है कि जिन विद्वान् ब्राह्मणों के ऊपर समाज के नेतृत्व का उत्तरदायित्व टिका हुआ है वे ही इन ग्रन्थरत्नों का जौहर न समझें, वे ही इनके द्वारा प्रतिपादित आचार पद्धति के रहस्योद्घाटन में अपने को कृतकार्य न पावें। काशी, पूना जैसे विद्याक्षेत्रों में आज भी अनेक वैदिक विद्यमान हैं जिन्होंने समाज की उदासीनता की अवहेलना कर अश्रान्त परिश्रम तथा अनुपम लगन के साथ विविध कठिनाइयों के बीच श्रुतियों के प्रत्येक मन्त्र को कण्ठाग्र जीवित रखा है। इनकी जितनी श्लाघा की जाय, थोड़ी है; जितनी भी प्रशंसा की जाय, मात्रा में वह न्यून ही जँचती है, क्योंकि इनके कण्ठों से आज भी हम मन्त्रों का उच्चारण उसी भाँति, उसी स्वरभङ्गी में सुन सकते हैं, जिस प्रकार सुदूर प्राचीनकाल के ऋषिजन इनका विधिपूर्ण उच्चारण किया करते थे। इस प्रकार इन मन्त्रों के रक्षक रूप में ये वैदिक विद्वत्समाज के आदर के पात्र तथा श्रद्धा के भाजन हैं; परन्तु इनमें एक त्रुटि गुलाब में काँटों की तरह खटक रही है। ये अक्षरज्ञ होने पर भी अर्थज्ञ नहीं होते। और यह भी निश्चित बात है कि वेद के अर्थों का ज्ञाता विद्वान् केवल मन्त्रवर्ण से परिचित व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व रखता है। इसीलिए निरुक्तकार यास्क ने बाध्य होकर अर्थज्ञ विद्वान् की जो प्रचुर प्रशंसा की है वह अनोखी और अनूठी है। "जो व्यक्ति वेद का अध्ययन तो करता है, पर उसके अर्थ को नहीं जानता,

वह ठूँठे वृक्ष की तरह केवल भार ढोने वाला ही होता है; जो अर्थ को जानता है वही सम्पूर्ण कल्याण को भोगता है और ज्ञान के द्वारा पापों को दूर कर वह स्वर्ग प्राप्त करता है"

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद्,
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते,
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

ऐसी विषम स्थिति में वेदों के अर्थ को जानकर तत्प्रतिपादित धर्म, आचार, व्यवहार तथा अध्यात्मशास्त्र के मन्तव्यों के समझने का उद्योग सर्वथा स्तुत्य तथा प्रशंसनीय है।

वेद के अर्थज्ञान का कौन-सा उपयोग है? वेद के अनुशीलन से हमारा क्या लाभ हो सकता है? आजकल विज्ञान तथा साम्यवाद के युग में वेदों में ऐसा कौन सा आकर्षण है जिसके कारण हम इन नवीन उपयोगी विषयों के अनुशीलन से मुँह मोड़कर अतीव प्राचीन विषय की ओर मुड़ें? क्या वैदिक मन्त्रों में हमारे माननीय कविजनों की रसभरी कमनीय काव्यकला का दर्शन मिलेगा? काव्यदृष्टि से वेदानुशीलन करने वाले पाठकों से हमारा नम्र निवेदन है कि यदि वे कालिदास की निसर्गमनोरम उपमा, भवभूति के पत्थर को रुलाने वाले करुणरस, दण्डी के पदलालित्य, बाण की मधुर स्वरवर्णपदा कविता की आशा से वैदिक मन्त्रों का अध्ययन करना चाहते हैं, तो इसके लिये उन्हें निराश ही होना पड़ेगा। वैदिक मन्त्रों में भी कवित्व है, परन्तु उसकी माधुरी कुछ विलक्षण ढंग की है। इसी प्रकार यदि वेदों में कुमारिल तथा शङ्कराचार्य के ग्रन्थों में उपलब्ध तर्कविन्यास की आशा की जायगी, तो वह उतनी सफल नहीं हो सकेगी। वेदों में आध्यात्मिक तत्त्वों का उत्कृष्ट भाण्डागार है, परन्तु उनके प्रतिपादन की दिशा इन अर्वाचीन ग्रन्थों की शैली से नितान्त भिन्न है। उपनिषदों में अध्यात्मशास्त्र के रहस्य तर्क की कर्कश प्रणाली के द्वारा उद्भावित नहीं किये गये हैं, प्रत्युत उनमें खरी स्वानुभूति की कसौटी पर कसकर तत्त्वरत्नों का हृदयस्पर्शी विवेचन किया गया है।

वेदों का सर्वाधिक धार्मिक महत्त्व है। आधुनिक भारत में जितने विभिन्न मत मतान्तर प्रचलित हैं, इनका मूल स्रोत वेद से ही प्रवाहित होता है। वेद ज्ञान के वे मानसरोवर हैं जहाँ से ज्ञान की विमल धारायें विभिन्न मार्गों से

बह कर भारत के ही नहीं, समस्त जगत् के प्रदेशों को उर्वर बनाती हैं। ये आर्यों के ही नहीं, प्रत्युत मानव जाति के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। यदि हम जानना चाहते हैं कि हमारे पूर्वज किस प्रकार अपना जीवन बिताते थे? कौन क्रीडायें उनके मनोरञ्जन की साधिका थीं? किस प्रकार उनका विवाहसम्बन्ध देहसम्बन्ध का प्रतीक न होकर आध्यात्मिक संयोग का प्रतिनिधि माना जाता था? किन देवताओं की वे उपासना किया करते थे? किस प्रकार वे प्रातःकाल प्राची के मुखमण्डल को उजागर करनेवाली 'पुराणी युवति' उषा की सुनहली छटा में अग्नि में आहुति प्रदान किया करते थे? किस तरह आवश्यकतानुसार वे इन्द्र, वरुण, पूषा, मित्र, सविता तथा पर्जन्य की स्तुति अपने ऐहिक कल्याण तथा आमुष्मिक मंगल की साधना के लिए किया करते थे? तो हमारे पास एक ही साधन है, वेदों का गाढ़ अनुशीलन, श्रुतियों का गहरा अध्ययन। श्रुतियों की सहायता से ही भारतीय दर्शनों के विविध विकास को हम भलीभाँति समझ सकते हैं। उपनिषदों में समग्र आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन के तत्त्वों की बीजरूपेण उपलब्धि होती है। यदि 'नेह नानास्ति किञ्चन' अद्वैत तत्त्व का बीजरूप से सूचक है, तो श्वेताश्वतर में वर्णित लोहितकृष्णशुक्ला अजा सांख्याभिमत सत्त्व-रजस्तमोमयी—त्रिगुणात्मिका—प्रकृति की प्रतीक है। यदि हम रामानुज मत के विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क के द्वैताद्वैत, मध्वाचार्य के द्वैत, वल्लभ के शुद्धाद्वैत, चैतन्य के अचिन्त्यभेदाभेद के रहस्योद्घाटन के अभिलाषी हैं, तो उपनिषदों का गम्भीर मनन तथा पर्यालोचन अनन्य साधन है।

भारतीयों के लिये वेदों की उपयोगिता तो बनी हुई है। वेदों से भारतीयों का जीवन ओतप्रोत है। हमारी उपासना के भाजन देवगण, हमारे संस्कारों की दशा बतानेवाली पद्धति, हमारे मस्तिष्क को प्रेरित करनेवाली विचारधारा—इन सब का उद्भव स्थान वेद ही है। अतः हमारे हृदय में वेदों के प्रति यदि प्रगाढ़ श्रद्धा है, तो कोई आश्चर्य का विषय नहीं है, परन्तु वेदों का महत्त्व इतना संकीर्ण तथा सीमित नहीं है। मानव जाति के प्राचीन इतिहास, रहन-सहन, आचार-व्यवहार की जानकारी के लिए भी वे उतने ही उपादेय तथा आदरणीय हैं। पहले कहा गया है कि वेद मानव जाति के विचारों को लिपिबद्ध करने वाले गौरवमय ग्रन्थों में सबसे प्राचीन माने जाते हैं। अतः अतीव अतीत काल में मानवों के व्यवहार तथा विचार का पता इन अमूल्य ग्रन्थरत्नों की पर्यालोचना से भलीभाँति लग सकता है।

भाषा की दृष्टि से वेदों का महत्त्व कम नहीं है। वैदिक भाषा के अध्ययन ने भाषाविज्ञान को सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित कर दिया है। उन्नीसवीं शताब्दी के

मध्यभाग में 'भाषाविज्ञान' के प्रतिष्ठापन का सर्वाधिक श्रेय संस्कृत भाषा के ज्ञान को ही है। उसके पहले यूरोपीय भाषाविदों में मूलभाषा के विषय में पर्याप्त मतभेद था। कोई ग्रीकभाषा को ही समग्र भाषाओं की जननी मानता था, तो कोई लैटिन भाषा को इस महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने का इच्छुक था। पक्के ईसाई भाषावेत्ताओं की माननीय सम्मति में हिब्रू (यहूदी भाषा) ही पृथ्वीतल की भाषाओं में सर्वप्राचीन, आदिम तथा मूलभाषा थी। इस प्रकार भाषाविदों में प्राचीन भाषा के लिए पर्याप्त मतभेद था, तुमुल वाक्-कोलाहल चल रहा था। संस्कृत की उपलब्धि होने पर ही इस कोलाहल का अन्त हुआ, मतभेद का बीज दूर हुआ और एक मत से प्राचीनतम आर्यभाषा की रूपरेखा का निर्धारण भली भाँति किया जाने लगा। इसका सुफल इतना महत्त्वशाली है कि वेदों का अनुशीलन करना प्रत्येक भाषाशास्त्र के रहस्यवेत्ता व्यक्ति के लिए बहुत ही आवश्यक है। एक दो उदाहरणों के द्वारा इस महत्त्व को समझना अनुचित न होगा।

हिन्दी पाठक ईसाई धर्मोपदेशकों के लिए प्रयुक्त होनेवाले 'पादरी' शब्द से परिचित ही हैं। भारत की प्रायः समस्त भाषाओं में यह शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत पाया जाता है। इसका इतिहास विशेष मनोरञ्जक है। यूरोपियन जातियों में पोर्चुगीजों (पुर्तगाल के निवासी) ने भारत में आकर अपना सिक्का जमाने के लिए ईसाई धर्म का भी प्रचार करना शुरू किया। वे लोग इन धर्मोपदेशकों को पाद्रे (Padre) कहते थे। इस शब्द से भारतीय भाषाओं का 'पादरी' शब्द ढल कर तैयार हुआ है। पोर्चुगीज 'पाद्रे' शब्द लैटिन 'पेतर' शब्द का अपभ्रंश है और यह 'पेतर' संस्कृत भाषा का सुप्रसिद्ध 'पितर्' (पितृ) ही है। इस प्रकार संस्कृत की सहायता से हम 'पादरी' का अर्थ 'पिता' समझ सकते हैं। अंग्रेजी में आज भी इन पूजनीय धर्मोपदेष्टाओं के लिए पिता (फादर) शब्द का ही प्रयोग किया जाता है।

अंग्रेजी के रात्रिवाचक 'नाइट' (Night) शब्द में उपलब्ध, परन्तु अनुच्चार्यमाण gh वर्णों का रहस्य संस्कृत की सहायता के बिना नहीं समझा जा सकता। उच्चारण के अभाव में इन वर्णों को इस पद में स्थान देने की क्या आवश्यकता है? शब्दों के लेखनक्रम में सुधारवादी अमेरिकन भाषावेत्ताओं ने भी इन अक्षरों पर अभी अपना दण्ड-प्रहार इसीलिए नहीं किया है कि इन वर्णों की सहायता से इसके मूल रूप का परिचय भली भाँति चल जाता है। gh 'घ' का सूचक है जो मूल शब्द में किसी

कवर्गीय वर्ण की सूचना दे रहा है। संस्कृत 'नक्तं' के साथ इसकी साम्य-विवेचना करने पर इस रहस्य का उद्घाटन हो जाता है 'नाइट' शब्द का मूल यही 'नक्तं' शब्द है। लैटिन 'नाक्टरनल' (Nocturnal) में भी इसी कारण 'ककार' की स्थिति बनी हुई है। अंग्रेजी फार्चुन (Fortune) शब्द के रहस्य का परिचय कम मनोरञ्जक नहीं है। 'फार्चुन' का अर्थ होता है, धन, सम्पत्ति, समृद्धि, भाग्य आदि। 'फार्चुन' शब्द इटली देश की एक प्राचीन 'फोर्स' (Fors) नामक देवी के साथ सम्बद्ध है, जो ज्युपिटर की पुत्री मानी जाती है। ये दोनों शब्द 'लाने' के अर्थ में व्यवहृत 'फेरे' (Ferre to bring) धातु से सम्बद्ध हैं। 'फोर्स' देवी की कल्पना 'उषा' देवी से बिल्कुल मिलती है। दोनों के स्वरूप एक ही प्रकार से उल्लिखित हैं। जिस प्रकार उषा देवी नाना प्रकार के कल्याणों को भक्तों के लिए लाती है उसी प्रकार यह देवी भी करती है। 'फोर्स' का शाब्दिक साम्य 'हरति' के साथ है, तथा इसीलिए 'हृ' से व्युत्पन्न 'हर्यत्' (= सुन्दर) शब्द का प्रयोग उषा के लिए बहुशः किया गया है। इस प्रकार उषा की समता से 'फोर्स' तथा 'फार्चुन' शब्दों का ठीक अर्थ समझा जा सकता है। अतः अंग्रेजी शब्दों के अर्थ तथा रूप को समझने के लिए संस्कृत शब्दों से परिचय नितरां अपेक्षित है।

वैदिक भाषा की **लौकिक भाषा के साथ तुलना** करने पर अनेक मनोरञ्जक बातें दृष्टिपथ में आ जाती हैं। भाषा शास्त्र का यह एक सामान्य नियम है कि भौतिक अर्थ में व्यवहृत होने वाले शब्द कालान्तर में आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं। पार्थिव जगत् से हटकर वे सुदूर मानसिक जगत् की वस्तुओं की सूचना देते हैं। वेद इस विषय में बहुत-से रोचक उदाहरण उपस्थित करता है। इन्द्र की स्तुति के प्रसङ्ग में गृत्समद ऋषि की अन्तर्दृष्टि पुकार कर कह रही है—"यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णत्' अर्थात् इन्द्र ने चलायमान पर्वतों को स्थिर किया। यहाँ कुप् तथा रम् धातु के प्राचीन अर्थ का ऊहापोह भाषा की दृष्टि से नितान्त उपदेशप्रद है। कुप् धातु का मौलिक अर्थ है भौतिक संचलन। और रम् धातु का अर्थ है स्थिरीकरण, चंचल पदार्थ को निश्चल बनाना। कालान्तर में इन धातुओं ने अपनी दीर्घ जीवन-यात्रा में पलटा खाया। सबसे अधिक मानसिक विकार उस दशा में उत्पन्न होते हैं जब हम क्रोध के वशीभूत होते हैं। हम उस दशा में अपने मन के भीतर एक विचित्र प्रकार की प्रखर चञ्चलता का अनुभव पद-पद पर करते हैं। अतः अर्थ की समता के बल पर 'कोप' शब्द भौतिक जगत् के स्तर से ऊपर उठकर मानस स्तर तक अनायास पहुँच गया।

आधुनिक संस्कृत में यदि हम कहें "कुपितो मकरध्वजः" तो वाक्यपदीय के मन्त-व्यानुसार कोप-रूपी 'लिङ्ग' की सत्ता के कारण मकरध्वज से अभिप्राय 'काम' से समझा जाता है और समुद्र का अर्थ लक्षणया ही शोभित किया जा सकता है। 'रम्' का अर्थ है भौतिक स्थिरीकरण, परन्तु धीरे-धीरे इस शब्द ने भौतिक भाव को छोड़ कर मानस भाव से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। खेल तमाशों में चञ्चल चित्त स्थिर हो जाता है, क्योंकि उसे इन वस्तुओं में एक विचित्र प्रकार के आनन्द का संचार होता है। यही कारण है कि आजकल 'रम्' का प्रयोग क्रीडा अर्थ में किया जाता है। प्रचलित भाषा के प्रयोगों में कभी-कभी प्राचीन अर्थ की भी झलक आ जाती है। 'क्रीडायां रमते चित्तम्' (क्रीडा में चित्त रमता है) यहाँ 'रमते' का लक्ष्य स्थिरीकरण के लिए स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः संस्कृत शब्दों के अर्थ में इस परिवर्तन की जानकारी के लिए वेद तथा वैदिक भाषा का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है।

द्वितीय परिच्छेद

वेद और ब्राह्मणदर्शन

(१)

वेद के स्वरूप के विषय में प्राच्य विद्वानों में दृष्टिभेद होना स्वाभाविक है। पश्चिमी विद्वानों की आधिभौतिक दृष्टि में वेद ऋषियों के द्वारा प्रणीत शब्दराशि है। सामान्य ग्रन्थों के समान वेद भी ग्रन्थ ही हैं। फलतः जो ऋषि उसके मन्त्र-विशेष से सम्बद्ध हैं वे वस्तुतः उसके रचयिता हैं। ऋग्वेद में ही प्राचीन तथा नवीन ऋषियों को वेद मन्त्रों का कर्ता बतलाया गया है, तथा उनके कर्ता होने का स्पष्ट उल्लेख भी मिलता है—इदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः (ऋ० ७।३५।१४), ब्रह्म कृण्वन्तो हरिवो वसिष्ठाः (ऋ० ७।३७।४), ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे अकारि (ऋ० ७।९७।९) आदि मन्त्रों में इस बात का उल्लेख पाया जाता है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से मण्डित तथा आध्यात्मिक भावना में अविश्वासी वर्तमान विद्वानों की दृष्टि में ऋषिलोग ही वैदिक मन्त्रों के कर्ता हैं, परन्तु भारत के वेदमर्मज्ञ प्राचीन शास्त्रों तथा शास्त्रज्ञों ने एक स्वर से ऋषियों को **वैदिक मन्त्रों का द्रष्टा ही माना है, कर्ता नहीं**। यह विषय नितान्त गम्भीर, मननीय तथा प्रमाणसाध्य है। यहाँ इसकी स्वल्प मीमांसा से ही हमें सन्तोष करना पड़ेगा।

अनेक वैदिक मन्त्रों के अनुशीलन से यह प्रतीत होता है कि ऋषियों को अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त था, तथा दैवी प्रतिभा के सहारे उन्होंने अपने प्रातिभ चक्षु से इन मन्त्रों का दर्शन किया। (द्रष्टव्य ऋ० ७।३३।७-१३ मन्त्र) अनेक मन्त्रों में वसिष्ठ को अलौकिक रीति से प्रदत्त ज्ञान का उल्लेख मिलता है (ऋ० ७।८७।४; ७।८८।४)। 'वाक्' की ऋग्वेद में अनेकत्र भव्य स्तुति की गई है, तथा ऋषियों के भीतर उसके प्रवेश करने का स्पष्ट निर्देश है—

> **यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्**
> **तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् ॥**
>
> (ऋ० १०।७१।३)।

ऋषिदृष्ट प्रार्थना के अलौकिक फलों का निर्देश मन्त्रों में ही पाया जाता है ऋ० ३।५३।१२; ७।३३।३) मन्त्रों में ही वैदिक वाणी की नित्यता के स्पष्ट

प्रमाण मिलते हैं, जिनमें 'वाचा विरूप नित्यया' (ऋ० ८।७५।६) मुख्य है। 'ऋषि' शब्द ऋष् गतौ धातु से औणादिक इन् (इन् सर्वधातुभ्यः—उणादि सूत्र ४।१२६) प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। अतः इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—मन्त्रद्रष्टा[1]। इसीलिए यास्क का कथन है—"साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो बभूवुः"। विश्वामित्र तथा वसिष्ठ आदि मन्त्रों के 'ऋषि' कहलाते हैं, 'कर्ता' नहीं। इसीलिए इन ऋषियों को मन्त्रों का द्रष्टा होना न्यायसङ्गत है, कर्ता होना नहीं[2]।

आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन के विभेद का मुख्य साधन तो यही 'वेद-प्रामाण्य' ही है। नास्तिक—चार्वाक, जैन तथा बौद्ध—वेदवाक्यों में प्रामाण्य-बुद्धि नहीं मानते। उधर षड्दर्शन, ईश्वर के अस्तित्व के विषय में ऐकमत्य न रखने पर भी वेद की प्रामाणिकता में समानभावेन आदर तथा श्रद्धा रखते हैं। जैन तथा बौद्ध तार्किकों ने अनेक युक्तियों के सहारे वेदों के प्रामाण्य को ध्वस्त करने का विकट प्रयत्न अपने तर्कग्रन्थों में किया है, परन्तु नैयायिक तथा मीमांसक दार्शनिकों ने तर्क-व्यूहों के द्वारा इनका मार्मिक खण्डन कर अपने मत को पुष्ट, युक्ति-युक्त तथा प्रामाणिक सिद्ध किया है। इस विषय में कुमारिल भट्ट का समीक्षण बड़ा ही मार्मिक तथा प्रामाणिक माना जाता है (द्रष्टव्य श्लोक-वार्तिक 'शब्दनित्यताधिकरण' पृ० ७२८–८४५)।

ब्राह्मण दार्शनिकों के दृष्टिकोण में भी यत्किंचित् भिन्नता है—विशेषतः नैयायिकों तथा मीमांसकों में। **नैयायिक** शब्द की अनित्यता का पक्षपाती तथा समर्थक है, तो मीमांसक शब्द की नित्यता का। इसीलिए दोनों की दृष्टियों में पार्थक्य उपलब्ध होता है। न्याय का अभीष्ट मत इस गौतम सूत्र से चलता है—"मन्त्रायुर्वेद-प्रामाण्यवच्च तत् प्रामाण्यमाप्त-प्रामाण्यात्" (न्याय सूत्र २।१।६८)। वेद का प्रामाण्य आप्त के प्रामाण्य के कारण है। गौतम सूत्र में वेदकर्ता के आप्तत्व के विषय में संकेत नहीं मिलते, परन्तु 'तात्पर्यटीका' में वाचस्पति मिश्र की व्याख्या के अनुसार जगत्-कर्ता परमेश्वर नित्य, सर्वज्ञ तथा परम कारुणिक है। इसलिए उसने सृष्टि के अनन्तर मानवों के कल्याणार्थ नाना उपदेशों को अवश्य

---

१. ऋषिर्मन्त्र-द्रष्टा। गत्यर्थत्वाद् ऋषेर्ज्ञानार्थत्वाद् मन्त्रं दृष्टवन्त ऋषयः। श्वेतवनवासिरचित वृत्ति उणादिसूत्र ४।१२९।

२. तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्मस्वयम्भ्वभ्यानर्षत्, त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते, ऋषिर्दर्शनात्। मन्त्रान् ददर्श इत्यौपमन्यवः।—निरुक्त।

किया। उस परमेश्वर के ये समस्त उपदेश या वाक्य ही वेद हैं। नित्य सर्वज्ञ वक्ता होने के कारण ही वेद का प्रामाण्य है। जयन्त भट्ट आदि ने भी इसी मत की पुष्टि की है। वैशेषिक दर्शन में भी इसी सिद्धान्त की उपलब्धि होती है। "तद् वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्" (१।१।३)—आम्नाय का प्रामाण्य 'तद्वचन' होने से ही है। तत् कौन? परमेश्वर। किरणावली में उदयनाचार्य की यही व्याख्या है—"तद् वचनात्=तेन ईश्वरेण प्रणयनात्"। "बुद्धिपूर्वो वाक्य-कृतिर्वेदे" (वैशे० ६।१।१) सूत्र तो स्पष्टतः वेद को पौरुषेय सिद्ध कर रहा है। आशय यह है कि जिस प्रकार लौकिक वाक्यों की रचना बुद्धिपूर्वक होती है उसी प्रकार वेद की भी रचना वेदार्थ को जानने वाले पुरुष के द्वारा की गई है। वेदकर्ता पुरुष समस्त अलौकिक वेदार्थ विषय में नित्य ज्ञान से सम्पन्न होता है। सुतरां 'शाश्वत-धर्म-गोप्ता' सर्वज्ञ परमेश्वर ही धर्मप्रतिपादक वेद का आदि वक्ता है, तथा उसके प्रामाण्य के कारण ही वेद का प्रामाण्य है।

मीमांसकों के 'शब्दनित्य' का नैयायिकों ने खण्डन कर शब्द के अनित्यत्व का समर्थन किया है[1]। तब वेद तथा सामान्य वाक्य एक ही कोटि में चले जाते हैं, नैयायिक यह नहीं मानता। वह वेद को 'नित्य' मानता है। भाष्यकार वात्स्यायन के मत में अतीत तथा भविष्य युगान्तर तथा मन्वन्तर मे सम्प्रदाय का अविच्छेद ही वेद का नित्यत्व है। अर्थात् एक दिव्य युग के अनन्तर दूसरे युग के आरम्भ में वेद के अध्यापक, अध्येता तथा वेदाध्यापन अव्याहत रहते हैं और चिरकाल तक इसी रूप में अव्याहत रहेंगे। इसी तात्पर्य से शास्त्र में वेद को 'नित्य' कहा गया है। महाप्रलय होने पर भी इस प्रक्रिया में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती। तात्पर्य-टीका के अनुसार महाप्रलय में नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर वेद का प्रणयन कर सृष्टि के आरम्भ में स्वयं ही सम्प्रदाय का प्रवर्तन करते हैं[2]। योगदर्शन के भाष्य में व्यासदेव ने भी यही कहा है कि परमेश्वर बद्ध जीवों के प्रति अनुग्रह करते हैं और उनके उद्धार के लिए ही प्रलय के बाद वे पुनः ज्ञान तथा धर्म का उपदेश करते हैं[3]।

---

१. वाचस्पति मिश्र—भामती (१।१।३)।

२. महाप्रलये तु ईश्वरेण वेदान् प्रणीय सृष्ट्यादौ स्वयमेव सम्प्रदायः प्रवर्त्यत एवेति भावः—वाचस्पति।

३. तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्। ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्प-प्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति—योगभाष्य १।२५।

फलतः वेद सम्प्रदाय का प्रवर्तक महाप्रलय के अनन्तर भी स्वयं नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर ही होता है। निष्कर्ष यह है कि न्यायवैशेषिक दर्शनों के अनुसार वेद पौरुषेय तथा नित्य है।

वेद के विषय में **सांख्यशास्त्र** का मत पूर्वोक्त न्यायमत से एकान्त विरुद्ध है। सांख्य वेद को पौरुषेय मान ही कैसे सकता है? जब कि उसने पुरुष (ईश्वर) का निषेध ही कर दिया है (सांख्यसूत्र ५।४६)। मुक्त तथा अमुक्त पुरुषों में वेद के निर्माण की योग्यता नहीं है। जीवन्मुक्तों में अग्रगण्य विष्णु विशुद्ध सत्त्व-सम्पन्न होने से निरतिशय सर्वज्ञ अवश्य हैं, परन्तु वीतराग होने से सहस्र शाखा वाले वेद के निर्माण में सर्वथा अयोग्य हैं। अमुक्त पुरुषों को असर्वज्ञता ही निर्माण के अयोग्य सिद्ध कर रही है (सां० सू० ५।४७)[1]। वेद के अपौरुषेय होने में एक और भी युक्ति है। पौरुषेय की परिभाषा है—"**यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत् पौरुषेयम्**" (सां० सू० ५।५०)। पुरुष के द्वारा उच्चरितमात्र होने से ही कोई वस्तु पौरुषेय नहीं होती, प्रत्युत दृष्ट के समान अदृष्ट में भी बुद्धिपूर्वक निर्माण होने पर ही पौरुषेयता आती है। श्रुति के अनुसार—'उस महाभूत के निश्वास ही ऋग्वेद आदि वेद हैं' (तस्यैतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदः')। श्वासप्रश्वास तो स्वतः आविर्भूत होते हैं, इनके उत्पादन में पुरुष की कोई भी बुद्धि नहीं होती है। अतः उस महाभूत के निःश्वासरूप ये वेद अदृष्टवशात् अबुद्धिपूर्वक स्वतः ही आविर्भूत होते हैं। उसमें उसका किञ्चिन्मात्र भी प्रयत्न जागरूक नहीं रहता। अतः वेद पौरुषेय न होकर अपौरुषेय हैं। अपनी स्वाभाविक शक्ति की—यथार्थ ज्ञान की उत्पादन शक्ति की—अभिव्यक्ति के कारण वेद स्वतः प्रामाण्य है। नैयायिकों के समान वह आप्तप्रामाण्य के ऊपर अपने प्रामाण्य के लिए आश्रित नहीं होता (निज-शक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् ५।५१)। इस प्रकार सांख्यमत में वेद अपौरुषेय तथा स्वतः प्रमाण है।

वेदान्त का भी मत इस मत के साथ साम्य रखता है। श्रुति को वेदान्त-शास्त्र प्रत्यक्ष शब्द के द्वारा द्योतित करता है, क्योंकि प्रामाण्य के प्रति वह किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखती (प्रत्यक्षं श्रुतिः प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्)। "शास्त्र-योनित्वात्" (१।१।२) सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने ब्रह्म को वेद की योनि अर्थात् कारण अवश्य माना है, परन्तु यह कारणता ग्रन्थकर्तृता के रूप में प्रकट

---

1. द्रष्टव्य विज्ञान भिक्षु—इस सूत्र का सांख्य-प्रवचन-भाष्य।

नहीं होती। पुरुषनिःश्वास के समान सर्वज्ञान का आकर ऋग्वेदादि वेद अप्रयत्न से ही लीलान्याय से उस पुरुष से सम्भूत माने गये हैं[1]। वेद की उत्पत्ति में उस ब्रह्म का कोई भी प्रयत्न जागरूक नहीं है। वेद नित्य है[2]। श्रुति स्पष्ट शब्दों में कहती है कि ऋषियों में वाणी स्वतः प्रविष्ट हो गई थी। अतः वाणी के द्रष्टा होने से ऋषियों का ऋषित्व है। महाभारत में भी व्यासजी का यह वचन नितान्त माननीय है—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयंभुवा॥

(वनपर्व)

आशय यह है कि युग के अन्त में वेदों का अन्तर्धान हो जाता है। सृष्टि के आदि में स्वयंभू के द्वारा अनुशासित महर्षि लोगों ने उन्हीं वेदों को इतिहास के साथ अपनी तपस्या के बल पर प्राप्त किया। इस वचन से स्पष्ट है कि वेद नित्य है; प्रलय में उसका केवल तिरोधान होता है तथा सृष्टि के आरम्भ में महर्षियों को तपोबल से पुनः उसकी स्फूर्ति हो जाती है। 'वेदान्त परिभाषा' का कथन है कि सर्ग के आदि काल में परमेश्वर ने पूर्वसृष्टि में सिद्ध वेदों की आनुपूर्वी के समान आनुपूर्वी वाले वेद को बनाया, उस आनुपूर्वी से विजातीय नहीं। 'पौरुषेयत्व' का अर्थ यही है कि सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न करने वाले उच्चारण का विषय होना। वेद की सृष्टि ऐसी नहीं है। इसीलिए वेद 'अपौरुषेय' कहलाता है[3]।

मीमांसकों की वेद—विषयक मीमांसा पर्याप्तरूपेण विस्तृत है। जैमिनी ने अपने सूत्रों में (अ० प्रथम का द्वितीय पाद), शबर स्वामी ने उनके भाष्य में तथा कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक में तथा अवान्तर कालीन ग्रन्थकारों ने भी इस मत की समीक्षा में बड़ी शक्ति तथा युक्तिवैभव का विलास दिखलाया है। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं, तथा नैयायिकों के 'शब्दानित्यत्व' सिद्धान्त का अपनी दृष्टि से खण्डन करते हैं। शब्द नित्यत्व के विषय में मीमांसकों के

१. द्रष्टव्य १।१।२ पर शांकर भाष्य।

२. अत एव च नित्यत्वम्—ब्रह्मसूत्र १।३।२९।

३. पौरुषेयत्वं सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारण-विषयत्वम्। तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्वसर्ग सिद्धवेदानुपूर्वी समानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान्, न तु तद् विजातीयं वेदमिति। —वेदान्त परिभाषा, आगम-परिच्छेद का अन्त।

सिद्धान्त आज के वैज्ञानिक युग में भी विशेष महत्त्वशाली हैं। उनका कथन है कि शब्द अश्रुत होने पर भी लुप्त नहीं हो जाता। क्रमशः विकीर्ण होने पर, बहु स्थानों में फैल जाने पर, वह लघु तथा अश्रुत हो जाता है, परन्तु लुप्त नहीं होता। 'शब्द करो' कहते ही आकाश में अन्तर्हित शब्द तालु तथा जिह्वा के संयोग से आविर्भूत मात्र हो जाता है, उत्पन्न नहीं होता (मी० सू० १।१।१४)। बहुत व्यक्तियों के द्वारा उच्चारण करने पर भी शब्द एक रूप ही रहता है, वृद्धि तो केवल नाद की होती है। नाद का अर्थ है उच्चारण-जन्य ध्वनि। नाद तथा शब्द में अन्तर होता है। नाद अनित्य होता है, परन्तु शब्द नित्य (मी० सू० १।१।१७)। शब्द सुनते ही अर्थ का युगपद् ज्ञान तथा प्रतिपाद्य वस्तु का सद्यः ज्ञान होना शब्द की नित्यता के विषय में मीमांसकों की अन्य युक्तियाँ हैं (मी० सू० १।१।१८, १९)। नित्य शब्द के राशिभूत वेद को नित्य होना स्वाभाविक है। इस विषय में मीमांसा एकमत है कि शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ का सम्बन्ध ये तीनों नित्य हैं ("औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः" जै० सू० १।५)। अतः वेद की नित्यता तथा प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है।

वेद अपौरुषेय है, वह स्वतः आविर्भूत होनेवाला नित्य पदार्थ है। उसकी उत्पत्ति में किसी भी पुरुष का—परमेश्वर का भी—उद्योग क्रियाशील नहीं है। तैत्तिरीय, काठक अथवा कौथुम पदों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न मन्त्र-संहिताओं के साथ अवश्य मिलता है, परन्तु यह आख्या ग्रन्थकर्तृत्व के कारण न होकर प्रवचन के कारण है ("आख्या प्रवचनात्" जै० सू० १।१।३०)। 'प्रवचन' से तात्पर्य यह है कि इन ऋषियों ने तत्तद् मन्त्र-संहिताओं का प्रथम उपदेश किया। वेद में अनित्य पदार्थों के दर्शन तथा श्रवण से भी उनके पौरुषेय होने का सिद्धान्त अनेक लोग मानते हैं। जैसे तैत्तिरीयसंहिता में बबर प्रावाहणि नामक किसी व्यक्ति का नाम निर्देश पाया जाता है ("बबरः प्रावाहणिरकामयत" तै० सं० ७।२।२।१)। अतः इस व्यक्ति का निर्देशक वेद अवश्य ही इस व्यक्ति के अनन्तर उत्पन्न हुआ होगा, अथ च अनित्य होगा। मीमांसा का उत्तर है कि यहाँ बबर नामक किसी मनुष्य का उल्लेख न होकर प्रवहण स्वभावशील बबर-ध्वनियुक्त वायु का निर्देश है ("परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" जै० १।१।३१)। वेद के किसी भाग में वनस्पतियों के सत्र करने का और कहीं सर्पों के सत्र करने का उल्लेख अवश्य मिलता है, परन्तु इससे उक्त सिद्धान्त को हानि नहीं पहुँचती, क्योंकि यह अर्थवाद है—जो चेतन पुरुष, विशेषतः ब्राह्मण, को सत्र करने के लिए उत्साहित करता है। वेद के कर्ता रूप से किसी भी पुरुष का स्मरण कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। वेद में कहीं-कहीं

ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा राजाओं के नाम विशेषतः नाराशंसी गाथाओं में, अवश्य आते हैं, परन्तु सर्वज्ञानात्मक वेद में ऐसे उल्लेख उसकी अपौरुषेयता के भंग करने में समर्थक नहीं हो सकते। वेदों के उल्लेख के अनुसार ही आगामी युगों में व्यक्तियों का आविर्भाव होता रहता है, अतीत युग में उत्पन्न व्यक्तियों का उल्लेख वेद में नहीं है। जैमिनी तथा शबरस्वामी के अनुसार वेद की नित्यता का प्रामाण्य तो स्वयं वेद ही है—

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया।
वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्॥

(ऋ० ८।७५।६)

इस मन्त्र में निर्दिष्ट 'नित्या वाक्' का प्रयोग वेद मन्त्रों के ही लिए किया गया है। इसे ही जैमिनि ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए 'चरमहेतु' (अन्तिम कारण) स्वीकार किया है। फलतः मीमांसा के मत में वेद अपौरुषेय, नित्य तथा स्वतः प्रमाण है।

स्मृति तथा पुराणों में वेद विषयक भावना अधिकतर मीमांसक मत के अनुकूल है। मनुस्मृति में वेद की तथा वेदज्ञ की भूयसी महिमा गाई गई है। मनु का यह परिनिष्ठित मत है कि वेद देव, पितर तथा मनुष्यों के लिए मार्गदर्शक, नित्य, अपौरुषेय तथा अप्रमेय है—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥

(मनु० १२।९४)

वेदज्ञ की श्रेष्ठता के विषय में मनु का कथन बड़ा प्रामाणिक है कि वेदशास्त्र का ज्ञाता सेनापत्य, राज्य, दण्डनेतृत्व तथा समग्र पृथिवी का अधिपतित्व करने के लिए योग्य होता है। स्मृति का प्रामाण्य तो श्रुति की अनुकूलता में ही है। वेद ही वाणी (वेदरूपा वाणी) को परमेश्वर का अविनाशी रूप, यज्ञ का प्रथम निर्माण करने वाली, वेदों की माता तथा अमृत का नाभि (खजाना) बतला रहा है—

वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य।
वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः॥

(तै० ब्रा० २।८।८।५)

निष्कर्ष यह है कि भारतवर्ष के नाना दर्शन-विभाग एकमत से वेद की नित्यता, स्वतः प्रामाण्य तथा मानव मात्र के लिए उपदेष्टा के रूप में पूर्ण विश्वास करते हैं, तथा आग्रह रखते हैं। अधिकांश उसे अपौरुषेय ही मानते हैं। पौरुषेय मतानुयायी नैयायिक भी उसे सर्वज्ञ परमेश्वर की ही रचना मानता है। वेदों में कुछ ऐसा रहस्य भरा हुआ है कि शंकराचार्य जैसा तार्किक-शिरोमणि भी वेद-विरोध के सामने नतमस्तक हो जाता है, तथा तद्विरुद्ध सिद्धान्त का परित्याग कर देता है। तथ्य यह है कि श्रुति परम-कारुणिक सर्वज्ञ परमेश्वर की दिव्या वाक् है जिसका श्रवण ऋषियों ने अपने तपःपूत हृदय में दीर्घ तपस्या के अनन्तर किया था। हृदय में श्रवण करने के कारण ही तो वेद के 'श्रुति' नाम की सार्थकता है।

(२)

वेद में विज्ञान

वेद के तत्त्वों में आधुनिक विज्ञान से भी उदात्ततर वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। वेदार्थ की उपेक्षा करने के कारण ये तत्त्व हमारे लिए विस्मृत-प्राय हो गये हैं। यज्ञतत्त्व पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। यज्ञ दो प्रकार का होता है—(१) एक वह यज्ञ है जो प्रकृति के द्वारा निरन्तर किया जा रहा है और जिसके द्वारा यह विश्व सृष्ट हुआ तथा पालित हो रहा है। (२) दूसरे प्रकार का यज्ञ लोकव्यवहार के लिए नितान्त आवश्यक है। इसका मूल मन्त्र है अपनी प्रियतम वस्तु का देवता के उद्देश्य से या समाज के कल्याण के लिए समर्पण। इस द्वितीय प्रकार का यज्ञ प्रथम प्रकार के ऊपर आश्रित सा रहता है। मीमांसाशास्त्र ने द्वितीय प्रकार के यज्ञ का ही मनुष्य के कर्तव्य रूप मे विधान किया तथा उसी पर विशेष आग्रह दिखलाया, परन्तु प्रथम प्रकार के यज्ञ की सत्ता का कथमपि अपलाप नहीं हो सकता।

वर्तमान विज्ञान का मूल आधार विद्युत् शक्ति है। वैदिक विज्ञान का मूल आधार प्राणशक्ति है। यह प्राणशक्ति विद्युत्-शक्ति की अपेक्षा बहुत व्यापक है। विद्युत् शक्ति भी प्राणशक्ति का ही एक भेद है, किन्तु इस प्रकार के अनन्त भेदों का समावेश प्राणशक्ति में हो जाता है। प्राण के ही भेद ऋषि, पितृ देवता, गन्धर्व, असुर आदि हैं, जिनका संकेत स्थान-स्थान पर मन्त्रों और ब्राह्मणों में प्राप्त होता है। वे ही देवता, ऋषि, पितृ आदि यज्ञ के परिचालक हैं। 'यज' धातु का अर्थ पाणिनि ने देवपूजा, संगतिकरण और दान लिखा है। इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि प्राणरूप देवताओं की पूजा अर्थात् उनका प्रसादन करना यज्ञ है, एवं संगतिकरण अर्थात् दो तत्त्वों को मिला कर नया तत्त्व बनाना भी यज्ञ है और

जगत् के समस्त पदार्थों में जो दान-आदान अर्थात् लेने-देने की प्रक्रिया चल रही है वह भी यज्ञ है। इस यज्ञ के परिचालक देवता हैं—अग्नि और सोम। अग्नि को अत्ता या अन्नाद (अन्न खाने वाला) बताया गया है और सोम को कहा गया है 'अन्न'। ये दोनों ही तत्त्व व्यापक है—'अग्नीषोमात्मकं जगत्' अग्नि निरन्तर सोम को खाता रहता है और अपने रूप में परिणत करता रहता है। इसी विषय को इन शब्दों में भी कहा जा सकता है कि अग्नि पर निरन्तर सोम की आहुति पड़ती रहती है। उदाहरण के लिए सूर्य एक महाविशाल अग्निपिण्ड है। वह निरन्तर प्रज्वलित रहता है। उसमें से अनन्त तेज या अग्नि समस्त ब्रह्माण्ड में फैलती रहती है, किन्तु इतनी अग्नि निरन्तर फेंकता हुआ भी सूर्य क्षीण क्यों नहीं हो जाता ? इसका उत्तर श्रुति ने दिया है—

'सोमेनादित्या बलिनः' अर्थात् अनन्त सोम की आहुति उस पर होती रहती है और वह सोम निरन्तर अग्नि-रूप में परिणत होता रहता है। इस लिए समस्त संसार में फैलने से सूर्य की अग्नि क्षीण होती है, उसी प्रकार सोम की आहुति से नयी अग्नि उत्पन्न होती रहती है। यही अग्नि-प्रक्रिया समस्त पदार्थों में बराबर चल रही है।

आर्य दर्शनों में पञ्चमहाभूत सिद्धान्त माना गया है, अर्थात् हमारे दर्शन जगत् के मूलभूत पाँच तत्त्व मानते हैं। ये तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। इन पाँचों का भी एक ही मूल तत्त्व से विकास हुआ है। सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् एक ही मूल तत्त्व का विस्तार है। इस बात को वैदिक विज्ञान स्पष्टतया प्रकट करता है। प्रारम्भ में वर्तमान विज्ञानवेत्ताओं ने भारतीय पञ्चभूत सिद्धान्त का उपहास किया। उन्होंने सिद्ध किया कि ये पृथ्वी, जल आदि मौलिक तत्त्व नहीं, अपितु यौगिक हैं, अर्थात् अनेक चीजों के सम्मिश्रण से बनते हैं। यह विचार और आलोचना उन्होंने स्थूल पृथ्वी, जल आदि की ही की। जो अनेक अवस्थाएँ हमारे यहाँ मानी हुई हैं, उन पर विद्वानों ने दृष्टिपात नहीं किया। जल की अम्भः, मरीचि, मर और आप ये चार अवस्थाएँ श्रुतियों में स्पष्ट हैं, जो क्रमशः स्थूल हुई हैं। इसी प्रकार पृथ्वी की भी आठ अवस्थाएँ शतपथब्राह्मण में लिखी हैं, जो क्रम से स्थूलता प्राप्त करती हैं। उन सूक्ष्म अवस्थाओं पर विचार न कर केवल स्थूल अवस्थाओं की आलोचना करके वैज्ञानिकों ने पञ्चभूत सिद्धान्त का उपहास किया है। स्थूल अवस्थाओं को तो भारतीय शास्त्र स्पष्टतया यौगिक कहते हैं। ऋग्वेद के 'अप्सु सोमो अब्रवीत्'

इत्यादि बहुत से मन्त्रों में इस स्थूल जल के भीतर सोम और अग्नि नाम के दो तत्त्वों की सत्ता बतायी गयी है और सोम के भीतर 'भेषज' नाम के बहुत से तत्त्वों का समावेश बताया गया है। वर्तमान विज्ञान जल में हाइड्रोजन और आक्सीजन गैस का योग बतलाता है। वैदिक विज्ञान अग्नि और सोम का योग बतलाता है, तो यह भाषा के भेद से शब्दों का ही तो भेद हुआ। तत्त्वतः दोनों बातें एक ही स्थान पर आती हैं।

अब तक साइन्स ने हाइड्रोजन, आक्सीजन आदि को मौलिक तत्त्व माना था, अर्थात् इनमें सम्मिश्रण नहीं और ये एक दूसरे के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकते। ये सब भी यौगिक हैं, अनेक संयोगों से बने हैं। वैदिक विज्ञान में इन सब को 'विराट्' कहा जाता है। जो वस्तु इन्द्रियों से अथवा यन्त्रों से जानी जा सकती हैं वह एक-एक विराट् हैं। विराट् का उत्पादक यज्ञ है। अत एव यज्ञ ही समस्त पदार्थों का अन्तरात्मा है। मूलभूत यज्ञ का उत्पादक ही 'पुरुष' है। उस पुरुष के भी तीन भेद श्रुतियों और उनके आधार पर गीता में बतलाये गये हैं। वे हैं—क्षर, अक्षर और अव्यय। इनमें भी पहिले की अपेक्षा आगे का सूक्ष्म है और आगे के पुरुष पहले में अनुप्रविष्ट हैं। अव्यय का भी मूल है परात्पर। यहाँ तक का पता वैदिक विज्ञान देता है। इसके आगे परात्पर का भी मूल जो निर्विशेष है वह केवल अध्यात्म-दृष्टि से जाना जा सकता है। वहाँ विज्ञान की गति नहीं है।

साइंस भी अब मान चुका है कि जो शताधिक तत्त्व अब तक आविष्कृत हुए थे वे मौलिक नहीं हैं। मौलिक तत्त्व केवल दो हैं—इलेक्ट्रोन और प्रोट्रोन। इन्हीं के विलक्षण योग से भिन्न-भिन्न तत्त्व बनते हैं। यह भी अब प्रायः सिद्ध हो चुका है कि ये दोनों भी मूलतः एक ही तत्व के विकास हैं। इसलिए भारतीय दर्शन के एकतत्त्ववाद पर विज्ञान आ पहुँचा—यह आपाततः प्रतीत होता है। किन्तु भारतीय शास्त्र जिसे एक तत्त्व कहते हैं वह अभी बहुत दूर की वस्तु है। इलेक्ट्रोन और प्रोट्रोन की जो परिभाषा निश्चित की गयी है, वह यह है कि इनमें एक अणु बिलकुल स्थित है और दूसरा उसके चारों ओर निरन्तर घूम रहा है। इस परिभाषा का विलक्षण सादृश्य आश्चर्य के साथ वेद में देखा जाता है।

शतपथ-ब्राह्मण में वेदों से इस सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'यजुः' 'यत्' 'जूः' दो शब्दों के सम्बन्ध से बना है। 'यत्' का अर्थ

है निरन्तर चलनशील और 'जूः' का अर्थ है स्थिर। शतपथ श्रुति के अनुसार इन्हीं दोनों तत्त्वों से समस्त वस्तुओं की रचना होती है। दोनों के लक्षणों से स्पष्ट प्रतिभासित हो जाता है कि जिन्हें आज साइंस इलेक्ट्रोन और प्रोट्रोन कह रहा है उन्हीं को शतपथ ब्राह्मण में 'यत्' और 'जूः' कहा गया है। वहीं आगे इनका विवरण करते हुए इनका दूसरा नाम वायु और आकाश भी दिया गया है—यत् अर्थात् वायु और जूः अर्थात् आकाश। इससे सिद्ध हुआ कि वर्तमान-विज्ञान ने अभी जहाँ जाकर विश्राम लिया है वे भी भारतीय पञ्चभूत विज्ञान प्रक्रिया के भौतिक तत्त्व ही हैं और पूर्वोक्त विराट् के अन्तर्गत हैं।

ईथर तत्त्व पर अभी वैज्ञानिकों का विवाद ही चल रहा है। कोई उसे समस्त तत्त्वों का आधार मानते हैं और अनेक वैज्ञानिक उसकी संज्ञा को स्वीकार करने से इनकार करते हैं। हम कह चुके हैं कि वैदिक विज्ञान में देवता, ऋषि आदि प्राण विशेष रूप हैं। उन्हीं देवताओं में एक प्रधान देवता या प्रधान प्राण 'इन्द्र' है। उसका जो विवरण श्रुतियों से प्राप्त होता है उससे सिद्ध होता है कि उस इन्द्र को ही वैज्ञानिकों ने ईथर नाम दिया है। इन्द्र के १४ भेद वेद और पुराणों में मिलते हैं, उन्हीं में से ईथर भी एक है। विद्युत्-शक्ति भी इन्द्र का ही एक रूप है। इस प्रकार जिन तत्त्वों पर अभी वैज्ञानिकों को संदेह ही रहा है, उनका पूर्ण निश्चय सिद्धान्तरूप से वैदिक विज्ञान में हो चुका था; इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता।[1]

—:०:—

(३)

वेद में अध्यात्मवाद

ये (वेद) न केवल संसार के कुछ सर्वोत्कृष्ट और गम्भीरतम धर्मों के; अपितु उनके कुछ सूक्ष्मतम पराभौतिक दर्शनों के भी सुविख्यात आदिस्रोत के रूप में माने जाते हैं।

'वेद' यह उस सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य के लिए माना हुआ नाम है जहाँ तक कि मनुष्य के मन की गति हो सकती है।

स्वयं ऋग्वेद मानव विचार के उस प्रारम्भकाल से आया एक बड़ा भारी त्रिविध उपदेशों का ग्रन्थ है जिस विचार के ही टूटे-फूटे अवशेष वे ऐतिहासिक एल्सिनियन तथा औफिक रहस्य-वचन थे।

---

१. म० म० मधुसूदन ओझा के मत का सारांश।

ऋषि सूक्त का वैयक्तिक रूप से स्वयं निर्माता नहीं था, वह तो द्रष्टा था—एक सनातन सत्य का और एक अपौरुषेय ज्ञान का।

(वेद) दिव्य वाणी है जो कम्पन करती हुई असीम में से निकलकर उस मनुष्य के अन्तःश्रवण में पहुँची जिसने पहिले से ही अपने आपको अपौरुषेय ज्ञान का पात्र बना रखा था।

यह (वेद) है मनुष्य की तरफ से उन दिव्य ज्योति, दिव्य शक्ति और दिव्य कृपाओं की स्तुति जो मर्त्य में कार्य करती हैं।

हमने यह परिणाम निकाला है कि अंगिरस ऋषि उषा के लाने वाले हैं, सूर्य को अन्धकार में से छुड़ानेवाले हैं, पर ये उषा, सूर्य, अन्धकार प्रतीकरूप हैं, जो कि आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं। वेद का केन्द्रभूत विचार है अज्ञान के अन्धकार में से सत्य की विजय करना तथा सत्य की विजय द्वारा साथ में अमरता की भी विजय कर लेना, क्योंकि वैदिक 'ऋतम्' जहाँ मनोवैज्ञानिक विचार है, वहाँ आध्यात्मिक विचार भी है। यह 'ऋतम्' अस्तित्व का सत्य सत्, सत्य चैतन्य, सत्य आनन्द है जो कि इस शरीररूप पृथिवी, इस प्राणशक्ति रूप अन्तरिक्ष, इस मनरूप सामान्य आकाश या द्यौ से परे है। हमें इन सब स्तरों को पार करके आगे जाना है, ताकि हम उस पराचेतन सत्य के उच्च स्तर में पहुँच सकें, जो कि देवों का स्वकीय घर है और अमरत्व का मूल है। यही 'स्वः' का लोक है जिस तक पहुँचने के लिये अंगिरसों ने अपनी आगे आनेवाली सन्ततियों के लाभार्थ मार्ग को ढूँढ़ा है।

अंगिरस एक साथ दोनों हैं, एक तो दिव्य द्रष्टा जो कि देवों के विश्वसम्बन्धी तथा मानव-सम्बन्धी कार्यों में सहायता करते हैं, और दूसरे उनके भूमिष्ठ प्रतिनिधि, पूर्वज पितर, जिन्होंने कि सर्व प्रथम उस ज्ञान को पाया था, जिसके वैदिक सुक्त गीत हैं, संस्मरण हैं और फिर से नवीन रूप में अनुभव करने योग्य सत्य हैं। सात दिव्य अंगिरस अग्नि के पुत्र या अग्नि की शक्तियाँ हैं, द्रष्टा-संकल्प की शक्तियाँ हैं और यह 'अग्नि' या द्रष्टा संकल्प हैं दिव्य शक्ति की। दिव्य ज्ञान से उद्दीप्त वह ज्वाला तो विजय के लिये प्रज्वलित की जाती है। भृगुओं ने तो पार्थिव सत्ता की वृद्धियों (उपचयों) में छिपी हुई इस ज्वाला को ढूँढ़ा है, पर अंगिरस इस ज्वाला को यज्ञ की वेदी पर प्रज्वलित करते हैं और यज्ञ को यज्ञिय वर्ष के काल-विभागों में लगातार जारी किये रखते हैं, जो के काल-विभाग उस दिव्य प्रयास के कालविभागों के प्रतीक हैं, जिसके द्वारा

सत्य का सूर्य अन्धकार में से निकालकर पुनः प्राप्त किया जाता है। वे जो इस वर्ष के नौ महीनों तक यज्ञ करते हैं—नवग्वा हैं, नौ गौओं या किरणों के द्रष्टा हैं, जो कि सूर्य की गौओं की खोज को आरम्भ करते हैं और पणियों के साथ युद्ध करने के लिये इन्द्र को प्रयाण में प्रवृत्त करते हैं। वे जो दस महीनों तक यज्ञ करते हैं—दशग्वा हैं, दस किरणों के द्रष्टा हैं, जो कि इन्द्र के साथ पणियों की गुफा के अन्दर घुसते हैं और खोयी हुई गौओं को वापिस ले आते हैं।

यज्ञ यह है कि मनुष्य के पास अपनी सत्ता में जो कुछ है उसे वह उच्चतर या दिव्य स्वभाव को अर्पित कर दे, और इस यज्ञ का फल यह होता है कि उसका मनुष्य देवों से मुक्तहस्त दान के द्वारा और अधिक समृद्ध हो जाता है। दौलत जो इस प्रकार यज्ञ करने से प्राप्त होती है आध्यात्मिक ऐश्वर्य, समृद्धि, आनन्द की अवस्था से निर्मित होती है और यह अवस्था स्वयं यात्रा में सहायक होने वाली एक शक्ति है और युद्ध की एक शक्ति है, क्योंकि यज्ञ एक यात्रा है, एक प्रगति है। यज्ञ स्वयं यात्रा करता है, जो उसकी 'अग्नि' को नेता बनाकर दिव्य मार्ग से देवों के प्रति होती है और 'स्वः' के दिव्य लोक के प्रति अंगिरस पितरों का आरोहण इसी यात्रा का आदर्श रूप (नमूना) है। अंगिरस पितरों की यह आदर्श यज्ञ-यात्रा एक युद्ध भी है, क्योंकि पणि, वृत्र तथा पाप और अनृत की अन्य शक्तियाँ इस यात्रा का विरोध किया करती हैं और इस युद्ध का इन्द्र तथा अंगिरस ऋषियों की पणियों के साथ लड़ाई एक मुख्य कथांग है।

यज्ञ के प्रधान अंग हैं दिव्य ज्वाला को प्रज्वलित करना, 'घृत' की तथा सोमरस की हवि देना और पवित्र शब्द का गान करना। स्तुति तथा हवि के द्वारा देव प्रबुद्ध होते हैं। उनके लिये कहा गया है कि वे मनुष्य के अन्दर उत्पन्न होते हैं, रचे जाते हैं या अभिव्यक्त होते हैं, तथा यहाँ अपनी वृद्धि और महत्ता से वे पृथिवी और द्यौ को अर्थात् भौतिक और मानसिक सत्ता को इनका अधिक से अधिक जितना ग्रहसामर्थ्य होता है उतना बढ़ा देते हैं और फिर इन्हें अतिक्रान्त करके अवसर आने पर उच्चतर लोकों या स्तरों की रचना करते हैं। उच्चतर सत्ता दिव्य है, असीम है, जिसका चमकीली गौ, असीम माता, अदिति प्रतीक हैं; निम्न सत्ता उसके अन्धकारमय रूप दिति के अधीन है।

यज्ञ का लक्ष्य है उच्च या दिव्य सत्ता को जीतना और निम्न या मानवीय सत्ता को इस दिव्य सत्ता से युक्त कर देना तथा इसके नियम और सत्य के अधीन कर देना। यज्ञ का 'घृत' चमकीली गौ की देन है, यह घृत मानवीय

मनोवृत्ति के अन्दर सौर प्रकाश की निर्मलता या चमक है। 'सोमरस' है सत्ता का अमृतरूप आनन्द, जो कि जलों में और सोम नामक पौधे (लता) में निगूढ़ रहता है और देवों तथा मनुष्यों द्वारा पान करने के लिये निचोड़ा जाता है। शब्द है अन्तःप्रेरित वाणी, जो कि सत्य के उस विचार प्रकाश को अभिव्यक्त करती है, जो आत्मा में से उठता है, हृदय में निर्मित होता है और मन द्वारा आकृतियुक्त होता है। 'अग्नि' घृत से प्रबुद्ध होकर और 'इन्द्र' सोम की प्रकाशमय शक्ति से तथा आनन्द से सबल और शब्द द्वारा प्रवृद्ध होकर सूर्य की गौओं को फिर से पा लेने में अंगिरसों की सहायता करता है।

बृहस्पति सर्जनकारी शब्द का अधिपति है। यदि अग्नि प्रथम अंगिरा है, वह ज्वाला है जिससे कि अंगिरस ऋषि पैदा हुए हैं, तो बृहस्पति वह एक अंगिरा है जो सातमुखवाला अर्थात् प्रकाशकारी विचार की सात किरणों वाला और इस विचार को अभिव्यक्त करनेवाले सात शब्दोंवाला (एक अंगिरा) है, जिसकी ये सात ऋषि (अंगिरस) उच्चारण शक्तियाँ बने हैं। यह सत्य का सात सिरों वाला अर्थात् पूर्ण विचार है जो कि मनुष्य के लिये यज्ञ की लक्ष्यभूत पूर्ण आध्यात्मिक दौलत को जीतकर उसके लिये चौथे या दिव्य लोक को जीत कर लाता है। इसलिये अग्नि, इन्द्र, बृहस्पति, सोम सभी इस रूप में वर्णित किये गये हैं कि ये सूर्य की गौओं को जीत लानेवाले हैं और उन दस्युओं के विनाशक हैं जो कि उन गौओं को छिपा लेते हैं और मनुष्य के पास आने से रोकते हैं। सरस्वती भी, जो कि दिव्य शब्द की धारा या सत्य की अन्तःप्रेरणा है, दस्युओं का वध करनेवाली और चमकीली गौओं को जीतनेवाली है, उन गौओं को ढूँढ़ा है इन्द्र की अग्रदूती सरमा ने, जो कि सूर्य की या उषा की एक देवी है और सत्य की अन्तर्ज्ञानमयी शक्ति की प्रतीक मालूम होती है। उषा एक साथ दोनों है, स्वयं वह महान् विजय में एक कार्यकर्त्री भी है और पूर्ण रूप से उसका आगमन इस विजय का उज्ज्वल परिणाम है।

उषा दिव्य अरुणोदय है, क्योंकि सूर्य जो कि उसके आगमन के बाद प्रगट होता है पराचेतन सत्य का सूर्य है, दिन जिसको वह सूर्य लाता है सत्यमय ज्ञान के अन्दर होनेवाला सत्यमय जीवन का दिन है, रात्रि जिसे वह विध्वस्त करता है—अज्ञान की रात्रि है, जो कि अबतक उषा को अपने अन्दर छिपाये रखती है। उषा स्वयं सत्य है, सुनृता है और सत्यों की माता है। दिव्य उषा के इन सत्यों को उषा की गौएँ, उषा के चमकीले पशु कहा गया है, जब कि सत्य के वेगवान् बलों को जो कि उन गौओं के साथ-साथ रहते हैं और जीवन को

अधिष्ठित करते हैं, उषा के घोड़े कहे गये हैं। गायों और घोड़ों के इस प्रतीक के चारों ओर वैदिक प्रतीकवाद का अधिकांश घूम रहा है, क्योंकि ये ही सम्पत्तियों के मुख्य अंग हैं जिनको मनुष्य ने देवों से पाना चाहा है। उषा की गौओं को अन्धकार के अधिपति दानवों ने चुरा लिया है और ले जाकर गूढ़ अवचेतना की अपनी निम्नतर गुफा में छिपा दिया है। वे गौएँ ज्ञान की ज्योतियाँ हैं, सत्य के विचार हैं (गावो मतयः), जिन्हें उनकी इस कैद से छुटकारा दिलाना है। उनके छुटकारे का अभिप्राय है दिव्य उषा की शक्तियों का वेग से ऊर्ध्वगमन होने लगना। (134)

साथ ही इस छुटकारे का अभिप्राय उस सूर्य की पुनः प्राप्ति भी है जो कि अन्धकार में छिपा पड़ा था, क्योंकि यह कहा गया है कि सूर्य अर्थात् दिव्य सत्य, 'सत्यं ऋतं' ही वह वस्तु थी जिसे इन्द्र और अंगिरसों ने पणियों की गुफामें पाया था। उस गुफा के विदीर्ण हो जाने पर दिव्य उषा की गौएँ जो कि सत्य के सूर्य की किरणें हैं, आरोहण करके सत्ता की पहाड़ी के ऊपर जा पहुँचती हैं और सूर्य स्वयं दिव्य सत्ता के प्रकाशमान ऊर्ध्व समुद्र में ऊपर चढ़ता है, जो विचारक हैं वे जल में जहाज की तरह इस ऊर्ध्व समुद्र में इस सूर्य को आगे आगे ले जाते हैं, जबतक कि वह इसके दूरवर्ती परले तट पर नहीं पहुँच जाता।

पणि जो कि गौओं को कैद कर लेने वाले हैं, जो निम्न गुफा के अधिपति हैं, दस्युओं की एक श्रेणी में के हैं, जो दस्यु वैदिक प्रतीकवाद में आर्य देवों और आर्य द्रष्टाओं तथा कार्यकर्ताओं के विरोध में रखे गये हैं। आर्य वह है जो यज्ञ के कार्य को करता है, प्रकाश के पवित्र शब्द को प्राप्त करता है, देवों को चाहता है और उन्हें बढ़ाता है, तथा स्वयं उनसे बढ़ाया जाकर सच्चे अस्तित्व की विशालता को प्राप्त करता है, वह प्रकाश का योद्धा है और सत्य का यात्री है। दस्यु है अदिव्य सत्ता, जो किसी प्रकार का यज्ञ नहीं करती, दौलत को बटोर-बटोर कर जमा तो कर लेती है, पर उसका ठीक प्रकार उपयोग नहीं कर सकती, क्योंकि वह शब्द को नहीं बोल सकती या पराचेतन सत्य को मनोगत नहीं सकती। शब्द से देवों से और यज्ञ से द्वेष करती है और अपने आप से कोई वस्तु उच्च सत्ताओं को नहीं देती; बल्कि आर्य की उसकी अपनी दौलत को उससे लूट लेती है और अपने पास रोक रखती है। वह चोर है, शत्रु है, भेड़िया है, भक्षक है, विभाजक है, बाधक है, अवरोधक है। दस्यु अन्धकार और अज्ञान की शक्तियाँ हैं, जो सत्य के तथा अमरत्व के अन्वेष्टा का विरोध करती हैं। देव हैं प्रकाशकी शक्तियाँ, असीमता (अदिति) के पुत्र, एक परम देव के रूप और व्यक्तित्व, जो अपने

सहायता के द्वारा तथा मनुष्य के अन्दर अपनी वृद्धि और मानुष व्यापारों के द्वारा मनुष्य को ऊँचा उठाकर सत्य और अमरता तक पहुँचा देते हैं।

इसी प्रकार से दस्यु जो दान और यज्ञ का निषेध करते हैं और शब्द तथा देवों से द्वेष करते हैं और जिनके साथ आर्य निरन्तर युद्ध में संलग्न रहते है, ये वृत्र, पणि व अन्य, यदि मानवीय शत्रु नहीं हैं; बल्कि अन्धकार, अनृत और पाप की शक्तियाँ है, तो आर्यों के युद्धों का, आर्य-राजाओं का तथा आर्यों की जातियों का सारा विचार आध्यात्मिक प्रतीक और आध्यात्मिक उपाख्यान का रूप धारण करने लगता है। वे अविकल रूप में ऐसे हैं या केवल अंशतः, यह अपेक्षाकृत अधिक ब्योरेवार परीक्षा के विना निर्णीत नहीं किया जा सकता और यह परीक्षा इस समय हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारा वर्तमान उद्देश्य केवल यह देखना है कि हमारे पास हमारे इस विचार की पुष्टि के लिये प्राथमिक पर्याप्त सामग्री है या नहीं, जिसको लेकर हम चले हैं, अर्थात् यह विचार कि वैदिक सूक्त प्राचीन भारतीय रहस्यवादियों की प्रतीकात्मक पवित्र पुस्तकें हैं और उनका अभिप्राय आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक है। इस प्रकार की प्राथमिक पर्याप्त सामग्री है यह हमने स्थापित कर दिया है, क्योंकि अबतक हमने जितना विचार विवेचन किया है उससे ही हमारे पास इसके पर्याप्त आधार हैं कि वेद के पास हमें गंभीरता के साथ इसी दृष्टिकोण को लेकर पहुँचना चाहिए, तथा वेद भावनामय काव्य में लिखे गये इसी प्रकार के प्रतीकवाद के ग्रन्थ हैं। इस दृष्टि को ही सामने रखकर इनकी ब्योरेवार व्याख्या करनी चाहिए।

तो भी अपने पक्ष को पूर्णतया सुदृढ़ करने के लिये यह अच्छा होगा कि वृत्र तथा जलों सम्बन्धी दूसरी सहचरी गाथा की भी परीक्षा कर ली जाय, जिसे हमने अंगिरसों तथा प्रकाश की गाथा के साथ इतना निकट रूप से सम्बद्ध पाया है। इस सम्बन्ध में पहली बात यह है कि वृत्रहन्ता 'इन्द्र' अग्नि के साथ, वैदिक विश्वदेवतागण के मुख्य दो देवताओं में से एक है और उसका स्वरूप तथा उसके व्यापार यदि समुचित रूप से निर्धारित हो सके तो आर्यों के देवों का सामान्य रूप सुदृढ़तया नियत हो जायगा। दूसरे यह कि मरुत् जो इन्द्र के सखा हैं, पवित्र गान के गायक हैं, वैदिक पूजा के विषय में प्रकृतिवादी मत से सबसे प्रबल साधक बिन्दु हैं, वे निःसन्देह आँधी के देवता हैं और अन्य बड़े बड़े वैदिक देवों में दूसरे किसी का भी, अग्नि का या मित्र वरुण का या त्वष्टा का और वैदिक देवियों का या यहाँतक कि सूर्य का भी या उषा का भी ऐसा कोई प्रख्यात भौतिक स्वरूप नहीं है। यदि इन आँधी के देवताओं के विषय में यह दर्शाया जा सके

कि ये एक आध्यात्मिक स्वरूप और प्रतीकवाद को रखे हुए हैं, तब वैदिक धर्म तथा वैदिक कर्मकाण्ड के गम्भीरतर अभिप्राय के सम्बन्ध में कोई सन्देह अवशिष्ट नहीं रह सकता। अन्तिम बात यह कि वृत्र और उससे सम्बद्ध दानव, शुष्ण, नमुचि तथा अवशिष्ट अन्यों की निकट रूप से परीक्षा किये जाने पर यदि पता चले कि ये आध्यात्मिक अर्थ में दस्यु हैं और यदि वृत्र द्वारा रोके जानेवाले आकाशीय (दिव्य) जलों के अभिप्राय का और अधिक गहराई में जाकर अनुसन्धान किया जाय, तब यह विचार कि वेद ऋषियों और देव तथा दानवों की कहानियाँ रूप है एक निश्चित आरम्भबिन्दु को लेकर चलाया जा सकता है और वैदिक लोकों का प्रतीकवाद एक सन्तोषजनक व्याख्या के अधिक समीप लाया जा सकता है।

इससे अधिक प्रयत्न करना इस समय हमारे लिये संभव नहीं, क्योंकि वैदिक प्रतीकवाद जैसा कि सूक्तों में प्रपञ्चित किया गया है अपने अंग-उपांगों में अत्यधिक पेचीदा है, अपने दृष्टि-बिन्दुओं की अत्यधिक विविधता को रखता है, अपनी प्रतिच्छायाओं में और अवान्तर विदेशों में व्याख्या करने वाले के लिये अत्यधिक अस्पष्टताओं तथा कठिनाइयों को उपस्थित करता है और सबसे बढ़कर यह कि विस्मृति और अन्यथाग्रहण के पिछले युगों द्वारा यह इतना अधिक धुंधला हो चुका है कि एक ही पुस्तक में इसपर समुचित रूप से विचार कर सकना शक्य नहीं है। इस समय हम इतना ही कर सकते हैं कि मुख्य मुख्य मूलसूत्रों को ढूँढ़ निकालें और जहाँतक हो सके उतना सुरक्षित रूप में ठीक ठीक आधारों को स्थापित कर दें।[१]

—:०:—

(४)

वेद में रहस्यवाद

यह बात सर्वविदित है कि द्विजों के सिवा और किसी को भी वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है; बल्कि यों कहना चाहिए कि उचित संस्कार के बिना इसके गूढ़ तत्त्वों का ज्ञान होना बिलकुल असम्भव है। वास्तव में उपनयन-विधि अथवा गायत्री दीक्षा ऐसी संस्कार-क्रिया है, जिससे आध्यात्मिकतया वैयक्तिक पुनरुद्धार

---

१. विशेष के लिए श्री अरविन्द का 'वेदरहस्य' नामक ग्रन्थ देखिए। इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ३३९-३४३ से ये पँक्तियाँ ऊपर उद्धृत की गई हैं।

होता है और जिसके बिना उसे सात्त्विक तत्त्वों को समझने की योग्यता कभी प्राप्त नहीं हो सकती। दीक्षा में आचार्य का कर्तव्य पिताका-सा है, अर्थात् जन्म देना। उपनयन वह गुप्त प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक आध्यात्मिक व्यक्ति अपनी ही आध्यात्मिकता की चेतना में डूबकर अपनी आध्यात्मिक शक्ति के अंश को गर्भ में फेंक देता है, मानो ये अन्तःप्राण के हों अथवा नव-शिष्य के 'लिङ्गदेह' हों। यह उस पापनिवृत्ति की प्रक्रिया की दीक्षा देता है, जिसके फलस्वरूप दीक्षित व्यक्ति के शरीर में आध्यात्मिक सत्त्व (अस्तित्व) की रचना होती है। आध्यात्मिक शक्ति का सञ्चार पवित्र स्वरों के सहारे किया जाता है। इस प्रक्रिया के तात्कालिक परिणामस्वरूप तुन्दिका (नाभि) केन्द्र में उत्तेजना उत्पन्न करना है, जिसे बाद के साहित्य में 'तुन्दिका स्थान की ग्रन्थियों को कसना' कहा गया है। ज्योंही इस स्थान में उत्तेजना उत्पन्न होती है, त्योंही शिष्य की आध्यात्मिक शक्तियाँ विकास का स्थान पा जाती हैं। इन शक्तियों का क्रमिक विकास—जो प्रत्येक व्यक्ति में गुप्त रूप से विद्यमान रहता है और जिसका अनुभव उसे तब तक नहीं होता, जब तक उसके शरीर के भीतर से उसके दीक्षागुरु इन शक्तियों को प्राणोत्पादक संस्पर्श द्वारा उत्पन्न नहीं कर देते—स्थूल शरीर के आणविक विकास से सम्बन्ध रखता है। इस वैकासिक प्रक्रिया की समाप्ति से अर्थ है—पूर्वारम्भिक आध्यात्मिक अंशों की पूर्ण प्रौढ़ता। इसी तरह मनुष्य के विकासपूर्ण (स्वाभाविक) शरीर से विभिन्न इस आध्यात्मिक शरीर की रचना होती है।

उपनयन का प्रयोजन—

> **जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।**
> **वेदपाठाद् भवेद् विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः॥**

इससे प्रकट होता है कि सच्चे ब्राह्मण के जीवन की चार अवस्थाएँ हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इस शरीर का जन्म निम्नतम अवस्था का द्योतक है, जो शूद्रावस्था के समान है। यह वह अवस्था है जिसमें वैदिक अनुशीलन का प्रश्न ही नहीं उठता। ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न होने पर भी विशेष विभिन्नता नहीं रहती, क्योंकि एक ब्राह्मण का पुत्र वेदाध्ययन के अधिकार से उतना ही दूर है, जितना एक शूद्र का पुत्र। विभिन्नता केवल इतनी ही है कि ब्राह्मण में—काल्पनिकतया ही—निस्सन्देह वह गुण है, जिसे दार्शनिक दृष्टि से 'नैसर्गिक स्वरूपयोग्यता' कहते हैं और शूद्र में यह गुण नहीं होता। शक्ति स्वयं जन्मजात गुण है, जो वंश-परम्परागत किसी व्यक्तिविशेष में विद्यमान रहता है। वंश में संस्कार का अर्थ उपनयन अथवा दीक्षा है, जिससे पुनर्जन्म या पुनरुद्धार होता

है—ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार बपतिस्मा की संस्कार-विधि के बाद क्रिश्चियन नास्तिकों का पुनर्जन्म होता है। इसलिए 'द्विज' वही है, जिसका पुनर्जन्म हो या यों कहिये कि जिसका (जिसके शरीर का) आध्यात्मिक प्रकाश तथा ज्ञानपूर्ण पुनर्जन्म हो। वैदिक साहित्य के रहस्यमय वाक्यनिबन्ध में अध्यात्मीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया—ज्ञानपूर्ण शरीर की रचना—'स्वाध्याय' के भीतर छिपी हुई है, जिसका वर्णन उपर्युक्त विप्रावस्था के श्लोक में किया जा चुका है। 'स्वाध्याय' का मर्मार्थ—जैसा लगाया जाता है—पवित्र वेदपाठ करना नहीं है। यह अर्थ तो उसके मौलिक एवं वास्तविक अर्थ का अनुमानमात्र है। गुरु की इच्छा-शक्ति द्वारा प्रोत्साहित किया हुआ प्रकाश (ज्ञान) शक्ति-सञ्चालन क्रिया का गुण-दोष विवेचन करता है। उपनयन इसी विधि की प्रारम्भिक प्रक्रिया है। यह शब्द, जिसे शिष्य अपने दीक्षागुरु से ग्रहण करता है (जो उसके ही अङ्ग से दीक्षागुरु के प्रभाव से अभिमन्त्रित होता है), वास्तव में आन्तरिक ज्ञान का बाह्य वस्त्र है और सूक्ष्मा वाक् (Subtle Sound) की प्रकृति का होता है। यही सूक्ष्मा वाक् बुद्धि या ज्ञान के रूप में प्रकट होती है, जिसके बाद इच्छा जागरित हो उठती है और चित्त प्रोत्साहित हो पड़ता है। फिर शान्त चित्त चलायमान होने लगता है और फलस्वरूप 'कायाग्नि' उत्पन्न होती है, जिसका धारा-प्रवाह स्वभावतः उन्मुख होता है। तत्पश्चात् प्राणों की तदनुरूप गति की उत्पत्ति होती है। इसे ही 'नाभिरूपी कमल का खिलना' कहते हैं। प्रोत्साहित की हुई चेतना (प्राण), नाभि स्थान से उठकर मस्तिष्क में विद्युत् की भाँति एक झटका लगाती और फिर नीचे उतर आती है। इसी बीच मस्तिष्क, पिण्ड-स्थान से उत्पन्न चेतना-शक्ति के दूसरे वैद्युतिक प्रवाह से टकरा कर, पुनः झंकृत हो उठता है। इसी प्रक्रिया से स्पष्ट ध्वनि (Audible Sound) की उत्पत्ति होती है। बात यह है कि वायु या प्राण आभ्यन्तरिक अङ्ग के घर-सा और इसके गुणों से परिपूर्ण हो जाता है। अग्नि से प्रभावान्वित होकर यह स्वयं फैलने लगता है; और इसी बीच विभिन्न श्रुतियों के सहारे यह सभी ग्रन्थियों को खोल देता है और तब वर्णों की उत्पत्ति होती है। अन्तर्भूत सूक्ष्मा वाक् या ध्वनि अग्नि के परिमाणों के साथ मिल जाती है। इसका रूप अथवा आकार, जो अपूर्व और अविभाज्य है, उपर्युक्त साकार तथा अभिव्यक्त वाक् में प्रतिबिम्बित होता है।

सूक्ष्मावाक्—

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उससे यह प्रमाणित होता है कि आभ्यन्तरिक स्वर (Inner Sound) की अभिव्यक्ति या व्यञ्जना की प्रक्रिया ज्ञान

के आनुक्रमिक शुद्धीकरण से अभिन्न है। अतः स्वाध्याय विप्रावस्था का द्योतक है। जब इस अवस्था में पूर्णता आ जाती है, तभी किसी भी व्यक्ति को प्रकाशोन्मुख होना कहा जाता है, जो एक ब्राह्मण का विशिष्ट लक्षण है। सत्य अथवा परब्रह्म का पूर्ण ज्ञान उस आत्मा में कभी उदित नहीं हो सकता, जिसने शब्द—ब्राह्मण के (वैद्युतिक) धारा-प्रवाह से जो आन्तरिक शिराओं की अभिशुद्धि (संस्कार) के पश्चात् उत्पन्न किया जाता है—प्रारम्भिक अवस्था का उपक्रम नहीं किया हो और उपनयन के द्वारा दीक्षागुरु ने उसके आध्यात्मिक केन्द्रों को नहीं खोल दिया हो।

इस प्रकार वेद ही ज्ञान अथवा आत्मज्ञान का एकमात्र मार्ग है, जिसके बिना आत्मग्रन्थियाँ कदापि नहीं खोली जा सकतीं। जब ऋषियों को मन्त्रों का ज्ञान हो जाता है और वे धार्मिक तत्त्वों को समझ जाते हैं, तब उन्हें नित्या, अतीन्द्रिया [Supersensuous] तथा सूक्ष्मा [Subtle] वाक् का अन्तर्दर्शन होता है। यह सूक्ष्मा वाक् स्वभावतः प्रकाश तथा ज्ञान का निष्कर्ष है। जब इसे बाह्य-केन्द्र में प्रतिपादित किया जाता है, तब इसके वर्णन के आधार-स्वरूप भाषा की प्रचलित वर्णमाला की शरण लेनी पड़ती है। वेद-ग्रन्थ, जैसा साधारणतया समझा जाता है, इसी प्रकार के हैं और उन वेद-ग्रन्थों को 'विल्म' कहते हैं—

"यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचमृषयः साक्षात्-कृतधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति, तामसाक्षात्-कृतधर्मेभ्यः परेभ्यः प्रतिवेदयिष्यमाणाः विल्मं समामनन्ति, स्वप्ने वृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिख्यासन्ते।"

अतः वेद तत्त्वतः एक और अविभाज्य है। इसका विभाजन अनवस्थित भाषा की दृष्टि से ही हो सकता है।

इस कारण वेद का निष्कर्ष दिव्य ध्वनि में भरा है, जिसका ज्ञान स्वतः किसी जिज्ञासु को प्राप्त हो जाता है, जो ब्रह्मनाड़ी, केन्द्रीय आकाश अथवा परव्योम में पार्थिव वायु के परे पहुँचने की चेष्टा करता है। मध्यकालीन रहस्यवादियों की अनाहता वाक् के साथ तथा उसके वास्तविक रूप में प्रणव के साथ इसकी तुलना करनी चाहिये। यह भर्तृहरि की एकपदागमा विद्या (Monosyllabic Vidya) है।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि प्राचीन भारतवर्ष की प्रत्येक विचार—पद्धति वेद के विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति का साधन बनी, जिसके बिना सत्य का अन्तर्शन

होना एकान्त असम्भव समझा जाता था। व्याकरण के वाग्योग की विधि से स्थूल वाक् या ध्वनि (Physical Sound) की शुद्धि और बाह्य अंशों (Adventitious Elements) से मुक्त हो सकी; जिसके फलस्वरूप यह ब्रह्माण्ड में चिरस्रोतस्विनी ध्वनि सी दीख सकी और जिसके द्वारा अनन्त नित्य सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है। यह शुद्धीकरण उसी ध्वनि (सूक्ष्मा वाक्) की संस्कार-क्रिया ही है। दैवी वाक् संस्कृत की, जिसे सिद्ध भाषा कहते हैं, उत्पत्ति का मूल कारण है। इस प्रकार विशुद्ध होकर ध्वनि उत्पादक शक्ति (Creative Potency) के साथ संयुक्त हो जाती है। संस्कार की अन्तिम अवस्था तभी प्राप्त होती है, जब ज्ञान पूर्ण हो जाता है। व्याकरण का स्फोट, जो नित्य और स्वयं प्रकाशमान है, वही शाश्वत शब्दब्रह्म अथवा गुप्तवेद है। शब्द के जैसा स्फोट भी नित्य रूप होकर परब्रह्म से अथवा सृष्टि की सत्ता के साथ अर्थ की भाँति लगा रहता है और वही उस प्रकाश का निरूपक होता है, जिससे सत्ता का ज्ञान प्राप्त होता है, किन्तु इसके द्वारा सत्ता का ज्ञान होने के पूर्व इसे स्पष्ट ध्वनि से प्रकट किया जाता है। हठयोग और तन्त्र समानाधार पर निर्मित हैं। व्याकरण में जिसे स्फोट का प्रत्यक्षीकरण कहा गया है, उसे ही यहाँ कुण्डलिनी की जागरूकता—सृष्टि की सार्वलौकिक गर्भाशय—के रूप में प्रकट किया जाता है। यह शब्दब्रह्म से मिलता-जुलता है, जो प्रत्येक मानव शरीर में उत्तेजित करने वाले संस्पर्श की प्रतीक्षा में सुप्तप्राय विद्यमान रहता है। वक्रगति शक्ति (Serpentine Energy) का उन्मुखीभूत आवेग—जब इसमें जागरूकता उत्पन्न कर दी जाती है—स्वाध्याय की अवस्था का द्योतक है, जैसा उपर्युक्त श्लोक में वर्णित है और जिसका भाव ज्ञान का क्रमशः संस्कृत होना है। आज्ञाचक्र में ज्ञान की विशुद्धता अपनी चरम सीमा को पहुँच जाती है, जिसके परे सहस्रार का अनिर्वचनीय प्रकाश है और जहाँ ज्ञान, ज्ञाता तथा ज्ञेय एकत्व या अद्वैत में विलुप्त हो जाते हैं। यही सत्य ब्राह्मण है। नादानुसन्धान तथा अन्य क्रमादि—शब्द-ब्रह्म तक—उसके वास्तविक रूप में पहुँचने की चेष्टामात्र को ही लक्षित करते हैं। इस विषय में मीमांसकों का अपना अलग मार्ग है। कारण, यद्यपि वे ब्रह्मबोध से कुछ लाभ नहीं उठाते, तो भी उनका वेद-बोध, नित्या वाक् की ही भाँति, अन्य रहस्यमार्गों के तुल्य है। शब्दविचार में वैयाकरणों और मीमांसकों के बीच अवश्य एक मूलभूत पार्थक्य है, किन्तु इस बात को वे दोनों स्वीकार करते हैं कि शब्द द्वारा ही सत्य का ज्ञान, चाहे जिस प्रकार भी अवधारणा की गई हो, प्राप्त होता है।

ध्वनि की विशुद्धि—

कहा भी जाता है—"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग भवति"—अर्थात् एक ही शब्द के पूर्ण ज्ञान और सम्यक् प्रयोग से—ऐहलौकिक और पारलौकिक—दोनों फलों की प्राप्ति हो सकती है। यही वैदिक ज्ञान का रहस्य है। इस सम्बन्ध का पूर्ण ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब कि शब्द (विशेषतः ध्वनि) बाह्य तत्त्वों से विमुक्त और परिमार्जित किया जाता है। जैसा कि हमें मालूम है, कोई भी ध्वनि सर्वदा विशुद्ध नहीं रहती, योग की प्रक्रिया से ही उसमें विशुद्धता लाई जा सकती है। इस विशुद्धीकरण के बाद ही पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि आप से आप हो जाती है। इस प्रकार व्युत्पन्न और विशुद्ध होकर वह योगियों के हाथ में नैसर्गिक गुणों से पूर्ण, एक अनन्तशक्तिशाली यन्त्र बन जाता है। स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन जिसके विषय में यह कहा जा चुका है कि यह विप्रावस्था का लक्षणविशेष है, इस संस्कार या शुद्धीकरण के ही समान है, जिसे सामान्य बोल-चाल में हम 'संस्कृत भाषा' कहते हैं। रहस्यवाद की दृष्टि से यह वही शुद्धीकृत ध्वनि है, जो दिव्य शक्तियों से ओत-प्रोत होकर 'दिव्या' कहलाती है।

मनु ने स्पष्ट रूप से कहा है कि वेद ब्राह्मण में अन्तर्भूत आध्यात्मिक शक्ति का सार है। वैदिक साहित्य के 'भूः' का अर्थ विश्व की निम्नतम मेखला तथा 'स्वः' का उच्चतम अर्थात् निराकार लोक स्वर्ग है और इन दोनों का मध्यस्थित प्रदेश 'भुवः' अथवा अन्तरिक्ष है। यद्यपि इन 'भूः' 'भुवः' तथा 'स्वः' का अर्थ विभिन्न रूप से किया गया है, किन्तु वास्तव में ये तीनों केवल एक ही मण्डल हैं। निम्नलोक (पृथ्वी) का सार स्वयं प्रकाश रूप में प्रकट होता है, जिसे अग्नि कहा जाता था। आध्यात्मिक अभ्यास की सारी विधि—जिसे वैदिक वाणी में क्रतु (यज्ञ) कहा गया है—इसी पवित्र एवं गुप्त अग्नि के जलने के साथ प्रारम्भ हुई। अग्नि-मन्थन का गुप्त कार्य अर्थात् अरणियों के द्वारा प्राण तथा अपान या आत्मा तथा मन्त्र का प्रतिरूप अग्नि उत्पन्न करना वास्तव में वही प्रक्रिया या विधि है, जिसे तन्त्र तथा हठयोग में 'कुण्डलिनी में उद्दीपन उत्पन्न करना' कहा गया है। जब अग्नि पृथ्वी पर विस्तृत हो जाती है, तब नियमित रूप से संस्कृत (शुद्ध) होने लगती है। तत्पश्चात् यह प्रकाश का सच्चा रूप धारण करती है और अन्तरिक्ष का सार बन जाती है। इसे तब 'वायु' कहते हैं। पूर्ण रूप से परिमार्जित या संस्कृत हो जाने पर स्वर्गीय दिव्य दीप्ति का रूप धारण करती है, जिसे 'रवि' कहते हैं। तब ये तीनों तरह के प्रकाश, जो उपर्युक्त

लोकों के सार हैं, एकीभूत होकर एक प्रकाश हो जाते हैं। वस्तुतः यही वेद हैं—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिध्यर्थमृग्-यजुः-साम लक्षणम्॥

(मनु० १।२३)

कहना नहीं होगा कि इस प्रकाश के विना सच्चे ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। इस भाव को समझ लेने पर—जो विषयविशेष में निर्धारित किया जा चुका है—यह निष्कर्ष निकलता है कि वेद ही स्वभावतः सार्वलौकिक ज्ञान का निर्झर एवं विशुद्ध अन्तर्ज्ञान का मुख्य द्वार है।[1]

—:०:—

(५)

वेद की रक्षा

हिन्दू धर्म के लिए इतने महत्त्वशाली होने के कारण ही प्राचीन ऋषियों तथा विद्वानों ने इसकी पूर्ण रक्षा का उपाय किया है। यह उपाय इतना जागरूक है कि इतने दीर्घकाल के अनन्तर भी वेद का एक अक्षर भी स्खलित तथा च्युत नहीं हुआ। वेदपाठियों के मुँह से आज भी वेदों का सस्वर उच्चारण उसी प्रकार विशुद्ध रूप में सुना जा सकता है, जैसा यह प्राचीन वैदिक युग में किया जाता था। इसके लिए अष्ट विकृतियों की व्यवस्था महर्षियों ने की है। इन विकृतियों की दया से वेद का पद क्रमोच्चारण तथा विलोम-उच्चारण में अनेक बार आता है, जिससे उसके रूप-ज्ञान में किसी प्रकार की त्रुटि की सम्भावना हो ही नहीं सकती। इन विकृतियों के नाम हैं[2]—(१) जटा, (२) माला, (३) शिखा, (४) रेखा, (५) ध्वज, (६) दण्ड, (७) रथ तथा (८) घन। इनमें में से कतिपय विकृतियों का ही वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

१. महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराजजी के एतद्विषयक गम्भीर लेख का एक अंश। पूरे लेख के लिए द्रष्टव्य गंगा का 'वेदाङ्क' पृष्ठ १९२–१९७।

२. जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥

मन्त्रों का प्रकृत उपलब्ध पाठ 'संहितापाठ' कहलाता है। इस पाठ के प्रत्येक पद का विच्छेद होने पर यही 'पदपाठ' का नाम धारण करता है। पदपाठ में पद तो वे ही रहते हैं, परन्तु स्वरों में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। क्रम से दो पदों का पाठ 'क्रमपाठ' कहलाता है। अनुलोम तथा विलोम से जहाँ क्रम तीन बार पढ़ा जाता है उसे कहते हैं 'जटा'। जटापाठ में जब अगला एक पद जोड़ दिया जाता है तब इसका नाम होता है **शिखा**।[१] इन विकृतियों में सबसे विलक्षण तथा कठिन है 'घनपाठ', जिसमें पदों की आवृत्ति अनुलोम तथा विलोमक्रम से अनेक बार होती है। घन चार प्रकार का होता है, जिसका एक प्रकार शिखा के बाद पदों का विपर्यास तथा पुनः पाठ करने से होता है।[२] एक मन्त्र की आधी ऋचा के भिन्न पाठों में रूप की परीक्षा कीजिए। ऋक् **प्रातिशाख्य** में 'क्रम' विधान का वर्णन बड़े विस्तार के साथ नाना नियमों की सहायता से किया गया है।

संहितापाठ

ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा ॥ ऋ० १०।९७।२२।

पदपाठ

ओषधयः । सं० । वदन्ते । सोमेन । सह । राज्ञा ।

क्रमपाठ

ओषधयः सं । सं० वदन्ते । वदन्ते सोमेन । सोमेन सह ।
सह राज्ञा । राज्ञेति राज्ञा ।

जटापाठ

ओषधयः सं, समोषधयः, ओषधयस् सम् ।
सं वदन्ते, वदन्ते सं, सं वदन्ते ।

शिखापाठ

ओषधयः सं, समोषधयः, ओषधयः सं—वदन्ते ।
सं वदन्ते, वदन्ते सं, सं वदन्ते—सोमेन ॥

---

१. पदोत्तरं जटामेव शिखामार्याः प्रचक्षते ॥

२. शिखामुक्त्वा विपर्यस्य तत्पदानि पुनः पठेत् । अयं घन इति प्रोक्तः ॥

घनपाठ

ओषधयः सं, समोषधय ओषधयः सं वदन्ते,
वदन्ते समोषधय ओषधयः सं वदन्ते ॥
सं वदन्ते वदन्ते सं संवदन्ते सोमेन,
सोमेन वदन्ते सं, सं वदन्ते सोमेन ॥

इस घनपाठ की परीक्षा से पता चलता है कि प्रथम पद ५ बार, द्वितीय पद १० बार, तृतीय पद १३ बार, चतुर्थ पद १३ बार आते हैं। यह **मेधाशक्ति** की पराकाष्ठा तथा उत्कर्ष है कि ऐसे विषम पाठ को हमारे वेदपाठी शुद्ध स्वर से अनायास ही पाठ करते हैं[1] !!

सामवेद के मन्त्रस्थ स्वरों की गणना का संकेत इतनी प्रामाणिकता के साथ किया गया मिलता है कि स्वर में तनिक भी त्रुटि होने की सम्भावना ही नहीं रहती। यह स्वरगणना अत्यन्त समीचीन है और ऐसी गणना अन्य वेदों के मन्त्रों में नहीं पाई जाती। एक उदाहरण से इस वैज्ञानिक गणना का रहस्य समझाया जा रहा है।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
२०८४ रेवतीर्नः सधमाद इन्द्र सन्तु तुविवाजाः

३ २ ३ २ ३ १ २
क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥ १

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
२०८५ आ घ त्वावान् त्मना युक्तः स्तोतृभ्यो धृष्णवियानः

३ २उ ०३ २ ३क २र
ऋणोरक्षं न चक्र्योः। २

१ २र ३ १ २र ३ २
२०८६ आ यद् दुवः शतक्रतवा कामं जरितॄणाम्

३ २उ ३ १ २र
ऋणोरक्षं न शचीभिः। ३।१४ ठी

(धा० १८।उ० २। स्व० ४)

यह तृच सामवेद के उत्तरार्चिक का है। इन ऋचाओं पर उदात्तादि तीनों स्वरों के विशिष्ट चिह्न अंकित किये गये हैं। ऋग्वेद में उदात्त तथा प्रचयस्वर

---

१. अष्ट विकृतियों के उदाहरण के लिए देखिए सातवळेकर का ऋग्वेद संस्करण, पृष्ठ ७९२—८०८।

अचिह्नित रहता है, अनुदात्त के नीचे आडी रेखा तथा स्वरित के ऊपर खड़ी रेखा रहती है, यथा—

अ॒ग्नि मी॑ ळे पु॒रोहि॑तम्
अ उ स्व प्र अ उ स्व प्र

परन्तु सामवेद का स्वराङ्कन-प्रकार इससे भिन्न होता है। उदात्त के ऊपर १ का अंक, स्वरित पर २ का तथा अनुदात्त के ऊपर ३ का अंक रहता है। कभी इससे विचित्र चिह्न भी रहते हैं :—

(१) अन्तिम उदात्त पर २ का अंक रहता है, जैसे गिरा (३ २) (साम ८)।

(२) २ र—यह विशिष्ट चिह्न है। (क) जब दो उदात्त एक साथ आते हैं तब प्रथम उदात्त के ऊपर १ का अंक रहता है, दूसरा उदात्त चिह्नहीन रहता है और उससे परे स्वरित पर २र का चिह्न लगता है; "यथा उत द्विषो मर्त्यस्य" (६ २ ३१ २र) (साम० ६)। इस मन्त्र में षो तथा म दो उदात्त हैं, प्रथम पर १ का अंक है तथा द्वितीय 'म' अचिह्नित है। उनसे परे 'र्त्य' स्वरित होने से उस पर २र का चिह्न है।

(ख) अनुदात्त से परे स्वरित पर भी २र का चिह्न लगता है तथा पूर्व अनुदात्त पर '३ क' का चिन्ह। जैसे—

तन्वा (३क २र) (साम० ५२), चम्वोः (३क २र)। अर्थात् जात्य स्वरित के ऊपर '२र' का चिह्न लगता है।

(३) २ उ—जब दो उदात्त एक साथ आते हों और उनके बाद अनुदात्त आता हो, तब प्रथम उदात्त के ऊपर '२उ' का चिह्न रहता है तथा दूसरा अचिह्नित रहता है, यथा—ऊत्या वसो (२उ ३) (साम० ४१) यहाँ 'त्या' और 'व' दो उदात्तों के बाद 'सो' अनुदात्त है। फलतः प्रथम उदात्त 'त्या' के ऊपर २ उ का चिह्न है।

इन्हीं कि विशेष गणना की व्यवस्था सामवेद में की गई है। ऊपर उद्धृत तृच में अचिह्नित अक्षर १८ हैं। प्रथम ऋचा में अचिह्नित अक्षर हैं ४, दूसरी ऋचा में भी ४ तथा तृतीय ऋचा में १०। इन्हीं का योग १८ है, जो भा० १८=भागी १८ के द्वारा सूचित किया गया है। २ उ चिह्नित अक्षर दो हैं

(=उ० २)। रकार चिह्नित स्वरित (२र) संख्या में ४ (=स्व० ४) है। इन तीनों की सूचना 'ठी' संकेत में है। ठी=ठ+ई। ई चतुर्थ स्वर होने से स्व० ४ का सूचक है। ठकार टवर्ग का द्वितीय वर्ण है, अतः वह उ० २ का संकेत करता है। धारी के संकेत का नियम यह है कि उसे ५ से भाग देने पर शेष से वर्ग का निश्चय किया जाता है। १८ में ५ का भाग देने पर शेष ३ रहता है, जिससे तृतीय वर्ग (टवर्ग) की सूचना मिलती है। अतः 'ठी' के भीतर ही पूर्वोक्त तीनों चिह्नों का सुन्दर संकेत किया गया है। यह व्यवस्था केवल उत्तरार्चिक के मन्त्रों के लिये है। पूर्वार्चिक में स्वरित, उदात्त तथा धारी का क्रम पूर्वक्रम से उलटा होता है।[1]

कैसी दुर्भेद्य पंक्ति है वेददुर्ग की रक्षा के लिए। यही कारण है कि आज भी हमारा वेद उसी विशुद्धि तथा प्रामाणिकता के साथ उपलब्ध हो रहा है। संसार के साहित्य में यह एक अत्यन्त विलक्षण तथा विस्मयावह घटना है।

---

१. विशेष द्रष्टव्य सामवेद का संस्करण, स्वाध्याय मण्डल औंध, सं० १९९६, भूमिका—पृ० १०-१२।

तृतीय परिच्छेद

वैदिक अनुशीलन का इतिहास

१—प्राचीनकाल

संहिता की रचना के अनन्तर ही उनके रहस्यमय मन्त्रों के अर्थ समझाने की प्रवृत्ति जागरूक हुई। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रवृत्ति का प्रथम प्रयास दृष्टिगत होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ का विस्तृत वर्णन तो विद्यमान है ही, साथ ही साथ उनमें मन्त्रों का भी अर्थ न्यूनाधिक मात्रा में किया गया मिलता है। शब्दों की व्युत्पत्ति भी दी गई है। इन व्युत्पत्तियों को बड़े आदर के साथ यास्क ने 'इति ह विज्ञायते' कहकर निरुक्त में उद्धृत किया है। तथ्य की बात यह है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में विकीर्ण सामग्री के आधार पर ही निघण्टु तथा निरुक्त की रचना पीछे की गई। मन्त्रों के पदकार ऋषियों ने भी वेदार्थ के समझने में हमारी बड़ी सहायता की है। प्रत्येक मन्त्र के अवान्तरभूत पदों का पृथक्करण कर प्राचीन ऋषियों ने तत्तत् संहिताओं के 'पदपाठ' भी निर्मित किये हैं। इससे मन्त्रों के अर्थ का परिचय भलीभाँति मिल जाता है। इन पदपाठ के कर्ता ऋषियों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

पदकार

(१) **शाकल्य**—इन्होंने ऋग्वेद का 'पदपाठ' प्रस्तुत किया है। बृहदारण्यक उप० में शाकल्य का जनक की सभा में याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्रार्थ का वर्णन उपलब्ध होता है (अ० ४)। पुराणों के अनुसार ये ही शाकल्य ऋग्वेद के पदपाठ के रचयिता भी हैं। ब्रह्माण्ड पुराण (पूर्वभाग, द्वितीय पाद, अ० ३४) का कथन है—

> **शाकल्यः प्रथमस्तेषां तस्मादन्यो रथीतरः।**
> **बाष्कलिश्च भरद्वाज इति शाखाप्रवर्तकाः॥ ३२॥**
> **देवमित्रश्च शाकल्यो ज्ञानाहंकारगर्वितः।**
> **जनकस्य स यज्ञे वै विनाशमगमद् द्विजः॥ ३३॥**

शाकल्य का उल्लेख निरुक्त में तथा ऋक्-प्रातिशाख्य में मिलता है। अतः इन्हें उपनिषत्कालीन ऋषि मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है। यास्क ने अपने निरुक्त

में कहीं-कहीं इनके पदपाठ को स्वीकार नहीं किया है। उदाहरणार्थ निरुक्त ५।२१ में 'अरुणो मासकृद् वृकः' (१०।५।१८) की व्याख्या में यास्क ने 'मासकृत्' को एक पद मानकर 'मासों का कर्ता' अर्थ किया है, परन्तु शाकल्य ने यहाँ दो पद (मा, सकृत्) माना है। निरुक्त (६।२८) में 'वने न वायो' (ऋ० १०। २९।१) मन्त्र उद्धृत किया गया है। यहाँ 'वायः' को शाकल्य ने दो पद माना है (वा + यः)। इसका उल्लेख कर यास्क ने इसे अग्राह्य माना है। वे इसे एक ही पद मानते हैं। 'वायः' का यास्कसम्मत अर्थ है—'पक्षी'। इस प्रकार निरुक्त में कहीं-कहीं इनके मत का अनुमोदन नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त **रावण** कृत पदपाठ का भी अस्तित्व मिलता है। **रावण** ने ऋग्वेद के ऊपर अपना भाष्य भी लिखा है और साथ ही साथ पदपाठ भी प्रस्तुत किया है। यह पदपाठ शाकल्य का अनुकरण नहीं है, प्रत्युत अनेक स्थलों पर उन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार नवीन पदपाठ दिया है।

(२) यजुर्वेद के भी पदपाठ उपलब्ध हैं। माध्यन्दिनसंहिता का पदपाठ तो बम्बई से मुद्रित ही हो चुका है, परन्तु काण्वसंहिता का पदपाठ अभी तक अमुद्रित है। इनके रचयिताओं का पता नहीं चलता। तैत्तिरीयसंहिता के पदपाठकार का नाम **आत्रेय** है। इसका निर्देश भट्ट भास्कर ने अपने 'तैत्तिरीयसंहिता भाष्य' के आरम्भ में किया है—**उखश्चात्रेयाय ददौ येन पदविभागश्चक्रे।** इसीलिए 'काण्डानुक्रमणी' में आत्रेय पदकार कहे गये हैं (यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः)। बोधायन गृह्य० (३।९।७) में ऋषितर्पण के अवसर पर पदकार आत्रेय को भी तर्पण करने का उल्लेख है (आत्रेयाय पदकाराय)। ये आत्रेय शाकल्य के ही समकालीन प्रतीत होते हैं।

(३) सामवेद के पदकार **गार्ग्य** हैं, जिनके नाम तथा कार्य का समर्थन हमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों से मिलता है। निरुक्त (४।३।४) में 'मेहन' शब्द के प्रसङ्ग में बड़ी रोचक बातें प्रस्तुत की गई हैं। दुर्गाचार्य का कथन है कि ऋग्वेदियों के अनुसार यह एक ही पद है, पर छान्दोग्यों (सामवेदियों) के अनुसार यहाँ तीन पद हैं (म, इह, न)। यास्क ने दोनों पदकारों—शाकल्य तथा गार्ग्य—के मतों का एकत्र समीकरण किया है।[1] इस प्रसंग में सामपदकार 'गार्ग्य' के

---

१. बह्वृचानाम् 'मेहना' इत्येकं पदम्। छन्दोगानां त्रीण्येतानि पदानि—'म, इह, न' इति। तदुभयं पश्यता भाष्यकारेण उभयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ। (दुर्गवृत्ति—वेंकटेश्वर संस्करण, पृ० २७६)

नाम का स्पष्ट उल्लेख है। स्कन्दस्वामी की भी यही सम्मति है—'एकमिति शाकल्यः, त्रीणीति गार्ग्यः'। गार्ग्य के पदपाठ की विशेषता यह है कि इसमें पदों का छेद बहुत ही अधिक मात्रा में किया गया है। 'मित्रं' का पदपाठ मि + त्रम्, 'अन्ये' का अन् + ये, 'समुद्रः' का सम + उद्रम् है। इन पदपाठों को प्रामाणिक मानकर यास्क ने अपनी निरुक्ति भी ठीक इन्हीं के अनुरूप दी है। प्रमीतेः त्रायते इति मित्रः (१०।२१)=मरण से जो त्राण करता है वर्षादान से, वही मित्र—सूर्य है। समुद्द्रवन्ति अस्मात् आपः=जल जिससे बहता रहे, वह है समुद्र (२।१०) आदि। गार्ग्य की यह विशेषता ध्यान देने की वस्तु है। अथर्ववेद का पदपाठ ऋग्वेद के अनुरूप ही है। इसके रचयिता का पता नहीं चलता।

इन विभिन्न पदकारों में ऐकमत्य नहीं है। जिसे एक आचार्य एक पद मानता है, उसे ही दूसरे विद्वान् दो-दो या तीन-तीन पद मानते हैं। इस पद्धति के लिए अवश्य ही प्राचीन समय में कोई परम्परा रही होगी। 'आदित्य' शब्द के विषय में निरुक्त के भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों का इस प्रकार उल्लेख किया है—"शाकल्यात्रेयप्रभृतिभिर्नावगृहीतम्; पूर्वनिर्वचनाभिप्रायेण। गार्ग्यप्रभृतिभिरवगृहीतम्। विचित्राः पदकाराणामभिप्रायाः। क्वचिदुपसर्गविषयेऽपि नावगृह्णन्ति, यथा शाकल्येन 'अधिवासम्' इति नावगृहीतम्, आत्रेयेण तु अधिवासमिति अवगृहीतम्" (२।१३)।

स्कन्दस्वामी का अभिप्राय यह है कि पदकारों का तात्पर्य विचित्र ही होता है। उपसर्ग होने पर कोई अवग्रह नहीं देते और कोई सामान्य नियम से देते हैं। 'अधिवास' शब्द में शाकल्य अवग्रह नहीं मानते, आत्रेय मानते हैं। जो कुछ भी कारण हो वेदार्थ के अनुशीलन का प्रथम सोपान पदपाठ ही है। बिना पद का रूप जाने अर्थ का ज्ञान क्या कभी हो सकता है? पदपाठ के लिए भी व्याकरण के नियमों का आविष्कार बहुत पहिले ही हो चुका होगा।

ब्राह्मण ग्रन्थों में दी गई निरुक्ति तथा व्युत्पत्ति के आधार पर निघण्टु तथा निरुक्त ग्रन्थों की रचना अवान्तर काल में की गई। वेदाङ्ग का पूर्ण प्रयोजन भी वेद के अर्थ के समझने में सहायता देना है, प्रत्येक वेदाङ्ग के द्वारा वेद के अर्थ-ज्ञान में कितनी सहायता मिलती है, इसका विशेष वर्णन अगले परिच्छेद में किया जायगा।

मध्ययुग के अनेक वैदिक विद्वानों ने वैदिक संहिताओं के ऊपर भाष्य की रचना कर उसके अर्थ को विशद तथा बोधगम्य बनाया। इस अर्थानुशीलन कार्य में उन्होंने निरुक्त, व्याकरण, पुराण, इतिहास आदि समस्त आवश्यक सामग्री का

उपयोग किया। ऐसे भाष्यकारों में माधवभट्ट, स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्गीथ, वेंकटमाधव, आनन्दतीर्थ ऋग्वेद के मान्य भाष्यकर्ता हैं; भवस्वामी, गुहदेव, क्षुर, भट्ट भास्कर मिश्र तैत्तिरीयसंहिता के, उवट और महीधर माध्यन्दिनसंहिता के, माधव, भरतस्वामी तथा गुणविष्णु सामवेद के आदरणीय भाष्य-निर्माता हैं।[1] इन सबसे विलक्षण कार्य है आचार्य सायण का, जिन्होंने पाँच वैदिक संहिताओं, ११ ब्राह्मणों तथा २ आरण्यकों के ऊपर अपने पाण्डित्यपूर्ण भाष्यग्रन्थों का निर्माण किया। सायणाचार्य के भाष्य ही आज हमारे वेद के अर्थ तथा यज्ञ के रहस्य समझने में एकमात्र पथ-प्रदर्शक तथा प्रकाशस्तम्भ हैं, इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

२—पाश्चात्त्य वेदज्ञों का कार्य

वेद के अनुशीलन की ओर पाश्चात्त्य लोगों का ध्यान १८ वें शतक के अन्तिम काल में तब हुआ जब १७८४ ई० में सर विलियम जोन्स नामक अंग्रेजी विद्वान् के प्रयत्न से, जो आगे चलकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उच्च न्यायालय के प्रधान जज हुए, कलकत्ते में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी नामक शोधसंस्था की नींव रक्खी गई। इसी समय से पाश्चात्त्यों का ध्यान संस्कृत भाषा तथा साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। तब से लेकर आज तक उनका प्रयत्न विशेष रूप से जारी है।

आज से १५० वर्ष पूर्व १८०५ ई० में कोलब्रूक साहब ने 'एशियाटिक रिसर्चेज' नामक पत्र में वेद के ऊपर एक विस्तृत विवेचनात्मक निबन्ध लिखा, जिसमें वेद के नाना ग्रन्थों के विवरण के साथ उनका महत्त्व भी प्रदर्शित किया गया है। वेदानुशीलन के विषय में पाश्चात्त्य पण्डितों का यही प्रथम प्रयास है। इसके पहले प्रसिद्ध फ्रेञ्च लेखक वाल्टेयर ने भारत से 'राबर्ट डी नौबिलिस' नामक एक मिशनरी के द्वारा लाये गये एक कल्पित यजुर्वेद की पुस्तक के आधार पर हिन्दुओं की विद्या तथा बुद्धि की विशेष प्रशंसा की थी, परन्तु इस ग्रन्थ के कृत्रिम तथा कल्पित सिद्ध होने पर लोगों में संस्कृत के विषय में बहुत कुछ अविश्वास तथा अश्रद्धा पैदा हो गई थी। उसका निराकरण कोलब्रूक साहब के लेख से भलीभाँति हो गया। ये आरम्भ में संस्कृत के इतने विरोधी थे कि

---

१. इन भाष्यकारों के परिचय के लिए देखिए—
बलदेव उपाध्याय—आचार्य सायण और माधव, पृ० १०८–११४।

भगवद्गीता का अंग्रेजी में १८८५ ई० में अनुवाद करनेवाले विलकिन्स साहब को संस्कृत के पीछे पागल कहा करते थे, परन्तु पीछे उनकी सम्मति बदली और उन्होंने संस्कृत का गाढ़ अनुशीलन कर संस्कृत के ग्रन्थ-रत्नों को यूरोपीय विद्वानों से परिचित कराया। यह निबन्ध भी पश्चिमी विद्वानों का ध्यान वैदिक साहित्य की ओर आकृष्ट करने में विशेष सफल रहा। प्रायः पचीस वर्षों के बाद **रोजेन** नामक जर्मन विद्वान् ने बड़े उत्साह से ऋग्वेद का सम्पादन आरम्भ किया, परन्तु १८३७ ई० में इनकी असामयिक मृत्यु के कारण केवल प्रथम अष्टक ही सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ। इसी समय मे पेरिस में संस्कृत के अध्यापक **बरनूफ** साहब ने इतने अच्छे और योग्य छात्र तैयार किये कि उन्होंने आगे चलकर वेद के अनुशीलन में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

यूरोप में वैदिक अनुशीलन के इतिहास में १८४६ ई० चिरस्मरणीय रहेगी, क्योंकि इसी वर्ष **रुडाल्फ राथ** नामक जर्मन विद्वान् ने 'वेद का साहित्य तथा इतिहास' नामक छोटी, किन्तु महत्त्वपूर्ण पुस्तिका लिखी, जिसमें यूरोप मे वेद के अनुशीलन के प्रति वास्तविक और गंभीर प्रवृत्ति पैदा हुई। राथ महोदय ऐतिहासिक पद्धति के उद्भावक के रूप में चिरस्मरणीय रहेंगे, क्योंकि इन्होंने वेद के अर्थ समझने के लिये सायण आदि भारतीय भाष्यकारों की व्याख्या को एकदम अग्राह्य ठहरा कर पश्चिमी भाषा-विज्ञान तथा तुलनात्मक धर्म को ही प्रधान सहायक माना। दोषपूर्ण होने पर भी इस पद्धति ने वेदों के अर्थ-ज्ञान के लिये ऐतिहासिक पद्धति को विशेष महत्त्व दिया। इनकी दृष्टि से वेद के ही विभिन्न स्थलों में आये हुए शब्दों की छानबीन करने से संदिग्ध शब्दों के अर्थ स्वयं आभासित हो सकते हैं। इसी पद्धति का अनुसरण कर राथ महोदय ने सेन्टपीटर्सबर्ग संस्कृत-जर्मन महाकोश का निर्माण किया, जो इनकी विद्वत्ता, प्रतिभा तथा अध्यवसाय का पर्याप्त सूचक है। इसमें प्रत्येक शब्द का अर्थ विकाश क्रम से दिया गया है, जिसमें वेद से लेकर लौकिक संस्कृत ग्रन्थों के भी सन्दर्भ अर्थ-निर्णय करने के लिये उद्धृत किये गये हैं। इस कोश में वैदिक शब्दों का अर्थ–संकलन स्वयं राथ महोदय ने ही किया है, तथा लौकिक संस्कृत शब्दों का अर्थ–निर्णय दूसरे जर्मन विद्वान् बोटलिंग ने किया। यह कोश आज भी बेजोड़ है, तथा संस्कृत शब्दों के ऐतिहासिक अर्थ–विकाश को समझाने के लिये नितान्त उपयोगी है।

राथ महोदय के सहपाठियों तथा शिष्यों की एक लम्बी परम्परा है, जिसमें वेद के अनुशीलन में विशेष भाग लिया गया है। इन पश्चिमी विद्वानों के कार्य

को हम कई श्रेणियों में बाँट सकते हैं। एक तो है वैदिक ग्रन्थों का वैज्ञानिक शुद्ध संस्करण, दूसरा है वैदिक ग्रन्थों का अनुवाद तथा तीसरा है वेदार्थ के अनुशीलन–विषयक ग्रन्थ तथा वैदिक संस्कृति के रूप-प्रकाशक व्याख्या-पुस्तक। स्थानाभाव के कारण मान्य ग्रन्थकारों तथा उनके कार्यों का ही यहाँ विवेचन किया जा रहा है।

ग्रन्थों का संस्करण

मैक्समूलर साहब पाश्चात्त्य विद्वानों के शिरोमणि हैं, जिन्होंने वेद के विषय में नाना ग्रन्थों की रचना कर उनके सिद्धान्त तथा धर्म को पश्चिमी देशों में खूब ही लोकप्रिय बनाया। विद्वत्ता के साथ सहानुभूति भी उनका विशेष गुण था। वे भारतीय धर्म, दर्शन तथा संस्कृति को सहानुभूति की दृष्टि से परखते थे, तथा भारतीयों के हृदय तक पहुँचने की कोशिश करते थे। आज भी उनके ग्रन्थ विद्वत्ता के साथ उदारता के प्रतीक हैं। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है ऋग्वेद के सायण भाष्य का प्रथम बार विवेचनापूर्ण सम्पादन। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से वेद–विषयक अध्ययन अध्यापन की नींव यूरोप में पक्की हो गई। इसका प्रारम्भ १८४९ ई० तथा समाप्ति १८७५ ई० में हुई। तीन हजार से अधिक पृष्ठों में इस बृहत् ग्रन्थ के सम्पादन तथा कई सौ पृष्ठों की भूमिका एवं टिप्पणी से संपादक के अध्यवसाय का कुछ अनुमान किया जा सकता है। १८९०–९२ में इसका सुधरा हुआ द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। 'प्राचीन वैदिक संस्कृत साहित्य' नामक ग्रन्थ में वैदिक साहित्य की विद्वत्तापूर्ण मीमांसा करने के अतिरिक्त इन्होंने 'पवित्र प्राच्य ग्रन्थमाला' में स्वयं तथा अन्य पश्चिमी विद्वानों के द्वारा वैदिक ग्रन्थों का अनुवाद प्रकाशित किया। डाक्टर वेबर का नाम भी पश्चिमी विद्वानों में प्रसिद्ध है, जिनका विस्तृत तथा सूक्ष्मदर्शी पाण्डित्य आलोचकों को विस्मय में डाल देने वाला था। इन्होंने यजुर्वेदसंहिता तथा तैत्तिरीयसंहिता का सम्पादन ही नहीं किया; बल्कि **इन्दिशे स्तूदियन** नामक जर्मन शोधपत्रिका में वैदिक अनुसंधान को अग्रसर किया। आउफ्रेक्ट नामक विद्वान् ने १८६२–६३ में ऋग्वेद का एक संस्करण अत्यन्त योग्यता के साथ रोमन लिपि में निकाला। जर्मन विद्वान् श्रोदर ने मैत्रायणीसंहिता का एक वैज्ञानिक संस्करण बड़ी योग्यता के साथ १८८१–८६ में तथा काठकसंहिता का १९००–११ में संस्करण निकाला। ये संहितायें अभी हाल में ही स्वाध्यायमण्डल (औंध) से सातवडेकरजी के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुई हैं। इसके अतिरिक्त **स्टेवेन्सन** महोदय द्वारा राणायनी शाखा की साम-संहिता का १८४२ में अंग्रेजी अनुवाद के साथ, बेन्फी

साहब के द्वारा कौथुम-शाखीय साम-संहिता का १८४८ में जर्मन अनुवाद के साथ तथा राथ और ह्विटनी द्वारा १८५६ में अथर्ववेद का संस्करण पश्चिमी विद्वानों के प्रयास तथा परिश्रम का उज्ज्वल उदाहरण है। पिप्पलाद-शाखा की अथर्व-संहिता की एक ही प्रति काश्मीर में उपलब्ध हुई थी। उसी के आधार पर प्रो० ब्लूमफील्ड तथा डा० नार्वे ने इस अतिजीर्ण प्रति का पूरा फोटो लेकर उसी फोटो को तीन बड़ी-बड़ी जिल्दों में १९०१ ई० में जर्मनी से प्रकाशित किया। फोटो होने से यह ग्रन्थ मूल प्रति की हूबहू नकल है। इसके प्रकाशन से पश्चिमी विद्वानों के भारतीय विद्या की रक्षा के प्रति विशेष मनोयोग और ध्यान का इससे कोई उत्तम उदाहरण क्या प्रस्तुत किया जा सकता है? ब्राह्मणों, श्रौतसूत्रों तथा प्रातिशाख्यों के भी शुद्ध वैज्ञानिक संस्करण अनेक विद्वानों ने समय-समय पर किये हैं।

प्रो० हाग (M. Haug) का ऐतरेयब्राह्मण का संस्करण तथा अंग्रेजी अनुवाद आज भी अपनी भूमिका के लिए उपादेय है (बम्बई, १८६३)। डा० आउफ्रेक्ट का रोमन अक्षरों में इस ब्रा० का संस्करण अत्यन्त विशुद्ध माना जाता है (बान, जर्मनी; १८७९)। इसी प्रकार प्रो० लिण्डनर (B. Lindner) का कौषीतकि ब्रा० का संस्करण भी सुन्दर है (जेना, १८८७)। माध्यन्दिन-शतपथ ब्रा० का प्रथम सं० डा० वेबर के सम्पादकत्व में बर्लिन से निकला था (१८५५ ई०)। सामवेदी ब्राह्मणों में अनेक के अनुवाद जर्मन भाषा तथा अंग्रेजी मे भी है। डा० वेबर ने अद्भुत ब्रा० का सं० तथा अनुवाद (बर्लिन १८५८) तथा वंश ब्रा० का संपादन किया है। डा० बर्नेल (A. C. Burnell) ने अनेक सामवेदी ब्राह्मणों को प्रकाशित किया—सामविधान लण्डन से (१८७३ ई०), वंश ब्रा० तथा देवताध्याय ब्रा० १८७३ में, आर्षेय ब्रा० १८७६ में तथा संहितोपनिषद् ब्रा० १८७७ में मंगलोर से। जैमिनीय ब्रा० का विशेष अंश अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणियों के साथ डा० एर्टल (H. Oertal) ने तथा जर्मन अनुवाद के साथ डा० कैलेण्ड ने प्रकाशित किया। प्रथम ग्रन्थ 'अमेरिकन ओरिएण्टल जर्नल' (१६ वीं जिल्द) में छपा है, तो दूसरा स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में। प्रो० गास्ट्रा (D. Gaastra) ने गोपथ ब्रा० का एक सुन्दर नागराक्षरों में सं० निकाला है (लेडन, हालैण्ड; १९१९)।

श्रौतसूत्रों के भी विशुद्ध सं० पाश्चात्यों की कृपा से हमें प्राप्त हैं। इस विषय में आश्वलायन गृह्य तथा पारस्कर गृह्य के सम्पादक स्टेन्सलर (stenzler), शांखायन-श्रौतसूत्र के सम्पादक हिलेब्राण्ट (Hillebrandt), बौधायन-श्रौतसूत्र

के सम्पादक कैलेण्ड (W. caland), आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र के सम्पादक गार्बे (R. Garbe), मानव-श्रौतसूत्र के सम्पादक क्नाउएर (Knauer), कात्यायन-श्रौतसूत्र के सं० वेबर तथा कौशिक-श्रौतसूत्र के सं० के सम्बन्ध में ब्लूमफील्ड के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

अनुवाद

वैदिक ग्रन्थों के अनुवाद की ओर भी पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि आरम्भ से ही आकृष्ट हुई है। आज से पूरे सौ वर्षों से ऊपर हुए १८५० ई० में डाक्टर विलसन (H. H. Wilson) ने ऋग्वेद का पूरा अंग्रेजी अनुवाद सायणभाष्य के अनुसार किया। ऋग्वेद के दो जर्मन अनुवाद प्रायः एक ही काल में प्रकाशित हुए—ग्रासमान (H. Grassmann) का पद्यानुवाद (१८७६–७७ ई०, दो जिल्दों में), जिसमें राथ साहब की पद्धति से सायणभाष्य की उपेक्षा कर स्वतन्त्र रीति से अनुवाद किया गया है; (२) लुड्विग (A. Ludwig), का गद्यानुवाद विस्तृत व्याख्या के साथ ६ जिल्दों में (१८७६–१८८८ तक), जिसमें उतनी स्वतन्त्रता अंगीकृत नहीं हुई है। इसके अनन्तर काशी से ग्रिफिथ (R. T. H. Griffith) का अंग्रेजी में पद्यानुवाद उपयोगी सूचियों तथा टिप्पणियों के साथ (१८८९–९२) प्रकाशित हुआ, जिसमें सायणभाष्य का पूरा उपयोग किया गया है। ऋग्वेद के ऊपर जर्मन विद्वान् डा० ओल्डनबर्ग (H. Oldenberg) की बड़ी ही मार्मिक तथा विवेचनापूर्ण व्याख्या दो जिल्दों में बर्लिन से प्रकाशित हुई है (१९०९–१२)। इस ग्रन्थ में ओल्डनबर्ग ने प्रत्येक सूक्त के ऊपर पूर्ववर्ती पण्डितों की व्याख्या का निर्देश कर अपनी विशद विवेचना प्रस्तुत की है। इन्होंने एक दूसरे ग्रन्थ में ऋग्वेद के छन्द आदि अन्य विषयों की भी विशद विवेचना प्रस्तुत की है (१८८८ ई०, बर्लिन)। ये ग्रन्थ ऋग्वेद के अनुशीलन के लिए बड़े ही महत्त्वशाली, प्रामाणिक तथा उपादेय हैं, जिनकी उपयोगिता आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है।

यजुर्वेद की माध्यन्दिनसंहिता का अंग्रेजी पद्य में अनुवाद ग्रिफिथ ने किया है (काशी, १८८९)। तैत्तिरीयसंहिता का बड़ा ही प्राञ्जल अनुवाद डा० कीथ (A. B. Keith) ने हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज (जि० १८, १९; १९१४ अमेरिका) में किया है, जिसके आरम्भ में बहुत ही उपयोगी बातों की मीमांसा अनुवादक की विलक्षण विद्वत्ता का परिचय देती है। सामवेद का पद्यानुवाद भी अंग्रेजी में ग्रिफिथ साहब का है। अथर्ववेद के दो अनुवाद प्रस्तुत हैं। ग्रिफिथ

का अनुवाद मूल अर्थ को समझने में पूरा सहायक है (१८९५–९८, काशी), तो ह्विटनी (W. H. Whitney) का अनुवाद जिसे लैनमैन (C. R. Lanman) ने पूरा करके प्रकाशित किया है (हारवर्ड ओ० सी० जिल्द ७ और ८, १९०५) विद्वत्तापूर्ण भूमिका तथा टिप्पणियों के कारण वैदिकों के लिए बड़ा ही उपादेय, प्रामाणिक तथा प्राञ्जल है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में तीन के अनुवाद अत्यन्त परिश्रमसाध्य तथा उपयोगी हैं—(१) शतपथ ब्रा० का इग्लिंग (D. J. Eggeling) का 'पवित्र प्राच्य ग्रन्थमाला' के ५ जिल्दों (१२, २६, ४१, ४३, ४४) में प्रकाशित अनुवाद अध्यवसाय तथा परिश्रम का उदाहरण है। (२) ऋग्वेद के दोनों ब्राह्मणों का डा० कीथ का अनुवाद (हा० ओ० सी०, जि० २४, १९२०) सौ पृष्ठों की उपयोगी भूमिका के साथ संवलित होने से नितान्त महत्त्वपूर्ण है। (३) ताण्ड्य महाब्राह्मण का डा० कैलेण्ड (Caland) का अनुवाद (बिब्लि०, कलकत्ता १९३२) भी सामवेदीय विषयों से सम्बद्ध भूमिका से युक्त होने के कारण बहुत ही उपयोगी है, जिसमें कर्मकाण्ड से सम्बद्ध विषयों का भी संकेत टिप्पणियों में दे दिया गया है। छोटे मोटे ब्राह्मणों के तो अनुवाद जर्मन तथा अंग्रेजी में अनेक हैं। ऊपर के तीनों ब्राह्मणों के अनुवाद विस्तार में ही बड़े नहीं हैं; प्रत्युत विद्वत्ता में भी अद्वितीय हैं।

उपनिषदों के अनुवाद तो अनेक हैं और बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण हैं। वेदांग के ग्रन्थों जैसे प्रातिशाख्य, निरुक्त आदि के भी उपादेय अनुवादों को पाश्चात्त्य विद्वानों ने प्रकाशित किया है।

व्याख्या—ग्रन्थ

वेदों के विषयों के ऊपर भी स्वतन्त्र रूप से पश्चिमी विद्वानों ने बड़ी ही उपयोगी सामग्री एकत्र की है। 'संस्कृत जर्मन महाकोश' की चर्चा तो ऊपर की गई है। ग्रासमान का वैदिक कोश, ऋग्वेद से ही सम्बन्ध रखता है (१८७३–७५) जिसमें ऋग्वेदीय प्रत्येक स्थल का उल्लेख करके शब्द के अर्थ का निर्णय किया गया है। ऋग्वेद के अनुवाद की त्रुटियों की पूर्ति इस कोश से होती है। डा० मैकडानल तथा कीथ का 'वैदिक इन्डेक्स' वैदिक संस्कृति से सम्बद्ध विषयों का एक छोटा विश्वकोष ही है, जिसमें ऐतिहासिक तथा भौगोलिक विषयों के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक आदि विषयों की पूर्ण मीमांसा है।

वैदिक व्याकरण तीन विद्वानों के बड़े ही सुन्दर हैं—

(१) ह्विटनी का व्याकरण मुख्यतया लौकिक संस्कृत का ही है, परन्तु तुलना के लिए वैदिक भाषा का भी व्याकरण दिया गया है।

(२) डा० मैकडानल का वैदिक व्याकरण (वैदिक ग्रामर १९१०, जर्मनी) तो इस विषय का सर्वतोमान्य तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है, जिसका संक्षिप्त रूप भी सामान्य छात्रों के लिये विशेष उपयोगी है (वैदिक ग्रामर फार स्टूडेन्ट्स, आक्सफोर्ड १९२०)। एक विशेषता अवश्य गम्भीरतया मननीय है कि जहाँ पाणिनीय व्याकरण में वैदिक प्रयोगों को 'बहुलं छन्दसि' के भीतर निविष्ट कर दिया गया है, उन्हें भी यहाँ नियमों में बाँधने का प्रयत्न किया गया है।

(३) डा० वाकरनागेल (J. Wackrnagel) का वैदिक व्याकरण जर्मन भाषा में निबद्ध है। अनेक जिल्दों में प्रकाशित इस ग्रन्थ में नवीनतम भाषाशास्त्रीय अनुसन्धानों का पूर्ण उपयोग किया गया है। यह ग्रन्थ विद्वानों की सम्मति में अपने विषय का सर्वोत्तम प्रौढ़ ग्रन्थ है।

वैदिक छन्दों के ऊपर भी पश्चिमी विद्वानों ने अध्ययन किया है। प्रो० वेबर ने अपने 'इन्दिशे स्तुदियन' नामक शोधपत्रिका की आठवीं जिल्द में इस विषय का विस्तृत अध्ययन प्रकाशित किया है। प्रो० अर्नाल्ड (E. V. Arnold) ने ऋग्वेदस्थ छन्दों का अध्ययन कर मन्त्रों के काल-निर्णय का भी 'वैदिक मीटर' नामक ग्रन्थ में (१९०५ ई०) स्तुत्य प्रयास किया है। इनके सिद्धान्त परिश्रम-साध्य होने पर भी विद्वानों में मान्य नहीं हुए।

वैदिक पुराण-विज्ञान—वेदों के धर्म के अध्ययन-प्रसंग में पाश्चात्य पण्डितों ने एक स्वतन्त्र तुलनात्मक पुराण-विज्ञान (कम्पैरेटिव माइथोलाजी) की सृष्टि की है, जिसमें वेद के धार्मिक सिद्धान्तों की तुलना अन्य धर्मों के तथ्यों से भी की गई है। वैदिक धर्म पर प्रो० मैक्समूलर, मैकडानल तथा जर्मन विद्वान् हिलेब्रान्ट ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें हिलेब्रान्ट का जर्मन ग्रन्थ तीन बड़ी-बड़ी जिल्दों में प्रकाशित हुआ है (वेदिशे माथोलाजी)। इसके अतिरिक्त श्रौत यज्ञयागों के विषय में भी इसका प्रामाणिक ग्रन्थ बड़ा ही उपादेय है (वेदिशे रिचुआल लितरातुर; जर्मनी १९२५)। जर्मन भाषा से अपरिचित पाठकों के लिए डा० मैकडानल का 'वेदिक माथोलाजी' नामक ग्रन्थ व्यापकता तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से नितान्त उपादेय है। फ्रेंच विद्वानों ने भी श्रौत-विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना फ्रेंच भाषा में की है। डा० कीथ का दो जिल्दों में विभक्त ग्रन्थ भी विशेष उपयोगी है। इसमें वेद का धर्म तथा उपनिषद् के तत्त्वज्ञान की प्रामाणिक मीमांसा है। 'रिलिजन एण्ड फिलासोफी आफ वेद

एण्ड उपनिषद्' नामक यह ग्रन्थ हारवर्ड से दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ है (संख्या ३१-३२, १९३४-३५)। वेद के धर्म के अनुशीलन के लिए पाश्चात्यों के और भी अनेक ग्रन्थ हैं।

वैदिक साहित्य का इतिहास—इस विषय में भी तीन-चार ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। डा० वेबर के एतद्विषयक ग्रन्थ को अपने विषय का सर्वप्रथम प्रतिपादक होने का गौरव प्राप्त है। यह मूलतः जर्मन भाषा में निकला था, जिसका अंग्रेजी अमुवाद ट्रूबनर संस्कृत सीरीज (लण्डन) में उपलब्ध है। मैक्समूलर का ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ एनसेण्ट संस्कृत लिटरेचर' (१८५९, लण्डन) वैदिक ग्रन्थों का गाढ़ अध्ययन प्रस्तुत करता है और यह आज भी अपनी उपयोगिता से वंचित नहीं हुआ है। मैक्डानल का 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' (संस्कृत साहित्य का इतिहास) अधिकतर वैदिक साहित्य का ही विशेष अध्ययन है और छात्रों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है (लण्डन, १९०५)। डा० विन्टरनित्स का तीन खण्डों में विभक्त ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर' (मूल जर्मन का प्रकाशन १९०४, लाइपजिग से) इन तीनों की अपेक्षा व्यापकता तथा विशालता की दृष्टि में बढ़ कर है। इसके प्रथम खण्ड में वैदिक साहित्य का व्यापक परिचय दिया गया है। जर्मन पाठकों को लक्ष्य कर लिखा गया यह ग्रन्थ सामान्य बातों के विशेष वर्णन में ही व्यस्त रहा है, परन्तु फिर भी इसकी उपयोगिता कम नहीं है। मूलतः जर्मन भाषा में निबद्ध 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर' नामक ग्रन्थ के आरम्भिक दो खण्डों का अंग्रेजी अनुवाद कलकत्ता विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है। तीसरा खण्ड भी अंग्रेजी में उपलब्ध है।

वैदिक साहित्य की सूचियाँ—वैदिक ग्रन्थों के वैज्ञानिक तथा विशुद्ध संस्करण के लिए सूचियों का विशेष उपयोग होता है। प्राचीन काल में अनेक 'अनुक्रमणी ग्रन्थ' इसी की पूर्ति के लिये लिखे गये थे। पाश्चात्य विद्वानों ने इधर विशेष ध्यान दिया है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है डा० ब्लूमफील्ड का 'वैदिक कान्कार्डेन्स' (हावर्ड ओरिएन्टल सीरीज, १०वीं जिल्द, १९०६, पृ० सं० ११०२), जिसमें उस समय तक छपे वैदिक ग्रन्थों की प्रत्येक ऋचा के प्रत्येक पाद तथा प्रैष आदि गद्यमय यजुर्वाक्यों की भी बृहत् सूची है। इसमें विभिन्न पाठ भेदों का भी संग्रह है। रोमन लिपि में छपे मन्त्रों वाला यह ग्रन्थ साधारण पाठकों के लिए उपयोगी है, तो इन्हीं का दूसरा ग्रन्थ 'ऋग्वेदीय रेपिटीशन्स' (हा० ओ० सी०, २० तथा २४ वीं जिल्द) विशेषज्ञों के उपयोग के लिए है। इसमें दिखलाया गया है कि किस प्रकार ऋग्वेद के मन्त्र या पाद की पुनरावृत्ति कहाँ कहाँ हुई है,

तथा उससे उपयोगी तथ्यों की मीमांसा की गई है। कर्नल जेकब (G. A. Jacob) का 'उपनिषद् वाक्यकोश' भी ६६ उपनिषदों तथा गीता के वाक्यों की बृहत् सूची प्रस्तुत करता है। यह भी अध्ययन के लिए कम उपयोगी नहीं है (१८९१, बम्बई)। फ्रेंच विद्वान् लुई रेनो (Louis Renou) ने एक उपयोगी ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें वेद तथा वैदिक विषयों पर निर्मित ग्रन्थों तथा लेखों का पूर्ण परिचय है। उपादेय ग्रन्थ फ्रेंच भाषा में 'बिब्लिओग्राफी वैदिक' नाम से पेरिस से प्रकाशित है (१९३१)।

३—नव्य भारत में वैदिक अनुशीलन

गत शताब्दी के अन्तिम भाग में भारतवर्ष के विद्वानों की भी दृष्टि वेद की ओर आकृष्ट हुई। इसका कारण था दो नवीन धर्म सुधारक समाजों की स्थापना। बंगाल में राजा राममोहनराय के द्वारा स्थापित 'ब्रह्मसमाज' ने तथा पंजाब में स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा प्रतिष्ठापित 'आर्यसमाज' ने वैदिक सिद्धान्त को ही हिन्दूधर्म का मौलिक विशुद्ध सिद्धान्त ठहरा कर उनकी ओर भारतीयों का ध्यान आकृष्ट किया। ब्रह्मसमाज ने उपनिषदों के अध्ययन को पुनरुज्जीवित किया, तथा आर्यसमाज ने वैदिक संहिता के अध्ययन-अध्यापन को। पाश्चात्त्य विद्वानों के वैदिक अनुशीलन से भी भारत में प्रोत्साहन मिला और भारतीय विद्वानों ने वैदिक ग्रन्थों के विशुद्ध संस्करण तथा ऐतिहासिक अनुशीलन प्रस्तुत किये। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद तथा ऋग्वेद के ऊपर अपनी पद्धति के अनुसार संस्कृत में सुन्दर भाष्यों की रचना की है।

नवीन शैली के वेदज्ञों में शङ्कर पाण्डुरङ्ग पण्डित, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, शंकर बालकृष्ण दीक्षित और सत्यव्रत सामश्रमी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। शङ्कर पाण्डुरङ्ग पण्डित ने सायण भाष्य के साथ अथर्ववेद का बड़ा ही विशुद्ध संस्करण चार जिल्दों में प्रकाशित किया (बम्बई १८९५-१८९८) जिससे अच्छा संस्करण इसका आजतक प्रकाशित न हो सका। इन्होंने नवीन पद्धति पर ऋग्वेद की व्याख्या भी 'वेदार्थ यत्न' नामक ग्रन्थ में विवेचनात्मक टिप्पणों के साथ मराठी तथा अंग्रेजी में प्रकाशित करना आरम्भ किया था। यह श्लाघनीय उद्योग व्याख्याता की अकाल मृत्यु के कारण तृतीय मण्डल तक ही समाप्त होकर रह गया। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के दोनों ग्रन्थ 'ओरायन' और 'आर्कटिक होम इन दि वेदज' वैदिक आलोचना के मौलिक गवेषणापूर्ण ग्रन्थ हैं, जिनमें उनकी विद्वत्ता, तर्क का उपन्यास तथा बुद्धि की निर्मलता अवलोकनीय

है। 'ओरायन' में ज्योतिष-सम्बन्धी प्रमाणों के आधार पर वेद का निर्माणकाल विक्रम से चार हजार वर्ष पूर्व निर्णीत है, तथा दूसरे में आर्यों का मूल निवास उत्तरी ध्रुव के पास सिद्ध किया गया है और पाश्चात्यों के प्रचलित मतों का खण्डन है। दीक्षित ने 'भारतीय ज्यौतिष' सम्बन्धी अपने मराठी ग्रन्थ में वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध ज्योतिष प्रमाणों के बल पर वेदरचना की विस्तृत प्रामाणिक विवेचना की है ('भारतीय ज्योतिःशास्त्र १८९६, पूना)। सत्यव्रत सामश्रमी बंगाल के एक मान्य वैदिक थे, जिन्होंने सामवेद से सम्बद्ध ग्रन्थों का प्रामाणिक तथा विशुद्ध संस्करण प्रकाशित किया है। वे सामवेद के मार्मिक विद्वान् थे। उनका कीर्ति-स्तम्भ है सामसंहिता तथा गान-संहिता का ५ भागों में विशुद्ध संस्करण (कलकत्ता, १८७७), जिसमें साम, गायन, सायणभाष्य आदि का एकत्र प्रकाशन प्रामाणिक ढंग से किया गया है। आर्य-समाज के अनेक विद्वानों ने वैदिक ग्रन्थों का संस्करण तथा विवरण प्रस्तुत कर अपने वेद-प्रेम का परिचय दिया है। आर्यसमाजी विद्वान् श्रीपाददामोदर सातवडेकर ने चारों वेदों की संहिताओं को बड़ी ही उपयोगी अनुक्रमणिका के साथ स्वाध्याय मण्डल (औंध, जिला सतारा) से सम्पादित कर प्रकाशित किया है। ये संस्करण बड़े ही उपयोगी, विशुद्ध तथा प्रामाणिक हैं। काठक संहिता, मैत्रेयणीय संहिता तथा साम की गान संहिता (प्रथम भाग) तथा दैवत संहिता (विभिन्न देवताओं से सम्बद्ध मन्त्रों का एकत्र संग्रह) उसी प्रकार उपयोगी तथा उपादेय हैं। तिलक विद्यापीठ (पूना) से ५ जिल्दों में प्रकाशित ऋग्वेद का सायणभाष्य प्राचीनतम हस्तलेखों पर आधारित होने से अत्यन्त विशुद्ध, प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक संस्करण है। वह मैक्समूलर के प्रख्यात संस्करण से भी विशुद्धतर है। इसके लिए इसके सम्पादकगण हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप का वेंकट-माधव की व्याख्या तथा अन्य भाष्यों के आवश्यक उद्धरणों से संवलित संस्करण भी मन्त्रों के अर्थज्ञान की आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करने के कारण विशेष उपयोगी है (४ जिल्द, लाहौर)।

वैदिक संहिताओं के भाषानुवाद भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें रमेशचन्द्र दत्त का बंगला में, रामगोविन्द त्रिवेदी तथा श्रीराम शर्मा आचार्य का हिन्दी में ऋग्वेद का अनुवाद; जयदेव विद्यालंकार का साम तथा अथर्ववेद का हिन्दी अनुवाद तथा श्रीधरपाठक का मराठी में माध्यन्दिनसंहिता का अनुवाद उपयोगी हैं, परन्तु इनमें अंग्रेजी तथा जर्मन अनुवादों के समान व्यापकता तथा वैज्ञानिकता का अभाव विशेष खटकता है। श्रीराम शर्मा आचार्य ने ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों का भी अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किया है।

वेद तथा वेदाङ्ग का अर्थ समझाने के लिए अनेक व्याख्या-ग्रन्थों का इधर प्रणयन हुआ है। श्री अरविन्द ने वेद के मन्त्रों की रहस्यवादी व्याख्या की है और इस व्याख्या की रूपरेखा बतलाते हुए इन्होंने ऋग्वेदस्थ अग्नि-सूक्तों का अनुवाद अंग्रेजी में किया है (कलकत्ता, १९३०)। इस व्याख्यापद्धति को समझाने के लिये तदनुसार ऋग्वेद के आरम्भिक-सूक्तों पर हाल में ही कपाली शास्त्री ने संस्कृत में दो व्याख्या-ग्रन्थ लिखे हैं। श्रीविश्वबंधु शास्त्री के सम्पादकत्व में प्रकाशित **शब्दार्थ पारिजात** में वैदिक शब्दों का ब्राह्मणों से लेकर नवीनतम भारतीय आचार्यों तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गये अर्थों का आलोचनात्मक संग्रह है। डा० लक्ष्मणस्वरूप-कृत निरुक्त का संस्करण तथा अनुवाद, डा० मंगलदेव शास्त्री रचित ऋक्-प्रातिशाख्य का संस्करण तथा अनुवाद और डा० सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित 'अथर्व-प्रातिशाख्य' अपने विषय के उपादेय ग्रन्थ हैं। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य द्वारा अंग्रेजी में लिखित 'हिस्ट्री आफ वैदिक लिटरेचर' (पूना १९३०) तथा श्रीभगवद्दत्त द्वारा रचित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' (लाहौर; तीन खण्ड) भी उपयोगी ग्रन्थ है। डा० दाण्डेकर की वैदिक-ग्रन्थ-सूची (वैदिक बिब्लियोग्राफी, पूना १९४७) भी वेदविषयक ग्रन्थों तथा निबन्धों की जानकारी के लिए विशेष उपयोगी है। यह डा० रेना के ग्रन्थ की पूर्ति करता है। पण्डित विश्वबन्धु शास्त्री के निर्देशन में 'वैदिक-पदानुक्रम कोष' अनेक भागों में होशियारपुर के वैदिकशोधसंस्थान से प्रकाशित हुआ है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक के वैदिक छन्द तथा वैदिक स्वरमीमांसा नामक ग्रन्थ भी उल्लेखनीय है।

*
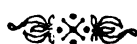
चतुर्थ परिच्छेद

वेद-भाष्यकार

गुप्तकाल में वैदिक धर्म का महान् अभ्युदय हुआ। इतिहासवेत्ता पाठक भलीभाँति जानते हैं कि गुप्त सम्राट् 'परमभागवत' की उपाधि से अपने को विभूषित करना गौरवास्पद समझते थे। इन्होंने वैदिक धर्म का पुनरुद्धार सम्पन्न किया। सप्तमशतक में आचार्य कुमारिल ने मीमांसाशास्त्र की भूयसी प्रतिष्ठा की। इनके व्यापक प्रभाव से वेदाध्ययन की ओर पण्डितों की प्रवृत्ति पुनः जाग्रत हुई। बौद्धकाल में वेदों की ओर जनता की दृष्टि कम थी, परन्तु कुमारिल ने बौद्धों की युक्तियों का सप्रमाण खण्डन कर वेद की प्रामाणिकता सिद्ध कर दी। हमारा अनुमान है कि कुमारिल—शंकर के समय में वेदों के अर्थ समझने और समझाने की प्रवृत्ति विशेष रूप से जागरूक हुई। वैदिक भाष्यकारों में प्राचीनतम भाष्यकार स्कन्दस्वामी के आविर्भाव का यही युग है। यहाँ संहिताक्रम से भाष्यकारों का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

(१)

तैत्तिरीय-भाष्य

तैत्तिरीयसंहिता कृष्णयजुर्वेद की प्रधान संहिता है। सायणाचार्य ने सबसे पहले इसी संहिता पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा। सायण के भाष्य के पहले भी अनेक आचार्यों ने इस संहिता पर अपना व्याख्यान लिखा था। इन व्याख्याकारों के विषय में हमारा ज्ञान नितान्त कम है। इनके भाष्य भी अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। इन्होंने भाष्य बनाया—इसका पता हमें केवल परवर्ती लेखकों के ग्रन्थों में दिए गये उल्लेखों से ही चलता है। केवल एक ही भाष्यकार भट्टभास्कर मिश्र का पूरा भाष्य मिलता है, तथा सुन्दर रीति से संपादित कर प्रकाशित भी किया गया है। भट्टभास्कर मिश्र का ही व्यक्तित्व इस संहिता के सायण-पूर्व भाष्यकारों में विशेषरूप से परिस्फुट है। इस सामान्य वर्णन के अतिरिक्त इनका कुछ विशिष्ट वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

कुण्डिन—कुण्डिन ने तैत्तिरीयसंहिता पर वृत्ति बनाई थी, इसका पता हमें काण्डानुक्रमणी के इस श्लोकार्ध से चलता है—

यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः।

पदपाठकार आत्रेय के साथ सम्बद्ध होने से कुण्डिन एक प्राचीन आचार्य प्रतीत होते हैं। बहुत संभव है कि इन्होंने गुप्त काल में अपनी वृत्ति बनाई हो। इनका न तो ग्रन्थ मिला है और न अन्य बातों का ही पता चलता है।

भवस्वामी—आचार्य भवस्वामी ने भी इस संहिता पर भाष्य बनाया होगा। इसका पता 'बौधायन-प्रयोगसार' के आरम्भ में केशवस्वामी के इस वाक्य से चलता है—'भवस्वामिमतानुसारिणा मया तु उभयमप्यंगीकृत्य प्रयोगसारः क्रियते'। भास्करभट्ट ने अपने भाष्य के आरम्भ में भवस्वामी का उल्लेख किया है, जिससे इनके भाष्यकार होने की बात पुष्ट होती है।

गुहदेव—इनके तैत्तिरीयसंहिता के भाष्यकार होने में सबसे निश्चित प्रमाण देवराज यज्वा के निघंटु-भाष्य से मिलता है। भाष्य के आरम्भ में देवराज यज्वा ने गुहदेव को भाष्यकार लिखा है। तैत्तिरीय आरण्यक के 'रश्मयश्च देवा गरगिरः' मन्त्र के 'गरगिरः' शब्द की गुहदेव-कृत व्याख्या को देवराज ने उद्धृत किया है[1], जिससे इनके तैत्तिरीयसंहिता के व्याख्याकार होने की बात पुष्ट होती है। ये भी प्राचीन भाष्यकार हैं, क्योंकि आचार्य रामानुज ने 'वेदार्थ संग्रह' में गुहदेव का नामोल्लेख किया है।[2] अतः विक्रम की आठवीं या नवीं शताब्दी में इनका होना अनुमान सिद्ध है।

क्षुर—आचार्य क्षुर ने तैत्तिरीयसंहिता पर कोई भाष्य अवश्य लिखा था। इसका पता सायणाचार्य की 'माधवीया धातुवृत्ति' में दिये गये अनेक निर्देशों से मिलता है। इनमें क्षुर का नाम भट्टभास्कर के नाम से पूर्व ही उल्लिखित है— 'यथा त्रय एनां महिमानः सचंते (तै०सं० ४-३-११)—इत्यत्र क्षुरभट्टभास्करीययोः सचंते समंते इति।' हमारा अनुमान है कि क्षुर भास्कर मिश्र से प्राचीन हैं।

---

१. **तथा च 'रश्मयश्च देवा गरगिरः' इत्यत्र गुहदेवः 'गरमुदकं गिरन्ति पिबन्तीति गरगिरः' इति भाष्यं कृतवान्।**

२. **यथोदितक्रमपरिणतभक्त्येकलभ्य एव भगवद्बोधायन-टंक-द्रमिडगुहदेव-कपर्दि-भारुचिप्रभृत्यविगीतशिष्टपरिगृहीतपुरातनवेदवेदान्तव्याख्यान-सुव्यक्तार्थश्रुतिनिकरनिदर्शितोऽयं पन्थाः।**

भट्ट भास्कर

भास्कर मिश्र के समय का निर्धारण करना वैदिक भाष्यकारों के इतिहास के लिए नितान्त आवश्यक है। सायणाचार्य के द्वारा निर्दिष्ट होने से इनका समय विक्रम की १५वीं शताब्दी से पहले ही होना निश्चित है। वेदाचार्य (अपरनाम लक्ष्मण; समय वि० सं० १३००) ने अपने 'सुदर्शन मीमांसा' नामक ग्रन्थ में भट्ट भास्कर मिश्र का ही नामोल्लेख नहीं किया है, प्रत्युत इनके वेदभाष्य—जिसका नाम 'ज्ञानयज्ञ' है—से भी अपना परिचय दिखलाया है[1]। देवराज यज्वा के द्वारा इनके उल्लेख किए जाने की घटना का संकेत हम पहले कर आए हैं। प्रसिद्ध वैदिक हरदत्त (वि० सं० १२ वीं शताब्दी) ने एकाग्नि-काण्ड के अपने भाष्य में भास्करकृत भाष्य की विशेष सहायता ली है। इन सब प्रमाणों के आधार पर भास्कर मिश्र का समय विक्रम की १२ वीं शताब्दी के पूर्व ठहरता है। अतः इन्हें ११ वीं सदी में मानना अयुक्तियुक्त न होगा। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि भास्कर के द्वारा अपने भाष्य में उद्धृत ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार (जैसे आर्यभटीय, अमरकोष तथा काशिका आदि) अत्यन्त प्राचीन हैं। इसलिए इनका उक्त काल उचित प्रतीत होता है।

काल

भट्ट भास्कर ने तैत्तिरीयसंहिता पर भाष्य लिखा है, जिसका नाम **ज्ञानयज्ञ** भाष्य है। यह बड़ी विद्वत्ता से रचा गया है। इसमें प्रमाणरूप से अनेक वैदिक ग्रन्थ उद्धृत किए गए हैं। लुप्त वैदिक निघण्टुओं से भी अनेक प्रमाण दिए गए हैं। मन्त्रों के अर्थ-प्रदर्शन में कहीं-कहीं भास्कर ने भिन्न-भिन्न आचार्याभिमत अर्थों को भी दिखलाया है। यज्ञपरक अर्थ का ही निर्देश इसमें नहीं है, बल्कि आध्यात्म तथा अधिदैव पक्ष में भी वेदमन्त्रों का अर्थ बड़ी सुन्दरता से किया गया है। उदाहरणार्थ 'हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसत्' प्रसिद्ध मन्त्र के 'हंस' पद की तीन तरह से व्याख्या की गई है। अधियज्ञ पक्ष में हंस का अर्थ है—रथ (हन्ति पृथिवीमिति हंसः); अधिदैवपक्ष में हंस का अर्थ है—आदित्य तथा आध्यात्मपक्ष में हंस है—आत्मा। इसी तरह से अन्य मन्त्रों के भी अर्थ कई प्रकार के किए गये है। इस प्रकार की अन्य विशेषताओं के कारण यह वैदिक साहित्य में इतना महत्त्व रखता है।

---

१. तत्र भाष्यकृता भट्टभास्करमिश्रेण ज्ञानयज्ञाख्ये भाष्ये एतत्प्रमाणव्याख्यानसमये चरणमिति देवताविशेष इति तदनुगुणनेव व्याख्यातम्। (सुदर्शनमीमांसा पृ० ४)

ऋग्वेद-भाष्य

ऋग्वेद संहिता का सबसे पहला उपलब्ध भाष्य स्कन्दस्वामी का है। वैदिक साहित्य में यह भाष्य बड़े आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। ग्रन्थ-कार की प्राचीनता के साथ-साथ ग्रन्थ के अन्तरङ्ग गुणों ने उसे इस उच्च आसन पर बैठाया है। भाष्य के अन्त में दिए गए कतिपय श्लोकों से इनके देशादि का पर्याप्त परिचय मिलता है। स्कन्दस्वामी गुजरात की प्रख्यात राजधानी वलभी के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम भर्तृध्रुव था। इसका पता निम्नलिखित श्लोक से, जो ऋग्वेद भाष्य के प्रथमाष्टक अध्याय के अन्त में मिलता है, चलता है—

वलभीविनिवास्येतामृगर्थागमसंहृतिम्।
भर्तृध्रुवसुतश्चक्रे स्कन्दस्वामी यथास्मृति॥

(१) स्कन्दस्वामी

काल

आचार्य स्कन्दस्वामी के समय का भी निर्णय पर्याप्त रीति से किया गया है। पीछे के ग्रन्थों में इनके नामोल्लेख होने से हमें इनके आविर्भाव-काल का पता चलता है, परन्तु शतपथब्राह्मण के विख्यात भाष्यकार हरिस्वामी के गुरु होने से इनका समय बहुत कुछ निश्चित रूप से जाना जा सकता है। शतपथ-भाष्य के आरम्भ में **हरिस्वामी** ने अपना परिचय दिया है और स्कन्दस्वामी को अपना गुरु बतलाया है—

नागस्वामी तत्र...श्रीगुहस्वामिनन्दनः।
तत्र याजी प्रमाणज्ञ आढ्यो लक्ष्म्या समेधितः॥ ५॥

तन्नन्दनो हरिस्वामी प्रस्फुरद्वेदवेदिमान्।
त्रयीव्याख्यानधौरेयोऽधीततन्त्रो गुरोर्मुखात्॥ ६॥

यः सम्राट् कृतावान् सप्त सोमसंस्थास्तथर्क्श्रुतिम्।
व्याख्यां कृत्वाऽऽध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः॥ ७॥

हरिस्वामी ने अपने भाष्य की रचना का भी समय दिया है—

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

अर्थात् कलियुग के ३७४० वर्ष बीतने पर भाष्य बनाया गया। कलियुग का आरम्भ वि० सं० पूर्व ३०४५ अर्थात् ३१०२ ईसा पूर्व में माना जाता है, अतः हरिस्वामी के शतपथभाष्य का निर्माण-काल (३७४०–३०४५)=वि० सं० ६९५=६३८ ई० में माना जा सकता है। इसके पहले स्कन्दस्वामी ने अपना ऋग्भाष्य बना डाला था, तथा हरिस्वामी को वेद पढ़ाया था। अतः आचार्य स्कन्दस्वामी का काल वि० सं० ६८२ (६२५ ई०) के आसपास अनुमानतः सिद्ध है। इस प्रकार स्कन्दस्वामी हर्ष तथा बाणभट्ट के समकालीन हैं।

स्कन्दस्वामी ने यास्क—निरुक्त के ऊपर टीका लिखी है। निरुक्त टीका के रचयिता तथा ऋग्भाष्य के कर्ता आचार्य स्कन्दस्वामी अभिन्न व्यक्ति हैं, इसका पता हमें देवराज यज्वा के उस लेख से चलता है जिसमें निरुक्त टीका में 'प्रयस्' शब्द का तथा वेदभाष्य में 'श्रवस्' शब्द का स्कन्दस्वामी के द्वारा 'अन्न' अर्थ किये जाने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है—

'उप प्रयोभिरागतम्' इत्यादिषु निरुक्तटीकायां स्कन्दस्वामिना प्रय इत्यन्नं नाम उच्यते, तथा च 'अक्षिति श्रवः' इत्यादि निगमेषु वेदभाष्ये श्रव इत्यन्नं नाम इति स्पष्टमुच्यते।

इस उद्धरण के अध्ययन से यही प्रतीत होता है कि देवराज यज्वा को स्कन्दस्वामी निरुक्त टीका तथा वेदभाष्य दोनों के रचयिता अभीष्ट थे। अतः इस विषय में सन्देह करने का स्थान नहीं कि वेदभाष्य तथा निरुक्त टीका इन दोनों को स्कन्दस्वामी ने ही बनाया था।

स्कन्दस्वामी का ऋग्भाष्य अत्यन्त विशद है। इसमें प्रत्येक सूक्त के आरम्भ में उस सूक्त के ऋषि तथा देवता का उल्लेख किया गया, तथा इसके बोधक प्राचीन अनुक्रमणियों के श्लोक उद्धृत किए गए हैं। निघण्टु, निरुक्त आदि वैदिकार्थोपयोगी ग्रन्थों से भी उपयुक्त प्रमाण स्थान-स्थान पर दिए गए हैं। भाष्य खूब सरल है तथा मिताक्षर है। व्याकरण-सम्बन्धी बातों का उल्लेख संक्षेप में ही किया गया है। सायणभाष्य के प्रथमाष्टक की तरह व्याकरण का विस्तार से प्रदर्शन इसमें नहीं है। स्कन्दस्वामी के भाष्य का प्रभाव सायण के ऋग्भाष्य पर अवश्य पड़ा था; इसके अनेक प्रमाण तथा उदाहरण हैं। स्कन्दस्वामी का भाष्य ऋग्वेद के केवल आधे भाग—चौथे अष्टक तक ही उपलब्ध हुआ है। शेष भाग की पूर्ति दो आचार्यों ने की है, जिनका वर्णन आगे किया जायगा। अनन्तशयन-ग्रन्थावली में यह भाष्य प्रकाशित होने लगा है।

(२) नारायण

ऋग्वेद के भाष्य में वेंकटमाधव ने लिखा है—

स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात् ।
चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम् ॥

अर्थात् स्कन्दस्वामी, नारायण तथा उद्गीथ ने क्रम से मिलकर एक ही ऋग्भाष्य बनाया। इससे यह स्पष्ट है कि नारायण ने ऋग्भाष्य की रचना में स्कन्दस्वामी की सहायता की थी। 'क्रमात्' शब्द से अनुमान होता है कि ऋग्वेद के मध्य-भाग पर नारायण ने अपना भाष्य लिखा है। कुछ लोग सामभाष्यकार माधव के पिता नारायण तथा इस नारायण को एक ही व्यक्ति मानते हैं, परन्तु इसके लिए अभी तक कोई सबल प्रमाण नहीं मिला है। इनका भी समय विक्रम की सातवीं शताब्दी में अनुमानतः सिद्ध है।

(३) उद्गीथ

वेंकटमाधव के कथनानुसार उद्गीथ ने स्कन्दस्वामी के भाष्य में सहायता पहुँचाई थी। इन्होंने ऋग्वेद के अन्तिम भाग पर भाष्य लिखा है। प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर उद्गीथ ने अपने विषय में लिखा है—'वनवासीविनिर्गताचार्यस्य उद्गीथस्य कृता ऋग्वेदभाष्ये···अध्यायः समाप्तः'। इससे उद्गीथाचार्य का वनवासी से कोई न कोई सम्बन्ध प्रतीत होता है। प्राचीन काल में कर्णाटक का पश्चिमी भाग वनवासी प्रान्त के नाम से सर्वत्र विख्यात था। अतः आचार्य उद्गीथ इसी प्रान्त अर्थात् कर्णाटक देश के समीप के ही रहनेवाले जान पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त इनके विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

उद्गीथ के नाम का उल्लेख सायण तथा आत्मानन्द ने अपने भाष्य में किया है। इनका भाष्य स्कन्दस्वामी के भाष्य की शैली पर जान पड़ता है। इसका भी प्रभाव सायण के भाष्य पर पड़ा था। अतः इसके प्रकाशन से एक नवीन भाष्य की ही प्राप्ति न होगी, प्रत्युत सायणभाष्य के पाठ के संशोधन में भी इससे पर्याप्त सहायता की आशा की जाती है।

(४) माधवभट्ट

ऋग्वेद के माधव नामक चार भाष्यकारों का अब तक पता चला है। इनमें एक तो सामवेद-संहिता के भाष्यकार हैं। तीन माधव नामधारी भाष्यकारों का सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। इनमें से एक तो सायण-माधव ही हैं। यद्यपि

सायण ने ऋक्-संहिता पर भाष्य लिखा; तथापि माधव के द्वारा इस कार्य में पर्याप्त सहायता दिये जाने के कारण माधव भी भाष्यकार के रूप में किन्हीं स्थानों में गृहीत किये गये हैं। अत एव एक माधव तो सायणाचार्य ही हुए। दूसरे माधव वेंकटमाधव हैं, जिनका निर्देश प्राचीन भाष्यों में मिलता है। एक अन्य माधव भी हैं, जिनकी प्रथम अष्टक की टीका अभी हाल में मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है। यह टीका बड़ी ही सारगर्भित है। अल्पाक्षर होने पर भी मन्त्रों के अर्थ समझने में नितान्त महत्त्वपूर्ण है। कुछ विद्वान् इस माधवभट्ट और वेंकटमाधव को एक ही व्यक्ति मानते हैं, परन्तु दोनों व्यक्तियों के लिखे गये भाष्यों की तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि माधवभट्ट वेंकट माधव से नितान्त भिन्न एवं उनसे प्राचीनतर हैं। इस सिद्धान्त पर पहुँचने के साधक अनेक प्रमाण हैं। पहली बात यह है कि सायण ने माधवभट्ट के नाम से जिस अर्थ का उल्लेख किया है वह इस नयी टीका में बिल्कुल उपलब्ध होता है। जान पड़ता है कि यह ग्रन्थ बहुत दिनों से लुप्त प्राय-सा हो गया था। इसीलिये देवराज यज्वा ने अपनी निघण्टु टीका में वेंकट माधव और माधवभट्ट के व्यक्तित्व को सम्मिलित कर दिया है। वेंकटमाधव के नाम से जितने उद्धरण उन्होंने दिये हैं वे सब के सब इस टीका में उपलब्ध हो सकते हैं, यदि वह पूरा उपलब्ध हो जाय। हमारे मित्र पं० सीताराम जोशी ने खोज निकाला है[1] कि देवराज के लगभग आधे निर्देश प्रकाशित टीका में ही उपलब्ध हो जाते हैं। यह माधवभट्ट ऋग्वेद के महान् विद्वान रहे होंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इस टीका के आरम्भ करने से पहले उन्होंने ग्यारह अनुक्रमणियाँ लिखी थीं, जिनमें से हर एक कोष रूप में रखकर ऋग्वेद के शब्दार्थ को प्रकट करने में समर्थ हैं। इनमें से उपलब्ध दो अनुक्रमणी छप चुकी हैं। वे हैं **नामानुक्रमणी और आख्यातानुक्रमणी**। इनके पढ़ने से यह अनुमान सहज में हो सकता है कि वे ऋक्-संहिता के नाम और क्रियाओं की एकत्र संग्रह हैं, जो समानार्थक हैं। किन्तु इनसे अधिक महत्त्व की अनुक्रमणियाँ जैसे निर्वचनानुक्रमणी, छन्दोनुक्रमणी और सबसे अधिक महत्त्व की स्वरानुक्रमणी उपलब्ध नहीं हैं, यह बहुत ही खेद का विषय है।

स्वरानुक्रमणी को सबसे अधिक महत्त्व की हम इसलिए मानते हैं कि इससे जो स्वर का ज्ञान है वह उपलब्ध टीकाओं में किसी में भी पाया नहीं जाता। इस वैशिष्ट्य का निर्देश विद्वान् बहुत पहिले देवराज यज्वा के निघण्टु-निर्वचन में

---

१. देखिए, काशी की ओरियन्टल कान्फ्रेन्स की लेखमाला।

पढ़ चुके थे। मालूम पड़ता है कि देवराज यज्वा इस माधव को स्वयं यथार्थ रूप से नहीं जानते थे। अपने ग्रन्थ की प्रस्तावना में उन्होंने वेंकटमाधव का निर्देश किया है और बहुत सम्भव है कि उन्होंने उन्हीं को माधव के निर्देश से सम्बद्ध किया हो? आगे चलकर यह पता लग चुका है कि उन माधव के निर्देशों में से एक भी निर्देश वेंकटमाधव के ग्रन्थ से नहीं मिलता। और कतिपय सायणमाधव के बृहद्भाष्य में मिलते हैं, जो उनके निज के ग्रन्थ नहीं हैं। देवराज यज्वा के सभी निर्देश इस नये माधव के ग्रन्थ में मिल सकते हैं, यदि वह समग्र उपलब्ध हो जाय। जितना उपलब्ध हुआ है, उसमें आधे से अधिक निर्देश पाये गये हैं और वे अक्षरशः मिलते हैं। सिवा इसके अनुक्रमणी का निर्देश कर देवराज यज्वा ने जो उद्धरण दिये हैं वे भी इस माधव के उपलब्ध दोनों अनुक्रमणियों में पाये गये हैं। अत एव वह माधव वेंकटमाधव न होकर इस नये ग्रन्थ के लेखक दूसरे या तीसरे माधव हैं और बहुत प्राचीन होने के कारण देवराज यज्वा ने भी उनको वेंकटमाधव मानने की भूल की है।

टीका की विशेषता—इस माधव की टीका वास्तव में भाष्य ही है। इसका अनुसरण सायणमाधव, वेंकटमाधव इन दोनों ने मुक्तहस्त से किया है। स्कन्दस्वामी की टीका में भी इसकी अनुक्रमणियों का अनुकरण पाया जाता है। दुःख की बात यह है कि बहुत ही थोड़ा भाग केवल एक ही अष्टक ऋक्-संहिता पर यह भाष्य उपलब्ध है; तथापि इतना ही भाग ऊपर कहे हुए विधानों को पुष्ट करने में पर्याप्त है। देवराज यज्वा ने माधव का निर्देश कर जो स्वर की बातें लिखी हैं उनमें साठ प्रतिशत के ऊपर इस अल्पकाय भाग में ही पाये जाते हैं। देवराज यज्वा ने अपने सारे निर्देशों को संहिता-भाष्य से लिया है। मालूम पड़ता है कि पूरा भाष्य उनके पास था, परन्तु इस माधव का ठीक परिचय देवराज को नहीं था। यह माधव ही माधवभट्ट कहाने योग्य हैं, क्योंकि इनका ऋग्वेद का अर्थज्ञान बहुत ही उच्च कोटि का पाया जाता है। सन्दिग्ध स्थलों को स्वरभेद और प्रातिशाख्यभेद से विशद करने की इनकी शैली अनूठी है। यद्यपि भाष्य लघुकाय है; तथापि निःसन्दिग्ध अर्थ दिये हुए हैं, जिनका अनुकरण स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव और सायणाचार्य बराबर करते हैं। विद्वानों के मत में सायणाचार्य चतुर्दश शतक खिष्टाब्द, वेंकटमाधव दशम शतक और स्कन्दस्वामी सप्तम शतक के माने गये हैं। तब ये माधव भट्ट इन सबों से सुतरां प्राचीन हैं।

(५) वेंकटमाधव

माधव ने समग्र ऋक्संहिता पर अपना भाष्य लिखा है। कुछ लोगों का अनुमान है कि माधव ने ऋग्वेद पर दो भाष्य लिखे हैं। पहले भाष्य के प्रथम अध्याय के अन्त में माधव ने अपना परिचय लिखा है, जिससे प्रतीत होता है कि इनके पितामह का नाम माधव, पिता का वेंकटाचार्य, मातामह का भवगोल और माता का नाम सुन्दरी था। इनका मातृगोत्र वसिष्ठ तथा अपना गोत्र कौशिक था। इनका एक अनुज भी था, जिसका नाम था संकर्षण। इनके वेंकट तथा गोविन्द नामक दो पुत्र थे। ये दक्षिणापथ के चोल देश (आन्ध्र प्रान्त) के रहनेवाले थे[1]।

काल—इनके काल-निर्णय के लिए अनेक साधन मिलते हैं, जिनकी सहायता से इनका समय विशेष रूप से निश्चित किया जा सकता है।

(१) सायण ने ऋ० १०।८६।१ के भाष्य में माधव भट्ट की सम्मति का उल्लेख किया है, जो वेंकटमाधव के भाष्य से मिलता है। अतः माधव सायण के पहले विद्यमान थे।

(२) निघण्टु पर भाष्य लिखने वाले देवराज यज्वा (सं० १३७० के आसपास) ने अपने भाष्योपोद्घात में वेंकटाचार्य-तनय माधव का उल्लेख इस प्रकार किया है—'श्रीवेंकटाचार्यतनयस्य माधवस्य भाष्यकृतौ नामानुक्रमण्याः पर्यालोचनात्'''''क्रियते।' इससे वेंकट के पुत्र माधव का देवराज का पूर्ववर्ती होना स्वयंसिद्ध है।

(३) कोपकार केशव स्वामी ने (१३०० वि० सं० से पूर्व) अपने प्रसिद्ध कोष 'नानार्थार्णवसंक्षेप' में माधवाचार्य सूरि के नाम से माधव का ही उल्लेख किया है—

द्वयोस्त्वश्वे तथा ह्याह स्कन्दस्वाम्यृक्षु भूरिशः।
माधवाचार्यसूरिश्च को अघेत्यृचि भाषते॥

इसका आशय यह है कि उभयलिंग में 'गो' शब्द का अर्थ 'घोड़ा' होता है। स्कन्दस्वामी ने ऋचाओं की व्याख्या में इसी अर्थ को कहा है, यथा माधवाचार्य सूरि ने भी 'को अघ' (ऋ० १।८४।१६) इस ऋचा की व्याख्या में 'गो' शब्द का अर्थ अश्व किया है। वेंकटमाधव के उक्त ऋचा के भाष्य में यही अर्थ मिलता भी है। अतः इस निर्देश से माधव का समय वि० सं० १३०० से पूर्व का ठहरता है।

---

१. ऋग्भाष्य, अनन्तशयन-ग्रन्थावली, भूमिका पृ० ७, ८।

इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि माधव का समय १३०० विक्रमी से बहुत पहले का है, तथा इनकी प्रामाणिकता स्कन्दस्वामी के समान ही मानी जाती थी। अतः इनका समय १२०० विक्रमी संवत् के आसपास ज्ञात होता है। पं० साम्बशिव शास्त्री ने वेंकटमाधव का समय १०५०—११५० ई० के भीतर माना है[1]।

माधव का भाष्य अत्यन्त संक्षिप्त है। उन्होंने 'वर्जयन् शब्दविस्तारं शब्दैः कतिपयैरिति' लिखकर इस बात को स्वयं स्वीकार किया है। इसमें केवल मन्त्रों के पदों की ही व्याख्या है। संक्षिप्त बनाने की भावना से प्रेरित होकर माधव ने मूल के पदों का भी निवेश अपने भाष्यों में बहुत कम किया है। केवल पर्याय-वाची पदों को देकर ही माधव ने मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इस भाष्य के पढ़ने से मन्त्र का अर्थ बड़ी सुगमता से समझ में आ जाता है। स्कन्दस्वामी के भाष्य की अपेक्षा भी यह संक्षिप्त है, सायण के भाष्य मे तो कहना ही क्या ! व्याकरण-सम्बन्धी तथ्यों का निर्देश इसमें है ही नहीं। हाँ, प्रायः सर्वत्र ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रमाण सुन्दर रीति से दिये गए हैं, जिससे माधव की ब्राह्मण-ग्रन्थों में विशेष व्युत्पत्ति प्रतीत होती है। माधव ने स्वयं ही ब्राह्मणों को वेदों के गूढ़ अर्थों के समझने में नितान्त उपयोगी बतलाया है। उनका कहना है कि जिसने केवल व्याकरण तथा निरुक्त का अनुशीलन किया है, वह संहिता का केवल चतुर्थांश ही जानता है, परन्तु जिसने ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थ का विवेचन श्रमपूर्वक किया है, शब्द रीति के जाननेवाले वे ही विद्वान्, जिसे माधव ने 'वृद्ध' कहा है, वेद के यथार्थ समस्त अर्थ को कह सकते हैं—

संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः।
निरुक्तव्याकरणयोरासीत् येषां परिश्रमः॥
अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः।
शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि॥

इस प्रकार ब्राह्मणों के अनुकूल वेदार्थ प्रतिपादन का यह भाष्य उज्ज्वल उदाहरण है। संक्षिप्त होने से मन्त्र का अर्थ समझने में इससे विशेष सहायता मिलती है। इस भाष्य के प्रकाशक हैं मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली तथा सम्पादक हैं डा० लक्ष्मणस्वरूप।

---

1. ऋग्वेद का स्कन्दस्वामीकृत भाष्यभूमिका, पृ० ७।

(६) धानुष्कयज्वा

धानुष्कयज्वा नाम के किसी तीनों वेदों के भाष्यकार का नाम वेदाचार्य की सुदर्शनमीमांसा में कई बार आया है। इन स्थानों पर वे 'त्रिवेदी भाष्यकार' तथा 'त्रयीनिष्ठवृद्ध' कहे गये हैं। अतः इनके वेदत्रयी के प्रामाणिक भाष्यकार होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहता। ये एक वैष्णव आचार्य थे। इन उल्लेखों के अतिरिक्त न तो इनके विषय में कुछ पता ही है और न इनके वेदभाष्य के विषय में। इनका समय विक्रम संवत् १२०० से पूर्व होना चाहिए।

(७) आनन्द तीर्थ

आनन्द तीर्थ का ही दूसरा नाम 'मध्व' है, जिन्होंने द्वैतवादी सुप्रसिद्ध 'माध्व' वैष्णव सम्प्रदाय को चलाया। इनके लिखे अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों की व्याख्यावाला वेदभाष्य भी है। यह भाष्य छन्दोबद्ध है तथा ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ४० सूक्तों पर ही है। इसमें राघवेन्द्र यति का यह कथन पर्याप्त रूप से प्रामाणिक है—'ऋक्शाखागतैकोत्तरसहस्रसूक्तमध्ये कानिचित् चत्वारिंशत् सूक्तानि भगवत्पादैः···व्याख्यातानि'।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपने विषय में कहा है कि 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' अर्थात् समस्त वेद मेरा ही प्रतिपादन करते हैं। वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य आनन्द तीर्थ का वेदों में भगवान् नारायण का सर्वत्र प्रतिपादन देखना नितान्त युक्तियुक्त है। अपने भाष्य के आरम्भ में वे स्वयं कहते हैं—

स पूर्णत्वात् पुमान् नाम पौरुषे सूक्त ईरितः।
स एवाखिलवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च॥

अर्थात् नारायण पूर्ण हैं। अतः पुरुषसूक्त में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' आदि ऋचाओं में वे ही 'पुरुष' कहे गये हैं। समस्त वेद तथा शास्त्र का अभिप्राय उसी पूर्ण पुरुष के प्रतिपादन से है। इसी दृष्टि को अपने सामने रखकर इस वैष्णवाचार्य ने वैदिक ऋचाओं का अर्थ किया है। जयतीर्थ के कथनानुसार इस मध्वभाष्य में आधिभौतिक तथा आधिदैविक अर्थ के अतिरिक्त आध्यात्मिक अर्थ का भी सुन्दर प्रदर्शन किया गया है।[1] इस प्रकार ऋग्वेद का यह 'माध्व' भाष्य कई अंशों में विलक्षणता से भरा पड़ा है। द्वैतवादियों में इनकी प्रसिद्धि कम नहीं है। इस

---

1. ऋगर्थश्च त्रिविधो भवति—एकस्तावत् प्रसिद्धाग्न्यादिरूपः, अपरस्तदन्तर्गतेश्वरलक्षणः, अन्योऽध्यात्मरूपः; तस्त्रितयपरं चेदं भाष्यम्।

मध्वभाष्य के ऊपर सुप्रसिद्ध माध्व आचार्य जयतीर्थ ने ग्रन्थ-रचना के तीस साल के भीतर ही अपनी टीका लिखी। इस टीका पर भी नरसिंह ने (१७१८ सं० वि०) अपनी विवृति तथा नारायण ने 'भावरत्नप्रकाशिका' नामक दूसरी विवृति लिखी। इनके लेखक वैदिक साहित्य के अच्छे विद्वान् प्रतीत होते हैं। इनकी टीका तथा विवृतियों से मध्वभाष्य के समझने में बड़ी सहायता मिलती है। आनन्द तीर्थ का आविर्भाव विक्रम की तेरहवीं सदी के मध्य से लेकर १४ वीं के मध्य तक है। सुनते हैं कि वे ८० वर्ष तक जीवित रहे (१२५५–१३३५ वि० सं०)।

(८) आत्मानन्द

आत्मानन्द ने ऋग्वेद के अन्तर्गत 'अस्य-वामीय' सूक्त पर अपना भाष्य लिखा है। इस भाष्य में उद्धृत ग्रन्थकारों में स्कन्द, भास्कर आदि का नाम मिलता है, परन्तु सायण का नाम नहीं मिलता। इससे ये सायण से पूर्व के भाष्यकार प्रतीत होते हैं। उद्धृत लेखकों में मिताक्षरा के कर्ता विज्ञानेश्वर (ई० १०७०–११००) तथा स्मृतिचन्द्रिका के रचयिता देवणभट्ट (१३ वीं शती ई०) के नाम होने से हम कह सकते हैं कि इनका आविर्भाव-काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी है।

यह भाष्य भी अपनी विशेषता रखता है। आत्मानन्द ने भाष्य के अन्त में लिखा है कि स्कन्दस्वामी आदि का भाष्य यज्ञपरक है; निरुक्त अधिदेव परक है, परन्तु यह भाष्य अध्यात्म-विषयक है। तिस पर भी मूलरहित नहीं है; इसका मूल विष्णुधर्मोत्तर है—

अधियज्ञविषयं स्कन्दादिभाष्यम्, निरुक्तमधिदैवतविषयम्; इदन्तु भाष्यमध्यात्मविषयमिति। न च भिन्न-विषयाणां विरोधः। अस्य भाष्यस्य मूलं विष्णुधर्मोत्तरम्।

भाष्य के निरीक्षण करने से पता चलता है कि आत्मानन्द अपने विषय के एक अच्छे जानकार थे। इसमें प्रत्येक मन्त्र का अर्थ परमात्मा को लक्ष्य कर रहा है। यह इस भाष्य की बड़ी विशेषता है।

(९) सायण[1]

सायणाचार्य विजयनगर के संस्थापक महाराज बुक्क तथा महाराज हरिहर के अमात्य तथा सेनानी भी थे। बुक्क के प्रधान अमात्य का पद इन्होंने

---

१. सायण की विस्तृत जीवनी के लिए देखिए ग्रन्थकार द्वारा रचित 'आचार्य सायण और माधव' (हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग)

१६ वर्षों (१३६४ ई० से लेकर १३७८ ई०) तक अलंकृत किया। तदनन्तर हरिहर द्वितीय का मन्त्रिकार्य अपने मृत्युपर्यन्त आठ वर्षों (१३७९ ई० से १३८७ ई० तक, जो इनकी मृत्यु का वर्ष था) तक सम्पन्न किया। वेदभाष्यों के निर्माण का यही काल है १४ शती का उत्तरार्ध। अपने ज्येष्ठ भ्राता **माधवाचार्य** के द्वारा इस महनीय कार्य में प्रेरित किये जाने के कारण ये भाष्य 'माधवीय' नाम से प्रख्यात हैं। "वैदिक भाषा तथा धर्म के सुदृढ़ गढ़ में प्रवेश करने के लिए हमारे पास एक ही विश्वासार्ह साधन है, और वह है सायण का यही वेदभाष्य।" हमारा तो यह निश्चित मत है कि वैदिक सम्प्रदाय के सच्चे ज्ञाता होने के कारण सायण का वेदभाष्य वास्तव में वेदार्थ की कुंजी है और वेद के दुर्गम दुर्ग में प्रवेश कराने के लिए यह विशाल सिंहद्वार है।

साम-भाष्य

सामसंहिता पर सायण भाष्य लिखने से पहले दो भाष्यों का पता चलता है। एक अन्य ग्रन्थकार ने संहिता के ऊपर तो अपना भाष्य नहीं लिखा, लेकिन सामवेदियों के नित्य नैमित्तिक अनुष्ठानों में आनेवाले मन्त्रोंकी व्याख्या लिखी। अतः तीन ही ग्रन्थकारों का अब तक पता चला है, जिन्होंने साम की पूरी संहिता पर अथवा साम के अनुष्ठानोपयोगी मन्त्रों पर अपनी व्याख्याएँ लिखीं।

(१) माधव

माधव सामसंहिता के प्रथम भाष्यकार प्रतीत होते हैं। साम के दोनों खण्डों—छन्द आर्चिक तथा उत्तर आर्चिक—पर इन्होंने अपना भाष्य लिखा। इसका नाम 'विवरण' है। छन्द आर्चिक के भाष्य को 'छन्दसिका विवरण' तथा उत्तरार्चिक के भाष्य को 'उत्तर विवरण' नाम दिया गया है। अभी तक यह भाष्य अमुद्रितावस्था में ही पड़ा है, परन्तु इसके पता लगाने वाले सत्यव्रत सामश्रमी ने सबसे पहले अपने सायणभाष्य के संस्करण में इस भाष्य के कुछ अंश टिप्पणी के रूप में दिए हैं।

माधव के पिता का नाम 'नारायण' था, जिसे कुछ विद्वानों ने स्कन्दस्वामी के ऋग्भाष्य के पूरक तथा सहायक 'नारायण' से अभिन्न ही माना है, परन्तु अभी इन दोनों की अभिन्नता मानने के लिए प्रबल प्रमाण प्राप्त नहीं हुए हैं; तथापि इनके आविर्भावकाल का निश्चित अनुमान किया जा सकता है। देवराज यज्वा (१२ शतक) ने अपने निघण्टु-भाष्य की अवतरणिका में किसी माधव का निर्देश किया है। सम्भवतः

काल

यह माधव सामभाष्य-रचयिता माधव ही हैं। इतना ही नहीं, महाकवि बाणभट्ट विरचित कादम्बरी का—

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः॥

मंगल पद्य माधव के साम-विवरण में भी मंगल के रूप में मिलता है। इस पद्य का 'त्रयीमयाय' शब्द यही सूचित करता है कि इसका किसी वैदिक ग्रन्थ के मंगलाचरण में होना नितान्त उपयुक्त है। अतः माधव ने सर्वप्रथम इसे अपने सामभाष्य के मंगल के लिए बनाया होगा, यही अनुमान सिद्ध है। भाष्यकार माधव बाणभट्ट के कोई पूज्य आचार्य गुरु हो सकते हैं। बाणभट्ट के पूर्वज वेद के पारंगत पण्डित थे, बाण को भी, जैसा कि हर्षचरित से पता चलता है, वेद-वेदाङ्ग की शिक्षा विद्वान् गुरु से मिली थी। यह घटना पूर्व अनुमान की पुष्टि मात्र करती है। यदि वह ठीक हो तो कहना ही पड़ेगा कि बाणभट्ट के पूर्ववर्ती माधव का समय वि० सं० ६५७ (६०० ई०) से इधर का नहीं हो सकता। अतः माधव को विक्रम की सातवीं शताब्दी में मानना ठीक जान पड़ता है।

माधव का भाष्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ये साम सम्प्रदायों को विशेष रूप से जाननेवाले थे। इसका पता इस बात से चलता है, जैसा सत्यव्रत सामश्रमी ने दिखलाया है कि अनेक स्थलों पर सायण ने आर्च पाठ (ऋग्वेद में प्रदत्त पाठ) की ही व्याख्या की है, परन्तु इन स्थलों पर माधव ने साम पाठ (सामवेद में स्वीकृत पाठ, जो आर्च पाठ से भिन्न है) को दिया है। अन्य विशेषताओं का पता माधव-भाष्य के मुद्रित हो जाने पर चलेगा। इस भाष्य का प्रकाशन वेदाभ्यासियों के लिये निःसंदेह बड़े काम का होगा।

(२) भरतस्वामी

भरतस्वामी ने सामसंहिता पर भाष्य लिखा था, यह भी अभी अप्रकाशित ही है। इसके निम्नलिखित पद्य से पता चलता है कि भरतस्वामी काश्यपगोत्र के ब्राह्मण थे; इनके पिता का नाम नारायण तथा माता का यज्ञदा था, इन्होंने सामवेद की समस्त ऋचाओं की व्याख्या लिखी है—

इत्थं श्री भरतस्वामी काश्यपो यज्ञदासुतः।
नारायणार्यतनयो व्याख्यत् साम्नामृचोऽखिलाः॥

काल—भरतस्वामी ने ग्रन्थ के आरम्भ में अपना परिचय यों दिया है—

नत्वा नारायणं तातं तत्प्रसादादवाप्तधीः ।
साम्नां श्रीभरतस्वामी काश्यपो व्याकरोदृचम् ॥
होसलाधीश्वरे पृथ्वीं रामनाथे प्रशासति ।
व्याख्या कृतेयं क्षेमेण श्रीरङ्गे वसता मया ॥

इन पद्यों से पता चलता है कि नारायण के पुत्र काश्यप भरतस्वामी ने श्रीरङ्गम् जैसे प्रसिद्ध वैष्णवतीर्थ में रहते हुए होयसलाधीश्वर रामनाथ[1] के राज्यकाल में इस भाष्य को बनाया । अपने समकालीन राजा के नामोल्लेख से भरतस्वामी के समय का पूरा पता हमें चलता है ।

होयसलवंश के विख्यातनामा वीर रामनाथ अपने समय के एक प्रतापी नरेश थे । इनके पिता सोमेश्वर इस वंश के प्रधान उन्नायकों में से माने जाते हैं । इन्होंने समस्त चोल राजाओं के प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था । रामनाथ सोमेश्वर के द्वितीय पुत्र थे, जो देवल महादेवी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे । सोमेश्वर ने पैतृक सिंहासन अपने प्रथम पुत्र, बिज्जल रानी के गर्भ से उत्पन्न, नरसिंह तृतीय को दिया था । दक्षिण प्रदेशों पर रामनाथ को अपने राज्यकाल में ही शासक बनाया था । पिता की मृत्यु के अनन्तर रामनाथ इस प्रान्त के शासक बने ही रहे । श्रीरङ्गम् इनके ही राज्य में पड़ता था । अतः भरतस्वामी का उपर्युक्त उल्लेख बिलकुल ठीक है । ये अपने ज्येष्ठ भ्राता से अलग, स्वतन्त्र रूप से दक्षिण प्रदेश में शासन करते थे । महीपुर के दक्षिण-भाग में इन्होंने अपने भाई से लड़ाई भी लड़ी थी । इनके पिता के द्वारा विजित चोल प्रदेश पर इन्हीं का शासन होता था । इनके जेठे भाई होयसल नरसिंह तृतीय की मृत्यु ई० सन् १२९२ में हुई, जिसके कुछ ही साल बाद (लगभग १२९४ या १२९५ में) ये भी यहाँ से चल बसे । इनके पुत्र विश्वनाथ इनके स्थान पर दक्षिण देश के शासक हुए, परन्तु इनकी भी मृत्यु केवल तीन वर्ष के ही भीतर हो गई । इसके बाद इनका भी प्रदेश नरसिंह तृतीय के सुपुत्र वीर बल्लाल तृतीय के पैतृक राज्य में मिल गया ।

इस विवरण के आधार पर रामनाथ के शासन का अन्त वि० सं० १३५२ (१२९५ ई०) में हुआ । इससे भरतस्वामी के भाष्य का रचनाकाल सम्भवतः

---

१. रामनाथ के विशेष विवरण के लिये देखिए कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग ३, पृ० ४८३-४८६ ।

वि० सं० १३४५ के आसपास होगा। अतः भरतस्वामी विक्रम की चौदहवीं सदी के मध्य-काल में अवश्य विद्यमान थे। ये दक्षिण भारत के रहनेवाले थे। भरतस्वामी के भाष्य तथा सायणभाष्य में लगभग साठ सत्तर वर्षों का अन्तर होगा।

भरतस्वामी का भाष्य बहुत संक्षिप्त है। पूर्ववर्ती भाष्यकार माधव से इसमें पर्याप्त सहायता ली गई प्रतीत होती है। भरतस्वामी ने साम-ब्राह्मणों पर भी भाष्य लिखा है। अतः पूरी संहिता पर इनका भाष्य होना चाहिये।

(३) गुणविष्णु

गुणविष्णु के साममन्त्र-व्याख्यान का नाम मिथिला तथा बङ्गाल में खूब है। वहाँ के सामवेदियों के नित्य नैमित्तिक विधियों के उपयोगी साममन्त्रों की व्याख्या कर इन्होंने बड़ा भारी काम किया है। ये मिथिला या बङ्गाल के किसी भाग के रहनेवाले थे। इनके **छान्दोग्य-मन्त्रभाष्य** का एक सुन्दर संस्करण कलकत्ता की संस्कृत-परिषद् ने निकाला है। इसकी प्रस्तावना में विद्वान् सम्पादक ने गुणविष्णु के विषय में अनेक ज्ञातव्य विषयों का विवेचन विद्वत्ता के साथ किया है।

यह छान्दोग्य मन्त्रभाष्य सामवेद की कौथुम शाखा पर है (हलायुधेन ये काण्वे कौथुमे गुणविष्णुना) इस भाष्य तथा सायणकृत मन्त्रब्राह्मण के भाष्य की तुलना करने से जान पड़ता है कि सायण ने गुण-विष्णु के भाष्य को आधार मानकर अपना भाष्य लिखा है। हलायुध के द्वारा भी इस ग्रन्थ को उपयोग में लाने के प्रमाण मिलते हैं। इससे सम्भव है कि गुणविष्णु बल्लालसेन या उनके प्रसिद्ध पुत्र लक्ष्मणसेन के राज्यकाल में विद्यमान थे। अतः इनका समय विक्रम की १२ वीं सदी का अन्त तथा १३ वीं सदी का आरम्भ माना जा सकता है।

गुणविष्णु का छान्दोग्य-मन्त्रभाष्य ग्रन्थ नितान्त विख्यात है तथा प्रकाशित भी है। इनके अन्य दो ग्रन्थों का भी पता चलता है—पहला मन्त्र-ब्राह्मणभाष्य तथा दूसरा पारस्करगृह्यसूत्रभाष्य। इन ग्रन्थों की रचना से ये अपने समय के एक प्रख्यात वैदिक प्रतीत होते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद-भाष्य

माध्यन्दिनसंहिता के दो प्रमुख भाष्यकार हैं—

(१) **उवट**—ये आनन्दपुर के निवासी वज्रट के पुत्र थे, तथा अवन्ती में निवास करते समय राजा भोज के शासन काल में (मही भोजे प्रशासति) इस

भाष्य का निर्माण किया[1]। फलतः इनका समय ११ वीं शती का मध्य काल है (भोज का राज्यकाल = १०१८ ई० से लेकर १०६० ई० तक)। पिता-पुत्र के विशिष्ट नामकरण से ये काश्मीरी प्रतीत होते हैं। काव्यप्रकाश के टीकाकार भीमसेन उवट को मम्मट का अनुज मानते हैं, जो काल-विरुद्ध होने से संशययुक्त मालूम पड़ता है। इनका भाष्य लघ्वक्षर होने पर भी बड़ा ही प्रोज्ज्वल, प्रामाणिक और सरल है। इसमें अनेक मन्त्रों के अर्थ अध्यात्मपरक भी बतलाये गये हैं। उवट मध्ययुग के एक नितान्त प्रौढ़ वेदज्ञ थे। इनकी अन्य रचनायें हैं—(क) ऋक्-प्रातिशाख्य की टीका; (ख) यजुःप्रातिशाख्य की टीका; (ग) ऋक्-सर्वानुक्रमणी पर भाष्य; (घ) ईशावास्य उपनिषद् पर भाष्य, जो सब प्रकाशित हैं।

(२) **महीधर**—इनके भाष्य का नाम **'वेददीप'** है, जो विशेष मौलिक न होने पर भी अर्थ की विशदता प्रकट करने में नितान्त उपादेय है। महीधर काशी के निवासी नागर ब्राह्मण थे। इनके प्राचीन पुस्तकालय की हस्तलिखित प्रतियाँ हाल में सरस्वती भवन पुस्तकालय में संगृहीत की गई हैं। इनके भाष्य पर उवट-भाष्य की स्पष्ट छाया है, परन्तु इन्होंने निरुक्त, श्रौतसूत्र आदि से उद्धरण देकर यज्ञप्रक्रिया के विधान को सुबोध रूप से समझाया है और एक प्रकार से उवट-भाष्य को स्पष्टतर तथा विशद बनाया है। महीधर वैदिक होने के अतिरिक्त तन्त्र-शास्त्र के मर्मविद् तान्त्रिक भी थे, जिन्होंने अपने तन्त्रग्रन्थ **मन्त्र-महोदधि** का निर्माण १६४५ वि० सं० (=१५८८ ई०) में किया[2]। फलतः इनका आविर्भाव काल १६ शती का उत्तरार्ध है और इस प्रकार ये उवट के पाँच सौ वर्षों के अनन्तर उत्पन्न हुए।

काण्वसंहिता-भाष्य

सायण के पीछे अनन्ताचार्य, आनन्दबोध आदि अनेक विद्वानों ने शुक्ल-यजुर्वेद की काण्वसंहिता पर अनेक भाष्य बनाए, परन्तु सायण के पूर्ववर्ती प्रधान

---

१. आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
उवटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः॥
ऋष्यादींश्च पुरस्कृत्य अवन्त्यामुवटो वसन्।
मन्त्राणां कृतवान् भाष्यं महीं भोजे प्रशासति॥
(भाष्य का अन्त)

२. अब्दे विक्रमतो जाते बाणवेदनृपैर्मिते।
ज्येष्ठाष्टम्यां शिवस्याग्रे पूर्णो मन्त्रमहोदधिः॥

लेखकों में हलायुध ने इस संहिता पर अपना भाष्य लिखा। इस भाष्य का नाम 'ब्राह्मणसर्वस्व' है। इसके आरम्भ में हलायुध ने अपने विषय में कुछ वृत्त दिया है, जिससे जान पड़ता है कि वे बंगाल के अन्तिम हिन्दू नरेश सुप्रसिद्ध लक्ष्मणसेन के दरबार में धर्माधिकारी के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित थे। यह पद उन्हें जवानी ढलने पर मिला था। वे इसके सर्वथा योग्य थे। बाल्यकाल में वे राजपण्डित हुए। चढ़ती जवानी में श्वेत ही छत्र धारण करने का अधिकार तथा मान उन्हें दिया गया। अन्तिम समय में वे राजा के धर्माधिकारी बने—

> बाल्ये ख्यापितराजपण्डितपदं श्वेतार्चिबिम्बोज्ज्वल-
> च्छत्रोत्सिक्तमहामहस्तमुपदं दत्वा नवे यौवने।
> यस्मै यौवनशेषयोग्यमखिलक्ष्मापालनारायणः
> श्रीमान् लक्ष्मणसेनदेवनृपतिर्धर्माधिकारं ददौ॥

राजा लक्ष्मणसेन के साथ इस सम्बन्ध से इनका समय सरलता से जाना जा सकता है। लक्ष्मणसेन ने बड़ी योग्यता से गौड़ देश का शासन किया था। सुप्रसिद्ध लक्ष्मण संवत् (लं० सं०) के चलानेवाले ये ही विद्याप्रेमी महाराज हैं। ११७० ई० के लगभग इन्होंने अपने विख्यात पिता बल्लालसेन के बाद सिंहासन पर अपना अधिकार जमाया। लगभग ३० वर्ष तक ये राज्य करते रहे। १२०० ई० में इनके राज्य का अन्त हुआ[1]। अतः इनका समय वि० सं० १२२७—१२५७ तदनुसार ई० सन् ११७० से १२०० तक है। लक्ष्मणसेन के धर्माधिकारी होने के कारण हलायुध का भी यही समय समझना चाहिए। अतः हलायुध का काल विक्रम की १३ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

हलायुध अपने समय के एक प्रख्यात वैदिक विद्वान् थे। ब्राह्मण-सर्वस्व के अतिरिक्त मीमांसासर्वस्व, वैष्णवसर्वस्व, शैवसर्वस्व तथा पण्डित-सर्वस्व आदि ग्रन्थ हलायुध की लेखनी से उत्पन्न हुए। इससे ये न केवल वेद तथा मीमांसा के ही मान्य पण्डित प्रतीत होते हैं, प्रत्युत आगम—विशेषतः वैष्णव तथा शैव आगम—के भी मर्मज्ञ जान पड़ते हैं। अतः ऐसे योग्य व्यक्ति का राज्य के धर्माधिकारी का पद सुशोभित करना नितान्त उचित था।

सायणाचार्य ने माध्यन्दिनसंहिता के ऊपर उवटभाष्य की स्थिति के कारण अपना कोई भाष्य नहीं लिखा। सायण ने काण्वसंहिता पर ही अपना भाष्य

---

१. स्मिथ—प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ४०३-४०७ (तृतीय संस्करण)।

लिखा[1]। **अनन्ताचार्य** नामक काशीस्थ वैदिक विद्वान् माध्व वैष्णव थे। १६ वीं शती इनका स्थिति काल है। इन्होंने काण्वसंहिता के उत्तरार्ध पर (२१ अ०–४० अ० तक) अपना भाष्य बनाया। इनके भाष्य पर महीधर के भाष्य की स्पष्ट छाया है। फलतः ये उनके उत्तरकालीन ग्रन्थकार हैं। स्थान-स्थान पर इन्होंने मन्त्रों का अर्थ विष्णुपरक किया है। यह सम्प्रदायानुसारी व्याख्या इनके पाण्डित्य तथा पुराणज्ञता की विशेष द्योतिका है। शुक्लयजुःप्रातिशाख्य पर भी इनकी एक टीका है, जो उवट की व्याख्या के सामने विशेष महत्त्व नहीं रखती।

आदन्दबोध भट्टोपाध्याय

सारस्वती सुषमा पत्रिका (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) में आनन्दबोध भट्टोपाध्याय का काण्व-संहिता के चतुर्थ दशक (अध्याय ३१–४०) तक) का भाष्य क्रमशः (सं० २००९–२०११) प्रकाशित है। सम्पूर्ण संहिता पर इनका भाष्य मिलने की सूचना दी गई है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। ग्रन्थ के अन्त की पुष्पिका के अनुसार ये वासुदेवपुरी-निवासी जातवेद भट्टोपाध्याय के पुत्र चतुर्वेदी थे। बस इनके सम्बन्ध में यहाँ इतनी ही सूचना उपलब्ध है। अपने भाष्य में इन्होंने देवता, ऋषि, छन्द का निर्देश एवं यज्ञ तथा मन्त्रों का विनियोग भी यथास्थान दिया है। इसकी भाषा सरल और सुबोध है। इसमें व्याकरण-सम्बन्धी व्युत्पत्तियाँ भी दी गई हैं। ब्राह्मणों आदि से उद्धरण भी इन्होंने अपने भाष्य की पुष्टि में यत्र-तत्र दिये हैं। मध्यन्दिन-यजुर्वेद पर उवट और महीधर के भाष्य से इनकी तुलना करने पर ऐसा लगता है कि इन पर उवट का प्रभाव यद्यपि लक्षित किया जा सकता है, तथापि इन्होंने अपनी मौलिकता भी प्रदर्शित की है। उदाहरणार्थ इस मन्त्र के भाष्य को लें—

> केतुं कृण्वन्नकेतवे
> पेशो मर्या अपेशसे।
> समुषद्भिरजायथाः॥ (मा० सं० २९, ३७; का० सं० ३१.१२)

उवट और महीधर ने 'मर्या' को विभक्ति-व्यत्यय से 'मर्याय=मनुष्याय' अर्थ में ग्रहण किया है, किन्तु आनन्दबोध ने उसे प्रथमान्त 'मर्याः' ही माना है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि महीधर की भाँति इन्होंने अधिक स्पष्ट अर्थ

---

1. इसका प्रथमार्ध चौखम्बा संस्कृत सीरीज में प्रकाशित है। उत्तरार्ध का भी हस्तलेख प्राप्त है।

नहीं किया है। इस दृष्टि से इनकी शैली उवट से अधिक मिलती हुई जान पड़ती है, परन्तु विना पूरा ग्रन्थ देखे इसकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता।

अथर्वसंहिता का भाष्य पहले पहल सायण ने ही प्रस्तुत किया। इनके पहिले किसी भी विद्वान् ने इस वेद की संहिता पर भाष्य नहीं लिखा। सायण ने पूरी संहिता पर भाष्य लिखा था, परन्तु छपे हुए ग्रन्थों में केवल १२ काण्डों (१–४, ६–८, ११, १७–२० काण्ड) का ही भाष्य मिलता है। इस प्रकार सायण-भाष्य भी अधूरा ही है।

ब्राह्मण-भाष्य

शतपथ-भाष्य—शतपथ दोनों शाखाओं—माध्यन्दिन तथा काण्व में मिलता है। (१) **काण्व शतपथ** पर भाष्य महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने किया था। भाष्य तो मिलता नहीं, केवल उसका निर्देश वनपर्व के १६२ अ० के ११ वें श्लोक की टीका में उन्होंने स्वयं किया है।

(२) **माध्यन्दिन शतपथ**—सुनते हैं उवट ने इस पर टीका लिखी थी। इनसे बहुत पहिले हरिस्वामी ने पूरे शतपथ पर अपना भाष्य बनाया था, जो आजकल पूरा नहीं मिलता। ये बड़े भारी वैदिक थे। ये पराशर गोत्रीय नागस्वामी के पुत्र तथा अवन्ती के राजा विक्रम के धर्माध्यक्ष थे। सौभाग्य से इनके भाष्य में रचना काल का निर्देश है। भाष्य का निर्माण ३७४० कलिवर्ष (अर्थात् ५३८ ई०) में हुआ था, जिससे स्पष्ट है कि ये विक्रम की षष्ठ शताब्दी में विद्यमान थे। यह भाष्य प्राचीन तथा प्रामाणिक है।

संहिताओं के समान भिन्न-भिन्न शाखाओं के ब्राह्मणों पर भी कालान्तर में विद्वानों ने टीकायें तथा भाष्यों का प्रणयन किया। इनमें प्रधान आचार्यों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण पर निम्नलिखित भाष्य उपलब्ध होते हैं—

(१) **गोविन्दस्वामी**—'दैव' की टीका 'पुरुषकार' के कर्ता श्रीकृष्ण-लीलाशुक मुनि (१३ शती) ने १९८ वीं कारिका की टीका में 'गोविन्द स्वामी' का उल्लेख किया है (अनन्तशयन-ग्रन्थमाला में प्रकाशित)। यही उद्धरण 'माधवीया धातुवृत्ति' में भी मिलता है। 'बौधायनीय धर्म विवरण' का कर्ता सम्भवतः यही ग्रन्थकार है। इसमें कुमारिल का निर्देश और उनके प्रख्यात

ग्रन्थ 'तन्त्रवार्तिक' का उद्धरण मिलता है। अतः इनका समय ८ शती के अनन्तर १३ शती से पूर्व सम्भवतः १० म शतक है।

(२) **षड्गुरु शिष्य**—इन्होंने ऐतरेय-ब्राह्मण, ऐत० आर०, आश्वलायन श्रौत तथा गृह्य और सर्वानुक्रमणी पर टीकायें लिखी हैं, जिनमें से ऐतरेय ब्रा० की टीका अभी अधूरी ही प्रकाशित है (अ० श० ग्र०), परन्तु कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' की 'वेदार्थदीपिका' व्याख्या नितान्त प्रख्यात तथा सुसम्पादित है (आक्सफोर्ड से प्रकाशित)। अन्तिम टीका का रचनाकाल १२३४ सं० (=११५७ ईस्वी) ग्रन्थकार ने दिया है। फलतः इनका समय १२ वीं शती का मध्य-काल है।

(३) **आचार्य सायण**—इनकी टीका आनन्दाश्रम पूना से प्रकाशित है। भरतस्वामी का सामविधान ब्राह्मण पर, गुणविष्णु का छान्दोग्य ब्राह्मण पर तथा द्विजराज भट्ट का संहितोपनिषद् ब्राह्मण पर भाष्य प्रकाशित है।

तैत्तिरीय-ब्राह्मण

(१) **भवस्वामी**—भट्टभास्कर के कथनानुसार इनका भाष्य वाक्यार्थैकपर था। केशव स्वामी ने (जिनका नाम ११ शतक में निर्मित 'त्रिकाण्ड मण्डन' में उल्लिखित है) बौधायन-प्रयोगसार में भवस्वामी का नाम निर्दिष्ट किया है। अतः इनका समय १०म शतक मानना उचित होगा। इनके तैत्तिरीय-संहिता तथा ब्राह्मण पर भाष्य निर्दिष्टमात्र हैं, उपलब्ध नहीं।

(२) **भट्ट भास्कर**—'तैत्तिरीयसंहिता' के ऊपर भाष्य लिखने के बाद इन्होंने तैत्तिरीय-ब्राह्मण पर भी अपना भाष्य लिखा।

(३) **आचार्य सायण**—इन्होंने भी तैत्तिरीय-ब्राह्मण पर अपना भाष्य लिखा है, जो नितान्त लोक प्रिय है।

सामवेदीय ब्राह्मण

सामवेद के ब्राह्मणों पर सायण से पहिले भी कई आचार्यों ने टीकायें लिखी हैं। हरिस्वामी के पुत्र जयस्वामी ने ताण्ड्य-ब्राह्मण पर, गुणविष्णु ने मन्त्र-ब्राह्मण पर, भास्कर मिश्र ने आर्षेय-ब्राह्मण पर तथा भरतस्वामी ने सामविधान-ब्राह्मण पर भाष्यों की रचना की है। आचार्य सायण ने अपनी पद्धति के अनुसार इन समग्र सामवेदीय ब्राह्मणों पर अपनी व्याख्या लिखी है।

गोपथ-ब्राह्मण के ऊपर किसी व्याख्या का पता नहीं चलता।

सायण के वेदभाष्य

महत्त्व

सायण के अन्य ग्रन्थों को उतना महत्त्व प्राप्त नहीं है जितना इन वेदभाष्यों को। सर्वसाधारण तो इनकी अन्य रचनाओं के अस्तित्व से भी सर्वथा अपरिचित हैं। वह तो सायण को इन्हीं वेदभाष्यों के रचयिता के रूप में जानता है तथा आदर करता है। ये वेदभाष्य ही सायणाचार्य की कमनीय कीर्तिलता को सर्वदा आश्रय देनेवाले विशाल कल्पवृक्ष हैं, जिनकी शीतल छाया में आदरणीय आश्रय पाकर सायण की कीर्तिगरिमा सदैव वृद्धि तथा समृद्धि प्राप्त करती जायगी। ये वेदभाष्य ही सायणाचार्य की अलौकिक विद्वत्ता, व्यापक पाण्डित्य तथा विस्मयनीय अध्यवसाय को अभिव्यक्त करने के लिए आज भी नितान्त समर्थ हैं, तथा भविष्य में भी बने रहेंगे।

रचना का उपक्रम

महाराज बुक्कराय के संस्कृत साहित्य, आर्यधर्म तथा हिन्दू सभ्यता के प्रति विमल तथा प्रगाढ़ अनुराग से हम सर्वथा परिचित हैं। महाराज ने अपने उच्च विचारों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए यह आवश्यक समझा कि हिन्दू धर्म के आदिम तथा प्राणभूत ग्रन्थरत्न वेदों के अर्थ की सुन्दर तथा प्रामाणिक ढंग से व्याख्या की जाय। इसके लिए उन्होंने अपने आध्यात्मिक गुरु तथा राजनीतिज्ञ अमात्य माधव को आदेश दिया कि वेदों के अर्थ का प्रकाशन किया जाय। माधवाचार्य वेदार्थ के मर्मज्ञ मीमांसक थे। जैमिनीय न्यायमाला की रचना कर उन्होंने अपने मीमांसा-ज्ञान का प्रकृष्ट परिचय दिया था। अतः ऐसे सुयोग्य विद्वान् से वेदार्थ की व्याख्या के लिए प्रार्थना करना नितान्त उपयुक्त था, परन्तु जान पड़ता है कि अनेक अन्य आवश्यक कार्यों में व्यग्र रहने के कारण माधव अपने शिष्य तथा आश्रयदाता के इस आदरणीय आदेश को मानने के लिए तैयार नहीं हुए। इस कारण से अथवा किसी अन्य अभिप्राय से माधव ने अपने ऊपर इस गुरुतर कार्य के निबाहने का भार नहीं रखा। फलतः उन्होंने राजा से कहा—यह मेरा छोटा भाई सायणाचार्य वेदों की सब बातों को जानता है—गूढ़ से भी गूढ़ अभिप्राय तथा रहस्य से परिचित है। अतः इन्हीं को इस व्याख्या-कार्य के लिये नियुक्त कीजिए। माधवाचार्य के इस उत्तर को सुनकर वीर बुक्क महीपति ने सायणाचार्य को वेदार्थ के प्रकाशन के लिए आज्ञा दी। तब कृपालु सायणाचार्य ने वेदार्थों की व्याख्या की।

यह विवरण तैत्तिरीयसंहिता-भाष्य के आरम्भ में दिया गया है[1]। इससे पाठकों को विदित हो जायगा कि वेदभाष्यों की रचना का उपक्रम क्योंकर हुआ। सायणाचार्य के यौवन का समय कंपण तथा संगम के मंत्रीकार्य के संपादन में व्यय हुआ था। वे बल्लूर के आस-पास शासन तथा प्रबन्ध करने में अब तक लगे थे। वे विजय नगर के शासक हरिहर तथा बुक्क के साथ घनिष्ठ परिचय तथा गाढ़ अनुराग प्राप्त करने में अभी तक सौभाग्यशाली न थे। सच तो यह है कि विजय नगर से बाहर अन्य भूपालों के संग राज्य-प्रबन्ध में संलग्न रहने के कारण सायण बुक्क के दर्बार से दूर ही रहते थे। अतः यदि महाराज बुक्क सायण की योग्यता तथा विद्वत्ता से सर्वथा अपरिचित हों, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं मालूम पड़ती। माधव की विशेष योग्यता को वह भली-भाँति जानते थे, क्योंकि माधव का समग्र जीवन विजयानगरम् के शासकों के संग ही बीता था। अतः उन्हें वेदार्थ के प्रकाशन के लिए आदेश देना नितान्त स्वाभाविक है, परन्तु माधव ने अपने आपको इस उत्तरदायी कार्य के सँभालने में न लगाकर अपने भाई को इसके लिए चुना। उन्हें अपने भाई की विपुल विद्वत्ता तथा वेद की मर्मज्ञता में बड़ा विश्वास था। अतः इस कार्य को उन्हें ही सौंपा। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यद्यपि बुक्क की ही आज्ञा से वेदभाष्यों की रचना का सूत्र-पात हुआ; तथापि माधवाचार्य का हाथ इसमें विशेष दीखता है। अतः जिस प्रकार हम इन ग्रन्थ-रत्नों के लिए सायणाचार्य के ऋणी हैं उसी प्रकार हम माधवाचार्य के भी ऋणी हैं। माधव के लिए हमें और भी आदर है। आपकी यदि प्रेरणा कहीं न हुई होती, तो इन वेदभाष्यों की रचना ही सम्पन्न नहीं होती। अतः वेदाभिमानियों को महाराज बुक्क, माधवाचार्य तथा सायणाचार्य—इन तीनों के प्रति इन गौरवमय ग्रन्थों के लिए अपनी प्रगाढ़ कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए।

---

1. तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः।
आदिशन्माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने।
स प्राह नृपतिं "राजन्! सायणार्यो ममानुजः।
सर्वं वेत्त्येष वेदानां व्याख्यातृत्वे नियुज्यताम्"॥
इत्युक्तो माधवार्येण वीरो बुक्कमहीपतिः।
अन्वशात् सायणाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात्।
कृपालुः सायणाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः॥
(तैत्तिरीयसंहिता-भाष्योपक्रमणिका)

अब तक 'वेदभाष्य' शब्द का प्रयोग इस ढंग से किया गया है जिससे इसके द्वारा किसी एक ही ग्रन्थ को लक्षित करने का भाव प्रकट होता है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। 'वेद' शब्द संहिता तथा ब्राह्मण के समुदाय के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अतः वेदभाष्य के द्वारा संहिता तथा ब्राह्मण की व्याख्या लक्षित होती है। जिन संहिताओं तथा ब्राह्मणों के ऊपर सायण ने अपने भाष्य लिखे उनके नामों का यहाँ उल्लेख किया जाता है। जहाँ तक पता चलता है सायण ने ज्ञान-काण्ड की व्याख्या में किसी ग्रन्थ को नहीं लिखा।

संख्या

सायण ने इन सुप्रसिद्ध वैदिक संहिताओं के ऊपर अपने भाष्य लिखे—

(१) तैत्तिरीयसंहिता (कृष्ण यजुर्वेद की)
(२) ऋग्वेदसंहिता
(३) सामवेदसंहिता
(४) काण्वसंहिता (शुक्लयजुर्वेदीय)
(५) अथर्ववेदसंहिता

सायण के द्वारा व्याख्यात ब्राह्मण तथा आरण्यक—

क—कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मण—

(१) तैत्तिरीय-ब्राह्मण
(२) तैत्तिरीय-आरण्यक

ख—ऋग्वेद के ब्राह्मण—

(३) ऐतरेय-ब्राह्मण
(४) ऐतरेय-आरण्यक

ग—सामवेद के ब्राह्मण—

(५) ताण्ड्य (पञ्चविंशमहा) ब्राह्मण
(६) षड्विंश ब्राह्मण
(७) सामविधान ब्राह्मण
(८) आर्षेय ,,
(९) देवताध्याय ,,
(१०) उपनिषद् ,,
(११) संहितोपनिषद् ,,
(१२) वंश ,,

घ—शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण—

(१३) शतपथ-ब्राह्मण

इस प्रकार सायणाचार्य ने ५ संहिताओं के भाष्य तथा १३ ब्राह्मण-आरण्यकों की व्याख्या लिखी। सायणकृत वेदभाष्यों के नामोल्लेख से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि उन्होंने चारों वेदों की संहिताओं के ऊपर अपने प्रामाणिक भाष्य लिखे, तथा चारों वेदों के ब्राह्मणभाग की भी व्याख्या लिखी। शुक्लयजुर्वेद तथा सामवेद के समग्र ब्राह्मणों पर सायण ने भाष्य लिखे। शुक्लयजुर्वेद का एक ही ब्राह्मण मिलता है, वह है शतपथब्राह्मण। यह विपुल-काय ग्रन्थ सौ बड़े बड़े अध्यायों में विभक्त है। सायण ने इस ग्रन्थरत्न की सुन्दर व्याख्या लिखी। सामवेद के आठ ब्राह्मण मिलते हैं। इन आठों ब्राह्मणों पर सायण ने व्याख्यान लिखा है। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण तथा दो आरण्यक हैं—ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऐतरेय-आरण्यक; कौषीतकि-ब्राह्मण तथा कौषीतकि-आरण्यक। इनमें सायण ने पहले दोनों पर ही व्याख्या लिखी है। इसी प्रकार कृष्णयजुर्वेद की एक ही शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण तथा आरण्यक की व्याख्या सायण ने बनाई। कृष्ण-यजुर्वेद की अनेक शाखाओं के ग्रन्थ उपलब्ध हैं, परन्तु सायण ने इन सबों को छोड़कर अपनी ही शाखा के ब्राह्मण तथा आरण्यक के भाष्य लिखे। इस प्रकार सायणाचार्य ने वैदिक साहित्य के एक विशाल भाग के ऊपर अपने विस्तृत तथा प्रामाणिक भाष्य लिखे। यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण हुआ है कि उनकी समता न तो किसी प्राचीन आचार्य से ही की जा सकती है और न किसी परवर्ती भाष्य-कार से ही, क्योंकि किसी ने भी इतने वैदिक ग्रन्थों पर भाष्य नहीं बनाए। यही सायणाचार्य के भाष्यों का महत्त्व है।

सायणाचार्य ने अपने भाष्यों के आरम्भ में कुछ न कुछ उपोद्घात के रूप में कतिपय पद्यों को रखा है। इनकी परीक्षा से हम इन भाष्यों की रचना के क्रम को भली भाँति बतला सकते हैं। सायणाचार्य ने सबसे पहले

रचना-क्रम

बुक्कराय के आदेश से जिस वैदिक संहिता पर भाष्य लिखा वह कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता है[1]। इस संहिता के सर्वप्रथम भाष्य लिखे जाने का कारण यही नहीं है कि यह सायण की अपनी

---

१. सायण-भाष्य के साथ यह संहिता आनन्दाश्रम ग्रन्थावली (नं० ४२) में १९०० ई० से १९०५ तक ८ जिल्दों में प्रकाशित हुई है। इससे पहले कलकत्ते से भी यह भाष्य ४ जिल्दों में १८६०–१८८१ तक प्रकाशित हुआ था। आनन्दाश्रम संस्करण कलकत्ता संस्करण से बहुत अच्छा है।

संहिता थी। सायण तैत्तिरीय शाख्याध्यायी ब्राह्मण थे। अतः अपनी शाखा होने से तथा अतिपरिचित होने के हेतु तैत्तिरीय-संहिता के ऊपर सबसे पहले भाष्य लिखना उनके लिए उचित ही नहीं, बल्कि स्वाभाविक भी है, परन्तु केवल इसी कारण से ही तैत्तिरीय-भाष्य को सर्वप्रथम रचित होने का गौरव नहीं प्राप्त है। इसका एक और ही कारण है। यागानुष्ठान के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है, जिनके नाम अध्वर्यु, होता, उद्गाता तथा ब्रह्मा हैं। इनमें अध्वर्यु की प्रधानता मानी जाती है। वही यज्ञ के समस्त अनुष्ठानों का यजमान के द्वारा विधान कराता है। ऋग्वेद ने तो यहाँ तक कहा है कि वही यज्ञ के स्वरूप का निर्माण करता है[1] (यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः)। इस अध्वर्यु के लिए यजुर्वेद की संहिता प्रस्तुत की गई। यजुर्वेद के मन्त्रों के द्वारा अध्वर्यु अपने कर्म (जिसे 'आध्वर्यव' कहते हैं) का निष्पादन करता है। 'यजुः' शब्द की निरुक्ति ही (यजुः यजतेः) इसके याग-निष्पादकत्व की सूचना देती है। यजुर्वेद के द्वारा यज्ञ के स्वरूप की निष्पत्ति के अनन्तर ही स्तोत्र तथा शस्त्र नामक अवयवों की ऋग्वेद तथा सामवेद के द्वारा पूर्ति की जाती है। अत एव सबसे अधिक उपयोगी होने के कारण उसका व्याख्यान सर्वप्रथम करना उपयुक्त है। यजुर्वेद भी दो प्रकार का है—कृष्ण तथा शुक्ल। कृष्णयजुः की बहुत सी शाखाओं में तैत्तिरीय-शाखा ही भाष्यकार की अपनी शाखा है। अतः तैत्तिरीय-भाष्य की व्याख्या का सबसे पहले लिखा जाना प्रमाणसिद्ध है।

तैत्तिरीय संहिता तथा ब्राह्मण के भाष्य

सायण ने तैत्तिरीयसंहिता के भाष्य को लिखकर उसके ब्राह्मण तथा आरण्यक के व्याख्यान लिखने को क्रमबद्ध तथा उचित समझा। किसी अन्य वेद की संहिता पर भाष्य बनाने को अपने हाथ में लेने की अपेक्षा यह कहीं अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि पूर्व वेद के ब्राह्मण तथा आरण्यों का भी व्याख्यान उसकी संहिता के भाष्य के अनन्तर प्रस्तुत कर दिया जाय। इस प्रकार उस वेद का भाष्य पूर्ण हो जाता है। इसी श्लाघनीय तथा स्वाभाविक क्रम को सायण ने सर्वत्र आदर दिया है। इसी शैली के अनुसार सायण ने तैत्तिरीयसंहिता के

---

१. एवं सति अध्वर्युसम्बन्धिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तद्पेक्षितौ स्तोत्रशस्त्ररूपौ अवयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्येते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम्।—वेदभाष्यभूमिका-संग्रह (चौखम्भा), पृ० १४।

अनन्तर तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय-आरण्यक पर भाष्य बनाया। सायण ने इन ग्रन्थों के आरम्भ में इनके पूर्वोक्त रचना-क्रम को स्पष्टतः ही प्रदर्शित किया है—

व्याख्याता सुख-बोधाय तैत्तिरीयकसंहिता।
तद्ब्राह्मणं व्याकरिष्ये सुखेनार्थविबुद्धये॥

× × ×

व्याख्याता सुखबोधार्थं तैत्तिरीयकसंहिता।
तद्ब्राह्मणं च व्याख्यातं शिष्टमारण्यकं ततः॥

ऋग्भाष्य

(२) तैत्तिरीय शाखा की संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक के भाष्य निर्माण के पश्चात् ऋग्वेद के व्याख्यान लिखने की बारी आई। अध्वर्यु के बाद **'होता'** का कार्य महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उसके लिए ऋग्वेद की आवश्यकता होती है। होता का कार्य-हौत्र—ऋग्वेद के मन्त्रों के द्वारा यागानुष्ठान के समय विशिष्ट देवताओं को बुलाना है[१]। वह ऋचाओं को स्वर के साथ उच्चारण करता है, तब यज्ञों में देवताओं का आगमन होता है। इस हौत्र कर्म में ऋग्वेद संहिता का उपयोग है। अतः व्याख्यात संहिताओं में यह दूसरी संहिता है। सायण ने ऋग्भाष्य के आरम्भ में स्वयं लिखा है[२]:—

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते॥

तैत्तिरीय श्रुति के अनन्तर ऋग्वेद का भाष्य लिखा गया, यह बात ठीक है, परन्तु सायण ने इस वेद के ब्राह्मण—ऐतरेय तथा आरण्यक (ऐतरेय) का भाष्य पहले लिखा, अनन्तर संहिता का भाष्य तैयार किया। ऋग्वेद-भाष्य के आरम्भ में ही सायण ने इस काम को स्वीकार किया है—

'मन्त्रब्राह्मणात्मके वेदे ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानोपयोगित्वाद् आदौ ब्राह्मणमारण्यकाण्डसहितं व्याख्यातम्। अथ तत्र तत्र ब्राह्मणोदाहरणेन मन्त्रात्मकः संहिताग्रन्थो व्याख्यतव्यः।'

१. वेदभाष्यभूमिका-संग्रह, पृ० ६३।

२. **'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्' होतृनामक एक ऋत्विग् यज्ञकाले स्वकीयवेदगतानामृचां पुष्टिं कुर्वन्नास्ते। भिन्नप्रदेशेषु आम्नातानाम् ऋचां संघातमेकत्र सम्पाद्यैतावदिदं शास्त्रमिति स्तुतिं करोति सेयं पुष्टिः।—वेदभाष्यभूमिका-संग्रह, पृ० १२।**

सायण ने अपने वेदभाष्य का नाम 'वेदार्थप्रकाश' लिखा है, तथा इसे अपने गुरु विद्यातीर्थ को समर्पित किया है :—

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन्।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः॥

समूचे ऋग्भाष्य का प्रथम संस्करण डा० मैक्समूलर ने छ जिल्दों में १८४९–७४ ई० में सम्पादित किया था, जिसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने प्रकाशित कराया था। दूसरा संस्करण पहले से अधिक शुद्ध ४ जिल्दों में प्रकाशित किया गया है। भारतवर्ष में तुकाराम तात्या ने ८ जिल्दों में इस भाष्य को निकाला था। आज-कल तिलक विद्यालय पूना से भाष्य का बहुत ही विशुद्ध संस्करण चार जिल्दों में प्रकाशित हो गया है। इसमें उपलब्ध समग्र हस्तलेखों का उपयोग किया गया है।

(३) होता के अनन्तर उद्गातृ नामक ऋत्विक् का काम आता है। वह उच्च स्वर से सामों को गाता है। इसी कारण वह 'उद्गातृ' (उच्च स्वर से गाने वाले) के नाम से प्रसिद्ध है[1]। सामों के गाने के उसके इस कार्य को 'औद्गात्र' कहते हैं। इसके लिए सामवेद की आवश्यकता होती है। ऋचाओं के ऊपर साम गाये जाते हैं।

सामभाष्य

अतः ऋग्वेद के बाद सामवेद की व्याख्या युक्तियुक्त है। यजुर्वेद के द्वारा यज्ञ के स्वरूप की निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार शरीर के उत्पन्न होने पर आभूषण पहने जाते हैं, उसी प्रकार ऋचाओं के द्वारा यज्ञ शरीर भूषित किया जाता है और जैसे आभूषणों में मोती तथा हीरे जड़े जाते हैं तथा उनका आश्रय आभूषण ही होता है, वैसे ही ऋचाओं को अलंकृत करने वाले तदाश्रित रहने वाले सामों की स्थिति है[2]। अतः एक के बाद दूसरे की व्याख्या क्रम-प्राप्त भी है तथा स्वाभाविक भी। सायणाचार्य ने इसको स्वयं स्वीकार किया है, तथा सामभाष्य को ऋग्भाष्य

---

१. 'गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु'। उद्गातृनामक एक ऋत्विग् गायत्रशब्दाभिधेयं स्तोत्रं शक्वरीशब्दाभिधेयासु ऋक्षु उद्गायति।

(वेद० भा० भू० सं०, पृ० १३)।

२. जाते देहे भवत्यस्य कटकादिविभूषणम्।
आश्रितं मणिमुक्तादि कटकादौ यथा तथा॥ १२॥
यजुर्जाते यज्ञदेहे स्यादृग्भिस्तद्विभूषणम्।
सामाख्या मणिमुक्ताद्या ऋक्षु तासु समाश्रिताः॥ १३॥

के अनन्तर विरचित बतलाया है[१]। सामवेद की संहिता के अनन्तर उसके ब्राह्मण ग्रन्थों पर भाष्य लिखे गए। सामवेद के आठ ब्राह्मण हैं। इन सब ब्राह्मणों की व्याख्या सायण ने की है[२]। अष्टम वंश-ब्राह्मण के व्याख्यान के आरम्भ में संहिता-त्रयी के अनन्तर साम ब्राह्मणों के निर्माण होने की बात को भाष्यकार ने भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है[३]। सामवेद का कोई भी आरण्यक नहीं है। अतः अभाववशात् इसके भाष्य-ग्रन्थ भी सायण ने नहीं बनाए। इन साम ब्राह्मणों की भी व्याख्या उसी क्रम से की गई जिस क्रम से इनका नामोल्लेख पहले किया गया है। सबसे पहले ताण्ड्य ब्राह्मण की तथा सबके अन्त में वंश ब्राह्मण की व्याख्या लिखी गई[४]।

(४) सामवेद के अनन्तर काण्व-संहिता का भाष्य बना। यजुर्वेद के दो प्रकार हैं—कृष्ण यजुः तथा शुक्ल यजुः। इनमें कृष्ण यजुः की तैत्तिरीय संहिता की व्याख्या सबसे पहले की गई थी। शुक्ल यजुः की दो संहिताएँ हैं—एक माध्यन्दिनी संहिता और दूसरी काण्व संहिता। सायण के लगभग तीन सौ वर्ष पहले ही राजा भोज के शासनकाल में आनन्दपुर वास्तव्य आचार्य उव्वट ने माध्यन्दिन संहिता की विवृति लिखी थी।

काण्व भाष्य

---

१. यज्ञं यजुर्भिरध्वर्युर्निर्मिमीते ततो यजुः।
व्याख्यातं प्रथमं पश्चादृचां व्याख्यानमीरितम्॥ १०॥
साम्नामृगाश्रितत्वेन सामव्याख्याऽथ वर्ण्यते।
अनुतिष्ठासु-जिज्ञासावशाद् व्याख्याक्रमो ह्ययम्॥ ११॥
(वे० भा० भू० सं०, पृ० ६२)

२. पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी ने सामवेद के ग्रन्थों के उद्धार करने में बड़ा ही स्तुत्य कार्य किया है। उन्होंने सामसंहिता, ताण्ड्य-ब्राह्मण तथा अन्य सब ब्राह्मणों का सभाष्य संस्करण कलकत्ते से प्रकाशित किया था। ताण्ड्य का नया संस्करण चौखम्बा से भी प्रकाशित हुआ है।

३. व्याख्यातावृग्यजुर्वेदौ सामवेदोऽपि संहिता।
व्याख्याता ब्राह्मणस्याथ व्याख्यानं संप्रवर्तते॥
(वंश-ब्राह्मणभाष्य)

४. प्रौढानि ब्राह्मणान्यादौ सप्त व्याख्याय चान्तिमम्।
वंशाख्यं ब्राह्मणं विद्वान् सायणो व्याचिकीर्षति॥

वह इतनी प्रामाणिक है कि इसके ऊपर फिर से भाष्य लिखने की आवश्यकता नहीं। अतः शेष बची काण्व-संहिता का भाष्य सायण ने लिखा, परन्तु इसके आधे ही पर (२० अध्यायों पर ही) उनका भाष्य मिलता है और वह चौखम्भा से प्रकाशित हुआ है। जान पड़ता है कि सायण ने उत्तरार्ध के ऊपर व्याख्या नहीं लिखी। अनन्ताचार्य ने अपने काण्वसंहिता-भाष्य के आरम्भ में इस बात की पुष्टि की है:—

व्याख्याता काण्वशाखीयसंहिता पूर्वविंशतिः।
माधवाचार्यवर्येण स्पष्टीकृत्य न चोत्तरा॥

साम के अनन्तर कण्व-भाष्य के लिखे जाने की बात को सायण ने स्वयं स्वीकार किया है।

(५) संहिताभाष्यों में अथर्व भाष्य सब के अन्त में बना। सायणाचार्य ने अथर्व-भाष्य के उपोद्घात में लिखा है कि वेदत्रयी के अनन्तर अथर्व की व्याख्या लिखी गई। वेदत्रयी के पहले व्याख्या करने का कारण ऊपर दिया गया है। उसमें एक अन्य कारण यह भी है कि वेदत्रयी के विधानों का फल स्वर्गलोक में मिलने वाला होता है, परन्तु अथर्ववेद के द्वारा प्रतिपादित अनुष्ठानों का फल पारलौकिक (आमुष्मिक) ही नहीं होता, प्रत्युत ऐहिक भी होता है। अतः पारलौकिक फल वाले तीनों वेदों के भाष्य के पीछे उभय लोक के कल्याण करनेवाले (ऐहिकामुष्मिक) अथर्ववेद का भाष्य सायण ने बनाया—

व्याख्याय वेदत्रितयमामुष्मिकफलप्रदम्।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति॥

(अथर्वभाष्य का उपोद्घात)

अथर्ववेद के ऊपर सायण का ही एकमात्र भाष्य मिलता है, परन्तु दुःख की बात है कि अभी तक उसका सम्पूर्ण कोष उपलब्ध नहीं हुआ। अभी तक यह त्रुटित ही है। इस वेद का सायण-भाष्य श्री काशीनाथ पाण्डुरङ्ग

अथर्व भाष्य

पण्डित ने बड़े ही परिश्रम से ४ बड़े-बड़े जिल्दों में बम्बई से (१८९५–१८९८ ई०) प्रकाशित किया है। वही इस भाष्य का एकमात्र संस्करण है। इसमें अथर्व के २० काण्डों में से केवल १२ काण्डों (१, २, ३, ४, ६–८, ११, १७-२०) पर ही सायण-भाष्य है, अन्य ८ काण्ड (५, ९, १०, १२–१६) विना भाष्य के ही छापे गये हैं। पर सुनते हैं, सायण के पूरे भाष्य की भी प्रति ग्वालियर में उपलब्ध है। इसका प्रकाशन होना चाहिए।

सायण के भाष्यों में शतपथभाष्य सबसे पीछे की रचना है। वेदत्रयी तथा अन्य ब्राह्मणों के भाष्य बुक्क के राज्यकाल में लिखे गये। अथर्व तथा शतपथ के भाष्य हरिहर द्वितीय के राज्यकाल की रचनायें हैं।

शतपत भाष्य सायण ने पूरे शतपथ पर भाष्य लिखा था, परन्तु वह उपलब्ध नहीं होता। इसके तीन संस्करण समय समय पर प्रकाशित हुए हैं। डा० वेबर के संस्करण में सायण भाष्य अधूरा ही है। स्थान स्थान पर हरिस्वामी का भाष्य दिया गया है। कलकत्ता के एशियाटिक सोसाइटी का संस्करण अधूरा है। इधर वेंकटेश्वर प्रेस से शतपथ-भाष्य ५ जिल्दों में अभी हाल में प्रकाशित हुआ है। यह संस्करण विशुद्ध प्रतीत होता है। इसमें जिन काण्डों पर सायण का भाष्य उपलब्ध नहीं है, वहाँ हरिस्वामी का भाष्य दे दिया गया है। अतः हरिस्वामी तथा सायण—दोनों के स्थान-स्थान पर भाष्यों को मिला देने से हमें पूरा सभाष्य शतपथ उपलब्ध हो गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् पर वेबर ने द्विवेद गंग का भाष्य प्रकाशित किया था; वेंकटेश्वर संस्करण में 'वासुदेव ब्रह्म भगवान्' का भाष्य है। इस संस्करण का प्रकाशन वेदानुशीलन के लिए बड़ा उपयोगी है।

वेदभाष्यों के रचना काल का निर्णय नितान्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। सायणाचार्य ने किस समय इनकी रचना की? इनकी रचना के समय भाष्यकार की अवस्था क्या थी? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

रचना काल इस रचना काल का निर्णय हम बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों की सहायता से यहाँ करने का प्रयत्न करेंगे।

बड़ौदा की सेन्ट्रल लाइब्रेरी में ऋग्वेदभाष्य की एक हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। इसमें केवल ऋग्वेद के चतुर्थ अष्टक का सायण-भाष्य है। इस प्रति का लिपि-काल १४५२ विक्रम संवत् है। इसे ऋग्वेदभाष्य की सबसे प्राचीन प्रति समझनी चाहिए। इससे अधिक प्राचीन प्रति अब तक कहीं भी प्राप्त नहीं हुई है। सायण की मृत्यु वि० सं० १४४४ में बतलाई जाती है। अतः सायण की मृत्यु के आठवें वर्ष ही संभवतः यह हस्तलिखित प्रति तैयार की गई।

भाष्यों में सायण ने ग्रन्थ रचना के काल का निर्देश कहीं भी नहीं किया है। यदि किया होता, तो रचनाकाल का निःसन्दिग्ध निर्णय हो जाता, परन्तु काल-निर्देश न होने पर भी सायण ने अपने आश्रयदाताओं के नाम का जो उल्लेख किया है उससे रचना समय का पता भली-भाँति चल सकता है। तैत्तिरीय संहिता

आदि चारों संहिताओं, तैत्तिरीय-ब्राह्मण आदि उपरि-निर्दिष्ट बारह ब्राह्मणों के भाष्य के आरम्भ में सायण ने बुक्कनरेश के आदेश से इनके भाष्यों के रचे जाने की घटना का उल्लेख किया है[1]। इन भाष्यों की पुष्पिका में सायण ने अपने को वैदिकमार्गप्रवर्तक राजाधिराज श्री वीर बुक्क का मन्त्री (साम्राज्यधुरन्धर) लिखा है[2]। अथर्वसंहिता की भाष्यावतरणिका में सायण ने बुक्कनरेश के पुत्र महाराजाधिराज, 'धर्मब्रह्माध्वन्य', षोडश महादानों को करने वाले, विजयी हरिहर (द्वितीय) का उल्लेख किया है[3]। शतपथ-ब्राह्मण के भाष्यारम्भ में इन्हीं हरिहर का उल्लेख प्रायः इन्हीं शब्दों में पाया जाता है[4]। इनकी पुष्पिका से पता चलता है कि इन भाष्यों की रचना के समय सायण हरिहर द्वितीय के प्रधान मन्त्री थे, तथा उन्हीं के कहने पर इन्होंने इन ग्रन्थों की रचना की। इन निर्देशों से हम वेदभाष्य की रचना के समय का निर्धारण कर सकते हैं। हमने सप्रमाण सिद्ध किया है कि सायण वि० सं० १४२१ से लेकर वि० सं० १४३७ तक (१३६४ ई० से १३७८ ई० तक) लगभग सोलह वर्षों तक बुक्क महाराज के प्रधान मन्त्री तथा वि० सं० १४३८ (१३७९ ई०) से लेकर अपने मृत्यु

---

१. तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः।
आदिशन्माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥

बुक्क महीपति का नामोल्लेख करने वाला यह पद्य इन सब संहिताओं तथा ब्राह्मणों के भाष्योपोद्घात में मिलता है।

२. यथा ऋग्भाष्य की पुष्पिका—

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वर-वैदिकमार्गप्रवर्तक-श्रीवीरबुक्कसाम्राज्य-धुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीयवेदार्थप्रकाशे ऋक्संहिताभाष्ये प्रथमाष्टके प्रथमोऽध्यायः।

३. तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधतो बुक्कभूपतेः।
अभूद् हरिहरो राजा क्षीराब्धेरिव चन्द्रमाः ॥

(वे० भा० सं०, पृ० ११)

४. तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधतो बुक्कभूपतेः।
कृतावतरणः क्षीरसागरादिव चन्द्रमाः ॥ ३ ॥
विजितारातिव्रातो वीरः श्रीहरिहरः क्षमाधीशः।
धर्मब्रह्माध्वन्यः समादिशत् सायणाचार्यम् ॥ ४ ॥

(शतपथ-भाष्य का उपोद्घात)

सं० १४४४ वि० (१३८७ ई०) हरिहर द्वितीय के प्रधान अमात्य थे। इससे प्रतीत होता है कि लगभग वि० सं० १४२० से लेकर वि० सं० १४४४ तक अर्थात् २४ वर्षों के सुदीर्घ काल में सायणाचार्य ने वेदों के भाष्य बनाए। उस समय सायण की अवस्था लगभग अड़तालीस या पचास वर्ष की थी।

इस समय ये वेदों के सकल गूढ़ अर्थ के प्रतिपादन करने में नितान्त निष्णात थे। अतः अपने गम्भीर शास्त्र-ज्ञान का परिचय सायण ने इन भाष्यों में दिया है। आजकल पण्डितजन तो पचास की अवस्था में शास्त्राभ्यास से किनारा कसने लगते हैं। इसी अवस्था में इतना बड़ा काम उठाना तथा उसे सुचारु रूप से समाप्त कर देना बड़े साहस, अध्यवसाय तथा पाण्डित्य का आश्चर्यजनक कार्य है। सायणाचार्य ने इस कार्य के स्वीकार करने के अनन्तर अन्य किसी विशिष्ट कार्य को अपने हाथ में नहीं लिया। उन्होंने अपना शेष जीवन इसी कार्य में लगाया। इससे निश्चित होता है कि सायण ने अपने जीवन के अन्तिम बीस या चौबीस वर्ष इसी महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन में लगाया और इसे सफलतापूर्वक समाप्त किया। पूर्वोक्त आधार पर वेदभाष्य का रचनाकाल वि० सं० १४२० से लेकर वि० सं० १४४४ है।

'माधवीय' नाम का रहस्य

सायणाचार्य ने अपने कतिपय ग्रन्थों के नामों के पहिले 'माधवीय' शब्द का प्रयोग किया है। सायण की ही बनाई धातुवृत्ति 'माधवीया धातुवृत्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। सायण-विरचित माध्विय नाम ही ऋक्संहिता-भाष्य 'माधवीय' नाम से ग्रन्थ की पुष्पिका में कहा गया है। इसे देखकर कतिपय आलोचकों को भ्रम हुआ है कि इन ग्रन्थों की रचना माधव ने ही की, परन्तु सायण के ग्रन्थों की छानबीन करने से यही प्रतीत होता है कि आलोचकों का यह सिद्धान्त भ्रान्त है। इन ग्रन्थों के आरम्भ और अन्त की परिक्षा करने से इस विषय में किसी को भी सन्देह नहीं करना चाहिये कि इनके वास्तविक रचयिता सायण ही हैं। तब माधवीय नाम देने का क्या रहस्य है ? इसका ऊहापोह करने पर समुचित कारण को समझना कुछ कठिन नहीं है। यह प्रमाण तथा उद्धरण के साथ पहिले ही दिखलाया जा चुका है कि इन ग्रन्थों की रचना का आदेश तत्कालीन विजयनगराधीश ने माधवाचार्य को ही दिया। इनके लिखने की आज्ञा प्रत्यक्ष रूप से सायण को कभी नहीं मिली। माधवाचार्य के ही द्वारा तथा उन्हीं की प्रशस्त प्रशंसा करने पर बुक्क नरेश ने इस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन का भार सायण के हाथों में दिया। इस प्रकार इन वेदभाष्यों की रचना में माधव का प्रोत्साहन नितान्त सहायक था। अत एव अपने ज्येष्ठ भ्राता के उपकार-भार से अवनत

होकर यदि सायण ने इन ग्रन्थों का 'माधवीय' नामकरण किया तो इसमें हमें तो नितान्त औचित्य ही नहीं दिखाई पड़ता; प्रत्युत सायण के निश्छल तथा निष्कपट हृदय की भी एक भव्य झाँकी मिलती है। अत एव अपनी स्वतन्त्र रचनाओं में भी 'माधवीय' नाम देना इस बात को सूचित कर रहा है कि माधव के द्वारा ही सायण को अपने साहित्यिक कार्यों को सुसम्पादित करने का अवसर मिला। अतः 'माधवीय' नाम से माधव के ग्रन्थ-कर्तृत्व से किसी तरह का सम्बन्ध हमें नहीं प्रतीत होता। सायण ने इन वेदभाष्यों का नाम 'वेदार्थ-प्रकाश' दिया है, तथा इन्हें अपने विद्यागुरु श्री विद्यातीर्थ स्वामी को अर्पित किया है।

वेदभाष्य का एक-कर्तृत्व

विपुलकाय वेदभाष्यों को देखकर आधुनिक आलोचक चकराया करते हैं कि क्या यह संभव है कि विविध राजकीय कार्यों में व्यस्त तथा विशाल साम्राज्य का प्रबन्धक, किसी राजा का एक अमात्य इतने बड़े ग्रन्थ को विना किसी अन्य व्यक्ति की सहायता से अकेले बना सकता है? अतः उनके हृदय में यह संशय सदा प्रच्छन्न रूप से बना रहता है कि सायण ने स्वयं इन ग्रन्थों की रचना नहीं की; बल्कि उनकी अध्यक्षता में अनेक विद्वानों ने निरन्तर परिश्रम करके इन ग्रन्थरत्नों को प्रस्तुत किया है। शिलालेख का प्रमाण किसी अंश में पूर्वोक्त संशय को पुष्ट कर रहा है। संवत् १४४३ वि० (सन् १३८६ ई०) में लिखे गए एक शिलालेख[1] में लिखा मिलता है कि वैदिक मार्ग-प्रतिष्ठापक, धर्मब्रह्माध्वन्य, महाराजाधिराज श्री हरिहर ने विद्यारण्य श्रीपादस्वामी के समक्ष चतुर्वेदभाष्य-प्रवर्तक, नारायण वाजपेययाजी, नरहरि सोमयाजी तथा पण्ढरि दीक्षित नामक तीन ब्राह्मणों को अग्रहार देकर सम्मानित किया। इस शिलालेख का 'चतुर्वेद-भाष्य-प्रवर्तक' शब्द संभवतः इस बात की सूचना कर रहा है कि इन तीन पण्डितों ने सायण को वेदभाष्य बनाने में सहायता प्रदान की। विद्यारण्य स्वामी के समक्ष अग्रहार-दान भी इस प्रसंग में विशेष महत्त्व रखता है। यह तो सिद्ध ही है कि माधव ही विद्यारण्य स्वामी थे। अतः जिनके प्रोत्साहन से वेदभाष्यों की रचना हुई, उन्हीं के समक्ष इन ब्राह्मणों को सम्मानित करना, इन तीन विद्वानों की भाष्यप्रणयन में किसी प्रकार की सहायता देने की सूचना दे रहा है? इसी शिलालेख के आधार पर नरसिंहाचार्य ने इन विद्वानों को भाष्यनिर्माण में सायण का सहायक माना है[2]। डा० गुणे ने भी ऋग्वेदभाष्य की अन्तरङ्ग परीक्षा से

---

१. Mysore Archaeological Report for 1908, page 54.

२. इण्डियन ऐटिक्वेरी (वर्ष १९१६), पृ० १९।

वेदभाष्य के एककर्तृत्व होने में सन्देह प्रकट किया है। इन्होंने वेदभाष्य के भिन्न-भिन्न अष्टकों में प्राप्त होने वाले मन्त्रांशों की विभिन्न व्याख्या शैली देखकर यह निश्चय करने का प्रयत्न किया है कि इन इन भागों की भिन्न-भिन्न विद्वानों ने व्याख्या लिखी है[1]।

इन विद्वानों का सन्देह किसी ही अंश में सत्य हो सकता है, सर्वांश में नहीं। सायणाचार्य विजय नगर के मन्त्री थे। अनेक विद्वानों का जमघट विद्याप्रेमी राजा के दरबार में अवश्य होता होगा ? यह अनुमान-सिद्ध है। अतः कतिपय विद्वानों ने सायण को इस विशाल कार्य में सहायता अवश्य पहुँचाई होगी ? यह कोई असंभव घटना नहीं प्रतीत होती, परन्तु इससे इस मत का खण्डन किसी अंश में भी नहीं होता कि वेदभाष्य का कर्तृत्व एक ही पुरुष के ऊपर निर्भर है। वेदों के भिन्न-भिन्न संहिता-भाष्यों के अनुशीलन करने से हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि ये सब भाष्य न केवल एक ही पद्धति से लिखे गये हैं; बल्कि इनके मन्त्रों के अर्थों में भी नितान्त सामञ्जस्य है। मात्रार्थ में विरोधाभास को देखकर भले ही कतिपय आलोचक चक्कर में पड़ जायँ और सायण के कर्तृत्व में अश्रद्धालु हों, परन्तु वेदभाष्यों की विशालता देखकर, मन्त्रार्थों की व्याख्या का अनुशीलन कर, वेदभाष्यों के उपोद्घातों का मनन कर, हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि बाह्य कतिपय कल्पित विरोधों के अस्तित्व होने पर भी इनके ऊपर एक ही विद्वान् रचयिता की कल्पना की छाप है और वह रचयिता सायणाचार्य से भिन्न अन्य कोई व्यक्ति नहीं है।

जिन तीन विद्वानों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे विशेष प्रभावशाली प्रतीत होते हैं। १४३७ सं० (१३८० ई०) में नारायण वाजपेययाजी को दान का उल्लेख मिलता है। १४३८ सं० (१३८१ ई०) नारायण, नरहरि तथा पण्ढरि दीक्षित को हरिहर द्वितीय के पुत्र चिक्कराम ने भूमिदान दिया—जब वे 'आरग' नामक स्थान के शासक थे। इन पण्डितों ने सायण को वेदभाष्य में लिखने की सहायता अवश्य की थी। सायण के साथ सहयोग देने के लिए विद्वानों की एक मण्डली उपस्थित थी जो उनकी संरक्षकता में वेद के भिन्न-भिन्न भागों पर भाष्य लिखती थी, यह सिद्धान्त मानना युक्तिपूर्ण है। इतना होने पर भी भाष्यों की एककर्तृता में हम अविश्वास नहीं कर सकते, क्योंकि इनकी रचना में सायण ही पथ-प्रदर्शक थे।

———

1. आशुतोष जुबिली कामेमोरेशन वालुम, भाग ५, पृ० ४३७-४७३।

पञ्चम परिच्छेद

वेद की व्याख्यापद्धति

कालक्रम से अत्यन्त अतीत काल में निर्मित किसी ग्रन्थ का आशय पिछली पीढ़ियों के लिये समझना एक अतीव दुरूह व्यापार है। यदि प्राचीनता के साथ भावों की गहराई तथा भाषा की कठिनाई आ जाती है, तो यह समस्या और भी विषम बन जाती है। वेदों के अर्थानुशीलन के विषय में यह कथन अत्यन्त उपयुक्त ठहरता है। एक तो ये स्वयं किसी धुँधले अतीत काल की कृति ठहरे, तिस पर भाषा की विषमता तथा विचारधारा की गम्भीरता ने अपना सिक्का जमा रखा है। फल यह हुआ कि उनके अर्थ का उचित मात्रा में पर्यालोचन करना, उनके अन्तस्तल तक पहुँच कर उनके मर्म की गवेषणा करना, एक दुर्बोध पहेली बन गई है, परन्तु इस पहेली के समझाने का प्रशंसनीय उद्योग प्राचीन-काल से ही चला आ रहा है। यास्क ने निरुक्त (१।२०।२) में इस उद्योग का तनिक आभास भी दिया है। उनके कथनानुसार ऋषियों ने विशिष्ट तपस्या के बल पर धर्म का साक्षात्कार किया था। उन्होंने जब अर्वाचीन काल में धर्म को साक्षात्कार न करने वाले ऋषिजनों को देखा, तो उनके हृदय में नैसर्गिक करुणा जाग पड़ी और इन्हें मन्त्रों का उपदेश ग्रन्थतः तथा अर्थतः दोनों प्रकार से किया। प्राचीन ऋषियों ने श्रवण के बिना ही धर्मों का साक्षात् दर्शन किया था। अतः द्रष्टा होने के कारण उनका 'ऋषित्व' स्वतः सिद्ध था, परन्तु पिछले ऋषियों ने पहले मन्त्रों का ग्रन्थ तथा अर्थरूप से श्रवण किया और इसके पश्चात् वे धर्मों के दर्शन में कृतकार्य हुए। अतः श्रवणान्तर दर्शन की योग्यता सम्पादित करने के कारण इनका उपयुक्त अभिधान 'श्रुतर्षि' रखा गया।[1] इन्ही श्रुतर्षियों ने मानवों के कल्याणार्थ वेदार्थ समझने के उपयोगी शिक्षा निरुक्तादि वेदाङ्गों की रचना की। इस प्रकार अर्वाचीन काल के मनुष्य दुरूहता का दोषारोपण कर वेदार्थ को भूल न जायँ और न वे वेदमूलक आचार तथा धर्म से मुँह मोड़ बैठें,

---

1. अवरेभ्योऽवरकालीनेभ्यः शक्तिहीनेभ्यः श्रुतर्षिभ्यः। तेषां हि श्रुत्वा ततः पश्चादृषित्वमुपजायते, न यथा पूर्वेषां साक्षात्कृतधर्माणां श्रवणमन्तरेणैव।

(दुर्गाचार्य)

इस उन्नत भावना से प्रेरित होकर प्राचीन ऋषिगण वेदार्थ के उपदेश करने में सन्तत जागरूक थे। यास्क के माननीय शब्द ये हैं—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदाङ्गानि च॥

वेदों के गम्भीर अर्थ समझाने का प्रथम उद्योग कौन-सा है? यह कहना जरा कठिन है। आज कल उपलब्ध यास्क-विरचित निरुक्त से भी प्राचीन 'निघण्टु' है, जिसकी विस्तृत व्याख्या 'निरुक्त' में की गई है। 'निघण्टु' शब्द का अर्थ है शब्दों की सूची। निघण्टु में संहिताओं के कठिन अथ च सन्दिग्धार्थ शब्दों को एकत्र कर उनके अर्थ की सूचना दी गई है। उपलब्ध ग्रन्थों में 'निघण्टु' वेदार्थ के स्फुटीकरण का प्रथम प्रयास-सा लक्षित होता है। प्रातिशाख्यों की रचना इसी समय या उससे भी पहले की मानी जा सकती है। इन ग्रन्थों में वैदिक भाषा के विचित्र पदों, स्वरों तथा सन्धियों के विवेचन की ओर ही ध्यान दिया गया है, साक्षात् रूप से पदों के अर्थ की पर्यालोचना का नितान्त अभाव है। किसी समय में विभिन्न निरुक्त ग्रन्थों की सत्ता थी, जिनकी सूचना अवान्तर ग्रन्थों में उद्धरणरूप से यत्र-तत्र उपलब्ध भी होती है; तथापि वेदार्थ की विस्तृत योजना का अधिक गौरवशाली ग्रन्थ **यास्क-रचित निरुक्त** ही है। इस ग्रन्थ-रत्न की परीक्षा से अनेक ज्ञातव्य विषयों का पर्याप्त पता चलता है। यास्क ने स्थल-स्थल पर आग्रायण, औपमन्यव, कात्थक्य, शाकटायन, शाकपूणि, शाकल्य आदि अनेक निरुक्ताचार्यों की तथा ऐतिहासिक, याज्ञिक, नैदान आदि अनेक व्याख्याताओं की क्रमशः वैयक्तिक तथा सामूहिक सम्मति का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है। इससे प्रतीत होता है कि वेदार्थ की अनुशीलन-परम्परा अत्यन्त प्राचीन है।

यास्क ने (निरुक्त १।१५) कौत्स नामक किसी आचार्य के मत का उल्लेख किया है। कहा नहीं जा सकता कि ये कौत्स वस्तुतः कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे या केवल पूर्वपक्ष के निमित्त स्थापित कोई काल्पनिक व्यक्ति? कौत्स की सम्मति है कि मन्त्र अनर्थक हैं (अनर्थका हि मन्त्राः)। इसकी पुष्टि में उन्होंने अनेक युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं, जिन्हें चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि वेद-निन्दकों ने भी अवान्तर काल में ग्रहण किया है।

कौत्स का पूर्वपक्ष

(१) मन्त्रों के पद नियत हैं तथा शब्दक्रम भी नियत है। सामवेद का प्रथम मन्त्र है—'अग्न आयाहि वीतये।' इनमें पदों को समानार्थक शब्दों से

परिवर्तन कर 'वह्ने आगच्छ पानाय' नहीं कह सकते। आनुपूर्वी (आगे-पीछे का क्रम) भी नियत है। मन्त्र में 'अग्न आयाहि' को बदल कर 'आयाह्यग्ने' नहीं कर सकते। इस नियतवाचोयुक्ति तथा नियतानुपूर्वी का क्या मतलब है? यदि मन्त्र सार्थक होते, तो सार्थक वाक्यों की शैली पर पदों का तथा पदक्रम का परिवर्तन सर्वथा न्याय्य होता।

(२) ब्राह्मण-वाक्यों के द्वारा मन्त्रों का विनियोग विशेष अनुष्ठानों में किया जाता है, यथा 'उरु प्रथस्व' (शु० य० १।२२) इस मन्त्र को प्रथन-कर्म, विस्तार कार्य, में शतपथ-ब्राह्मण (१।३।६।८) विनियोग करता है। यदि मन्त्रों में अर्थद्योतन की शक्ति रहती, तो स्वतः सिद्ध अर्थ को ब्राह्मण के द्वारा विनियोग दिखलाने की क्या आवश्यकता होती?

(३) मन्त्रों का अर्थ अनुपपन्न है, अर्थात् उपपत्ति या युक्ति के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। यजमान कह रहा है—'ओषधे! त्रायस्व एनम्' (ऐ ओषधि, तू वृक्ष की रक्षा कर); भला निर्जीव ओषधि जो अपनी रक्षा में भी समर्थ नहीं है, वृक्ष की रक्षा क्योंकर कर सकती है? यजमान स्वयं परशु का प्रहार वृक्ष पर कर रहा है कि—परशु, तू इसे न मार (स्वधिते मैनं हिंसिः)। वह मतवाला ही होगा जो मार तो स्वयं रहा है और न मारने की प्रार्थना कर रहा है। (अनुपपन्नार्था मन्त्रा भवन्ति)।

(४) वैदिक मन्त्रों में परस्पर विरोध भी दृष्टिगोचर होता है। रुद्र के विषय में एक मन्त्र पुकार कर कह रहा है—'एक एव रुद्रोऽवतस्थे, न द्वितीयः' (तैत्ति० सं० १।८।६।१) (रुद्र एक ही है, दूसरा नहीं), उधर दूसरा मन्त्र उनकी अनेकता का वर्णन डंके की चोट कर रहा है—'असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्' (तै० सं० ४।५।११।५), अर्थात् पृथ्वी पर रुद्र असंख्य हजारों की संख्या में हैं। इस प्रकार एकता और अनेकता के झमेले में किसी तथ्य का निर्णय नहीं हो सकता (विप्रतिषिद्धार्था मन्त्राः)।

(५) वैदिक मन्त्रों में अर्थज्ञ पुरुष को कार्यविशेष के अनुष्ठान के वास्ते सम्प्रेषण (आज्ञा) दिया जाता है, जैसे होता से कहा जाता है—'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' (श० ब्रा० १।३।२।३), अर्थात् जलनेवाली अग्नि के लिए बोलो। होता अपने कर्तव्य-कर्म से स्वतः परिचित होता है कि अमुक यज्ञ में अमुक कार्य का विधान उसे करना है। ऐसी दशा में संप्रेषण की उक्ति अनर्थक है।

(६) मन्त्रों में एक ही पदार्थ को अनेक रूपों में बतलाया गया है, यथा—अदिति ही समस्त जगत् है, अदिति ही आकाश है, अदिति ही अन्तरिक्ष है (अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षं······ऋ० सं० १।८९।१०)। छोटा बच्चा भी जानता है कि आकाश और अन्तरिक्ष भिन्न देशवाची होने से आपस में अलग-अलग हैं। ऐसी दशा में अदिति के साथ इन दोनों की समानता बतलाना कहाँ तक उपयुक्त है ?

(७) मन्त्रों के पदों का अर्थ स्पष्टरूपेण प्रतीत नहीं होता (अविस्पष्टार्था मन्त्राः), जैसे 'अम्यक्' (ऋ० १।१६९।३), 'यादृश्मिन्' (ऋ० ५।४४।८), 'जारयायि' (ऋ० ६।१२।४), 'काणुका' (ऋ० ८।७७।४), 'जर्भरी तुर्फरी' (ऋ० १०।१०६।६) आदि शब्दों का अर्थ साफ तौर से मालूम नहीं होता। कौत्स का यही समारोहपूर्ण पूर्वपक्ष है। इस पक्ष का खण्डन यास्क ने बड़ी प्रबल युक्तियों के सहारे किया है। यास्क का मुख्य सिद्धान्त है कि जितने शब्द हैं वे अर्थवान् होते हैं। लोकभाषा में यही नियम सर्वत्र काम करता है। वैदिक मन्त्रों के शब्द भी लोकभाषा के शब्द से भिन्न नहीं हैं; सुतरां लौकिक शब्दों के समान वैदिक शब्दों का भी अर्थ होना ही चाहिए (अर्थवन्तः, शब्दसामान्यात्)। अनन्तर कौत्स के पूर्वपक्ष का क्रमशः खण्डन इस प्रकार है—

यास्क का सिद्धान्त पक्ष

(१) लौकिक भाषा में भी पदों का नियत प्रयोग तथा पद-क्रम का नियत रूप दृष्टिगोचर होता है, जैसे 'इन्द्राग्नी' और 'पितापुत्रौ'। इन प्रयोगों में न तो शब्द ही बदले जाते हैं और न इनका क्रम ही छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। ऐसा नियम न होने पर भी इनकी सार्थकता बनी ही रहती है।

(२) ब्राह्मणों में मन्त्रों का विनियोग विधान उदितानुवादमात्र है, अर्थात् मन्त्रों में जिस अर्थ का प्रतिपादन अभीष्ट है उसी का केवल अनुवाद ब्राह्मण-वाक्यों के द्वारा किया जाता है।

(३) वैदिकमन्त्रों का अर्थ अनुपपन्न नहीं है। परशु-प्रहार करते समय भी जो अहिंसा कही गई है वह वेद के द्वारा सिद्ध है। परशु के द्वारा वृक्ष का छेदन आपाततः हिंसा का सूचक अवश्य है, परन्तु वेद से ज्ञात होता है कि परशु-छेदन वस्तुतः हिंसा नहीं है। हिंसा तथा अहिंसा के सूक्ष्म विवेचन का परिचय हमें वेद से ही लगता है। वेद जिस कर्म में पुरुष को लगाता है वह कर्म होता है अहिंसात्मक और जिस कर्म से पुरुष का निषेध करता है वह होता है

औचित्यपूर्ण है ! 'अम्यक्' का अर्थ है प्राप्नोति (पहुँचता है), 'यादस्मिन्' का यादृशः (जिस प्रकार का), 'जर्भरी' का अर्थ है भर्तारौ (भरण करने वाले), 'तुर्फरी' का अर्थ है हन्तारौ (मारने वाला)[१]।

(२)

वेदार्थानुसन्धान के विषय में आजकल प्रधानतया तीन मत मिलते हैं, जिनमें से पहिला मत पाश्चात्त्य वैदिक अनुशीलनकारियों का है और अन्य दो मत इसी भारत के वैदिक विद्वानों का। पाश्चात्त्यों के अनुसार वेदार्थानुशीलन के लिए तुलनात्मक भाषा-शास्त्र तथा इतिहास की आवश्यकता तो है ही, साथ ही साथ भारतेतर देशों के धर्म तथा रीति-रिवाज का भी अध्ययन अपेक्षित है, क्योंकि इन दोनों की पारस्परिक तुलना ही हमें वैदिक धर्म के मूल स्वरूप का परिचय दे सकती है। इसी कारण इसे 'हिस्टारिकल मेथड' (ऐतिहासिक पद्धति) के नाम से पुकारते हैं। और भारतीय परम्परा ? इसके विषय में ये लोग अत्यन्त उदासीन हैं। इनका तो यहाँ तक कहना है कि भारतीय व्याख्याता परम्परा का पक्षपाती होने से मूल अर्थ तक पहुँच ही नहीं सकता। अतः ब्राह्मण टीकाकार के ऊपर ये लोग अन्ध श्रद्धा का आक्षेप लगाते हैं और राथ आदि प्राचीन वेदानुशीली पाश्चात्त्य पण्डित उसे वेदों के अर्थ करने के लिए सर्वथा अयोग्य ठहराते हैं। और योग्य किसे बतलाते हैं ? उस यूरोपियन को, जो भारतीय परम्परा से अनभिज्ञ होकर भी भाषाशास्त्र, मानवशास्त्र आदि विषयों की जानकारी रखता है।

पाश्चात्त्य पद्धति के गुण-दोष

इस पद्धति में कुछ गुणों के रहते हुए भी अवगुणों और दोषों की भरमार कम नहीं है। वेदों का आविर्भाव इस आर्यावर्त में हुआ। वेदों में निहित बीजों को लेकर ही कालान्तर में प्रणीत इस आर्यावर्त ने अनेक स्मृतियों की रचना देखी, अनेक दर्शनों का प्रादुर्भाव देखा और अनेक धर्मों के उत्थान तथा पतन का अवलोकन किया। अतः वेद हमारी वस्तु है। हमारे ऋषियों ने—आत्मज्ञानी विद्वानों ने, तत्त्वों के साक्षात्कर्ता महर्षियों ने—उनका जिस रूप में दर्शन किया जिस प्रकार उनके गूढ़ रहस्य को समझा और समझाया, उसी रूप में उन्हें देखना तथा उसी तरह उनको समझना दुरूह श्रुतियों का वास्तविक अनुशीलन कहा जा सकता है। वेदों से भारतीयता निकाल कर उन्हें भारतेतर विज्ञान तथा

---

१. जैमिनि ने मीमांसासूत्रों में (१।२।३१-५३) बड़े ऊहापोह के साथ इस विषय का प्रतिपादन किया है।

धर्म की सहायता से समझने का दुःसाहस करना 'मूले कुठाराघातः' की लोकोक्ति को चरितार्थ कर रहा है। इस प्रकार वेदों का अर्थ करके, तदनुसार वैदिक आर्यों के विषय में इन लोगों ने विचित्र और अनर्गल बातें तक कह डाली हैं। उदाहरण के लिए हम एक ही शब्द की परीक्षा यहाँ करेंगे।

वैदिक काल में इस आर्य-भूमि में लिङ्ग पूजा थी कि नहीं ? वैदिक काल में इन विद्वानों ने जिस शब्द के बल पर उसकी सत्ता बतलाई है वह शब्द है 'शिश्नदेव' जो ऋग्वेद में दो जगह (७।२१।५[1], १०।९९।३[2]) आया है। पश्चिमी विद्वानों ने इस शब्द के उत्तर भाग को अभिधा-प्रधान मान कर इसके द्वारा यही अर्थ निकाला है कि उस समय लिङ्ग पूजा होती थी, परन्तु क्या वास्तव अर्थ यह है ? सच तो यह है कि 'देव' शब्द आलङ्कारिक अर्थ में (देव के समान) व्यवहृत हुआ है। वेद के पितृदेव, मातृदेव, आचार्य-देव आदि शब्द इसी श्रेणी के शब्द हैं, पर इनका अर्थ माता को पूजनेवाला या पिता और आचार्य को पूजनेवाला है ? तैत्तिरीय उपनिषद् (१।१) में 'मातृदेवो भव' क्या इस अर्थ में आया हुआ है ? वहाँ तो यही अर्थ है कि माता को देवता की तरह मानो—जानो। इसकी व्याख्या में शंकराचार्य ने 'देवतावद् उपास्या एते इत्यर्थः' यही लिखा है। अतः इस श्रेणी के शब्दों का अर्थ इसी प्रकार होना चाहिए। 'श्रद्धादेव' शब्द 'शिश्नदेव' से भिन्न नहीं है। अतः दोनों में 'देव' को आलङ्कारिक ही मानना उचित है। ऐसी दशा में 'शिश्नदेव' शब्द का अर्थ हुआ—शिश्न (लिंग) है देवता जिसका—अर्थात् कामक्रीडा में निरत पुरुष। इसीलिए यास्क तथा सायण ने इस शब्द का अर्थ 'अब्रह्मचर्य' किया है। अतः भारतीयों ने संस्कृत भाषा के व्यवहार के अनुकूल ही इसका परम्परागत अर्थ 'अब्रह्मचर्य' ही माना है, परन्तु साहबों ने इस प्रयोगमूलक परम्परागत अर्थ की अकारण उपेक्षा करके अप्रमाणिक तथा निर्मूल सिद्धान्त की उद्भावना की है। इसी प्रकार पारस्कर-गृहसूत्र के 'कूर्मपित्तमंके निधाय जपति' का अनुवाद करते समय जब जर्मन विद्वान् ओल्डनवर्ग 'कूर्मपित्त' शब्द के 'जलपूर्ण शराव' (घड़े) वाले परम्परागत अर्थ की हँसी उड़ाते हुए 'कूर्म' (कछुए) के पित्त को गोदी में रखकर जपने की व्यवस्था देते हैं, तब हम आपको क्या कहें ! गृह्य-पद्धति से

---

१. न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः।
स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः॥

२. अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ् शिश्नदेवाँ अभि वर्पसा भूत्।

परिचित ब्राह्मण टीकाकारों के अर्थ में हम आस्था करें अथवा गृह्य से अपरिचित अहिन्दू जर्मन के अर्थ को हम प्रमाण कोटि में मानें ?

वैदिक शब्दों की पाठ-कल्पना

हमारे मन्त्रों में पाठभेद की गुंजाइश तो लेशमात्र भी नहीं है, क्योंकि इनके संरक्षण करने में आर्यों ने कितने ही प्रकार की युक्तियों से काम लिया है। पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ आदि पाठों की कल्पना करके मन्त्रों के प्रत्येक पद के स्वरूप को निश्चित किया गया है, जिससे वर्णविभेद को कौन पूछे ? सूक्ष्म स्वर में भी परिवर्तन के लिये स्थान नहीं है। ऐसी दशा में मन्त्रों में पाठ भेद की कल्पना करना नितान्त अनुपयुक्त प्रतीत होता है, परन्तु इन पाश्चात्य वैदिकों ने स्वकल्पित अर्थ की सिद्धि के लिये अनेक प्रकार के विचित्र, अश्रुतपूर्व और अविचारित-रमणीय पाठों की मनमानी उद्भावना की है। डाक्टर आर्नाल्ड साहब ने, जिन्होंने वैदिक छन्दों की परीक्षा करने के लिये वैदिक मीटर (वैदिक छन्द) नामक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ की रचना की है, यही लिखा है कि जहाँ जहाँ 'पावक' शब्द आया हुआ है, वहाँ सर्वत्र छन्द की विषमता को बचाने के हेतु 'पावक' पाठ होना चाहिए और कभी होता भी था, परन्तु अश्रान्त परिश्रम से प्राचीन मन्त्रोच्चारण को यथातथ्य रूप से बनाये रखनेवाले हमारे वैदिक इस शब्द के इस काल्पनिक परिवर्तन से सर्वथा अपरिचित हैं। इस दशा में यह साहबी पाठभेद कहाँ तक मान्य हो सकता है ? किसी काल्पनिक अर्थ की सिद्धि के लिये मन्त्रों के पदों में मनमानी परिवर्तन करना कहाँ तक न्यायसंगत हो सकता है ! इसे संस्कृत पाठक स्वयं विचार कर देखें और समझें। इधर सौभाग्यवश वहाँ अब हवा बदली है, उनका रुख पलटा है। अब ये लोग भी भारतीय अर्थ को उपेक्षा की सीमा के भीतर ले जाना नहीं चाहते; फिर भी हमें बाध्य होकर यही कहना पड़ता है कि पाश्चात्त्य विद्वानों के बहिरंग परीक्षा के ढंग की सराहना करते हुये भी हम लोग न तो उनकी अर्थानुसन्धान-पद्धति को निर्दोष मानते हैं और न इसे सर्वांश रूप में ग्रहण करने के ही पक्षपाती हैं।

आध्यात्मिक पद्धति

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने भाष्य में अनेक विशिष्ट बातों का उल्लेख किया है। इस भाष्य में वेदों के अनादि होने का सिद्धान्त प्रतिपादित है। आपकी दृष्टि में वेद में लौकिक इतिहास का सर्वथा अभाव है। वेदों के सब शब्द यौगिक तथा योगरूढ़ हैं, रूढ़ नहीं—यह सिद्धान्त स्वामी जी की अर्थनिरूपण-पद्धति की आधारशिला है। इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि जितने देवता-वाचक शब्द हैं वे

यौगिक होने से एक ही परमात्मा के वाचक हैं। स्वामी जी इस प्रकार आध्यात्मिक शैली के माननेवाले हैं। अंशतः यह सिद्धान्त ठीक है। निरुक्तकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जितने देवता हैं वे सब एक ही महान् देवता—परमेश्वर—की विशिष्ट शक्ति के प्रतीक-मात्र हैं—"**महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति**" (निरुक्त ७।४)। ऋग्वेद का स्पष्ट प्रतिपादन है—"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" (ऋ० सं० १।१६४।४६)। अतः अग्नि को ऐश्वर्यशाली परमेश्वर का रूप मानना सर्वथा उचित है। यहाँ तक किसी भी विद्वान् को आपत्ति नहीं हो सकती, परन्तु जब इस शैली के अनुसार अग्नि आदि देवताओं की सत्ता ही बिल्कुल नहीं मानी जाती, तब आपत्ति का उदय होता है। यास्क के मतानुसार वैदिक मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। तीनों अर्थ तीन जगत् से सम्बन्ध रखते हैं और तीनों यथार्थ हैं। प्रत्येक मन्त्र भौतिक अर्थ को बतलाता है, किसी देवता-विशेष को भी सूचित करता है और साथ ही साथ परमेश्वर के अर्थ का भी बोधक है। अतः अग्नि, इन्द्र आदि शब्दों को केवल परमेश्वर वाचक मानना तथा विशिष्ट देवता का सूचक न मानना उचित नहीं है। 'अग्नि' शब्द भौतिक अग्नि का बोधक है, जिसकी कृपा से इस जगत् का समस्त व्यवहार सिद्ध होता है। यह शब्द उस देवता का भी सूचक है जो इस भौतिक अग्नि का अधिष्ठाता है। साथ ही साथ वह इस जगत् के नियामक परमेश्वर के अर्थ को भी प्रकट करता है। अग्नि के ये तीनों रूप ठीक हैं और सूक्ष्म विवेचना करने पर अग्निमन्त्र तीनों रूपों को समभावेन लक्षित करते हैं। अतः प्रथम दो रूपों की उपेक्षा कर अग्नि को केवल परमात्मा का ही बोधक मानना प्राचीन परम्परा से सर्वथा विरुद्ध प्रतीत होता है। यही कारण है कि इस शैली का सर्वथा अनुसरण हमें मान्य नहीं है।

स्वामी जी ने ब्राह्मण-ग्रन्थों को संहिता के समान अनादि तथा प्रामाणिक नहीं माना है। श्रुति के अन्तर्गत ब्राह्मणों की गणना उन्हें मान्य नहीं है। तब संहिता के स्वरूप देखने से यह सिद्धान्त हृदयंगम नहीं प्रतीत होता। तैत्तिरीय-संहिता में मन्त्रों के साथ साथ गद्यात्मक ब्राह्मण अंश भी उपलब्ध होता है, तब तैत्तिरीय-संहिता के एक अंश को श्रुति मानना और तदन्तर्गत ब्राह्मण भाग को श्रुति न मानना कहाँ तक न्याय्य होगा? स्वामी जी के अनुयायी वैदिक पण्डितों की सम्मति में वेदों में विज्ञान के द्वारा आविष्कृत समस्त पदार्थ (रेल, तार,

वायुयान आदि) की सत्ता बतलाई जाती है। तो क्या वेद की महिमा इसी में है कि विज्ञान की समग्र वस्तुओं का वर्णन उनमें उपलब्ध होता है ? वेद आध्यात्मिक ज्ञान के निधि हैं, भौतिक विज्ञान की वस्तुओं का वर्णन करना उनका वास्तव उद्देश्य नहीं है। ऐसी दशा में यौगिक प्रक्रिया के अनुसार इन चीजों को वेदों के भीतर बतलाना उचित नहीं जान पड़ता। इस प्रकार स्वामी जी की पद्धति को हम सर्वांश में स्वीकार नहीं कर सकते।

वैदिक मन्त्रों का अर्थ नितान्त गूढ़ है। उनके समझने के लिए चाहिए आर्षदृष्टि या ऋषि-प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण। मन्त्रों के शब्दों में व्याकरण-सम्बन्धी सरलता होने पर भी उनके द्वारा अभिधेय अर्थ का पता लगाना नितान्त दुरूह है। गूढार्थता के लिए इस मन्त्र के रहस्यवाद की ओर दृष्टिपात किया जाय।

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आ विवेश ॥

(ऋ० ४।५८।३)

इस मन्त्र का सीधा अर्थ है—"चार इसकी सींगें हैं, तीन पैर हैं, दो सिर, सात हाथ। तीन प्रकार से बाँधा गया यह वृषभ (बैल अथवा अभीष्ट वस्तुओं की वर्षा करनेवाला) जोर से चिल्ला रहा है। महादेव ने मरणशील वस्तुओं में प्रवेश किया।" परन्तु प्रश्न है कि विचित्र वेषधारी महादेव वृषभ है कौन ? यास्क ने इसके रहस्योद्घाटन की कुंजी हमारे लिये तैयार कर दी है। किसी के मत से यह महादेव यज्ञ है। चारों वेद इसकी चार सींगें हैं, तीनों पैर तीन सवन (सोमरस निकालने के प्रातः, मध्याह्न तथा सायं तीन काल) हैं; दो शिर हैं प्रायणीय तथा उदयनीय नामक हवन; सातों हाथ हैं सातों छन्द। यह यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण तथा कल्प के द्वारा त्रिधा बद्ध है। इस प्रकार यज्ञरूपी महादेव ने यजन के लिये मनुष्यों में प्रवेश किया है। (निरुक्त १३।७)। दूसरों का मत है कि यह महादेव सूर्य है जिसकी चारों दिशाएँ चार सींगें हैं, तीनों पैर तीन वेद हैं, दो सिर हैं रात और दिन; सात हाथ हैं सात प्रकार की किरणें। सूर्य पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से सम्बद्ध है, अथवा ग्रीष्म, वर्षा, शीत इन तीन ऋतुओं का उत्पादक है। अतः वह 'त्रिधा बद्ध' मन्त्र में कहा गया है। पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में इस मन्त्र की शब्दपरक व्याख्या की है। उनकी सम्मति में यह महादेव शब्द है, क्योंकि उसकी चार सींगें चार प्रकार के शब्द हैं (नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात) भूत, वर्तमान, भविष्य ये तीनों काल तीन पैर हैं। दो सिर हैं दो प्रकार की भाषाएँ नित्य तथा कार्य। सातों हाथ हैं प्रथमादि

सातों विभक्तियाँ। शब्द का उच्चारण तीन स्थानों—हृदय, गला और मुख से होता है। अतः वह तीन प्रकार से बद्ध भी है। अर्थ की वृष्टि करने से शब्द 'वृषभ' पदवाच्य है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में इस मन्त्र की व्याख्या काव्यपुरुष की स्तुति के विषय में किया है। सायण-भाष्य में इनसे अतिरिक्त अर्थों का वर्णन किया गया है। इनमें से प्रत्येक अर्थ परम्परा पर अवलम्बित होने के कारण माननीय तथा आदरणीय है। मन्त्रों के गूढार्थ की यही विशेषता है कि उनका अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जा सकता है। यास्क ने इस प्रसंग में आधे दर्जन मतों की चर्चा की है, जिनमें वैयाकरण, परिव्राजक, ऐतिहासिक तथा याज्ञिक आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न पन्थों के समर्थक आचार्यों के मतों का भी यथास्थान उल्लेख किया है। परम्परामूलक होने के कारण इन आचार्यों के कथनों पर हम अप्रामाणिकता का लांछन लगाकर इन्हें हँसी-खेल में उड़ा नहीं सकते।

परम्परा का महत्त्व

यास्क ने स्वयं परम्परा की प्रशंसा की है और उसके जाननेवाले को 'पारोवर्यवित्' कहा है। निरुक्त (१३।१२) का कहना है:—

"अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतः।"

अर्थात्—मन्त्र का विचार परम्परागत अर्थ के श्रवण और तर्क से निरूपित किया है, क्योंकि—

"न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः।"

मन्त्रों की व्याख्या पृथक्-पृथक् करके न होनी चाहिए, बल्कि प्रकरण के अनुसार ही होनी चाहिए।

"न ह्येषु प्रत्यक्षमस्ति अनृषेरतपसो वा।"

वेदों का अर्थ कौन कर सकता है? इसके विषय में यास्क का कहना है कि जो मनुष्य न तो ऋषि है न तपस्वी, वह मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

**"पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः
प्रशस्यो भवति इत्युक्तं पुरस्तात्।"**

यह पहले ही कहा जा चुका है (निरुक्त १।१६) कि परम्परागत ज्ञान प्राप्त करनेवालों में वह श्रेष्ठ है जिसने अधिक अध्ययन किया है। अतः परम्परा तथा मीमांसा, निरुक्त, व्याकरण आदि शास्त्रों की जानकारी वेदार्थ जानने के लिए नितान्त आवश्यक है।

यास्क ने कम से कम आठ नौ मतों की चर्चा की है। वैयाकरण, नैदान, परिव्राजक, ऐतिहासिक आदि मतों का उल्लेख स्थान-स्थान पर मन्त्रों की व्याख्या में किया है। कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि इन विभिन्न आचार्यों के मतों को हम अप्रमाणिक मानें, क्योंकि इनका उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी प्रचुरता से मिलता है। उदाहरण के लिए 'अश्विनौ' को ले लीजिये जिनके विषय में यास्क ने अनेक मतों का निर्देश किया है। कुछ लोगों के मत में दोनों अश्विन् स्वर्ग और पृथिवी हैं। इस मत का उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण (४।१।५) में पाया जाता है और यास्क का अपना मत भी उसी स्थान पर निर्दिष्ट है। अतः इससे विभिन्नआचार्यों के मतों की प्रामाणिकता स्पष्ट है। इतना ही क्यों ? यास्क की अधिकांश व्याख्याएँ और व्युत्पत्तियाँ ब्राह्मणों के ही आधार पर हैं। इसलिए उन्हें परम्परागत होने में सन्देह करने के लिए स्थान नहीं है।

स्मृति का महत्त्व

कालान्तर में जब वेद की भाषा का समझना नितान्त दुरूह हो गया, तब सीधी सादी बोलचाल की भाषा में वेद के रहस्यों का प्रतिपादन हमारे परम कारुणिक ऋषियों ने स्मृतियों तथा पुराणों में संसार के उपकार के लिए किया। अतः स्मृति तथा पुराणप्रतिपादित सिद्धान्त वेदों के ही माननीय सिद्धान्त हैं, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। वेदों में आस्था रखने वाले सज्जनों को पुराणों के विषय में श्रद्धाहीन होना उचित नहीं है, क्योंकि केवल भाषा तथा शैली के विभेद को छोड़ देने पर हमारे इन धर्मग्रन्थों में किसी प्रकार का भी भेद-भाव नहीं है। वेदों में प्रतिपादित सिद्धान्त ही कालान्तर में पुराणों में सन्निविष्ट किये गये हैं। शैली का भेद अवश्य ही दोनों में वर्तमान रहने वाली एकता को आपाततः खण्डन करने वाला प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वेद और पुराण में किसी प्रकार का सैद्धान्तिक विरोध परिलक्षित नहीं होता। वेदों में रूपक का प्रचुर उपयोग दीखती है, तो पुराणों में अतिशयोक्ति का। वेदों में जो बातें रूपकमयी भाषा की लपेट में कही गई हैं, वे ही बातें पुराणों में अतिशयोक्तिमयी वाणी के द्वारा प्रकट की गई हैं। एक ही उदाहरण इस शैली-भेद को प्रकट करने के लिए पर्याप्त होगा।

ऋग्वेद के अनेक मण्डलों में इन्द्र की स्तुति में वृत्र के साथ उनके भयंकर संग्राम का उल्लेख किया गया है। ये वृत्र कौन हैं ? जिनके साथ इन्द्र का युद्ध हुआ। यास्क ने निरुक्त में (२।१६) वृत्र के विषय में अनेक प्राचीन मतों का

निर्देश किया है।¹ इनमें नैरुक्तों का ही मत मान्य माना जाता है। इस व्याख्या के द्वारा हम ऋग्वेद के इन्द्र-वृत्र-युद्ध के भौतिक आधार को अच्छी तरह से समझ सकते हैं। आकाश को चारों ओर से घेरने वाला मेघ ही वृत्र है और उसको अपने वज्र से मारकर संसार के जीव-जन्तुओं को वृष्टि से तृप्त कर देने वाले 'सप्तरश्मिः वृषभः' इन्द्र वर्षा के देवता हैं और प्रति-वर्षाऋतु में गगन मण्डल में होने वाला यह भौतिक संग्राम ही इन्द्र-वृत्र-युद्ध का परिदृश्यमान भौतिक दृश्य है। इसी का वर्णन 'रूपक' के द्वारा ऋग्वेद में किया गया है। और पुराणों में क्या है? वहाँ इन्द्र महाराज देवताओं के अधिपति बतलाये गये हैं और वृत्र असुरों या दानवों का राजा। दोनों प्रबल प्रतापी हैं। दोनों अपने-अपने वाहनों पर चढ़ कर आते हैं, देवताओं को भी रोमाञ्च कर देने वाला संग्राम होता है और अन्त में वृत्र के ऊपर इन्द्र की विजय होती है। इस संग्राम का वर्णन बड़े विस्तार के साथ पुराणों में पाया जाता है, विशेष कर श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध में (अ० ११–१२), परन्तु क्या यह वर्णन अतिशयोक्तिमयी भाषा में रहने पर भी वेदवाले वर्णन से किसी प्रकार सिद्धान्त में भिन्न है? नहीं, वह तो एक ही घटना है जो इन भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भाषा और शैली के भेद के साथ प्रतिपादित की गई है। यह कैसे कहा जा सकता है कि जिसने पुराणों में इस घटना का इतना रोचक सूक्ष्म वर्णन कर रखा है वह वेद के रूपक के भीतर छिपे हुये सिद्धान्त से अपरिचित है? पुराण तो वेद के ही अर्थों और सिद्धान्तों को बोधगम्य भाषा में रोचक शैली का आश्रय लेकर प्रतिपादित करने वाले हैं। अतः वेद में आस्था रखना और पुराणों से विमुख रहना दोनों में गृहीत शैली-भेद के ठीक-ठीक न पहचानने के ही कारण हैं। इस संक्षिप्त विवरण से वेद के अर्थों को समझने के लिए स्मृतियों और पुराणों का प्रकृष्ट महत्त्व भलीभाँति ध्यान में आसकता है। इसी कारण प्राचीन ग्रन्थकारों ने वेद को समझने के लिए इतिहास-पुराण की आवश्यकता बतलाई है :—

> **इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।**
> **बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रतरेदिति॥**

---

१. तत् को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इति ऐतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति—(निरुक्त २।१६)

इतिहास पुराणों के अल्पज्ञ पुरुषों से वेद सदा डरा करता है कि कहीं ये मुझे ठग न दें। मेरा सच्चा अर्थ न बतलाकर लोगों को उन्मार्ग में न ले जायँ। इसी हेतु इतिहास और पुराणों की अभिज्ञता वेदार्थानुशीलन के लिए परमावश्यक है।

इस कथन की पुष्टि के लिए एक-दो उदाहरणों का देना अतिप्रसङ्ग न समझा जायगा। शुक्ल यजुर्वेद के ईशावास्योपनिषद् में कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन करनेवाला यह रहस्यमय मन्त्र है :—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

जिसका भाव है कि इस संसार में कर्म को करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। ऐसा करने से ही तुम्हारी सिद्धि होगी, दूसरी तरह से नहीं। कर्म मनुष्य में लिप्त नहीं होता।

क्या इसकी व्याख्या गीता के इस श्लोक (४।१४) में नहीं पाई जाती?

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

कामनाओं के परित्याग के विषय में बृहदारण्यक (४।४।७) और कठ उपनिषद् (४।१४) का निम्नलिखित मन्त्र लीजिए—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यथ ब्रह्म समश्नुते॥

इसका अर्थ है कि मनुष्य के हृदय में रहनेवाली कामनायें जब छूट जाती हैं, तब मरणशील मनुष्य अमर बन जाता है और ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसकी व्याख्या के लिए—इसके अर्थ को आसानी से समझने के लिए, गीता के इस श्लोक (२।७१) का जानना जरूरी है :—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। कहा जा सकता है कि भगवद्गीता तो सब उपनिषदों का सार है; अतः उसमें उपनिषदों के मन्त्रों की व्याख्या का मिलना कोई आश्चर्यजनक व्यापार नहीं है, परन्तु अन्यत्र ऐसा दुर्लभ होगा। परन्तु यह बात भी ठीक नहीं। ऊपर स्मृति-रचना और पुराणनिर्माण के हेतु का निदर्शन किया जा चुका है। अतः इन ग्रन्थों में या तो वेदों के मन्त्रों का अर्थ विकसित रूप में मिलता है या उनके सिद्धान्त मिलते हैं।

परम्परागत अर्थ की सर्वथा उपलब्धि इन ग्रन्थों से हो सकती है। अतः इनका वेदार्थ के लिए उपयोग न करना तथा उपेक्षा करना नितान्त निन्दनीय कार्य है।

सायण का महत्त्व

सायणाचार्य ने ऊपर उल्लिखित इन सब साधनों की सहायता अपने वेद-भाष्यों में ली है। उन्होंने परम्परागत अर्थ को ही अपनाया है और उसकी पुष्टि में पुराण, इतिहास, स्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थों से आवश्यकतानुसार प्रमाणों को उद्धृत किया है। वेद के अर्थ के लिए षडङ्गों की भी आवश्यकता होती है। सायण इनसे सविशेष परिचित थे। ऋग्वेद के प्रथम अष्टक की व्याख्या में उन्होंने शब्दों के व्याकरण की अच्छी छानबीन की है। प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण शब्द की व्युत्पत्ति, सिद्धि तथा स्वराघात का वर्णन पाणिनीय सूत्रों तथा कहीं-कहीं प्रातिशाख्य की सहायता से इतने सुव्यवस्थित ढङ्ग से किया गया है कि इसे ध्यान से पढ़ जाने पर समस्त ज्ञातव्य विषयों की जानकारी सहज में हो जाती है। निरुक्त का भी उपयोग खूब ही किया गया है। यास्क द्वारा व्याख्यात मन्त्रों की व्याख्या को सायण ने तत्तत् मन्त्रों के भाष्य लिखते समय अविकल रूप से लिख दिया है। इसके अतिरिक्त सायण ने ऋग्वेद के प्राचीन स्कन्दस्वामी और माधव जैसे भाष्यकारों के अर्थ को भी यथावकाश ग्रहण किया है। कल्पसूत्रों का उपयोग विस्तार के साथ किया गया है। सायण यज्ञ-विधान से नितान्त परिचय रखते थे। अतः कल्पसूत्र-विषयक आवश्यक बातों का वर्णन बड़ी ही खूबी के साथ उन्होंने सर्वत्र किया है। सूक्त-व्याख्या के आरम्भ में ही उन्होंने उसके विनियोग, ऋषि, देवता आदि ज्ञातव्य बातों का वर्णन प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरण के साथ-साथ सर्वत्र किया है। सूक्त विषयक उपलभ्यमान आख्यायिका को भी सप्रमाण दे दिया है। मीमांसा के विषय का भी निवेश भाष्य के आरम्भ वाले उपोद्घात में बड़े ही सुन्दर और बोधगम्य भाषा में सायण ने कर दिया है। वेद-विषयक समग्र सिद्धान्तों का प्रतिपादन और रहस्यों का उद्घाटन इन उपोद्घातों में बड़े अच्छे ढङ्ग से किया गया है, जिसके कारण ये भूमिकायें वैदिक सिद्धान्तों के भाण्डागार के समान प्रतीत होती हैं। इन्हीं सब कारणों से सायण के वेदभाष्य का गौरव है। सायण ने याज्ञिकपद्धति को अपने भाष्य में महत्त्व दिया है। उस समय इसी की आवश्यकता थी। कर्मकाण्ड का उस समय बोलबाला था। इसी कारण इसके महत्त्व को दृष्टि में रख कर सायण ने अपने भाष्यों का प्रणयन किया है। आजकल इसमें कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी, परन्तु मार्ग यही है।

इस महत्त्व के कारण प्रत्येक वेदानुशीली को सायणाचार्य के सामने अपना शिर झुकाना चाहिए। यदि सायण-भाष्य न होते तो वेदार्थ के अनुशीलन की कैसी दयनीय दशा हो जाती, कहा नहीं जा सकता। ऐतिहासिक पद्धति के मानने वाले यूरोपियन स्कालर लोग भाषाशास्त्र की मनमानी व्युत्पत्ति के आधार पर एक ही शब्द के विरुद्ध अनेक अर्थ करने पर तुले हुए हैं, तब परम्परागत अर्थ को ही अपने भाष्य में स्थान देनेवाले सायणाचार्य के अतिरिक्त हम किसे अपना आश्रय मानें? वास्तव में वैदिक भाषा और धर्म के सुदृढ़ गढ़ में प्रवेश पाने के लिए हमारे पास एक ही विश्वासार्ह साधन है—सायण का चारों वेदों की संहिताओं का भाष्य। प्रत्येक वैदिक विद्वान् के ऊपर सायण का ऋण यथेष्ट मात्रा में है। पाश्चात्त्य विद्वानों ने वेदों के समझने का जो विपुल प्रयत्न किया है और किसी अंश में उन्हें जो सफलता मिली है, वह सायण की ही अनुकम्पा का फल है। सायण-भाष्य की सहायता से वे लोग वैदिक मन्त्रों का अर्थ समझने में कृतकार्य हुए हैं। छिट-पुट शब्दों के अर्थों में यत्किंचित् विरोधाभास दिखलाकर सायण की हँसी उड़ाना दूसरी बात है, परन्तु वास्तव में संहिता-पञ्चक के ऊपर इतना सुव्यवस्थित, पूर्वापर-विरोध-हीन, उपादेय तथा पाण्डित्यपूर्ण भाष्य लिख डालना टेढ़ी खीर है। इस कार्य के महत्त्व को पण्डित जन ही यथार्थ में समझ सकते हैं। इसके लिए वैदिक धर्म तथा संस्कृत भाषा की जितनी अभिज्ञता प्राप्त करनी चाहिए; इसका सर्वसाधारण अनुमान भी नहीं लगा सकता। सायण की कृपा से वेद में प्रवेश करने वाले यूरोपीय विद्वान् यदि आधुनिक विद्या के दर्प से उन्मत्त होकर Los von Sayana (सायण का बहिष्कार करो) का झंडा ऊँचा करें, तो इसे संप्रदायविद् सायण के सामने सत्य के प्रति द्रोह भले न समझा जाय, परन्तु वस्तुस्थिति की अनभिज्ञता तो अवश्य प्रकट होती है। यूरोपीय विद्वान् सम्प्रदाय के महत्त्व से भलीभाँति परिचित न होने से इस विषय में उपेक्षणीय भले मान लिये जायँ, परन्तु अधिक दुःख तो उन भारतीयों के लिए है जो आँख मूँद कर इन पाश्चात्त्य गुरुओं के चेला होने में ही पाण्डित्य का चरम उत्कर्ष देखते हैं और भारतीय सम्प्रदाय के महत्त्व को जानकर उसकी उपेक्षा करने में जी-जान से तुले हैं। मेरे कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि सायणभाष्य में दोष नहीं है। किसी भी मानवी कृति में हमें दोषहीनता के सर्वथा अभाव की कल्पना नहीं करनी चाहिए, परन्तु पूरे भाष्य के ऊहापोह तथा आलोचना करने पर हमारा यही निश्चित सिद्धान्त है कि सम्प्रदाय के सच्चे ज्ञाता होने के कारण सायणाचार्य का वेदभाष्य वास्तव में वेदार्थ की कुञ्जी है—वेद के दुर्गम दुर्ग में प्रवेश कराने के लिए विशाल सिंहद्वार है।

परम हर्ष का विषय है कि पाश्चात्य अनुसन्धानकर्ता भी सायण के परम महत्त्व से अपरिचित नहीं हैं। ऋग्वेद के प्रथम अनुवादक प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान् विल्सन की यह उक्ति भुलाई नहीं जा सकती[1] कि निश्चय रूप से सायणाचार्य का वेदज्ञान इतना अधिक था जितना कोई भी यूरोपियन विद्वान् रखने का दावा नहीं कर सकता। वे स्वयं अपनी जानकारी से या अपने सहायकों के द्वारा वेद के परम्परागत अर्थों से नितान्त परिचित थे। सायण-भाष्य के प्रथम यूरोपियन सम्पादक डाक्टर मैक्सम्यूलर (मोक्षमूलर भट्ट) का यह कथन भी यथार्थ ही है कि यदि सायण के द्वारा की गई अर्थ की लड़ी हमें नहीं मिलती, तो हम इस दुर्भेद्य किले के भीतर प्रवेश ही नहीं पा सकते थे।[2] वास्तव में सायण अन्धे की लकड़ी (Blind man's Stick) हैं। सौभाग्य से सायण के प्रति पाश्चात्यों के भाव इधर बदलने लगे हैं, उपेक्षा के स्थान पर आदर ने अपना पैर जमाया है और भाषा-शास्त्र आदि आवश्यक साधनों की गहरी छान बीन के साथ-साथ सायण के अर्थ की सचाई का पता अब विद्वानों को लगने लगा है। इस विषय में जर्मन विद्वान् पिशल और गेल्डनर ने बड़ा काम किया है। इन लोगों ने 'वेदिशे स्तूदियन' (वैदिक अनुशीलन) के तीनों भागों में अनेक गूढ़ वैदिक शब्दों के अर्थ का अनुसन्धान किया है, जिसके फलस्वरूप सायण के अर्थ अधिक प्रामाणिक तथा उपादेय प्रतीत होने लगे हैं।

परन्तु सायण के अर्थ से ही हमें आज सन्तोष नहीं हो रहा है। वेद की गम्भीरता तथा रहस्यता के हेतु भिन्न-भिन्न युगों में नवीन व्याख्या-सम्प्रदायों का उदय होता आया है। याज्ञिक अर्थ के ऊपर आध्यात्मिक अर्थों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। तुलनात्मक भाषाशास्त्र से भी सहायता ली जा सकती है। वेदों

---

१. Sayana undoubtedly had a knowledge of his text far beyond the pretensions of any European scholar, and must have been in possession either through his own learning or that of his assistants, of all the interpretations which have been perpatuated by traditional teaching from the early times.

—Translation of Rigveda.

२. We ought to bear in mind that five and twenty years ago, we could not have made even our first steps, we could never at least have gained a firm footing without his leading strings.

—Introduction to Rigveda Edn.

का अर्थ मुख्यतः अध्यात्मपरक तथा रहस्यवादी है। इस दृष्टि से **अरविंद की व्याख्या-पद्धति** की ओर विद्वानों का आज झुकाव तथा रुझान होना सर्वथा स्वाभाविक है।

श्री अरविन्द वर्तमान काल के मान्य तत्त्वचिन्तकों तथा अध्यात्म-साधकों में मूर्धन्य हैं। उनकी दृष्टि में वेदों के प्रति असीम श्रद्धा से ही उनके अर्थ स्वतः खुलते हैं। वेद का अर्थ रहस्यात्मक तथा निगूढ़ है—इसकी सूचना स्वयं वेद से हमें प्राप्त होती है। वैदिक ऋषियों की यह दृढ़ धारणा थी कि मन्त्रों का उन्मेष चेतना के निगूढ़ तथा अन्तरतम स्तरों से होता है, इसलिए उनमें निगूढ़ ज्ञान की निधि वर्तमान है। वामदेव ऋषि ने (ऋ० ४।३।१६) एक मन्त्र में अपने को अन्तःप्रज्ञा-सम्पन्न बतलाया है, तथा अपने वचनों के द्वारा 'निगूढ़ वाक्यों' (निण्या वचांसि) की अभिव्यक्ति किया है। इसी प्रकार दीर्घतमा ऋषि ने वेद के मन्त्रों को सदा नित्य तथा अक्षर व्योम में निवास करने वाला माना है, जहाँ सब देवों का निवास है और इसके आगे वह कहते हैं—जो उस परमात्मा को नहीं जानता, वह ऋचाओं से क्या करेगा ? उसे ऋचों की क्या आवश्यकता है ?

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति
य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥ १।१६४।३९।

यह ऋषि-वाणी के चार उद्भव स्थानों का निर्देश करता है, जिनमें तीन स्थान तो बिल्कुल निगूढ़ हैं। केवल चतुर्थ स्थान मनुष्य से संबन्ध रखता है, क्योंकि यहीं से साधारण शब्दों की अभिव्यञ्जना होती है, परन्तु वेद के मन्त्रों का सम्बन्ध दिव्य तथा उच्चतर स्तरों के साथ है (१।१६४।४६)। इस प्रकार वैदिक मन्त्रों की दिव्यता उच्चता तथा अन्तश्चेतना की स्फुरणा के उन्मेष की बात वेद के प्रामाण्य पर स्वतः सिद्ध होती है।

श्री अरविन्द की दृष्टि में वेद का अर्थ योग तथा तपस्या के द्वारा विधूत एवं पवित्रित हृदय में स्फुरित होता है। वैदिक मन्त्रों के शब्द किसी आध्यात्मिक तत्त्व के प्रतीक हैं। वेद में 'गौः' प्रकाश का प्रतीक है, तो वैदिक 'अश्व' शक्ति, आध्यात्मिक सामर्थ्य, तथा तपोबल का प्रतीक है। वेद का ऋषि जब अश्व के लिए किसी मन्त्र में प्रार्थना करता है तो इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि वह सामान्य दौड़नेवाले घोड़ों के लिए प्रार्थना करता है। यह प्रार्थना तो

अन्तर्बल की स्फूर्ति की ओर संकेत करती है। 'घृत' शब्द सामान्यतः यज्ञ के साधन-भूत घी का बोध कराता है, परन्तु श्री अरविन्द की दृष्टि में 'घृत' का अर्थ 'प्रकाश' भी हो सकता है (√घृ = प्रकाश करना)। इस लिए इन्द्र के अश्व जब 'घृतस्नु' बतलाये गये हैं, तो इसका अर्थ 'घी चुराने वाला' नहीं है, प्रत्युत 'प्रकाश को सर्वत्र विकीर्ण करने वाला' है। 'अग्नि' से तात्पर्य केवल बाहरी वह्नि से न होकर अन्तःस्फुरित होने वाले प्राण से है। उपनिषदों में अभिव्यक्त तथा बहुशः व्याख्यात अद्वैत तत्त्व का पूर्ण संकेत संहिता के मन्त्रों में उपलब्ध होता है। जो विद्वान् संहिता को केवल कर्मकाण्ड का प्रतिपादक और उपनिषदों को ज्ञान-काण्ड का विवेचक मान दोनों में पार्थक्य दिखलाने का प्रयत्न करते हैं, वे सत्य से बहुत दूर हैं। **संहिता कर्म के साथ ज्ञान का स्पष्ट प्रतिपादक है,** क्योंकि उपनिषदों में संहिता के मन्त्रों का प्रमाण के लिए स्पष्ट निर्देश तथा उद्धरण दिया गया है। जिस प्रकार ऋग्वेद के सिद्धान्त वेदान्त के तथ्यों का संकेत करते हैं, उसी प्रकार उसकी अन्तःसाधना तथा नियमन की शिक्षा पिछले युग में प्रतिष्ठित होने वाले योग की ओर स्पष्ट संकेत कर रही है। ऋग्वेद उस अद्वैत परम तत्त्व की सूचना अनेक मन्त्रों में देता है—**'एकं तत्'** (१।१६४।४६), **'तदेकम्'** (१०।१२९।२)—वैदिक ऋषि इसे ही परम सत्य स्वीकार करते हैं, अन्य देव उसी की शक्ति की नाना अभिव्यक्तिमात्र हैं। इस प्रकार श्री अरविन्द की दृष्टि में वेद सिद्धों की वाणी है और वह अन्तर्जगत् के आध्यात्मिक तथ्यों का ही निरूपक है। इस निरूपण में जिन सामान्य शब्दों का प्रयोग वेद करता है उनका अर्थ नितान्त गूढ़, असामान्य तथा अन्तःस्तर की साधना पर आधारित है[१]।

डाक्टर **आनन्द कुमार स्वामी** आधुनिक कलाविदों में बड़े भारी तत्त्वज्ञ मनीषी माने जाते थे। भारतीय कला की अन्तरात्मा पहचानने में तथा उसकी विशद व्याख्या करने में वे अपने विषय में अनुपम विद्वान् थे। कला के क्षेत्र से वेद के क्षेत्र में उन्होंने उसी मर्मज्ञता के साथ प्रवेश किया, तथा उसके अन्तस्तल का परीक्षण और विश्लेषण बड़ी विद्वत्ता के साथ किया। इस विषय में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक है—'ए न्यू एप्रोच टू दी वेदज' वेदों के प्रति जिसमें उनकी विशिष्ट व्याख्या शैली का दिग्दर्शन बड़ी सुन्दरता के साथ दिखलाया गया है। उनका कथन है कि वेद सिद्धों (मिस्टिक) की वाणी है और इस लिए उनकी

---

१. श्री अरविन्द—'हिम्स टू दी मिस्टिक फायर' की भूमिका, पृ० १९–३२। कपाली शास्त्री—ऋग्भाष्य-भूमिका (संस्कृत), पाण्डोचरी से प्रकाशित।

व्याख्या करने में ईसाई मध्ययुगीय सन्तों तथा अध्यात्मप्रवण कवियों (दान्ते, ब्लेक आदि) की अनुभूतियों से भी पर्याप्त सहायता ली जा सकती है। अध्यात्म के उच्चस्तर पर पहुँचने वाले पुरुषों की, चाहे वे ईसाई हों या हिन्दू, बौद्ध हों या मुसलमान—वाणी में अनुभूति की समानता पाई जाती है और उस अनुभूति के प्रकटनार्थ प्रयुक्त प्रतीकों में तथा मूर्तविधानों में भी इसी कारण एकरूपता की उपलब्धि कोई आश्चर्य की घटना नहीं है। डा० कुमारस्वामी मध्ययुगीय ईसाई मर्मियों की वाणी के मर्मज्ञ विद्वान् थे। फलतः वेद की व्याख्या में उन्होंने इस ज्ञान तथा अनुशीलन का उपयोग बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। वेद मन्त्रों की व्याख्या इसका स्पष्ट उदाहरण है।[1]

1. As for the Vedic and Christian sources, each illuminates the other. And that is in itself an important contribution to understanding. Whatever may be asserted or denied with respect to the "Value" of the Vedas; this at least is certaln, that their fundamental doctrines are by on means singular.

— A New Approach to the Vedas भूमिका, पृ० ६।

षष्ठ परिच्छेद

वेद का काल-निरूपण

वेदों के गौरव तथा महत्त्व के विषय में वैदिक विद्वानों में एकवाक्यता होने पर भी उनके आविर्भाव-काल के विषय को लेकर उनमें गहरा मतभेद है। भारतीय सभ्यता का प्राचीन रूप जानने के लिए वैदिक ग्रन्थों की उपयोगिता नितान्त माननीय है, इस सिद्धान्त के मानने में किसी भी विद्वान् को आपत्ति नहीं है, परन्तु इस वैदिक सभ्यता की ज्योति किस काल में इस पवित्र आर्यावर्त की भूमि को आलोकित कर उठी? किस समय पावन-चरित ऋषियों के हृदय में आध्यात्मिक ज्ञान से ओतप्रोत, दिव्य सन्देश देने की कामना पहले जाग उठी? जिसे कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने इन अलोकसामान्य गूढार्थ-विजृम्भित मन्त्रों की रचना कर डाली? इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर न अभी दिया गया है और न भविष्य में दिये जाने की आशा है। इस समस्या का हल करना कोई बायें हाथ का खेल नहीं है कि दो चार मन्त्रों के आधार पर इसका अन्तिम निर्णय उपस्थित कर दिया जाय। सच्ची बात तो यह है कि इन समस्याओं को सदा के लिए सुलझा देना, इन प्रश्नों का अन्तिम निर्णय कर देना एक प्रकार से असम्भव ही है; तथापि अब तक अनुसन्धानानुरागी विद्वानों ने जिन महत्त्वशाली सिद्धान्तों को अपनी तर्कबुद्धि के बल पर खोज निकाला है उनका एक संक्षिप्त परिचय लेने का उद्योग यहाँ किया जा रहा है।

भारतीय दृष्टि में श्रद्धा रखनेवाले विद्वानों के सामने तो वेदों के कालनिर्णय का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जैसा हम पहले दिखला चुके हैं उनकी दृष्टि में वेद अनादि हैं, नित्य हैं, काल से अनवच्छिन्न हैं। वैदिक ऋषिजन मन्त्रों के द्रष्टामात्र माने गये हैं, रचयिता नहीं, परन्तु ऐतिहासिक पद्धति से वेदों की छानबीन करने वाले पाश्चात्त्य वेदज्ञ तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों की सम्मति में वेदों के आविर्भाव का प्रश्न एक हल करने योग्य वस्तु है। बहुतों ने इस विषय को सुलझाने में बुद्धि लगायी है, सूक्ष्म तार्किक बुद्धि तथा विपुल साधनों के पर्याप्त प्रमाणों को इकट्ठा किया है, परन्तु उनके सिद्धान्तों में शताब्दियों का ही नहीं बल्कि सहस्राब्दियों का अन्तर है।

डा० मैक्समूलर का मत

सबसे पहले प्रोफेसर मैक्समूलर ने १८५९ ई० में अपने 'प्राचीन संस्कृत साहित्य' नामक ग्रन्थ में वेदों के कालनिर्णय का प्रथम श्लाघनीय प्रयास किया। उनकी मान्य सम्मति में वेदों में सर्वप्राचीन ऋग्वेद की रचना १२०० विक्रमपूर्व में सम्पन्न हुई। विक्रम से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले बुद्ध ने इस धराधाम को अपने जन्म से पवित्र किया, तथा मानवों के कल्याणार्थ एक नवीन धर्म की स्थापना की। बुद्धधर्म का उदय समस्त वैदिक वाङ्मय के अस्तित्व को अंगीकार करता है। ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों से विस्तृत रूप से वर्णित यज्ञानुष्ठान बुद्ध की तीखी आलोचनाओं का प्रधान विषय था, तथा उपनिषदों में विवेचित अनेक अध्यात्मतत्त्व उसके लिये सर्वथा ग्राह्य था। अतः इसी बुद्धधर्म के उदय की आधार-शिला पर वैदिककाल के आरम्भ का निर्णय सर्वतो-भावेन अवलम्बित है। डा० मैक्समूलर ने समग्र वैदिकयुग को चार विभागों में बाँटा है—छन्दकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल तथा सूत्रकाल और प्रत्येक युग की विचारधारा के उदय तथा ग्रन्थ-निर्माण के लिए उन्होंने २०० वर्षों का काल माना है। अतः बुद्ध से प्रथम होने के कारण सूत्रकाल का प्रारम्भ ६०० विक्रमपूर्व माना गया है। इस काल में श्रौतसूत्रों (कात्यायन, आपस्तम्ब आदि) तथा गृह्यसूत्रों की निर्मिति प्रधानरूपेण अङ्गीकृत की जाती है। इससे पूर्व का ब्राह्मण काल—जिसमें भिन्न-भिन्न ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना, यागानुष्ठान का विपुलीकरण, उपनिषदों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विवेचन आदि सम्पन्न हुआ। इसके विकास के लिये ८०० वि० पू०–६००वि० पू० तक दो सौ सालों का काल उन्होंने माना है। इससे पूर्ववर्ती मन्त्रयुग के लिए, जिसमें मन्त्रों का याग-विधान की दृष्टि से चार विभिन्न संहिताओं में संकलन किया गया, १००० वि० पू० से लेकर ८०० वि० पू० का समय स्वीकृत किया गया है। इससे भी पूर्ववर्ती, कल्पना तथा रचना की दृष्टि से नितान्त श्लाघनीय युग—छन्दःकाल—था, जिसमें ऋषियों ने अपनी नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर अर्थगौरव से भरे हुए मन्त्रों की रचना की थी। मैक्समूलर की दृष्टि से यही मौलिकता का युग था, कमनीय कल्पनाओं का यही काल था जिसके लिए १२००–१००० का काल विभाग उन्होंने माना है। ऋग्वेद का यही काल है। अतः बुद्ध के जन्म से पीछे हटते-हटते हम ऋग्वेद के काल तक सुगमता से पहुँच जाते हैं। इस मत के अनुसार ऋग्वेद की रचना आज से लगभग ३२०० वर्ष पूर्व की गई थी।

किसी प्रतिष्ठित विद्वान् की चलाई कल्पना, चाहे वह अत्यन्त निराधार ही क्यों न हो, जब एक बार चल निकलती है, तब विन्ध्य की बरसाती नदियों की धारा की तरह रोके नहीं रुकती। वह अपने सामने सब प्रकार के विघ्नबाधाओं

को, प्रबल विरोधों को दूर हटाती हुई सरकती चली ही जाती है। ठीक यही घटना इस कल्पना के साथ भी घटी। मैक्समूलर ने जिसे एक सामान्य सम्भावना के रूप में अग्रसर किया था, उसे ही उनका सिक्का माननेवाले लोगों ने एक मान्य वैज्ञानिक तथ्य के रूप में ग्रहण कर लिया। तीस बरस पीछे १८८९ ई० 'भौतिक धर्म' शीर्षक अपने जिफोर्ड व्याख्यानमाला के अवसर पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि इस भूतल पर कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है जो कभी निश्चय कर सके कि वैदिक मन्त्रों की रचना १००० या १५०० या २००० या ३००० वि० पू० में की गई हो। इसकी पुष्टि में इतना ही कहा कि ऋग्वेद की यही पिछली सीमा है जिसके पीछे ऋग्वेद का काल कथमपि नहीं लाया जा सकता, परन्तु इसकी ओर किसी ने कान नहीं दिया। भाषा तथा विचारों के विकास के लिए दो सौ वर्षों का काल नितान्त काल्पनिक, अपर्याप्त तथा अनुचित है। वेदों की संहिता तथा ब्राह्मणों में निर्दिष्ट ज्योतिष-सम्बन्धी सूचनाओं का अनुशीलन कर लोकमान्य बालगंगाधर तिलक तथा जर्मनी के विख्यात विद्वान् डा० याकोबी ने वेदों का काल विक्रमपूर्व चार सहस्र वर्ष निश्चित किया है। उनके प्रमाणों को समझने के लिए ज्योतिष-सम्बन्धी सामान्य तथ्यों से परिचय पाना नितान्त आवश्यक है।

प्राचीन वर्षारम्भ

पाठक जानते हैं कि एक वर्ष के अन्दर ६ ऋतुयें होती हैं—वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त तथा शिशिर। इन ऋतुओं का आविर्भाव सूर्य के संक्रमण पर निर्भर रहता है। यह बात सुविख्यात है कि प्राचीन काल से लेकर आजतक ऋतुयें पीछे हटती चली जा रही हैं अर्थात् प्राचीनकाल में जिस नक्षत्र के साथ जिस ऋतु का उदय होता था, आज वही ऋतु उस नक्षत्र से पूर्ववर्ती नक्षत्र के समय आकर उपस्थित होती है। प्राचीनकाल में वसन्त से वर्ष का प्रारम्भ माना जाता था। 'ऋतूनां कुसुमाकरः'—गीता। आजकल 'वसन्त सम्पात' (वर्नल इक्विनाक्स) मीन की संक्रान्ति से आरम्भ होता है और यह संक्रान्ति पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र के चतुर्थ चरण से आरम्भ होती है, परन्तु यह स्थिति धीरे-धीरे नक्षत्रों के एक के बाद एक के पीछे हटने से हुई है। किसी समय वसन्त-सम्पात उत्तरा भाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा आदि नक्षत्रों में था, जहाँ से वह क्रमशः पीछे हटता हुआ आज वर्तमान स्थिति पर पहुँच पाया है। नक्षत्रों के पीछे हटने से ऋतुपरिवर्तन तब लक्ष्य में भलीभाँति आने लगता है जब वह एक मास पीछे हट जाता है। सूर्य के संक्रमण-वृत्त को २७ नक्षत्रों में भारतीय

ज्योतिषियों ने विभक्त कर रखा है। पूरा संक्रमण वृत्त ३६० अंशों का है। अतः प्रत्येक नक्षत्र (३६० ÷ २७) = १३$\frac{१}{३}$ अंशों का एक चाप बनाता है। संक्रमण-बिन्दु को एक अंश पीछे हटने में ७२ वर्ष लगते हैं। अतः पूरे एक नक्षत्र पीछे हटने के वास्ते उसे (७२ × १३$\frac{१}{३}$) ९७२ वर्षों का महान् काल लगता है। आजकल वसन्त सम्पात पूर्वाभाद्रपद के चतुर्थ चरण में पड़ता है, अर्थात् जब वह कृत्तिका नक्षत्र में पड़ता था, तब से लेकर आज तक वह लगभग साढ़े चार नक्षत्र पीछे हट आया है। अतः ज्योतिषगणना के आधार पर कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त-सम्पात का काल आज से लगभग (९७२ × ४$\frac{१}{२}$ = ४३७४) साढ़े चार हजार वर्ष पहले था, अर्थात् २५०० वि० पू० के समय यह ज्योतिष की घटना मोटे तौर पर सम्भवतः घटी होगी।

वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणों में अनेक स्थलों पर ऋतु-सूचक तथा नक्षत्र-निर्देशक वर्णनों का प्राचुर्य पाया जाता है। महाराष्ट्र के विख्यात ज्योतिर्विद् पण्डित शंकरबालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ-ब्राह्मण से एक महत्त्वपूर्ण वर्णन खोज निकाला है जिससे उस ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस वाक्य में कृत्तिकाओं के ठीक पूर्वीय बिन्दु पर उदय लेने का वर्णन है, जहाँ से वे तनिक भी च्युत नहीं होतीं :—

"एकं द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि, अथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकास्तद् भूमानमेव एतदुपैति, तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत। एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते, सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते" (शतपथ २।१।२)।

आजकल वे पूर्वीय बिन्दु से कुछ उत्तर ओर हट कर उदय लेती हैं। अतः दीक्षितजी की गणना के अनुसार ऐसी ग्रहस्थिति ३००० वि० पू० में हुई होगी, जो शतपथ का निर्माण काल माना जा सकता है। तैत्तिरीय-संहिता—जिसमें कृत्तिका तथा अन्य नक्षत्रों का वर्णन है, निश्चय ही शतपथ से प्राचीन है। ऋग्वेद तैत्तिरीय से भी पुराना है। अब यदि प्रत्येक के लिए २५० वर्ष का अन्तर मान लें तो ऋग्वेद का समय ३५०० वि० पू० से इधर का कभी नहीं हो सकता। अतः दीक्षितजी के मत में ऋग्वेद आज से लगभग ५५०० (साढ़े पाँच हजार) वर्ष नियमतः पुराना सिद्ध हो जाता है[१]।

---

१. द्रष्टव्य शंकरबालकृष्ण दीक्षित—भारतीय ज्योतिःशास्त्र (पूना, १८९६ ई०) पृ० १३६–१४०।

लोकमान्य तिलक का मत

लोकमान्य की विवेचना के अनुसार यह समय और भी पूर्ववर्ती होना चाहिए। ऋग्वेद का गाढ़ अनुशीलन कर उन्होंने मृगशिरा नक्षत्र में वसन्त-सम्पात होने के अनेक निर्देश को एकत्र किया। तैत्तिरीय-संहिता का कहना है कि 'फाल्गुनी पूर्णिमा वर्ष का मुख है'। तिलक जी ने इस कथन का स्वारस्य दिखलाया है। यदि पूर्ण चन्द्रमा फाल्गुन नक्षत्र में था, तो सूर्य अवश्यमेव मृगशिरा में रहेगा, जब वसन्त-सम्पात भी होगा। ऋग्वेद के भीतर ही अनेक आख्यायिकायें इस ग्रहस्थिति की सूचना देने वाली हैं। मृगशिरा की आकाश-स्थिति का निर्देश अनेक मन्त्रों तथा आख्यानों में पूर्णतया अभिव्यक्त किया गया है जिसकी एक झलक कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल के आरम्भ में ही 'मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्' में उपमा के द्वारा दे दिया है। मृगशिरा में वसन्त-सम्पात का समय कृत्तिकावाले समय से लगभग २००० वर्ष पूर्व अवश्य होगा, क्योंकि मृगशिरा से कृत्तिका तक पीछे हटने में उसे दो नक्षत्रों को पार करना होगा (९७२×२ = १९४४)। अतः जिन मन्त्रों में मृगशिरा के वसन्त-संपात का उल्लेख किया गया है, उनका समय मोटे तौर से (२५००+१९४४) ४५०० वि० पू० होना न्याय्य है। तिलक जी के अनुसार 'वसन्त-संपात' के मृगशीर्ष से भी आगे पुनर्वसु नक्षत्र में होने का भी यथेष्ट संकेत ऋग्वेद में मिलते हैं[1]।

अदिति के देवमाता कहे जाने का भी यही रहस्य है। पुनर्वसु नक्षत्र की देवता अदिति हैं[2]। अतः अदिति को देवजननी कहने का स्वारस्य यही है कि पुनर्वसु नक्षत्र में वसन्त-संपात होने से वर्ष तथा देवयान का आरम्भ इसी काल से माना जाता था। पुनर्वसु ही उस समय नक्षत्रमाला में आदि नक्षत्र था। पुनर्वसु में सूर्य के संक्रमण होते ही देवताओं के पवित्र काल (उत्तरायण-देवयान) का आरम्भ होता था। यह काल दो नक्षत्र पीछे हटकर होने के कारण मृगशिरा-वाले समय से लगभग २००० वर्ष अवश्य पहले होगा, अर्थात् तिलक जी के अनुसार यही अदिति-युग भारतीय संस्कृति का सबसे प्राचीन युग है। यह युग ६०००–४००० वि० पू० तक माना जा सकता है। इस काल की स्मृति किसी

---

१. द्रष्टव्य—तिलकजी का 'ओरायन' नामक ग्रन्थ।

२. दस्रो यमोऽनलो ब्रह्मा चन्द्रो रुद्रोऽदितिर्गुरुः।
... ... क्रमान्नक्षत्रदेवताः॥
(लघुसंग्रह, श्लोक ६१–६३)

भी अन्य आर्य-संस्कृति में उपलब्ध नहीं होती। न तो ग्रीक लोगों की ही सभ्यता में, न पारसियों के धर्म ग्रन्थों में इस सुदूर अतीत की झलक दीख पड़ती है। डाक्टर याकोबी इतना दूर जाना उचित नहीं मानते। उन्होंने गृह्यसूत्रों में उल्लिखित ध्रुवदर्शन के आधार पर स्वतन्त्र रूप से वेदों का समय विक्रमपूर्व चतुर्थ सहस्राब्दी माना है[1]।

इस प्रकार लोकमान्य ने वैदिककाल को चार युगों में विभक्त किया है:—

(१) **अदिति-काल** (६०००–४००० वि० पू०)—इस सुदूर प्राचीन-काल में उपास्य देवताओं के नाम, गुण तथा मुख्य चरित के वर्णन करनेवाले निविदों (याग-सम्बन्धी विधिवाक्यों) की रचना कुछ गद्य में और कुछ पद्य में की गई तथा अनुष्ठान के अवसर पर उनका प्रयोग किया जाता था।

(२) **मृगशिरा-काल** (लगभग ४०००–२५०० वि० पू०) आर्य-सभ्यता के इतिहास में नितान्त महत्त्वशाली युग यही था, जब ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों का निर्माण किया गया। रचना की दृष्टि से यह युग विशेषतः क्रियाशील था।

(३) **कृत्तिका-काल** (लगभग २५००–१४०० वि० पू०) इस काल में तैत्तिरीय-संहिता तथा शतपथ आदि अनेक प्राचीन ब्राह्मणों का निर्माण सम्पन्न हुआ। 'वेदाङ्ग ज्योतिष' की रचना इस युग के अन्तिम भाग में की गई, क्योंकि इसमें सूर्य और चन्द्रमा के श्रविष्ठा के आदि में उत्तर ओर घूम जाने का वर्णन मिलता है[2] और यह घटना १४०० के आसपास गणित के आधार पर अङ्गीकृत की गई है।

(४) **अन्तिम काल** (१४००–५०० वि० पू०) एक हजार वर्षों के अन्दर श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और दर्शन-सूत्रों की रचना हुई, तथा बुद्धधर्म का उदय वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में इसके अन्तिम भाग में हुआ।

---

१. इनके मत के लिए द्रष्टव्य डा० विन्टरनित्स—हिस्टरी आफ इण्डियन लिटरेचर, प्रथम भाग, २९६–२९७।

२. प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्।
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघ-श्रावणयोः सदा॥ ६॥

(ऋग्वेद ज्यो०)

इसकी मीमांसा के लिए द्रष्टव्य गीतारहस्य, पृ० ५४६; वैद्य-हिस्ट्री आफ वैदिक लिटरेचर, भाग १, पृ० ३५—३७।

शिलालेख से पुष्टि

नवीन अन्वेषणों से इस काल की पुष्टि भी हो रही है। सन् १९०७ ई० में डाक्टर ह्यूगो विन्कलर ने एशिया माइनर (वर्तमान टर्की) के 'बोघाज-कोइ' नामक स्थान में खुदाई कर एक प्राचीन शिलालेख की प्राप्ति की। यह हमारे विषय के समर्थन में एक नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रमाण माना जाता है। पश्चिमी एशिया के इस खण्ड में कभी दो प्राचीन जातियों का निवास था—एक का नाम था 'हित्तिति' और दूसरे का 'मितानि'। ईंटों पर खुदे इन लेखों से पता चलता है कि इन दोनों जातियों के राजाओं ने अपने पारस्परिक कलह के निवारण के लिए आपस में सन्धि की, जिसमें सन्धि के संरक्षक के रूप में दोनों जातियों के देवताओं की अभ्यर्थना की गई है। इस संरक्षक देवों की सूची में अनेक बाबुल देशीय तथा हित्तिति जाति के देवताओं के अतिरिक्त मितानि जाति के देवों में मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्यौ (अश्विन्) का नाम उपलब्ध होता है। मितानि नरेश का नाम 'मत्तिउजा' था और हित्तिति राजा की विलक्षण संज्ञा थी—'सुब्बि-लुलिउमा'। दोनों में कभी घनघोर युद्ध हुआ था, जिसके विराम के अवसर पर मितानि नरेश ने अपने शत्रु राजा की पुत्री के साथ विवाह कर अपनी नवीन मैत्री के ऊपर मानो मुहर लगा दी। इसी समय की पूर्वोक्त सन्धि है जिसमें चार वैदिक देवताओं के नाम मिलते हैं। ये लेख १४०० वि० पू० के हैं। अब प्रश्न है कि मितानि जाति के देवताओं में वरुण, इन्द्र आदि देवों का नाम क्यों कर सम्मिलित किया गया है? उत्तर में यूरोपीय विद्वानों ने विलक्षण कल्पनाओं की लड़ी लगा दी है। इन प्रश्नों का न्याय्य उत्तर यही है कि मितानि जाति भारतीय वैदिक आर्यों की एक शाखा थी, जो भारत से पश्चिमी एशिया में आकर बस गई थी या वैदिक धर्म को मानने वाली एक आर्य जाति थी। पश्चिमी एशिया तथा भारत का परस्पर सम्बन्ध उस प्राचीन काल में अवश्यमेव ऐतिहासिक प्रमाणों पर सिद्ध किया जा सकता है। वरुण, मित्र आदि चारों देवताओं का जिस प्रकार एक साथ निर्देश किया गया है उससे इनके 'वैदिक देवता' होने में तनिक भी सन्देह नहीं है। 'इन्द्र' को तो पाश्चात्त्य विद्वान् भी आर्यावर्त में उद्भावित, आर्यों का प्रधान सहायक, देवता मानते हैं।

इस शिलालेख का समय १४०० विक्रमी पूर्व है। इसका अर्थ यह है कि इस समय से बहुत पहिले आर्यों ने आर्यावर्त में अपने वैदिक धर्म तथा वैदिक देवताओं की कल्पना पूर्ण कर रखी थी। आर्यों की कोई शाखा पश्चिमी एशिया में

भारतवर्ष से आकर बस गई और यहीं पर उसने अपने देवता तथा धर्म का प्रचुर प्रचार किया। बहुत सम्भव है कि वैदिक देवताओं को मान्य तथा पूज्य मानने वाली यह मितानी जाति भी वैदिक आर्यों की किसी शाखा के अन्तर्भुक्त हो। इस प्रकार आजकल पाश्चात्य विद्वान् वेदों का प्राचीनतम काल विक्रमपूर्व २०००–२५०० तक मानने लगे हैं, परन्तु वेदों में उल्लिखित ज्योतिष सम्बन्धी तथ्यों की युक्तियुक्तता तथा उसके आधार पर निर्णीत कालगणना में अब विद्वानों को भी विश्वास होने लगा है। अतः तिलकजी के पूरा निर्दिष्ट सिद्धान्त को ही हम इस विषय में मान्य तथा प्रामाणिक मानते हैं।

भूगर्भ-सम्बन्धी वैदिक तथ्य

ऋग्वेद में भूगोल तथा भूगर्भ-सम्बन्धी अनेक ऐसी घटनाओं का वर्णन है जिसके आधार पर ऋग्वेद के समय का निरूपण किया जा सकता है। तत्कालीन युग में सिन्धु नदी के किनारे आर्यों के यज्ञविधान विशेषरूप से होवे थे। इस नदी के विषय में ऋग्वेद का कथन है कि नदियों में पवित्र सरस्वती नदी ऊँचे गिरिशृङ्गों से निकल कर समुद्र में गिरती है—

एकाचेतत् सरस्वती नदीनाम्,
शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्।
(ऋग्वेद ७।९५।२)

एक दूसरे मन्त्र में (३।३३।२) सरस्वती और शुतुद्रि नदियों के गरजते हुए समुद्र में गिरने का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि आजकल जहाँ राजपूताना की मरुभूमि है वहाँ प्राचीन काल में एक विशाल समुद्र था और इसी समुद्र में सरस्वती तथा शुतुद्रि नदियाँ हिमालय से बहकर गिरती थीं। जान पड़ता है कि राजपूताना समुद्र के गर्भ में कोई भयंकर भूकम्प-सम्बन्धी विप्लव हुआ, फलस्वरूप एक विस्तृत भूखण्ड ऊपर निकल आया और जो सरस्वती नदी वस्तुतः समुद्र (राजपूताना सागर) में ही गिरती थी वह अब मरुभूमि के सैकत राशि में विलीन हो गई। ताण्ड्य-ब्राह्मण (२५।१०।६) से स्पष्ट है कि सरस्वती विनशन में लुप्त होकर प्लक्ष-प्रस्रवण में पुनः आविर्भूत होती थी। इसका तात्पर्य यह है कि सरस्वती समुद्र तक पहुँचने के लिए पूरा प्रयत्न करती थी, परन्तु राजपूताना के बढ़ते हुए मरुस्थल में उसे अपनी जीवन-लीला समाप्त करनी पड़ी।

ऋग्वेद के अनुशीलन से आर्यों के निवास-स्थान सप्तसिन्धु प्रदेश के चारों ओर चार समुद्रों के अस्तित्व का पता चलता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र (१०।१३६।५) में सप्तसिन्धु के पूर्व तथा पश्चिम में दो समुद्रों के वर्तमान होने

का उल्लेख है जिनमें पश्चिमी समुद्र तो आज भी वर्तमान है, परन्तु पूर्वी समुद्र का पता नहीं है। ऋग्वेद के दो मन्त्रों में चतुःसमुद्रों का निःसन्दिग्ध निर्देश है। प्रथम मन्त्र में—

रायः समुद्राँश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः।
आ पवस्व सहस्रिणः॥ (ऋ० ९।३३।६)।

सोम से प्रार्थना है कि वह धन-सम्बन्धी चारों समुद्रों (अर्थात् चारों समुद्रों से युक्त भूखण्ड के आधिपत्य) को चारों दिशाओं से हमारे पास लावे, साथ ही असीम अभिलाषाओं को भी लावे। दूसरे मन्त्र (१०।४७।२) "**स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्**" में भी स्पष्ट ही 'चतुःसमुद्रं' का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेदीय युग में आर्यप्रदेश के चारों ओर समुद्र लहरा रहे थे। इनमें पूर्वी समुद्र आज के उत्तर प्रदेश तथा बिहार में था, दक्षिण समुद्र राजपुताना की मरुभूमि में था, पश्चिमी समुद्र आज भी वर्तमान है, उत्तरी समुद्र की स्थिति उत्तर दिशा में थी, क्योंकि भूगर्भ-वेत्ताओं के अनुसार एशिया के उत्तर में बल्ख और फारस से उत्तर में वर्तमान विशाल सागर की सत्ता थी, जिसे वे 'एशिआई भूमध्य सागर' के नाम से पुकारते हैं। यह उत्तर में आर्कटिक महासागर से सम्बद्ध था और आजकल के 'कृष्ण सागर' (काश्यप सागर), अराल सागर तथा बल्काश ह्रद इसी के अवशिष्ट रूप माने जाते हैं।

उन दिनों समस्त गंगा-प्रदेश, हिमालय की पाद-भूमि तथा आसाम का विस्तृत पर्वतीय प्रदेश समुद्र के गर्भ में थे। कालान्तर में गंगा नदी हिमालय की गगनचुम्बी पर्वतश्रेणी से निकलकर सामान्य नदी के रूप में बहती हुई हरद्वार के समीप ही 'पूर्व समुद्र' में गिरने लगी। यही कारण है कि ऋग्वेद के प्रसिद्ध नदीसूक्त (१०।७५) में गंगा का बहुत ही संक्षिप्त परिचय मिलता है। उस समय पंजाब के दक्षिण तथा पूर्व में समुद्र था, जिसके कारण दक्षिण भारत एक पृथक् पृथ्वी-खण्ड-सा दीखता था। पंजाब में उन दिनों शीत का प्राबल्य था। इसलिये ऋग्वेद में वर्ष का नाम 'हिम' मिलता है (ऋग्वेद १।६४।१४; २।१।११;[1] ६।१०।७[2])। भूतत्त्वज्ञों ने सिद्ध किया है कि भूमि और जल के ये विभिन्न भाग तथा पंजाब में शीतकाल का प्राबल्य प्लीस्टोसिन काल अथवा पूर्व-प्लीस्टोसिन काल की बात है। यह काल ईसा से पचास हजार वर्ष से लेकर पचीस हजार वर्ष तक निर्धारित किया गया है। भूतत्त्वज्ञों ने यह भी स्वीकार किया है कि

---

१. त्वमिळा 'शतहिमासि' दक्षसे त्वं वृत्रहा वसुपते सरस्वती।
२. वि द्वेषांसीनुहि वर्धयेळां मदेम 'शतहिमाः' सुवीराः।

इस काल के अनन्तर राजपूताने के समुद्र मार्ग के ऊपर निकल आने के साथ ही हिमालय की नदियों के द्वारा आहृत मृत्तिका से गंगा प्रदेश की समतल भूमि बन गई और पंजाब के जलवायु में उष्णता आ गई। पंजाब के आसपास से राजपूताना समुद्र तथा हिमसंहिताओं (ग्लेशियर) के तिरोहित होने तथा वृष्टि के अभाव के कारण ही सरस्वती का पुण्य-प्रवाह सूक्ष्म रूप धारण करता हुआ राजपूताने की बालुका-राशि में विलीन हो गया।

ऊपर निर्दिष्ट भौगोलिक तथा भूगर्भ-सम्बन्धी घटनाओं के आधार पर ऋग्वेद की रचना तथा तत्कालीन सभ्यता के आविर्भाव का समय कम से कम ईसा से पच्चीस हजार वर्ष पूर्व माना जाना चाहिये[1]। पाश्चात्त्य विद्वानों की दृष्टि में ऋग्वेद के ऊपर दिये गये उल्लेख वैज्ञानिक न होकर भावुक ऋषियों की कल्पना-मात्र से प्रसूत हैं। उन्हें आधार मान कर वैज्ञानिक अनुसन्धान की बात उन्हें उचित नहीं प्रतीत होती।

पण्डित दीनानाथ शास्त्री चुलेट ने अपने **'वेदकालनिर्णय'** नामक ज्योतिस्तत्त्वमीमांसक ग्रन्थ के आधार पर वेदों का काल बहुत ही प्राचीन (आज से तीन लाख वर्ष पूर्व) सिद्ध करने का श्लाघनीय प्रयोग किया है। आजकल के पाश्चात्त्य वेदकाल के मीमांसक विद्वान् इतने सुदूर प्राचीन का स्वप्न भी नहीं देख सकते। उनका कथन है कि वेदों में निर्दिष्ट ज्योतिष शास्त्र-विषयक निर्देश केवल कल्पना-प्रसूत हैं, वास्तविक गणना के आधार पर उनका निर्धारण नहीं किया गया है। इस प्रकार वेदों के काल-निर्धारण में विद्वानों के मन्तव्यों में जमीन आसमान का अन्तर है।

ऋग्वेद के निर्माण-काल के विषय में ये ही प्रधान मत हैं। इतना तो अब निश्चित-प्राय है कि वेदों का समय अब उतना अर्वाचीन नहीं है जितना पहिले माना जाता था। पश्चिमी विद्वान् लोग भी अब उनका समय आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व मानने लगे हैं। वेदों के काल के विषय में इतने विभिन्न मत हैं कि उनका समन्वय कथमपि नहीं किया जा सकता। वेद में उपलब्ध ज्योतिष शास्त्रीय तथ्यों को कोई काल्पनिक मानते हैं, तो कोई गणना के आधार पर निर्दिष्ट वैज्ञानिक तथा सत्य मानते हैं। इसी दृष्टि-भेद के कारण समय के निरूपण में इतनी विमति और विभिन्नता है। काल-निर्णय के मान्य सिद्धान्तों का ही यहाँ संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया गया है।

---

१. डा० अविनाशचन्द्र दास का 'ऋग्वेदिक इण्डिया' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ, कलकत्ता, १९२२।

वैदिक साहित्य

[२]

इतिहास खण्ड

(१) संहिता
(२) ब्राह्मण
(३) आरण्यक
(४) उपनिषद्
(५) वेदाङ्ग

(१)

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः समानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जिज्ञरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥

(पुरुषसूक्त, ऋ० १०।९०।९)

(२)

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।

सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥

(अथर्व १०।७।२०)

सप्तम परिच्छेद

संहिता–साहित्य

वेद का परिचय

वेदों के स्वरूप-निर्देश के अनन्तर उनके विस्तृत वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। 'वेद' शब्द का प्रयोग मन्त्र तथा ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त किया जाता है। आपस्तम्ब ने अपने 'यज्ञ-परिभाषा' में वेद का लक्षण दिया है— "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (आप० परिभाषा ३१)। "मननात् मन्त्राः"–जिनके द्वारा यज्ञ यागों का अनुष्ठान निष्पन्न होता है तथा उनमें उल्लिखित देवताओं का स्तुति-विधान किया जाता है उन्हें 'मन्त्र' नाम से पुकारते हैं। ब्राह्मण का अभिप्राय ग्रन्थ-विशेष है। 'ब्रह्मन्' के विविध अर्थों में से एक अर्थ है—यज्ञ। बृह् वर्धने धातु से निष्पन्न इस शब्द का अर्थ है—वर्धन, विस्तार-वितान या यज्ञ। अतः यज्ञ की विविध क्रियाओं को बतलाने वाले ग्रन्थों की सामान्य संज्ञा 'ब्राह्मण' है। ब्राह्मण के भी तीन भाग होते हैं—(१) ब्राह्मण, (२) आरण्यक तथा (३) उपनिषद्। अतः वैदिक वाङ्मय से परिचय पाने के लिए श्रुति के इन विभिन्न भागों से सम्बद्ध ग्रन्थावली का क्रमशः वर्णन नितान्त उपयुक्त है।

वेद तो वस्तुतः एक ही प्रकार का है, परन्तु स्वरूप-भेद के कारण तीन प्रकार का बतलाया जाता है—ऋक्, यजुः और साम। जिन मन्त्रों में अर्थवशात् पादों की व्यवस्था है उन छन्दोबद्ध मन्त्रों का नाम है ऋचा या ऋक् ("तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था"—जै० सू० २।१।३५)। इन ऋचाओं पर जो गायन गाये जाते हैं, उन गीतिरूप मन्त्रों को साम कहते हैं ("गीतिषु सामाख्या"—जै० सू० २।१।३६)। जो मन्त्र ऋचाओं तथा सामों से व्यतिरिक्त हैं उन्हें यजुष् के नाम से पुकारते है ("शेषे यजुःशब्दः"—जै० सू० २।१।३७। इनमें विशेषतः यागानुष्ठान के लिए विनियोग वाक्यों का समावेश किया जाता है। इस प्रकार मन्त्रों के त्रिविध होने के कारण वेदों को 'त्रयी' के नाम से अभिहित करते हैं।

वेद चार प्रकार का भी है। मन्त्रों के समूह का नाम है 'संहिता'। यज्ञ के अनुष्ठान को ध्यान में रख कर भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिए इन मन्त्र-संहिताओं का संकलन किया गया है। इस संकलन का कार्य स्वयं वेदव्यासजी

ने किया[१]। कृष्ण द्वैपायन को वेदों के इसी व्यास—पृथक्करण—करने के कारण 'वेदव्यास' की संज्ञा प्राप्त हुई है[२]। मन्त्र संहितायें चार हैं—ऋक्-संहिता, सामसंहिता तथा अथर्व-संहिता।

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की रचना का सम्बन्ध याज्ञिक अनुष्ठानों के साथ साक्षात् रूप से नहीं था, परन्तु अन्य दो संहिताओं—सामसंहिता तथा यजुः-संहिता का निर्माण यज्ञ-याग के विधानों को ही लक्ष्य में रखकर किया गया था। यज्ञ-कर्म के लिए उपयुक्त चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। (१) **हौत्र-कर्म** के सम्पादन का श्रेय 'होता' नामक ऋत्विज् को है, जो ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ कर उपयुक्त देवताओं को यज्ञ में आह्वान करने का कार्य करता है। वह 'याज्या' तथा 'अनुवाक्या' ऋचाओं का पाठ करता है, जिसका पारिभाषिक नाम है—शस्त्र (अप्रगीत-मन्त्र-साध्या स्तुतिः शस्त्रम्)। (२) **औद्गात्र-कर्म** का सम्पादन 'उद्गाता' नामक ऋत्विज् का विशिष्ट कार्य है, जो तत्तत् देवताओं की स्तुति में साम का गायन करता है, जिसका पारिभाषिक नाम 'स्तोत्र' है। उद्गाता का सम्बन्ध सामवेद से है। उद्गाता के लिए आवश्यक ऋचाओं का ही संग्रह सामवेद की संहिता में है। जिन ऋचाओं के ऊपर साम का गायन होता है उनका पारिभाषिक नाम 'योनि' है, उद्गाता के विशिष्ट कार्य की सिद्धि के लिए ही साम-संहिता का संकलन किया गया था। (३) **अध्वर्यु** ही यज्ञ के मुख्य कर्मों का निष्पादक प्रधान ऋत्विज् होता है। उसी के विशिष्ट (**आध्वर्यव**) कर्म के लिए ही यजुर्वेद की संहिताएँ भिन्न-भिन्न शाखाओं में संकलित की गई हैं। अध्वर्यु गद्यात्मक मन्त्रों अर्थात् यजुषों का उपांशु रूप से उच्चारण करता हुआ अपने विशिष्ट कार्यों का सम्पादन करता है। (४) **'ब्रह्मा'** नामक ऋत्विज् का कार्य यज्ञ की बाहरी विघ्नों से रक्षा, स्वरों में सम्भाव्य त्रुटियों का मार्जन तथा यज्ञीय सूक्ष्म अनुष्ठानों में उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के दोषों का दूरीकरण होता है। इसीलिए ब्रह्मा यज्ञ का अध्यक्ष होता है, जिसका कार्य यागीय अनुष्ठानों का पूर्ण निरीक्षण तथा त्रुटि-मार्जन होता है। इसी लिए सर्वत्र ब्रह्मा का गौरव विशेषरूप से उद्घोषित किया गया है। छान्दोग्य में ब्रह्मा यज्ञ के लिए भिषज की पदवी से विभूषित किया गया है। (भेषजकृतो ह वा

---

१. वेदं तावदेकं सन्तम् अतिमहत्त्वाद् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः। सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः—दुर्गाचार्य, निरुक्तवृत्ति १।२०।

२. "वेदान् विव्यास यस्मात् स वेदव्यास इति स्मृतः"—(महाभारत)

एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति"—छान्दोग्य ४।१७।८) यज्ञनिरीक्षण का प्रधान उत्तरदायित्व सँभालने वाला ब्रह्मा वेदत्रयी का ज्ञाता होता था; उसका अपना निजी कोई वेद नहीं था और सम्भवतः अवान्तर युग में ब्रह्मा का सम्बन्ध अथर्ववेद के साथ स्थापित किया गया—ऐसी सम्मति पाश्चात्त्य विद्वानों की है। जिस किसी युग में इस सम्बन्ध-विभाग का उदय हुआ हो, परन्तु आज पूर्व निर्दिष्ट ऋत्विजों का सम्बन्ध तत्तद् वेदों के साथ नितान्त सिद्ध व्यापार माना जाता है।

इस प्रकार इन चारों ऋत्विजों के विशिष्ट कर्मों के लिए आवश्यक मन्त्रों का संकलन चार 'वैदिक संहिता' के रूप में किया गया है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इस सिद्धान्त की सूचना सम्यक् रूप से उपस्थित की गई है :—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जात-विद्यां
यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः[1] ॥

—ऋग् १०।७१।११

---

(१)

ऋक्-संहिता

इन चारों वेदों में ऋग्वेद का गौरव सबसे अधिक माना जाता है। पाश्चात्त्य दृष्टि में ऋग्वेद भाषा तथा भाव के विचार से अन्य वेदों से नितान्त प्राचीन है। अत एव विशेष उपयोगी माना जाता है। भारतीय दृष्टि से भी ऋग्वेद का अभ्यर्हितत्व—पूजनीयता—सर्वत्र स्वीकार किया जाता है। तैत्तिरीय-संहिता के अनुसार साम तथा यजुः के द्वारा जो विधान किया जाता है वह शिथिल

१—इस मन्त्र की विशद व्याख्या के लिए देखिए सायण—ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका का आरम्भ भाग।

होता है, परन्तु ऋक् के द्वारा विहित अनुष्ठान ही दृढ़ होता है[1]। पुरुषसूक्त में सहस्रशीर्षा यज्ञरूपी परमेश्वर से ऋचाओं का ही आविर्भाव सबसे पहले बतलाया गया[2] है।

ऋग्वेद-विभाग

ऋग्वेद के दो प्रकार के विभाग उपलब्ध होते हैं—

(१) **अष्टक क्रम**—समग्र ग्रन्थ आठ अष्टकों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अष्टक में ८ अध्याय होते हैं। इस प्रकार पूरा ऋग्वेद ६४ अध्यायों का ग्रन्थ है। प्रत्येक अध्याय के अवान्तर विभागों का नाम 'वर्ग' है, जो सम्भवतः अध्ययन के सौकर्य के लिए किया गया है। वर्ग ऋचाओं के समुदाय की संज्ञा है, परन्तु वर्गों में ऋचाओं की संख्या निश्चित सी नहीं है। औसत दर्जे से पाँच मन्त्रों का एक वर्ग होता है, परन्तु एक मन्त्र से लेकर नव मन्त्रों तक के भी वर्ग मिलते हैं। इस विषमता के कारण का पता नहीं चलता। समस्त वर्गों की संख्या दो सहस्र छः है—२००६ वर्ग।

(२) **मण्डल क्रम**—दूसरा विभाग अधिक महत्त्वशाली, ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक माना जाता है। ऋग्वेद १० मण्डलों में विभक्त है। इसी कारण ऋग्वेद 'दशतयी' के नाम से निरुक्तादि ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। प्रत्येक मण्डल में अनेक अनुवाक; अनुवाक के भीतर सूक्त और सूक्तों के अन्तर्गत मन्त्र या ऋचायें हैं। कात्यायन ने अपने 'सर्वानुक्रमणी' में इन समस्त अंशों की संख्याओं को गिन कर बड़े परिश्रम के साथ एकत्र प्रस्तुत किया है। वेदों की विशुद्धता बनाये रखने के लिए प्राचीन ऋषियों ने, ऋचाओं को कौन कहे, अक्षरों तक को गिन रखा है। किसकी शक्ति है कि कोई नया मन्त्र इस संहिता में रखने का साहस करे। ऋग्वेद के दसों मण्डल के अनुवाक हैं पचासी (८५), सूक्त हैं एक हजार सत्तरह (१०१७) जिनकी मण्डलानुसार क्रमशः व्यवस्था यों है= १९१+४३+६२+५८+८७+७५+१०४+९२+११४+१९१। इन सूक्तों के अतिरिक्त ११ सूक्त 'बालखिल्य' के नाम से विख्यात हैं। न तो इनका पदपाठ मिलता है और न इनके अक्षरों की गणना ही की जाती है। अष्टम के

---

१. यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तत्, यद् ऋचा तद् दृढमिति।
(तै० सं० ६।५।१०।३)

२. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत ॥
(ऋ० १०।९०।९)

मुख्य सूक्त ९२ ही हैं, परन्तु इन खिलों को जोड़कर उनकी संख्या १०३ होती है। खिलों को स्वाध्याय के समय पढ़ने का नियम है, परन्तु न तो इनका पदपाठ ही उपलब्ध होता है और न अक्षर-गणना में ही इनका समावेश होता है। इनके ठीक ठीक स्वरूप का पता नहीं चलता। इनका स्थान अष्टम मण्डल के बीच में सूक्त ४९ से लेकर सूक्त ५९ तक है, तथा मन्त्रों की संख्या ठीक ८० है। 'खिल' का शब्दार्थ है परिशिष्ट या पीछे जोड़े गए मन्त्र। ऋग्वेद के समस्त सूक्तों की ऋचाओं की संख्या है—१०५८०$\frac{1}{4}$, अर्थात् प्रत्येक सूक्त में १० मन्त्रों का औसत है।[1] ऋचाओं के शब्दों की संख्या १ लाख, ५३ हजार, ८ सौ २६ (१५३८२६)[2] तथा शब्दों के अक्षरों की संख्या चार लाख बत्तीस हजार है (४३२०००)[3]। अर्थात् मोटे तौर पर प्रत्येक मन्त्र में पन्द्रह शब्द हैं और प्रत्येक शब्द में तीन अक्षर पाये जाते हैं। यह गणना सर्वानुक्रमणी के आधार पर है।

ऋग्वेदीय ऋचाओं की संख्या

ऋग्वेद में ऋग् मन्त्रों की गणना भी एक विषम समस्या है, जिसका समाधान प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों ने भिन्न भिन्न रूप से किया है। प्राचीन आचार्यों की गणना का वैषम्य शाखा-भेद के कारण ही प्रतीत होता है, परन्तु अनेक अर्वाचीन विद्वानों की गणना भ्रमजनित है। इस भ्रम के उदय का प्रधान कारण यह है कि ऋग्वेद में कुछ ऐसी ऋचायें हैं जो अध्ययन-काल में चतुष्पदा मानी जाती हैं, परन्तु प्रयोगकाल में वे द्विपदा ही गिनी जाती हैं। ऋक्सर्वानुक्रमणी में इनका उल्लेख इस प्रकार है—"द्विर्द्विपदास्त्वृचः समामनन्ति।" इस

---

१. ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च।
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं संप्रकीर्तितम्॥

(अनुवाकानुक्रमणी, श्लोक ४३)

२. शाकल्यदृष्टेः पदलक्षमेकं सार्धं च वेदे त्रिसहस्रयुक्तम्।
शतानि चाष्टौ दशकद्वयं च पदानि षट् चेति हि चर्चितानि॥

(अनु० ४५)

३. स ऋचो व्यौहत्। द्वादश बृहतीसहस्राणि। एतावत्यो ह्यर्चो याः प्रजापतिसृष्टाः।

(शत० ब्रा० १०।४।२।२३)

बृहती छन्द ३६ अक्षरों का होता है, अतः १२००० X ३६ = ४३२०००। "चत्वारि शतसहस्राणि द्वात्रिंशच्चाक्षर-सहस्राणि"—(अनु० का अन्त)।

सूत्र की व्याख्या में षड्गुरुशिष्य का स्पष्ट कथन है—"**ऋचोऽध्ययने तु अध्येतारो द्वे द्वे द्विपदे एकैकामृचं कृत्वा समामनन्ति अधीयीरन्। समामनन्तीति वचनात् शंसनादौ न भवन्ति। तेन 'पश्वा न तायुम्' (ऋ० १।६५) इति शंसने दशर्चत्वम्, आसामध्ययने तु पञ्चत्वं भवति।**" आशय यह है कि ये ऋचायें प्रयोगकाल में तो द्विपदा ही व्यवहृत होती हैं, परन्तु अध्ययन-काल में अध्येता लोग दो द्विपदाओं को एक (चतुष्पदा) ऋचा बनाकर पढ़ते हैं। सायण-भाष्य (१।६५) तथा चरण-व्यूह के टीकाकार महिदास ने पूर्वोक्त कथन की पुष्टि की है। ऐसी ऋचायें 'नैमित्तिक द्विपदा' कही जाती हैं। वे संख्या में १४० हैं। ऋग्वेद में 'नित्य द्विपदा' ऋचायें भी हैं, जो संख्या में केवल १७ (सत्रह) ही हैं। वे कभी भी अपने द्विपदा रूप से वञ्चित नहीं होतीं। इन्हीं नित्य-नैमित्तिक द्विपदाओं के ठीक रूप को न जानने के कारण मैक्स-मूलर, मैक्डानल्ड आदि अनेक वेदज्ञों की गणनायें भ्रान्त हो गई हैं। सारांश यह है कि ये नैमित्तिक द्विपदायें प्रयोगकाल में तो १४० रहती हैं, परन्तु अध्ययन-काल में चतुष्पदा हो जाने के कारण संख्या में ठीक आधी हो जाती हैं। उक्त गड़बड़ी का यही कारण है। कहीं कहीं बालखिल्य मन्त्रों (८० मन्त्र) को ऋग्वेद मन्त्रों में एक साथ नहीं गिनते। इससे भी पार्थक्य पड़ता है। निष्कर्ष यह है—कात्यायन-कृत 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' के अनुसार बालखिल्य तथा नैमित्तिक द्विपदाओं के साथ ऋग्वेद की पूर्ण ऋक्संख्या १०५५२ (दस सहस्र पाँच सौ बावन) है। यदि अध्ययन-काल में १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को चतुष्पदा बनाकर गिना जायगा तो उक्त संख्या में सत्तर मन्त्रों की कमी होगी, अर्थात् ऋक्संख्या १०४८२ (दस सहस्र चार सौ बयासी) होगी। भिन्न-भिन्न दशाओं में सत्तर का अन्तर होने पर भी पद, अक्षर, मात्रा आदि की गणना में कोई भी अन्तर नहीं है। ऊपर ऋचाओं की जो संख्या १०५८०$\frac{1}{4}$ बताई गई है वह लौगाक्षि-स्मृति के मन्तव्यानुसार समस्त शाखाओं में उपलब्ध ऋचाओं को लक्ष्य-कर है।[1]

वंशमण्डल

पाश्चात्त्य विद्वानों का कहना है कि ऋग्वेद के मण्डलों में प्राचीन तथा अर्वाचीन मन्त्रों का समुदाय संगृहीत किया गया है। द्वितीय से लेकर सप्तम मण्डल तक का भाग ऋग्वेद का केन्द्रीय अत एव अत्यन्त प्राचीन अंश है। इसमें

---

१. **इस विषय के मार्मिक विवेचन के लिए देखिए युधिष्ठिर मीमांसक—ऋग्वेद की ऋक्-संख्या, (काशी, सं० २००६) पृ० १६–१७।**

प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध किसी विशिष्ट ऋषि या उसके वंशजों के साथ निश्चय रूप से उपलब्ध होता है। द्वितीय के ऋषि हैं गृत्समद, तृतीय के विश्वामित्र, चतुर्थ के वामदेव, पञ्चम के अत्रि, षष्ठ के भरद्वाज और सप्तम के वसिष्ठ। वंशविशेष के सम्बन्ध के कारण इन मण्डलों को अंग्रेजी में 'फेमिली बुक' (वंशमण्डल) कहने की चाल है। अष्टम मण्डल के मन्त्रों के ऋषि कण्व तथा अङ्गिरा वंश के हैं। नवम मण्डल की एकता प्रतिपाद्य देवता की अभिन्नता के कारण है। इस मण्डल में समग्र मन्त्र 'सोम' देवता के विषय में हैं। वैदिक आर्यजन हिमालय प्रदेश में उत्पन्न होनेवाली सोमलता के रस को चुलाकर इष्ट देवताओं को समर्पण करते थे अन्त में प्रसाद रूप से स्वयं भी ग्रहण करते थे। सोमरस के पान से उत्पन्न आनन्दोल्लास का ललित वर्णन अनेक वैदिक सूक्तों का विषय है। सोम को ही **'पवमान'** भी कहते हैं। अतः सोम-विषयक मन्त्रों के समुच्चय होने के कारण नवम मण्डल **'पवमान मण्डल'** के नाम से अभिहित किया जाता है। अनुमान किया जाता है कि द्वितीय से लेकर अष्टम मण्डल के तैयार हो जाने पर तत्तद् ऋषियों के द्वारा दृष्ट सोम-विषयक मन्त्रों का संग्रह अलग करके ग्रन्थ के अन्त में जोड़ दिया गया था। अनन्तर ग्रन्थ के आदि में तथा अन्त में एक एक मण्डल जोड़ दिये गए। इस प्रकार प्रथम मण्डल तथा दशम मण्डल अन्य मण्डलों की अपेक्षा अर्वाचीन हैं। दोनों मण्डलों के सूक्तों की समान संख्या (१९१ सूक्त) कुछ महत्त्व अवश्य रखती है। भाषा, छन्द और नवीन देवताओं तथा नवीन दार्शनिक तथ्यों की कल्पना के कारण दशम मण्डल सब मण्डलों से पिछला और नवीन माना जाता है। दशम मण्डल की आपेक्षिक अर्वाचीनता के प्रमाणों पर ध्यान देना चाहिए जिनका वर्णन आगे किया गया है।

भारतीय दृष्टि से इन मण्डलों का संकलन तथा विभाजन एक ही व्यक्ति के द्वारा सम्पन्न माना जाता है। दशों मण्डलों के ऋषियों के विषय में कात्यायन ने अपनी 'सर्वानुक्रमणी' में लिखा है—

शतर्चिन आद्ये मण्डलेऽन्त्ये क्षुद्रसूक्तमहासूक्ता मध्यमेषु माध्यमाः।

प्रथम मण्डल के ऋषि 'शतर्चिनः' (सौ ऋचा वाले) कहे जाते हैं, जिसका कारण षड्गुरुशिष्य की सम्मति में यह है कि इस मण्डल के प्रथम ऋषि विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दा के द्वारा दृष्ट ऋचायें संख्या में सौ से कुछ ही अधिक हैं। अतः छत्रिन्याय के अनुसार समस्त ऋषियों का समान अभिधान 'शतर्चिनः'

पड़ गया है।[1] दशम मण्डल के ऋषि 'क्षुद्रसूक्त' तथा 'महासूक्त' कहे जाते हैं। षड्गुरुशिष्य की विवेचना के अनुसार नासदासीय सूक्त (१०।१२९) से पहले के सूक्त महासूक्त तथा पीछे के क्षुद्रसूक्त माने जाते हैं। सूक्तदर्शी होने के कारण ऋषियों का भी नामकरण इन्हीं सूक्तों के कारण पड़ा है। द्वितीय से लेकर नवम मण्डल को मध्यस्थित होने के कारण तत्रत्य ऋषिगण 'मध्यम' नाम से पुकारे जाते हैं।

ऋग्वेदीय शाखायें

यज्ञ की आवश्यकता को लक्ष्य में रखकर संकलित संहिताओं का पठन-पाठन अक्षुण्ण बनाए रखने की उदात्त अभिलाषा से व्यास जी ने अपने चार शिष्यों को इन्हें पढ़ाया। 'पैल' को ऋग्वेद, कवि 'जैमिनी' को साम, 'वैशम्पायन' को यजुः तथा दारुण 'सुमन्तु' मुनि को अथर्व का अध्ययन कराया।[2] इन मुनियों ने अपने गुरुमुख से अधीत संहिताओं का अपने शिष्य-प्रशिष्यों में खूब प्रचार किया, जिससे यह वेद-कल्पतरु विविध शाखा-सम्पन्न बनकर विपुल विस्तार को धारण कर रहा है। इन शाखाओं में कहीं-कहीं उच्चारण के विषय में मतभेद था और कहीं-कहीं किन्हीं मन्त्रों को संहिता में ग्रहण करने के विषय में। शाखा के साथ 'चरण' शब्द भी सम्बद्ध है। आज कल दोनों का प्रयोग प्रायः समान अर्थ में ही किया जाता है। मालतीमाधव के टीकाकार जगद्धर के कथनानुसार 'चरण' का अर्थ है विशेष शाखा के अध्ययन करने वाले एकतापन्न मनुष्यों का समुदाय (चरण-शब्दः शाखाविशेषाध्ययन-परैकतापन्न-जनसंघवाची)। इन शाखाओं का विस्तृत विवरण पुराणों तथा चरणव्यूह में किया गया है। शाखाओं की संख्या में विभिन्न ग्रन्थों में महान् विपर्यय दृष्टिगोचर होता है। भाष्यकार पतञ्जलि ने ऋक् की २१ शाखाओं का, यजुर्वेद की १०१ शाखाओं का, साम की १ हजार शाखाओं

---

१. "आद्यस्य ऋषेर्ऋक्शतयोगेन छत्रिन्यायेन शतर्चिनः सर्वे। द्व्यधिकेऽपि शतोक्तिर्बाहुल्यात्"—(वेदार्थदीपिका, पृ० ५९)।

२. तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
वैशम्पायन एकैको निष्णातो यजुषामुत।
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः॥

(भागवत १।४।२१)

का तथा अथर्व की ९ शाखाओं का उल्लेख पस्पशाह्निक में किया है[1]। चरणव्यूह की गणना इससे भिन्न है। इस प्रकार भाष्योक्त ११३० शाखाओं में से अधिकांश शाखायें अध्ययन के अभाव से विस्मृति के गर्त में लीन हो गई हैं। केवल कतिपय इनी-गिनी शाखायें ही आजकल उपलब्ध होती हैं।

सिद्धान्त तो यह है कि जितनी शाखायें होंगी उतनी ही संहितायें, उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भी होंगी। श्रौत तथा गृह्य सूत्र भी उतने ही होंगे। शाखा के अध्येतृगण अपने सब वैदिक ग्रन्थ पृथक्-पृथक् रखते थे और अपना श्रौत कार्य अपने विशिष्ट श्रौतसूत्रों से सम्पादन किया करते थे, तथा इस समय भी करते हैं। गृह्य-संस्कार के विधान के लिए भी विशिष्ट गृह्यसूत्र की आवश्यकता थी और आज भी है। इस प्रकार प्रत्येक शाखा में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत तथा गृह्यसूत्र अपने विशिष्ट होने चाहिए, परन्तु दुःख का विषय है कि बहुतेरी शाखाओं के कुछ ही ग्रन्थ आज उपलब्ध हो रहे हैं। किसी शाखा की अपनी संहिता है, तो दूसरे का ब्राह्मण; किसी का अपना ब्राह्मण है, तो दूसरे के सूत्र। तात्पर्य यह है कि ऐसी शाखायें नितान्त स्वल्प हैं जिनका समग्र अंश क्रमबद्ध रूप से उपलब्ध होता है। इस प्रकार आजकल अनेक शाखाओं के उच्छिन्न हो जाने से तथा वैदिक ग्रन्थों के लुप्त हो जाने से ऐसी दुरवस्था दीख पड़ रही है।

महाभाष्य के अनुसार ऋग्वेद की समस्त शाखायें २१ हैं, जिनमें 'चरणव्यूह' के कथनानुसार ये ५ शाखायें मुख्य हैं—(१) शाकल, (२) बाष्कल, (३) आश्वलायन, (४) शांखायन और (५) माण्डूकायन। ये सब संहितायें विन्ध्य के दक्षिण महाराष्ट्र देश में ही आजकल उपलब्ध होती हैं।

(१) **शाकल**—ऋग्वेद की आजकल प्रचलित संहिता शाकल-शाखा की है। इसी का विशेष वर्णन अगले पृष्ठों में किया गया है।

(२) **बाष्कल**-शाखा की यद्यपि संहिता उपलब्ध नहीं होती; तथापि इसकी विशिष्टताओं का वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है। शाकल-शाखानुसार ऋग्वेद का अन्तिम मन्त्र है—"समानी व आकूतिः" (१०।१९१।४), परन्तु बाष्कल संहिता के अनुसार "तच्छंयोरावृणीमहे" अन्तिम ऋचा है। मन्त्रों की संख्या भी

---

1. "चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः। एकशतमध्वर्युशाखाः। सहस्रवर्त्मा सामवेदः। एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्। नवधाथर्वणो वेदः"—(पस्पशाह्निक)।

कहीं अधिक है। शाकल में केवल १०१७ सूक्त हैं, परन्तु बाष्कल में १०२५ हैं। इन अधिक आठ सूक्तों में से एक तो 'संज्ञानसूक्त' है, जो इस संहिता के अन्त में है, तथा शेष सात सूक्त ११ बालखिल्य सूक्तों में से प्रथम सात हैं। फलतः बाष्कल-संहिता के अष्टम मण्डल में शाकल की अपेक्षा ७ सूक्त अधिक हैं। अतः इस मण्डल के समस्त सूक्तों की संख्या ९९ हैं[1]। अनुवाकानुक्रमणी (श्लोक २१) से पता चलता है कि प्रथम मण्डल के मन्त्रों में शाकल्य-क्रम से बाष्कल-क्रम कुछ भिन्न है। इसी लिए वैदिकों में आजकल यह प्रवाद है कि जो मनुष्य किसी कार्य को अस्त-व्यस्त रूप से सम्पादित करता है उसे बाष्कल की संज्ञा दी जाती है।

(३) आश्वलायन—आश्वलायनों की संहिता तथा ब्राह्मणों का अस्तित्व किसी समय में अवश्य था, क्योंकि कवीन्द्राचार्य (१७ वीं शताब्दी) की सूची में इन ग्रन्थों का नामोल्लेख स्पष्टतः पाया जाता है। आज तो इस शाखा के केवल गृह्य तथा श्रौत-सूत्र ही उपलब्ध होते हैं। अर्थात् आश्वलायन गृह्य तथा आश्वलायन श्रौत के अतिरिक्त इस शाखा के अन्य अंश उपलब्ध नहीं होते।

(४) शांखायन—इसकी संहिता तो उपलब्ध नहीं होती, परन्तु ब्राह्मण तथा आरण्यक प्रकाशित हैं। बहुतों की सम्मति में शांखायन तथा कौषीतकि शाखा एक ही है, परन्तु वस्तुतः दोनों भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हैं।

(५) माण्डूकायन—इस शाखा की भी बहुत कुछ पुस्तकें पहिले उपलब्ध होती थीं, परन्तु आजकल कोई भी नहीं मिलती[2]।

विषयविवेचन

ऋग्वेद धार्मिक स्तोत्रों की एक अत्यन्त विशाल राशि है, जिसमें नाना देवताओं की भिन्न भिन्न ऋषियों ने बड़े ही सुन्दर तथा भावाभिव्यंजक शब्दों में स्तुतियाँ एवं अपने अभीष्ट की सिद्धि के निमित्त प्रार्थनायें की हैं। पहिले बतलाया गया है कि द्वितीय मण्डल से लेकर सप्तम मण्डल तक एक ही विशिष्ट कुल के ऋषियों की प्रार्थनायें संगृहीत हैं। अष्टम मण्डल में अधिकतर मन्त्र कण्व ऋषि से सम्बद्ध हैं, तथा नवम मण्डल में (पवमान) सोम के विषय में भिन्न-भिन्न

---

१. एतत् सहस्रं दशसप्त चैवाष्टावतो बाष्कलकेऽधिकानि।
तान् पारणे शाकले शैशिरीये वदन्ति शिष्टानखिलेषु विप्राः॥
(अनुवाकानुक्रमणी, श्लोक २१)

२. भगवद्दत्त—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ७७—१२१।

ऋषिकुलों के द्वारा दृष्ट अर्पण-मन्त्रों का संग्रह है। ऋग्वेदीय देवताओं में तीन देवता अपने वैशिष्ट्य के कारण नितान्त प्रसिद्ध हैं। **अग्नि** के लिए सबसे अधिक ऋचायें कही गई हैं। **इन्द्र** विजयप्रदाता होने के कारण सबसे अधिक ओजस्वी तथा वीर-रसमण्डित मन्त्रों के द्वारा संस्तुत है। प्राणिमात्र की हार्दिक भावनाओं को जानने वाला और तदनुसार प्राणियों को दण्ड और पारितोषिक देने वाला **वरुण** कर्मफलदाता परमेश्वर के रूप में चित्रित किया गया है। इसलिए सर्वोच्च नैतिक भावनाओं से स्निग्ध तथा उदात्तता से मण्डित ऋचायें वरुण के विषय में उपलब्ध होती हैं। देवियों में **उषा** का स्थान अग्रगण्य है और सबसे अधिक कवित्वमण्डित प्रतिभाशाली सौन्दर्याभिव्यंजक ऋचायें उषा देवी के विषय में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त जिन देवताओं की संस्तुति में ऋचायें दृष्ट हुई हैं उनमें प्रधान देवता हैं :—सविता, पूषा, मित्र, विष्णु, रुद्र, मरुत्, पर्जन्य आदि। ऋग्वेदीय ऋचाओं का प्रयोग यज्ञ के अवसर पर होता था और सोमरस की आहुति के समय प्रयुक्त मन्त्रों का एकत्र संग्रह नवम मण्डल में किया गया मिलता है। इन देवों का विशेष वर्णन-संस्कृति खण्ड में किया गया है।

दशम मण्डल की अर्वाचीनता

दशम मण्डल अन्य मण्डलों की अपेक्षा नूतन तथा अर्वाचीन माना जाता है। इसका प्रधान कारण भाषा तथा विषय को लक्ष्य कर वंशमण्डल (गोत्रमण्डल) से विभिन्नता है :—

(क) भाषागत विभिन्नता—ऋग्वेद के प्राचीनतम भागों में शब्दों में 'रेफ' की ही स्थिति है। भाषाविदों की मान्यता है कि संस्कृत भाषा ज्यों-ज्यों अर्वाचीन होती गई, त्यों-त्यों रेफ के स्थान पर लकार का प्रयोग बढ़ता गया। जल-वाचक 'सलिल' का प्राचीन रूप 'सरिर' गोत्र मण्डलों में प्रयुक्त है, परन्तु दशम मण्डल में लकार युक्त शब्द का प्रयोग है। वैयाकरण रूपों में भी स्पष्ट पार्थक्य है। प्राचीन अंश में पुल्लिंग अकारान्त शब्दों में प्रथमा द्विवचन का प्रत्यय अधिकतर 'आ' है (यथा 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' ऋग्वेद १।१६१), परन्तु दशम मण्डल में उसके स्थान पर 'औ' का भी प्रचलन मिलता है—"मा वामेतौ मा परेतौ रिषाम (ऋ० १०।१७८।२), सूर्याचन्द्रमसौ धाता" (१०। १९०।३)। प्राचीन अंश में क्रियार्थक क्रिया की सूचना के लिए तवे, से, असे, अध्यै आदि अनेक प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं, परन्तु दशम मण्डल में अधिकतर 'तुम्' प्रत्यय का ही प्रयोग मिलता है। 'कर्तवै', 'जीवसे' 'अवसे' आदि प्राचीन पदों के

स्थान पर अब अधिकतर कर्तुम्, जीवितुम्, अवितुम् आदि प्रयोगों का प्राचुर्य है। भाषागत विशिष्टता ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा के समान होने के कारण दशम मण्डल इन ग्रन्थों से कालक्रम में प्राचीन नहीं प्रतीत होता।

(ख) **छन्दोगत वैशिष्ट्य**—प्राचीन अंशों में उपलब्ध छन्दों की अपेक्षा दशम मण्डल के छन्दों में पार्थक्य है। प्राचीन काल में वर्णों की संख्या पर ही छन्दोविन्यास में विशेष आग्रह था, परन्तु अब लघुगुरु के उचित विन्यास पर भी सर्वत्र विशेष बल दिया जाने लगा था, जिससे पद्यों के पढ़ने में सुस्वरता तथा लय का आविर्भाव बड़ी रुचिरता के साथ होने लगा। फलतः अब 'अनुष्टुप्' प्राचीन अनुष्टुप् न होकर लौकिक संस्कृत के अनुष्टुप् ही के समान बन गया।

(ग) **देवगत वैशिष्ट्य**—इस मण्डल में उल्लिखित देवों में अनेक नवीन तथा अनिर्दिष्ट-पूर्व हैं, तथा प्राचीन देवों के रूप में भी स्वरूप परिवर्तन दृष्टिगत होता है। वरुण समस्त जगत् के नियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् देव के रूप में पूर्व में निर्दिष्ट हैं, परन्तु अब उनका शासन क्षेत्र सिमिट कर केवल जल ही रह जाता है। विश्वनियन्ता के पद से हट कर वे अब मात्र जलदेवता के रूप में ही दृष्टिगोचर होते हैं। नवीन देव मानसिक भावना तथा मानस वृत्तियों के प्रतिनिधि कल्पित किये गये हैं। ऐसे देवों में श्रद्धा (ऋ० १०।१५१), मन्यु (ऋ० १०। ८३।८४) आदि का उल्लेख किया जा सकता है। तार्क्ष्य की भी स्तुति देवता के रूप में यहाँ उपलब्ध होती है (ऋ० १०।१७८)। श्रद्धा कामायनी का बड़ा ही बोधक वर्णन एक सूक्त में मिलता है (१०।१५१)—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥

[श्रद्धा से अग्नि का समिन्धन होता है, अर्थात् ज्ञानाग्नि का प्रज्वलन श्रद्धा के द्वारा होता है। हवि का हवन श्रद्धा से होता है। ऐश्वर्य के ऊर्ध्व स्थान पर निवास करने के लिए हम लोग वचन के द्वारा श्रद्धा की स्तुति करते हैं]। गाय की स्तुति में प्रयुक्त एक समग्र सूक्त ही (१०।१६९) वैदिक आर्यों की गोविषयिणी भावना को बड़े ही सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त कर रहा है। एक पूरे सूक्त (१०।१४६) में अरण्यानी (अरण्य की देवी) की स्तुति विषय की नवीनता के लिए पर्याप्तरूपेण आकर्षक है। १०।७१ सूक्त में हम 'ज्ञान' को एक महनीय देव के रूप में आर्यों में प्रतिष्ठित पाते हैं। इसी सूक्त के प्रख्यात मन्त्र में चारों संहिताओं के द्वारा यज्ञ-कर्म को सम्पादन करने वाले होता, उद्गाता, ब्रह्मा तथा अध्वर्यु नामक चार ऋत्विजों का हम स्पष्ट संकेत पाते हैं—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां
यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥

(१०।७१।११)

(घ) **दार्शनिक तथ्यों का आविष्कार**—इस मण्डल में अनेक दार्शनिक सूक्तों की उपलब्धि होती है, जो अपनी विचारधारा से आर्यों के तात्त्विक चिन्तनों के विकास के सूचक हैं तथा उत्तरकालीन प्रतीत होते हैं। ऐसे सूक्तों में नासदासीयसूक्त तथा पुरुषसूक्त विशेष उल्लेखनीय हैं। पुरुषसूक्त में **सर्वेश्वरवाद** का स्पष्ट प्रतिपादन है, जो प्रौढ़ विचारधारा का प्रतिपादक होने से उत्तरकालीन तथा अपेक्षाकृत अर्वाचीन प्रतीत होता है। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में धार्मिक विकास का क्रम इस प्रकार है—बहुदेववाद-एकदेववाद-सर्वेश्वरवाद। प्राचीनतम काल में अनेक देवों की सत्ता में आर्यों का विश्वास था, जो आगे चलकर एकदेव (प्रजापति या हिरण्यगर्भ) के रूप से परिणत होकर सर्वेश्वरवाद पर टिक गया। इस विकास की अन्तिम दो कोटियाँ दशम मण्डल में उपलब्ध होती हैं। फलतः उसका गोत्रमण्डल से नूतन होना स्वाभाविक है।

(ङ) **विषय की नूतनता**—इस मण्डल में भौतिक विषय से सम्बद्ध तथा आध्यात्मिक विचारधारा से संवलित अनेक सूक्त उपलब्ध होते हैं। भौतिक विषयों में श्राद्ध तथा विवाह का नाम अग्रगण्य है। ऋ० १०।८५ सूक्त में सूर्या के पाणिग्रहण के लिए अनेक देवों के रथ पर चढ़कर अपनी योग्यता सिद्ध करने के लिए दौड़ लगाने का प्रसङ्ग बड़ा ही कौतूहलवर्धक है। 'सूर्या' से अभिप्राय उषा से ही है जिसका विवाह सोम के साथ होता है, तथा आश्विन इस कार्य में घटक का कार्य करते हैं। यह सूक्त साहित्यिक दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर तथा तत्कालीन सामाजिक दशा के ज्ञान के लिए अत्यन्त रोचक है। गृह्यसूत्र में इसी सूक्त के मन्त्रों का विनियोग तथा प्रयोग विवाह के समय किया जाता है। विवाह के भौतिक रूप की सिद्धि के साथ-साथ उसके आध्यात्मिक रूप का भी सुन्दर निरूपण है। यह समग्र सूक्त मृदुल भावना से ओत-प्रोत है। पत्नी को पति के साथ रहने तथा प्रजा-समृद्धि के लिए उपदेश दिया गया है—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं संसृजस्वाऽधा जिव्री विदथमा वदाथः ॥

(ऋ० १०।८५।२७)

पतिगृह में आने पर पत्नी को मांगलिक, सौख्यदात्री तथा वीरप्रसविनी होने की प्रार्थना बड़ी ही भव्य एवं प्रभावोत्पादक है—

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥

(ऋ० १०।८५।४३)

दशम मण्डल में अनेक सूक्तों में **शवसंस्कार** से सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्र भी मिलते हैं। प्रतीत होता है कि उस युग में शव को मिट्टी में गाड़ने की भी प्रथा कभी प्रचलित थी, यद्यपि सामान्य रीति से शवों के दाहसंस्कार का ही प्रचलित वर्णन मिलता है। इन मन्त्रों के भाव कविता की दृष्टि से सरल, रोचक तथा आवर्जक हैं। शव को पृथ्वी में गाड़ने के अनेक मन्त्र १०।१८ सूक्त की १०।१३ ऋचाओं में मिलते हैं। शव के लिए पृथ्वी से फट जाने तथा शव की रक्षा करने की प्रार्थना कितनी सुन्दर है। इस प्रसङ्ग की उपमा भी बड़ी ही मनोहारिणी है—

माता पुत्रं यथा सिचाऽभ्येनं भूम ऊर्णुहि।

[जिस प्रकार माता अपने पुत्र को वस्त्र से ढक देती है, उसी प्रकार हे भूमि, तुम भी इस शव को अपने से आच्छादित कर लो]

१०।१६ में अग्निदाह के अवसर पर प्रयुक्त मन्त्रों का वर्णन है (१ से लेकर ६ मन्त्र तक)। इस अवसर पर आर्यों की परलोकसम्बन्धिनी धारणाओं के ज्ञान के लिए सूक्त १४ तथा १५ का अनुशीलन नितान्त उपादेय सिद्ध होगा। इन सूक्तों में यम के स्वरूप, उनके लोक तथा उसके मार्ग का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। नाना प्रकार के पितरों का संकेत भी बड़ा मार्मिक है। शव से यह कहा गया है कि यमलोक में जाकर वह पितरों तथा यम से सङ्गति प्राप्त करे; अपने पुण्यों के बलपर सुन्दर शरीर तथा भव्य निकेतन को प्राप्त करे :—

संगच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सङ्गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥

(१०।१४।८)

इस प्रसङ्ग में सबसे विलक्षण सूक्त है १०।३४, जिसमें कोई जूआ में हारनेवाला जुआड़ी अपने भावों का वर्णन बड़ी ही कोमलता तथा यथार्थता के साथ करता है। यह सूक्त **'द्यूतकर का विषाद'** नाम से सुप्रख्यात है। तत्कालीन समाज की झाँकी देने के कारण भी यह सूक्त विशेष महत्त्व रखता है। ऋग्वेद काल में जूआ खेलने की बुरी प्रथा थी। समाज में बहुधा प्रचलित होने पर भी

यह निन्दनीय प्रथा थी, ग्राह्य नहीं। इस सूक्त में द्यूतकर के मुख से द्यूत की निन्दा बड़े मार्मिक ढङ्ग से की गई है। पहिले वह अपने प्रलोभनों का वर्णन करता हुआ कह रहा है कि किस प्रकार द्यूत की गोटियों (अक्ष) के अक्षपटल पर गिरने का शब्द उसके हृदय को अपनी ओर खींच रहा है। द्यूतकर का अपना कोई भी मित्र साथ देने के लिए तैयार नहीं है। यहाँ तक कि उसकी प्रियतमा भी उससे घृणा करती है तथा घर से बाहर खदेड़ देती है। वह बड़े ही सरल शब्दों में अपनी दयनीय स्थिति का परिचय देते हुए कह रहा है कि दूसरे लोग मेरी स्त्री का स्पर्श कर रहे हैं तथा माता, पिता और भाई लोग कह रहे हैं कि हम लोग इसे नहीं जानते। इसे बाँधकर तुम लोग ले जाओ (मन्त्र ४)—

पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्।

अन्त में उपदेश दिया गया है (मन्त्र १३)—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः॥

जूआ कभी मत खेलो; खेती करो—ये शब्द द्यूत के प्रति ऋग्वेदीय भावना के पूर्ण परिचायक माने जा सकते हैं। इस सूक्त की भावना अर्वाचीन भावना से सुसम्बद्ध होने के कारण पर्याप्त रूपेण आकर्षक तथा आवर्जक है।

दानस्तुति

ऋग्वेद के सूक्तों में कतिपय मन्त्र ऐसे अवश्य मिलते हैं जिन्हें 'दानस्तुति' के नाम से पुकारते हैं। इन दानस्तुतियों के स्वरूप तथा तात्पर्य को समझने में विद्वानों में गहरी विप्रतिपत्ति है। आजकल का ऐतिहासिक विद्वान् इन्हें किसी प्राचीन राजा के विपुल दान से आप्यायित होनेवाले ऋषि द्वारा दाता की स्तुति मानता है, परन्तु भारतीय वेदज्ञों की दृष्टि में अपौरुषेय वेद में किसी भी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख असम्भाव्य होने से ये दानस्तुतियाँ किसी व्यक्ति-विशेष के दान की स्तुति नहीं है, प्रत्युत प्ररोचना के निमित्त ही आख्यानों की कल्पना मन्त्रों के आधार पर पीछे से कर ली गई है। कात्यायन ने अपनी 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' में केवल २२ सूक्तों में दानस्तुतियों का उल्लेख किया है, परन्तु आधुनिक शोधक की दृष्टि में ६८ सूक्तों में दानस्तुतियों का उल्लेख है[1]।

---

१. डा० मणिलाल पटेल का एतद्विषयक लेख 'भारतीय अनुशीलन' नामक ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ में देखिए (साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)।

परन्तु प्राचीन ग्रन्थों की मन्त्रव्याख्याओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि अनेक स्थलों पर दानस्तुति का आभासमात्र है, वास्तव में दानस्तुति है नहीं। इसके लिये एक दृष्टान्त पर्याप्त होगा—ऋ० ८।३।२१-२४ का देवता सर्वानुक्रमणी में पाकस्थामा कौरयाण की दानस्तुति बतलाया गया है, परन्तु निघण्टु, निरुक्त आदि ग्रन्थों के अनुशीलन से इस घटना की पुष्टि नहीं होती। निघण्टु ४।२ में पठित 'कौरयाण' पद का अर्थ यास्क ने 'कृतयानः' (अर्थात् शत्रुओं के प्रति यान या चढ़ाई करनेवाला व्यक्ति) किया है। दुर्गाचार्य की सम्मति में इन मन्त्रों में यान की स्तुति है, दान की नहीं। शौनक के मत से 'पाकस्थामा' शब्द भी व्यक्तिवाचक न होकर विशेषण है (बृहद्देवता ६।४५)। स्कन्द महेश्वर की व्याख्या के अनुसार 'पाकस्थामा' शब्द का अर्थ है—'महाप्राण' महाबलवान्[1] और ये दोनों शब्द मन्त्रों में आए हुए 'भोज' शब्द के विशेषण हैं, परन्तु 'भोज' शब्द भी सामान्य राजा के अर्थ में व्यवहृत हुआ है, किसी विशिष्ट राजा के संकेत के लिए नहीं। 'कौरयाण' के व्यक्तिवाचकत्व का निषेध इस बात से भी होता है कि यह शब्द निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में पठित है, जहाँ 'अनवगत संस्कार' या अनेकार्थ शब्दों की गणना की गई है। 'कुरयाणस्य अपत्यम् कौरयाणः' में संस्कार इतना स्पष्ट है कि उसकी इस अध्याय में गणना करना नितान्त अनुचित है। निष्कर्ष यह है कि इस दानस्तुति में किसी भी ऐतिहासिक राजा का उल्लेख नहीं है, केवल शत्रु के ऊपर आक्रमण करनेवाले (कौरयाण) तथा महान् बलशाली (पाकस्थामा) किसी नृपति-सामान्य (भोज) का ही संकेत है[2]।

इसी प्रकार अभ्यावर्ती चायमान की दानस्तुति (ऋ० ६।२७।८), सावर्णि की दानस्तुति (ऋ० १०।६२।८–११), प्रकण्व की दानस्तुति (ऋ० ८।५५ तथा ८।५६) भी विचार करने पर किसी विशिष्ट राजा की दानस्तुति प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार ऋग्वेद मन्त्रों के ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययनशील विद्वान् को अगत्या मानना पड़ेगा कि अनेक राजाओं के नाम ऐतिहासिक तथा व्यक्तिवाचक केवल आभासमान हैं, वस्तुतः नहीं।

---

१. पाकस्थामा—लोके स्थाम-शब्दः प्राणे प्रसिद्धः। पाकः परिपक्वो महान् स्थामो यस्य स पाकस्थामा महाप्राणश्चेत्यर्थः।

(स्कन्द महेश्वर की निरुक्त-व्याख्या)

२. द्रष्टव्य युधिष्ठिर मीमांसक—'ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार' पृ० ३-७।

अपौरुषेयवादी मीमांसकों की ऐसे प्रसङ्गों की मीमांसा बड़ी ही विशद तथा स्पष्ट है। उनका उत्तर है कि समस्त वैदिक आख्यान प्ररोचना के लिए कल्पित हैं। आख्यानों की कल्पना मन्त्रार्थ ज्ञान के अनन्तर की गयी है, आख्यान-प्रदर्शन के लिए मन्त्रों की रचना नहीं है। जैमिनिसूत्र 'गुणवादस्तु' (मीमांसा सूत्र १।२।१०) का शबरभाष्य भारतीय सिद्धान्तों की कुंजी है। उसका स्पष्ट कथन है कि समस्त आख्यान असत्य हैं। आख्यानों में दो बातें हैं—वृत्तान्तज्ञान तथा प्ररोचना। वृत्तान्त-ज्ञान विधि में न तो प्रवर्तक है और न निवर्तक। फलतः वह प्रयोजनाभावात् अनपेक्षित है। प्रीति से कार्य में प्रवृत्ति होती है तथा द्वेष से निवृत्ति। आख्यानों में इतने ही अंश की विवक्षा है।[1]

ऋग्वेद में सामान्य दान की स्तुति का प्रतिपादक एक बड़ा ही भव्य सूक्त दशममण्डल में है (सू० १०।११७), जिसमें दान की महिमा का ओजस्वी वर्णन है। जो मनुष्य दान न देकर अपने अर्थ को केवल अपने ही स्वार्थ के लिए खर्च करता है वह पाप को ही खाता है (मन्त्र ६)—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी[2] ॥

वस्तुतः वह मित्र नहीं है जो अत्यन्त स्नेह रखनेवाले सखा अथवा परिचित व्यक्ति को दान नहीं देता। उस आदमी से दूर हट जाना ही श्रेयस्कर होता है। वह उसके लिए घर नहीं होता। पोषण करने वाले किसी अपरिचित के शरण में जाना ही उस व्यक्ति के लिए उचित होता है (मन्त्र ४)—

न स सखा यो न ददाति सख्ये स चाभुवे स च मानाय पित्वः।
अपास्मात् प्रेयान् न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥

"केवलाघो भवति केवलादी"—त्यागमूलक वैदिक संस्कृति का महामन्त्र है इसी तत्त्व का वर्णन स्मृतिग्रन्थों में भरा पड़ा है। गीता का यह श्लोक पूर्व मन्त्र की लोकप्रिय व्याख्या तथा अक्षरशः अनुवाद है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

(गीता ३।१३)

---

१. असद्वृत्तान्तान्वाख्यानं स्तुत्यर्थेन।······तत्र वृत्तान्तान्वाख्यानं न प्रवर्तकम् न निवर्तकं चेति प्रयोजनाभावात्। अनर्थकमित्यविवक्षितम्। प्ररोचनया [illegible] प्रवर्तते इति, द्वेषान्निवर्तते इति तयोर्विवक्षा।

२. यह मन्त्र तैत्तिरीय-ब्राह्मण (२।८।८।३) तथा निरुक्त (७।३) में भी उद्धृत मिलता है।

संवाद सूक्त

ऋग्वेद में जिस प्रकार दार्शनिक सूक्त उसे उपनिषदों के तात्त्विक विवेचनों के साथ सम्बद्ध करते हैं, उसी प्रकार कतिपय सूक्त उसे प्रबन्ध काव्य तथा नाटकों के साथ भी सम्बन्ध जोड़नेवाले हैं। ऐसे सूक्तों में कथनोपकथन का प्राधान्य है और इसीलिए इन्हें **संवादसूक्तों** की संज्ञा प्रदान की गई है। ऐसे सूक्त समग्र ऋग्वेद में लगभग बीस हैं। इनके स्वरूप के विषय में पश्चिमी विद्वानों में गहरा मतभेद है। डाक्टर ओल्डेनबर्ग की दृष्टि में ये प्राचीन आख्यानों के अवशिष्ट रूप हैं। इनकी सम्मति में ऋग्वेदकालीन 'आख्यान' गद्यपद्यात्मक थे। पद्यभाग अधिक रोचक तथा मञ्जुल होने से अवशिष्ट रह गया है, परन्तु गद्यभाग केवल कथात्मक होने से धीरे धीरे लुप्त हो गया। संस्कृत के पिछले युग में वर्तमान चम्पूशैली के आधार पर डा० ओल्डनबर्ग ने ऋग्वेदीय संवादसूक्तों को 'आख्यान' के नाम से अभिहित किया है। इसके विपरीत डा० सिल्वाँ लेवी, डा० श्रोदर और डा० हर्टल आदि विद्वानों की दृष्टि में ये वस्तुतः नाटक के अवशिष्ट अंश हैं, जिनका संगीत तथा पात्र के उचित सन्निवेश कर देने पर यज्ञ के अवसरों पर वस्तुतः अभिनय होता था। तीसरा मत डा० विन्टरनित्स का है, जो इन्हें प्राचीन लोकगीत काव्य (बैलेड) का नमूना मानते हैं। ये अर्धकथात्मक तथा अर्ध-रूपकात्मक होने से कथानक तथा नाटक के संमिश्रण हैं। इन्हीं से अवान्तरकाल में एक ओर महाकाव्य का उदय सम्पन्न हुआ और दूसरी ओर नाटक की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार भारतीय साहित्य में इन संवाद-सूक्तों का पर्याप्त महत्त्व है[1]।

इन संवादसूक्तों में तीन विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—(१) पुरुरवा–उर्वशी-संवाद (ऋ० १०।८५), (२) यमयमी-संवाद (ऋ० १०।१०) तथा (३) सरमापणि-संवाद। (ऋ० १० १३०)। पुरुरवा तथा उर्वशी की कथा रोमाञ्चक प्रेम का प्राचीन भव्य निदर्शन है, जिसमें स्वर्ग-लोक की सुन्दरी उर्वशी पृथ्वीतल के मानव राजा की पत्नी बनना स्वीकार करती है, परन्तु प्रतिज्ञा-भंग के कारण वह उसका संग छोड़कर निर्मम की भाँति चल देती है।[2] इस सूक्त में केवल १८ मन्त्र हैं, जिनमें से कुछ उर्वशी के कथन हैं और कुछ पुरुरवा के।

---

१. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास (पंचम संस्करण) ३९४–९५।

२. द्रष्टव्य लेखक का ग्रन्थ–वैदिक कहानियाँ (कहानी ९, पृष्ठ ११५–१२४)।

शतपथ ब्राह्मण (११।५।१) ने इस प्रेमकथा को कुछ विस्तार के साथ निबद्ध करने का उद्योग किया है। विष्णुपुराण, महाभारत आदि अनेक ग्रन्थों में इस कथानक का उल्लेख है, परन्तु इसका सुन्दरतम रूपकरूप हमें महाकवि कालिदास की प्रतिभा से उनके 'विक्रमोर्वशीय' नामक सुप्रसिद्ध नाटक में मिलता है। १० म मण्डल के दशम सूक्त में यमयमी का परस्पर विलक्षण संवाद है, जिससे यमी यम को अपने प्रलोभनों से लुभाना चाहती है, परन्तु यम अपने उदात्त चरित्र का परिचय देते हुए इस अनैसर्गिक सम्पर्क से अपने को दूर रखते हैं। साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से ये दोनों संवाद बड़े ही रोचक, हृदयावर्जक तथा कलात्मक हैं। तीसरा संवादसूक्त ऋग्वेदीय युग के समाज की एक झाँकी प्रस्तुत करता है। पणि लोगों ने आर्य लोगों की गायों को चुराकर कहीं अँधेरी गुफा में डाल रखा है। इन्द्र ने अपनी शुनी सरमा को पणियों को समझाने के लिए दौत्यकार्य सौंपा है। सरमा आर्य लोगों के प्रबल पराक्रम की गाथा गाती है, तथा पणियों को धमका कर सचेत करती है। ये समग्र संवादसूक्त नाटकीय ओजस्विता से ओतप्रोत हैं और कलात्मक दृष्टि से नितान्त सुन्दर, सरस तथा भावोत्पादक हैं।

ऋग्वेद में लौकिक सूक्त

दशम मण्डल में अनेक सूक्तों के द्वारा लौकिक तथा व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों का रोचक वर्णन उपलब्ध होता है। ऐसे विषय अथर्ववेद की ही विशिष्ट सम्पत्ति माने जाते हैं, ऐसी साधारण मान्यता है, परन्तु ऋग्वेद के दशम मण्डल में भी ऐसी लोकसंस्कृति से सम्बद्ध विषयों की उपलब्धि इस मण्डल की विशिष्टता सूचित करती है। यक्ष्मा के नाश के लिए अनेक सूक्त यहाँ मिलते हैं। १६१ सूक्त में 'राजयक्ष्मा' शब्द का ही प्रयोग नहीं है, प्रत्युत इस रोग से पीड़ित व्यक्ति को मृत्यु के पास से आहरण करने का भी स्पष्ट वर्णन है। १६३ सूक्त में यक्ष्मा के नाशन के उपाय का तथा शरीर के नाना अवयवों का भी वैज्ञानिक विवरण मिलता है। १६२ सूक्त का नाम 'रक्षोहा' सूक्त है, जिसमें बाधक राक्षसों के विघ्नों से रक्षा का प्रबन्ध बतलाया गया है; विशेषकर गर्भ को बाधा पहुँचाने वाले राक्षस को दूर भगाने का संकेत है। एक सूक्त में पत्नी के कष्ट को दूर कर पति के पाने का विवरण है—

इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्॥

(ऋ० सू० १४५)

इस मन्त्र से पता चलता है कि पृथ्वी को खोदकर निकाली गई ओषधि (जड़ी बूटी) के प्रयोग करने से कोई पतिकामा सपत्नी को दूर कर देती है और अनुरूप पति के पाने में समर्थ होती है। अन्य सूक्त (१०।१६६) में शत्रुओं को दूर भगाने के लिये प्रार्थना की गई है—

ऋषभं मां समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्॥

इस प्रकार इस 'सपत्नघ्न' सूक्त में शत्रुओं को परास्त करने की भावना को अग्रसर किया गया है। १०।१६४ सूक्त में दुष्ट स्वप्न को दूर करने के लिए प्रार्थना है। १०।५८ सूक्त का नाम ही 'मन आवर्तन' सूक्त है, जिसमें किसी व्यक्ति के दूरगामी मन को लौट आने की प्रार्थना है। चाहे वह वैवस्वत यम, दिव, भूमि या समुद्र के पास चला गया हो, इस प्रार्थना के बल पर वह फिर उसी व्यक्ति के पास लौटकर चला आता है—

यत् ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥

इस पूरे सूक्त में भूमि, आकाश, समुद्र, ओषधि, उषा, पर्वत तथा विश्व भर में घूमनेवाले मन को लौट आने की प्रार्थना है। १०।९७ सूक्त में आथर्वण भिषग् ऋषि ने ओषधियों की बड़ी भव्य स्तुति प्रस्तुत की है। इस ओषधिसूक्त में नाना प्रकार की ओषधियों के रूप-रंग तथा प्रभाव का सुन्दर विवरण आयुर्वेद की दृष्टि से विशेष महत्त्वशाली है। ओषधियों के नाना प्रकारों का संकेत इस मन्त्र में स्पष्टरूप से किया गया है—

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पति-प्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥
(१०।९७।१५)

दो सूक्त (१०।१७३, १७४) राजनीति की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वशाली हैं, जिसमें राजा की प्रशस्त स्तुति की गई है। इसके अनुशीलन से मालूम पड़ता है कि उस प्राचीनकाल में भी समस्त प्रजा राजा का वरण करती थी—

अभि त्वा देवः सविताऽभि सोमो अवीवृतत्।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि॥

दार्शनिक सूक्त

नासदीय-सूक्त (१०।१२९), पुरुषसूक्त (१०।९०), हिरण्यगर्भ सूक्त (१०।१२१) तथा वाक्-सूक्त (१०।१४५) अपनी दार्शनिक गम्भीरता, प्रातिभ अनुभूति तथा नवीन कल्पना के कारण नितान्त प्रसिद्ध हैं। नासदीय सूक्त विश्व

आलोचकों की दृष्टि में ऋग्वेदीय ऋषियों की अलौकिक दार्शनिक चिन्तनधारा का मौलिक परिचायक है। इस सूक्त का ऋषि जगत् की प्रारम्भिक स्थिति का वर्णन करता हुआ कह रहा है कि सृष्टि के आरम्भ में न तो असत् था और न सत्; न दिन था और न रात; सृष्टि का अभिव्यंजक कोई भी चिह्न उस समय नहीं था। सबसे पहिले 'काम' उत्पन्न हुआ—संकल्प था और इसी 'काम' की अभिव्यक्ति सृष्टि के नाना स्तरों में प्रतिफलित होती है। उस समय एक ही तत्त्व था, जो हवा के बिना भी साँस लेता था, तथा अपनी स्वाभाविक शक्ति से जीवित था—

आनीदवातं स्वधया तदेकम्।
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास॥

(मन्त्र २)

प्रातिभ अनुभूति के ऊपर अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा ही इस गम्भीर मन्त्र का गूढ़ रहस्य है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में अनेक सूक्तों के अनुशीलन से पता चलता है कि मुख्य देव या देवाधिदेव की कल्पना दृढ़मूल हो गई थी और यह प्रधान देव कहीं हिरणगर्भ, कहीं पुरुष और कहीं प्रजापति के नाम से प्रख्यात था। हिरण्यगर्भ के विषय में दशम मण्डल का वह प्रसिद्ध सूक्त है (१०।१२१), जिसका अन्तिम चरण है—"कस्मै देवाय हविषा विधेम"। इस चरण की कल्पना में वेदज्ञों की विभिन्न सम्मतियाँ हैं। पाश्चात्त्य विद्वानों की दृष्टि में इस सूक्त का द्रष्टा ऋषि सचमुच संशयालु चित्त से पूछता है कि वह किस देवता के लिए हविष् का दान तथा विधान कर रहा है? आरम्भिक युग के मानव के कौतुकाक्रान्त चित्त की दशा का द्योतक यह सूक्त प्रकट करता है कि किस प्रकार आदिम मानव उस देवता के रूप को जानना चाहता है, जिसके लिए वह हविष्य का होम करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा तदनुसारी भाष्य-कर्ताओं—निरुक्त, सायण आदि—की दृष्टि में 'कः' शब्द प्रजापति का सूचक है; 'किम्' शब्द अनिर्वचनीयता अथवा अत्यन्त सौख्य का सूचक माना गया है। फलतः नाम तथा रूप से निर्वचनीय न होने अथवा सुखरूप होने के कारण प्रजापति के लिए 'किम्' शब्द का व्यवहार नितान्त युक्ति-युक्त है। उपनिषदों में भी इसी अनिर्वचनीयता के ही कारण वह परमतत्त्व 'नेति नेति' शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। हिरण्यगर्भ अग्रे, सृष्टि के आदि में, विद्यमान था। वह उत्पन्न होनेवाले प्राणिमात्र का पति (रक्षक) था। वह पृथ्वी, आकाश तथा अन्तरिक्ष लोक—समस्त विश्व को धारण करता है, अपने महत्त्व के कारण वह जाग्रत तथा स्वप्नशील समग्र भूतों का अकेले

ही राजा (शासक) है । इतना ही नहीं, वह मृत्यु के ऊपर भी शासन करता है। अमृतत्व उसकी छाया है—(यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः), अर्थात् जैसे छाया पुरुष के पीछे दौड़ा करती है, उसी प्रकार अमृतत्व उस हिरण्यगर्भ का अनुसरण किया करता है। उसी की अध्यक्षता में सृष्टि का व्यापार चलता है; उसके पालन तथा रक्षण का काम हिरण्यगर्भ के हाथों में है। वह देवों में एक अद्वितीय देव है (देवेष्वधिदेव आसीत्) । उसी के रक्षण से द्यावा पृथिवी (क्रन्दसी) अपने अपने स्थानों पर प्रतिष्ठित हैं, तथा उसी के इस विलक्षण प्रभाव का चिन्तन किया करते हैं (मन्त्र ६) । निष्कर्ष यह है कि हिरण्यगर्भ देवाधिदेव है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

दशम मण्डल में **पुरुष-सूक्त** (१०।९०) अपनी दार्शनिकता, महनीयता, गम्भीरता तथा अन्तर्दृष्टि के लिए नितान्त विख्यात एवं अन्यतम है। इसमें पुरुष के आध्यात्मिक कल्पना का भव्य निदर्शन है। पुरुष के सहस्र (असंख्य) सिर हैं, सहस्र नेत्र तथा सहस्र पाद हैं, अर्थात् उसके सिर, नेत्र तथा पैरों के संख्या की इयत्ता नहीं है। वह इस विश्व के परिमाण से अधिक है। वह विश्व को चारों ओर से घेर कर दश अंगुल अधिक बढ़कर है। 'अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' में दशाङ्गुल केवल परिमाणाधिक्य का उपलक्षणमात्र है। विश्व के समस्त मरणशील प्राणी उसके केवल एक चतुर्थ अंशमात्र हैं। उसका अमृत त्रिपाद आकाश में है। यह इस बात का सूचक है कि वह इस विश्व को चारों ओरों से घेर कर भी इससे अत्यधिक बड़ा है। वह अमरणधर्मा प्राणियों तथा उन मरण-धर्माओं का भी—जो अन्न भोजन करने से बढ़ते हैं—शासक है। पुरुष के विषय में विलक्षण तथ्य यह है—

'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्'—(मन्त्र २) ।

अकेला पुरुष ही यह समस्त विश्व है, जो प्राचीनकाल में उत्पन्न हुआ, तथा जो आगे भविष्य में भी उत्पन्न होनेवाला है। यह सर्वेश्वरवाद (पैनथीजम) का सिद्धान्त पाश्चात्त्य विद्वानों की दृष्टि में आर्यों के प्रौढ़ धार्मिक विकास का सूचक है, तथा ऋग्वेदीय युग की अन्तिम प्रौढ़ दार्शनिक विचारधारा का परिचायक है। सृष्टि के उत्पादन में यज्ञ की कल्पना कितनी जागरूक तथा क्रियाशील होती थी; इसका परिचय इस सूक्त में उपलब्ध होता है। देवताओं ने इस पुरुष की बलि यज्ञ में की और उससे जगत् के नाना प्राणियों की उत्पत्ति हुई। इसी सूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की उत्पत्ति पुरुष के मुख, बाहु, उरु तथा पैरों से क्रमशः बतलाई गई है (मन्त्र १२) । ऋग्वेद के अन्य किसी भी मन्त्र में इन चारों वर्णों का नाम नहीं आया है, जिससे प्रतीत होता है कि

समाज में चतुर्विध वर्ण की कल्पना अवान्तर युग में उत्पन्न हुई। इस प्रकार यह सूक्त वैदिक आर्यों की सामाजिक तथा आध्यात्मिक धारणाओं का परिचायक होने से नितान्त महत्त्वशाली है।

दशम मण्डल में 'सर्वेश्वरवाद' का प्रतिपादक यही पुरुषसूक्त है। पश्चिमी विद्वानों की आलोचना में 'पुरुष एवेदं सर्वम्' की भावना बहुदेवतावाद (पाली-थीजम) तथा एक-देवतावाद (मोनोथीजम) के अनन्तर जायमान धार्मिक विकास की सूचना देती है। जो उनकी दृष्टि में इस मण्डल को अन्य मण्डलों की अपेक्षा अर्वाचीन सिद्ध कर रहा है।

---

(२)

यजुर्वेद

'आध्वर्यव' कर्म के लिए उपादेय यजुर्वेद में यजुषों का संग्रह है। 'यजुष्' शब्द की व्याख्यायें आपाततः भिन्न भले ही प्रतीत हों, परन्तु उनमें एक ही लक्षण की ओर संकेत है। 'अनियताक्षरावसानो यजुः' (अक्षरों की संख्या जिसमें नियत या निश्चित न हो), 'गद्यात्मको यजुः' तथा 'शेषे यजुःशब्दः' का तात्पर्य यही है कि ऋक् तथा साम से भिन्न गद्यात्मक मन्त्रों का ही अभिधान '**यजुः**' है।

वेद के दो सम्प्रदाय हैं—(१) **ब्रह्म सम्प्रदाय** तथा (२) **आदित्य सम्प्रदाय**। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार आदित्य-यजुः शुक्ल-यजुष् के नाम से प्रसिद्ध है, तथा याज्ञवल्क्य के द्वारा आख्यात हैं (आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते—शत० ब्रा० १४।९।५।३३)। अतः आदित्य-सम्प्रदाय का प्रतिनिधि शुक्ल यजुर्वेद है, तथा ब्रह्म-सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्ण यजुर्वेद है। यजुर्वेद के शुक्ल-कृष्णत्व का भेद उसके स्वरूप के ऊपर आश्रित है। शुक्ल यजुर्वेद में दर्शपौर्णमासादि अनुष्ठानों के लिए आवश्यक मन्त्रों का ही केवल संकलन है। उधर कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ ही साथ तन्नियोजक

ब्राह्मणों का भी संमिश्रण है। मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग का एकत्र मिश्रण ही कृष्णयजुः के कृष्णत्व का कारण है, तथा मन्त्रों का विशुद्ध एवं अमिश्रित रूप ही शुक्लयजुः के शुक्लत्व का मुख्य हेतु है। कृष्णयजुः की प्रधान शाखा 'तैत्तिरीय' नाम से प्रख्यात है, जिसके विषय में एक प्राचीन आख्यान अनेकत्र निर्दिष्ट किया गया है। गुरु वैशम्पायन के शाप से भीत योगी याज्ञवल्क्य ने स्वाधीत यजुषों का वमन कर दिया और गुरु के आज्ञा से अन्य शिष्यों ने तित्तिर का रूप धारण कर उस वान्त यजुष् का भक्षण किया। सूर्य को प्रसन्न कर उनके ही अनुग्रह से याज्ञवल्क्य ने शुक्ल-यजुष् की उपलब्धि की[1]।

पुराणों तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन से 'याज्ञवाल्क्य वाजसनेय' एक अत्यन्त प्रौढ़ तत्त्वज्ञ प्रतीत होते हैं, जिनकी अनुकूल सम्मति का उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में किया गया है (अ० ३ और ४)। ये मिथिला के निवासी थे, तथा उस देश के अधीश्वर महाराज जनक की सभा में इनका विशेष आदर और सत्कार था। इनके पिता का नाम देवराज था, जो दीनों को अन्न दान देने के कारण 'वाजसनि' के अपर नाम से विख्यात थे। इन्होंने व्यासदेव के चारों शिष्यों से वेदचतुष्टय का अध्ययन किया था; अपने मातुल वैशम्पायन ऋषि से इन्होंने यजुर्वेद का अध्ययन सम्पन्न किया था। शतपथ के प्रामाण्य पर इन्होंने उद्दालक आरुणि नामक तत्कालीन प्रौढ़ दार्शनिक से वेदान्त का परिशीलन किया था। आरुणि ने एक बार इनसे वेदान्त की प्रशंसा में कहा था कि यदि वेदान्त की शक्ति से अभिमन्त्रित जल से स्थाणु (पेड़ का केवल तना) को सींचा जाय तो उसमें भी पत्तियाँ निकल आती हैं। पुराणों से प्रतीत होता है कि योग्य शिष्यों ने गुरु के पूर्वोक्त कथन को अक्षरशः सत्य सिद्ध कर दिखलाया। इनकी दो पत्नियाँ थीं—मैत्रेयी तथा कात्यायनी। मैत्रेयी बड़ी ही विदुषी तथा ब्रह्मवादिनी थी और घर छोड़ कर वन में जाते समय याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ही ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी। प्रगाढ़ पाण्डित्य, अपूर्व योगबल तथा गाढ़ दार्शनिकता के कारण ही योगी याज्ञवल्क्य कर्मयोगी राजा जनक की विशेष अभ्यर्थना तथा सत्कार के भाजन थे[2]। यजुर्वेद में मुख्यरूपेण वैदिक कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है। इसलिए इसकी संहितायें Liturgical Vedic Samhita (कर्मकाण्डात्मक वैदिक संहिता) के नाम से विख्यात हैं।

---

१. द्रष्टव्य काण्व संहिता के सायण-भाष्य की भूमिका, श्लोक ६–१२।

२. द्रष्टव्य बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय ३ और ४।

विषय विवेचन

शुक्ल यजुर्वेद की मन्त्र-संहिता 'वाजसनेयी संहिता' के नाम से विख्यात है, जिसके ४० अध्यायों में से अन्तिम १५ अध्याय खिलरूप से प्रसिद्ध होने के कारण अवान्तर-युगीय माने जाते हैं। इस संहिता के विषय का अनुशीलन यजुर्वेद के सामान्य विषयों से परिचय कराने के लिए पर्याप्त होगा।

आरम्भ के दोनों अध्यायों में दर्श तथा पौर्णमास इष्टियों से सम्बद्ध मन्त्रों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य (चार महीनों पर होने वाले यज्ञ) के लिए उपयोगी मन्त्रों का विवरण है। चतुर्थ से लेकर अष्टम अध्याय तक सोमयागों का वर्णन है, जिसमें अग्निष्टोम का प्रकृति-याग होने के कारण नितान्त विस्तृत विवरण है। अग्निष्टोम में सोम को पत्थरों से कूटकर इसका रस चुलाते हैं और दूध मिलाकर उसे प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल अग्नि में हवन करते हैं। इसका नाम है—सवन, जो तीनों समयों के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों से विख्यात है। एक दिन में समाप्य 'एकाह' सोमयागों में 'वाजपेय' याग अन्यतम है, तथा राजा जनक के अभिषेक के अवसर पर होने वाला 'राजसूय' यज्ञ है, जिसमें द्यूत क्रीडा, अस्त्र क्रीडा आदि नाना राजन्योचित क्रियाकलापों का विधान होता है। इन दोनों यज्ञों के सम्बद्ध मन्त्र संहिता के नवम तथा दशम अध्यायों में निर्दिष्ट किये गये हैं। इसके अनन्तर आठ अध्यायों (११-१८ अ०) तक 'अग्निचयन' अर्थात् यज्ञीय होमाग्नि के लिए वेदि-निर्माण का वर्णन बड़े ही विस्तार के साथ किया गया है। वेदि की रचना १०८०० ईंटों से होती है, जो विशिष्ट स्थान से लाये जाते हैं, तथा विशिष्ट आकार के बनाये जाते हैं। वेदि की आकृति पंख फैलाये हुए पक्षी के समान होती है। ब्राह्मण मन्त्रों में वेदि और उसके विविध ईंटों के आध्यात्मिक रूप का व्याख्यान बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है।

१६ वें अध्याय में शतरुद्रीय होम का प्रसंग है, जिसमें रुद्र की कल्पना का बड़ा ही सांगोपांग विवेचन मिलता है। वैदिकों में यह 'रुद्राध्याय' अतीव उपयोगी होने से नितान्त प्रख्यात है। १८ वें अध्याय में 'वसोर्धारा' सम्बन्धी मन्त्र निर्दिष्ट हैं। इसके अनन्तर तीन अध्यायों (१९-२१ अ०) में सौत्रामणी यज्ञ का विधान है। कहा जाता है कि अधिक सोमपान करने से इन्द्र को रोग हो गया था जिसकी अश्विन् ने इस यज्ञ के द्वारा चिकित्सा की। राज्य से च्युत राजा, पशुकाम यजमान तथा सोमरस की अनुकूलता से पराङ्मुख व्यक्ति के

निमित्त इस याग का अनुष्ठान विहित है। इसकी प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण १९ वें अध्याय के महीधर भाष्य के आरम्भ में उपलब्ध है। सौत्रामणी यज्ञ में सोम-रस के साथ सुरापान का भी विधान पाया जाता है (सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्)।

अ० २२–२५ तक अश्वमेध के विशिष्ट मन्त्रों का निर्देश है। अश्वमेध सार्वभौम आधिपत्य के अभिलाषी सम्राट् के लिए विहित है। इसका सांगोपांग वर्णन शतपथ ब्राह्मण के १३ वें काण्ड में तथा कात्यायन श्रौतसूत्र (२०वें अध्याय) में है। इसी प्रसंग में वह प्रसिद्ध प्रार्थना (२२।२२) उपलब्ध होती है जिसमें यजमान अपने भिन्न-भिन्न पदार्थों के लिए उन्नति तथा वृद्धि की कामना करता है। २६–२९ अ० तक खिलमन्त्रों का संकलन है, जिससे पूर्व निर्दिष्ट अनुष्ठानों के विषय में नवीन मन्त्र दिये गये हैं। ३० वें अध्याय में 'पुरुषमेध' का वर्णन है, जिसमें १८४ पदार्थों के आलम्भन का निर्देश है। यह आलम्भन वास्तव आलम्भन न होकर केवल प्रतीकरूप में उल्लिखित है। भारत में कभी भी पुरुषमेध नहीं किया जाता था। यह केवल काल्पनिक यज्ञ है जिसमे पुरुष की नाना प्रतिनिधि-भूत वस्तुओं के लिए भिन्न-भिन्न पदार्थों में दान का विधान था, जैसे नृत्त के लिए सूत की, गीत के लिए शैलूष की, धर्म के लिए सभाचर आदि के आलम्भन की विधि है। इस अध्याय से तत्कालीन प्रचलित व्यवसाय, पेशा तथा कलाकौशल का भी यत्किञ्चित् परिचय प्राप्त होता है। ३१ वें अध्याय में प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त है, जिसमें ऋग्वेद की अपेक्षा अन्त में ६ मन्त्र अधिक उपलब्ध होते हैं। ३२ तथा ३३ अध्याय में 'सर्वमेध' के मन्त्र उल्लिखित हैं। ३२ के आरम्भ में हिरण्यगर्भ सूक्त के भी कतिपय मन्त्र उद्धृत हैं। ३४ वें अध्याय के आरम्भ में ६ मन्त्रों का 'शिवसंकल्प उपनिषद्' (तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु) मन तथा उसकी वृत्तियों के स्वरूप बतलाने में नितान्त उपादेय है। मन की महत्ता के प्रतिपादन के अनन्तर मन को 'शिवसंकल्प' होने की प्रार्थना है, जिससे उसका संकल्प (इच्छा) सर्वदा कल्याणकारी बने—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजुः ३४।६)

[जिस प्रकार शोभन सारथि अश्वों को आगे चलने के लिए प्रेरित करता है और वेगवान् उत्पथगामी घोड़ों का चाबुक से नियमन करता है, उसी प्रकार मन भी मनुष्यों को कार्यों में प्रेरित करता है, तथा उसका

नियमन भी करता है जिससे वे उन्मार्गगामी न बन जायँ। वह हमारे हृदय में प्रतिष्ठित होने वाला, जरा से रहित तथा अत्यन्त शीघ्रगामी मन शिव-संकल्प बने।]

३५ वें अध्याय में पितृमेध सम्बन्धी मन्त्रों का संकलन तथा ३६ से ३८ अध्याय तक प्रवर्ग्ययाग का विशद वर्णन है। प्रवर्ग्य में आग के ऊपर कड़ाही रख देते हैं और वह तप्त होकर बिल्कुल लाल बन जाती है जिससे वह सूर्य का प्रतीक प्रतीत होती है। तदनन्तर दूध को उबाल कर अश्विन् को समर्पण किया जाता है। पीछे यज्ञपात्रों को ऐसी स्थिति में रखते हैं जिससे मनुष्य की आकृति बन जाती है।

अन्तिम अध्याय (४० वाँ अ०) ईशावास्य उपनिषद् है, जो अपने प्रारम्भिक दो शब्दों के कारण यह नाम धारण करता है। उपनिषदों में यह लघुकाय उपनिषद् आदिम माना जाता है, क्योंकि इसे छोड़ कर कोई भी अन्य उपनिषद् संहिता का भाग नहीं है। उपनिषद् ग्रन्थों में प्राथम्य धारण करने का यही मुख्य हेतु है। इस संहिता का आदित्य के साथ घनिष्ठता का परिचय इसका अन्तिम मन्त्र देता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥
(ईशावा० ४०।१७)

काण्वसंहिता

शुक्ल यजुर्वेद की प्रधान शाखायें माध्यन्दिन तथा काण्व हैं। काण्व शाखा का प्रचार आज कल महाराष्ट्र प्रान्त में ही है और माध्यन्दिन शाखा का उत्तर भारत में, परन्तु प्राचीन काल में काण्व शाखा का अपना प्रदेश उत्तर भारत ही था, क्योंकि एक मन्त्र में (११।११) कुरु तथा पञ्चालदेशीय राजा का निर्देश संहिता में मिलता है (एष वः कुरवो राजा, एष पञ्चालो राजा)। महाभारत के आदिपर्व (६४।१८) के अनुसार शकुन्तला को पोष्यपुत्री बनाने वाले कण्व मुनि का आश्रम 'मालिनी' नदी के तीर पर था, जो आज भी उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले में 'मालन' के नाम से विख्यात एक छोटी सी नदी है। अतः काण्वों का प्राचीन सम्बन्ध उत्तर प्रदेश से होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं दृष्टिगत होती।

काण्वसंहिता का एक सुन्दर संस्करण मद्रास के अन्तर्गत किसी 'आनन्दवन' नगर से तथा औंध से प्रकाशित हुआ है जिसमें अध्यायों की संख्या ४०, अनुवाकों की ३२८ तथा मन्त्रों की २०८६ है, अर्थात् माध्यन्दिन-संहिता के

मन्त्रों (१९७५) से यहाँ १११ मन्त्र अधिक हैं। काण्व शाखा का सम्बन्ध पाञ्चरात्र आगम के साथ विशेष रूप से पाञ्चरात्र संहिताओं में सर्वत्र माना गया है[1]।

कृष्ण यजुर्वेद

उपरि निर्दिष्ट विषय-विवेचन से कृष्ण-यजुर्वेद की संहिताओं के भी विषय का पर्याप्त परिचय मिल सकता है, क्योंकि दोनों में वर्णित अनुष्ठान-विधियाँ प्रायः एक समान ही हैं। शुक्लयजुः में जहाँ केवल मन्त्रों का ही निर्देश किया गया है, वहाँ कृष्णयजुः में मन्त्रों के साथ तद्विधायक ब्राह्मण भी संमिश्रित हैं। चरणव्यूह के अनुसार कृष्णयजुर्वेद की ८५ शाखायें हैं जिनमें आज केवल ४ ही शाखायें तथा तत्सम्बद्ध पुस्तकें उपलब्ध होती हैं:—(१) तैत्तिरीय, (२) मैत्रायणी, (३) कठ, (४) कपिष्ठल-कठ शाखा।

तैत्तिरीय संहिता

तैत्तिरीय संहिता का प्रसारदेश दक्षिण भारत है। कुछ महाराष्ट्र प्रान्त तथा समग्र आन्ध्र-द्रविड देश इसी शाखा का अनुयायी है। समग्र वैदिक ग्रन्थों—संहिता, ब्राह्मण, सूत्र आदि की उपलब्धि से इसका वैशिष्ट्य स्वीकार किया जा सकता है, अर्थात् इस शाखा ने अपनी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र को बड़ी तत्परता से अक्षुण्ण बनाये रखा है। तैत्तिरीय संहिता का परिमाण कम नहीं है। यह काण्ड, प्रपाठक तथा अनुवाकों में विभक्त है। पूरी संहिता में ७ काण्ड, तदन्तर्गत ४४ प्रपाठक तथा ६३१ अनुवाक हैं। विषय वही शुक्ल—यजुर्वेद में वर्णित विषयों के समान ही पौरोडाश, याजमान, वाजपेय, राजसूय आदि नाना यागानुष्ठानों का विशद वर्णन है। आचार्य सायण की यही अपनी शाखा थी। इसीलिए तथा यज्ञ के मुख्य स्वरूप के निष्पादक होने के कारण उन्होंने इस संहिता का विद्वत्तापूर्ण भाष्य सर्व-प्रथम निबद्ध किया, परन्तु उनसे प्राचीन भाष्यकार भट्ट भास्कर मिश्र (११वीं शताब्दी) हैं, जिनका 'ज्ञान यज्ञ' नामक भाष्य प्रामाणिकता तथा विद्वत्ता में किसी प्रकार न्यून नहीं है। अधियज्ञ अर्थ के अतिरिक्त अध्यात्म तथा अधिदैव पक्षों में भी मन्त्रों का अर्थ स्थान-स्थान पर किया गया है[2]।

---

१. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—भागवत सम्प्रदाय, पृ० ११२–११३।

२. सायण भाष्य के साथ तैत्तिरीय का सं० आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला में तथा भट्ट भास्कर के भाष्य के साथ मैसूर संस्कृत ग्रन्थमाला में कई

मैत्रायणी संहिता

कृष्ण यजुर्वेद की अन्यतम शाखा मैत्रायणी शाखा की यह संहिता गद्य-पद्यात्मक है, अर्थात् कृष्ण यजुर्वेदीय संहिता के समान यहाँ भी मन्त्र तथा ब्राह्मणों का संमिश्रण है। इस संहिता में चार काण्ड हैं—(१) प्रथम (आदिम) काण्ड—११ प्रपाठकों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः दर्शपूर्णमास, अध्वर, आधान, पुनराधान, चातुर्मास्य तथा वाजपेय का वर्णन है। (२) द्वितीय (मध्यम) काण्ड के १३ प्रपाठकों में काम्य ईष्टि, राजसूय तथा अग्निचिति का विस्तृत विवरण है। (३) तृतीय (उपरि) काण्ड के १६ प्रपाठकों में अग्निचिति, अध्वर विधि, सौत्रामणी के अनन्तर अश्वमेध का विस्तृत वर्णन अन्तिम पाँच प्रपाठकों में (१२–१६) किया गया है। (४) चतुर्थ काण्ड खिल काण्ड के नाम से विख्यात है, जिसके १४ प्रपाठकों में पूर्वनिर्दिष्ट राजसूय आदि यज्ञों के विषय में अन्य आवश्यक सामग्री संकलित की गई है। समग्र संहिता में २१४४ मन्त्र हैं, जिनमें १७०१ ऋचायें ऋग्वेद से उद्धृत की गई हैं। प्रत्येक काण्ड में ऋग्वेद से मन्त्र उद्धृत हैं और ये मन्त्र ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न मण्डलों में पाये जाते हैं। यहाँ उद्धृत मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल (४१९ मन्त्र), दशम (३२३ मन्त्र) तथा षष्ठ मण्डल (१५७ मन्त्र) से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। मैत्रायणी कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध रखती है। इसलिए इस शाखा के मन्त्रों तथा ब्राह्मणों का तैत्तिरीय तथा काठक संहिता में उपलब्ध होना आश्चर्य की घटना नहीं है। अनेक मन्त्र माध्यन्दिन तथा काण्व यजुःसंहिता में भी यजुष् होने के नाते मिलते हैं।

कठसंहिता

यजुर्वेद की २७ मुख्य शाखाओं में कठ शाखा अन्यतम है। पुराणों में काठक लोग मध्यप्रदेशीय या माध्यम के नाम से विख्यात हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे प्राचीन काल में मध्य-देश में निवास करते थे। पतञ्जलि के कथानुसार कठसंहिता का प्रचार तथा पठन पाठन प्रत्येक ग्राम में था (ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च

जिल्दों में प्रकाशित हुआ है। इसका प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद डा० कीथ ने किया है—हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज नं० १७ तथा १८, प्रकाशनकाल १९१४–१५।

२. मैत्रायणी संहिता को सर्व प्रथम डा० श्रोदर ने जर्मनी से निकाला था। इधर श्री सातवलेकर ने स्वाध्याय मण्डल के द्वारा प्रकाशित किया है, औन्ध (सतारा) वि० सं० १९९८।

प्रोच्यते—महाभाष्य ४।३।१०१), जिससे प्राचीनकाल में संहिता के विपुल प्रसार का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है, परन्तु आज कल इस संहिता के अध्येताओं की संख्या नगण्य है। इसके प्रचार वाले प्रान्त का भी पता नहीं चलता[1]।

कठसंहिता में पाँच खण्ड हैं, जो क्रमशः इठिमिका, मध्यमिका, ओरिमिका, याज्यानुवाक्या काण्ड तथा अश्वमेधाद्यनुवचन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन खण्डों के टुकड़ों का नाम 'स्थानक' है, जो वैदिक साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। इस संहिता में स्थानक की संख्या ४०, अनुवचनों की १३, अनुवाकों की ८४३, मन्त्रों की ३०९१ तथा मन्त्र-ब्राह्मणों की सम्मिलित संख्या १८ हजार है।

इठिमिका के १८ स्थानकों में पुरोडाश, अध्वर, पशु-बन्ध, वाजपेय, राजसूय आदि का विस्तृत वर्णन है। मध्यमिका (१२ स्थानक) में सावित्री, पञ्चचूड, स्वर्ग, दीक्षित, आयुष्य आदि का विवेचन है। ओरिमिका काण्ड (१० स्थानक) में पुरोडाश ब्राह्मण, यजमान ब्राह्मण, सत्र, प्रायश्चित्ति, चातुर्मास्य, सव, सौत्रामणी, आदि का वर्णन है और इसी के भीतर चतुर्थ काण्ड को भी गतार्थ समझना चाहिए। अन्तिम काण्ड में १३ अनुवचन हैं।

कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं की सामान्य प्रकृति के अनुसार इस संहिता में मन्त्र तथा ब्राह्मणों का एकत्र मिश्रण है। इन निर्दिष्ट मुख्य भागों तथा इष्टियों में कतिपय प्रमुख याग ये हैं—दर्श पौर्णमास, अग्निष्टोम, अग्निहोत्र, आधान, काम्य इष्टि, निरूढ पशुबन्ध, वाजपेय, राजसूय, अग्निचयन, चातुर्मास्य, सौत्रामणी और अश्वमेध।

कृष्ण यजुर्वेद की चारों मन्त्र संहिताओं में केवल स्वरूप ही की एकता नहीं है, प्रत्युत उनमें वर्णित अनुष्ठानों तथा तन्निष्पादक मन्त्रों में भी बहुत ही अधिक साम्य है[2] और यह होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि ये भिन्न-भिन्न शाखा की मन्त्र-संहितायें एक ही मूलभूत वेद की अवान्तर शाखायें हैं, जो अध्येतृगणों की विशिष्टता तथा विभिन्नता के कारण ही भिन्न सी हो गई हैं।

---

१. संहिता का प्रथम संस्करण जर्मनी से डा० श्रोदर ने १९१० ई० में सम्पादित कर प्रकाशित किया। अन्य सं० स्वाध्याय मण्डल औंध, १९४३।

२. इसके लिए स्वाध्याय मण्डल का संस्करण देखिए जिसकी पाद टिप्पणियों में तुलनात्मक सूची दी गई है। डाक्टर कीथ ने यजुर्वेदीय समस्त संहिताओं में वर्णित यागानुष्ठानों की एक लम्बी सूची दी है जिससे इनका परस्पर सम्बन्ध भली भाँति समझा जा सकता है। देखिए कीथ : तैत्तिरीय-संहिता का अंग्रेजी अनुवाद, भूमिका पृ० ८५–१०३।

कपिष्ठल कठ-संहिता—

चरण-व्यूह के अनुसार चरकशाखा के ही अन्तर्गत कठाः प्राच्य-कठाः तथा कपिष्ठलकठाः का उल्लेख मिलता है, जिससे इसके शाखा-सम्बन्ध का पूरा परिचय मिलता है। कपिष्ठल एक ऋषि विशेष का नाम है जिसका उल्लेख पाणिनि ने 'कपिष्ठलो गोत्रे' (८।३।९१) सूत्र में किया है। दुर्गाचार्य ने भी अपने को 'कापिष्ठलो वासिष्ठः' कहा है (अहं च कापिष्ठलो वासिष्ठः—निरुक्त टीका ४।४)। सम्भवतः यह किसी स्थानविशेष का अभिधान था। इस संहिता के सम्पादक का अनुमान है कि कपिष्ठल ग्राम का वर्तमान प्रतिनिधि कोई 'कैथल' नामक ग्राम है जो कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी से थोड़ी ही दूर पूरब की ओर था। इस ग्राम का उल्लेख काशिका (ऊपर सूत्र की व्याख्या) तथा वराहमिहिर ने बृहत्संहिता (१४।४) में किया है।

इस शाखा की संहिता की एक ही प्रति और सो भी अधूरी ही उपलब्ध होती है वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के 'सरस्वती भवन' पुस्तकालय में और यहीं से इसकी प्रतिलिपि यूरोप के वैदिक विद्वानों के अनुशीलन के लिए समय समय पर भेजी गई थी[1]। काठकसंहिता से इस संहिता में अनेक बातों में पार्थक्य तथा वैभिन्य है। इसका मूल ग्रन्थ काठकसंहिता के समान होने पर भी उसकी स्वरांकन पद्धति ऋग्वेद से मिलती है। ऋग्वेद के समान ही यह अष्टक तथा अध्यायों में विभक्त है। इस प्रकार कापिष्ठल कठसंहिता पर ऋग्वेद का ही सातिशय प्रभाव लक्षित होता है। ग्रन्थ अधूरा ही है। इसमें निम्नलिखित अष्टक तथा तदन्तर्गत अध्याय उपलब्ध हैं :—

प्रथम अष्टक—पूर्ण, आठों अध्याय के साथ।

द्वितीय ,, —त्रुटित }
तृतीय ,, —त्रुटित } ९ से लेकर २४ अध्याय तक बिल्कुल त्रुटित।

चतुर्थ ,, —३२वें अध्याय को छोड़कर समस्त (२५–३१ तक) अध्याय उपलब्ध हैं, जिसमें २७वाँ अध्याय रुद्राध्याय है।

पञ्चम ,, —आदिम अध्याय (३३ अ०) को छोड़कर अन्य सातों अध्याय उपलब्ध।

षष्ठ ,, —४३वें अध्याय को छोड़कर अन्य अध्याय उपलब्ध। ४८व अध्याय पर समाप्ति।

---

१. इसी प्रति के आधार पर डा० रघुवीर ने इसका एक सुन्दर सं० लाहौर से प्रकाशित किया है मेहरचन्द सं० ग्रन्थमाला में। लाहौर, १९३२।

पाटकों को जान रखना चाहिए कि उपलब्ध अध्याय भी समग्र रूप से नहीं मिलते, प्रत्युत वे भी बीच में खण्डित तथा त्रुटित हैं। अन्य संहिताओं के साथ तुलना के निमित्त यह अधूरा भी ग्रन्थ बड़ा ही उपादेय तथा उपयोगी है। विषय शैली कटसंहिता के समान ही है।

---

(३)
सामवेद

वैदिक संहिताओं में साम का महत्त्व नितान्त गौरमय माना जाता है। बृहद्-देवता का कहना है कि जो पुरुष साम को जानता है वही वेद के रहस्य को जानता है—"सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्"। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं सामवेद को अपना ही स्वरूप बतलाया है—"वेदानां सामवेदोऽस्मि[1]"। गीता में "प्रणवः सर्ववेदेषु" तथा अनुगीता में "ओङ्कारः सर्ववेदानाम्" कह कर जो ओङ्कार के सर्व वेदों में श्रेष्ठ होने की बात कही गई है, उससे पूर्व वाक्य में किसी प्रकार का विरोध नहीं घटित होता, क्योंकि छान्दोग्य के कथनानुसार '(साम्न उद्गीथो रसः)' उद्गीथ सम्पूर्ण सामवेद का सार बतलाया गया है। यह सुप्रसिद्ध है कि उद्गीथ ओङ्कार का ही दूसरा नाम है। अतः ओङ्कार को सब वेदों में भगवद्रूप होने का तात्पर्य सामवेद के महत्त्व-प्रतिपादन में ही है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी सामवेद की प्रशस्त प्रशंसा की गई मिलती है। एक मन्त्र की स्पष्ट उक्ति है कि जो विद्वान् मनुष्य जागरणशील है उसी को साम प्राप्त होते हैं, परन्तु जो निद्रालु है वह साम-गायन में कभी प्रवीण नहीं हो सकता[2]। एक दूसरे मन्त्र में पक्षियों का गायन साम-गायन के समान मधुर बतलाया गया है[3]। अंगिरा ऋषि के साम का उल्लेख अनेक बार मिलता है[4]।

१. भगवद्गीता १०।४२।

२. यो जागार तम् ऋचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति।

(ऋ. वे. ५।४४।१४)

३. उद्गातेव शकुने साम गायसि।

ब्रह्म-पुत्र इव सवनेषु शंससि॥ ऋ० वे० २।४३।२।

४. देवाः अंगिरसां सामभिः स्तूयमानाः॥ ऋ० वे० १।१०७।२।

अथर्ववेद के अनेक स्थलों पर साम की विशिष्ट स्तुति ही नहीं की गई है, प्रत्युत परमात्मभूत 'उच्छिष्ट' (परब्रह्म) तथा स्कम्भ से इसके आविर्भाव का भी उल्लेख किया गया मिलता है। एक ऋषि पूछ रहा है कि जिस स्कम्भ के साम लोम हैं वह स्कम्भ कौन सा है[1] ? दूसरे मन्त्र में ऋक् के साथ साम का भी आविर्भाव 'उच्छिष्ट' से बतलाया गया है[2]। एक तीसरे मन्त्र में कर्म के साधनभूत ऋक् और साम की स्तुति का विधान किया गया है[3]। इस प्रशंसा के अतिरिक्त विशिष्ट सामों के अभिधान प्राचीन वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं, जिससे इन सामों की प्राचीनता निःसंदिग्ध रूप से सिद्ध होती है। ऋग्वेद में वैरूप, बृहत् रैवत, गायत्र, भद्र आदि सामों के नाम मिलते हैं। यजुर्वेद में रथन्तर, वैराज, वैखानस, वामदेव्य शाक्कर, रैवत, अभीवर्त तथा ऐतरेय ब्राह्मण में नौधस, रौरव यौधाजय, अग्निष्टोमीय आदि विशिष्ट सामों के नाम निर्दिष्ट किये गये मिलते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि साम-गायन अर्वाचीन न होकर अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है। यहाँ तक कि ऋग्वेद के समय में भी इन विशिष्ट गायनों का अस्तित्व स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है।

साम का अर्थ

साम शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया मिलता है। ऋक् मन्त्रों के ऊपर गाये जाने वाले गान ही वस्तुतः 'साम' शब्द के वाच्य हैं, परन्तु ऋक् मन्त्रों के लिए भी 'साम' शब्द का प्रयोग किया जाता है। पहिले कहा जा चुका है कि साम-संहिता का संकलन उद्गाता नामक ऋत्विज् के लिये किया गया है, तथा यह उद्गाता देवता के स्तुतिपरक मन्त्रों को ही आवश्यकतानुसार विविध स्वरों में गाता है। अतः साम का आधार ऋक् मन्त्र ही होता है यह निश्चित ही है— (ऋचि अध्यूढं साम—छा० उ० १।६।१)। ऋक् और साम के इस पारस्परिक गाढ़ सम्बन्ध को सूचित करने के लिये इन दोनों में दाम्पत्य-भाव की कल्पना भी की गई है। पति पत्नि का संतानोत्पादन के लिये आह्वान करते हुए कह रहा है कि मैं सामरूप पति हूँ, तुम ऋक् रूपा पत्नी हो; मैं आकाश हूँ और

---

१. सामानि यस्य लोमानि.............स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।
(अथर्व वेद १०।७।२०)

२. ऋचः सामानि छन्दांसि...............उच्छिष्टात्तु जज्ञिरे सर्वे।
(अ० वे० ११।७।२४)

३. ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते।
(अ० वे० ७।५४।१)

तुम पृथ्वी हो। अतः आवो, हम दोनों मिलकर प्रजा का उत्पादन करें[१]। 'गीतिषु सामाख्या' इस जैमिनिय सूत्र के अनुसार गीति को ही 'साम' संज्ञा प्रदान की गई है। छन्दोग्य उपनिषद् में 'स्वर' साम का स्वरूप बतलाया गया है[२]। अतः निश्चित है कि 'साम' शब्द से हमें उन गानों को समझना चाहिये जो भिन्न-भिन्न स्वरों में ऋचाओं पर गाये जाते हैं।

'साम' शब्द की एक बड़ी सुन्दर निरुक्ति बृहदारण्यक उपनिषद् में दी गई है—"सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्"—बृह० उ० १।३।२२। 'सा' शब्द का अर्थ है ऋक् और 'अम' शब्द का अर्थ है गान्धार आदि स्वर। अतः 'साम' शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ हुआ ऋक् के साथ संबद्ध स्वरप्रधान गायन—"तया सह संबद्धः अमो नाम स्वरः यत्र वर्तते तत्साम।" जिन ऋचाओं के ऊपर ये साम गाये जाते हैं उनको वैदिक लोग **'साम योनि'** नाम से पुकारते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस साम-संहिता का वर्णन यहाँ किया जा रहा है वह इन्हीं सामयोनि ऋचाओं का संग्रहमात्र है, अर्थात् साम-संहिता में केवल सामोपयोगी ऋचाओं का ही संकलन है, उन गायनों का नहीं जो साम के मुख्य वाच्य हैं। ये साम 'गान-संहिता' में संकलित किये गये हैं।

सामवेद का परिचय

सामवेद के दो प्रधान भाग होते हैं—आर्चिक तथा गान। आर्चिक का शाब्दिक अर्थ है ऋक् समूह, जिसके दो भाग हैं—पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक में ६ प्रपाठक या अध्याय हैं। प्रत्येक प्रपाठक में दो अर्ध या खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड में एक 'दशति' और हर एक 'दशति' में ऋचायें हैं। 'दशति' शब्द से प्रतीत होता है कि इनमें ऋचाओं की संख्या दस होनी चाहिए, परन्तु किसी खण्ड में यह दस से कम है और कहीं दस से अधिक। दशतियों में मन्त्रों का संकलन छन्द तथा देवता की एकता पर निर्भर है। ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न

---

१. "अमोऽहमस्मि सा त्वम्, सामाहमस्मि ऋक् त्वम्, द्यौरहं पृथिवी त्वम्, ताविह संभवाव, प्रजामाजनयावहै"—(बृह० उ० ६।४।२०; अ० वे० १४।२।७१, ऐ० ब्रा० ८।२७)।

२. "का साम्नो गतिः? स्वर इति होवाच"—(छा० उ० १।८।४)। "तस्य ह एतस्य साम्नो यः स्वं वेद, भवति हास्य स्वं तस्य स्वर एव स्वम्"—(बृहदा० उ० १।३।२५)।

मण्डलों के भिन्न-भिन्न ऋषियों के द्वारा दृष्ट भी ऋचायें एक देवता-वाचक होने से एकत्र संकलित की गई हैं। प्रथम प्रपाठक को आग्नेय काण्ड (या पर्व) कहते हैं, क्योंकि इसमें अग्नि-विषयक ऋग् मन्त्रों का समवाय उपस्थित किया गया है। द्वितीय से लेकर चतुर्थ अध्याय तक इन्द्र की स्तुति होने से 'ऐन्द्र-पर्व' कहलाता है। पञ्चम अध्याय को पवमान पर्व कहते हैं, क्योंकि यहाँ सोम-विषयक ऋचायें संगृहीत हैं, जो पूरी की पूरी ऋग्वेद के नवम (पवमान) मण्डल से उद्धृत की गई हैं। षष्ठ प्रपाठक को आरण्यक पर्व की संज्ञा दी गई है, क्योंकि देवताओं तथा छन्दों की भिन्नता होने पर भी इनमें गान-विषयक एकता विद्यमान है। प्रथम से लेकर पञ्चमाध्याय तक की ऋचायें तो 'ग्राम-गान' कही जाती हैं, परन्तु षष्ठ अध्याय की ऋचायें अरण्य में ही गाई जाती हैं। इसी लिए इन सब का यहाँ एकत्र संग्रह कर दिया गया है। इसके अन्त में परिशिष्ट रूप से 'महानाम्नी' नाकक ऋचायें (१०) दी गई हैं। इस प्रकार पूर्वार्चिक के मन्त्रों की संख्या छ सौ पचास (६५०) है।

उत्तरार्चिक में ९ प्रपाठक हैं। पहले पाँच प्रपाठकों में दो-दो भाग हैं, जो 'प्रपाठकार्ध' कहे जाते हैं, परन्तु अन्तिम चार प्रपाठकों में तीन-तीन अर्ध हैं। यह राणायनीय शाखा के अनुसार है। कौथुम शाखा में इन अर्धों को अध्याय तथा दशतियों को खण्ड कहने की चाल है। उत्तरार्चिक के समग्र मन्त्रों की संख्या बारह सौ पचीस (१२२५) है। अतः दोनों आर्चिकों की सम्मिलित मन्त्र-संख्या अठारह सौ पचहत्तर (१८७५) है। ऊपर कहा गया है कि साम ऋचायें ऋग्वेद से संकलित की गई हैं, परन्तु कुछ ऋचायें नितान्त भिन्न हैं, अर्थात् उपलब्ध शाकल्य-संहिता में ये ऋचायें बिल्कुल नहीं मिलतीं। यह भी ध्यान देने की बात है कि पूर्वार्चिक के २६७ मन्त्र (लगभग तृतीयांश से कुछ ऊपर ऋचायें) उत्तरार्चिक में पुनरुल्लिखित की गई हैं। अतः ऋग्वेद की वस्तुतः पन्द्रह सौ चार (१५०४) ऋचायें ही सामवेद में उद्धृत हैं। सामान्यरूपेण ७५ मन्त्र अधिक माने जाते हैं, परन्तु वस्तुतः संख्या इससे अधिक है। ९९ ऋचायें एकदम नवीन हैं, इनका संकलन सम्भवतः ऋग्वेद की अन्य शाखाओं की संहिताओं से किया गया होगा।

ऋग्वेद की ऋचायें १५०४ + पुनरुक्त २६७ = १७७१
नवीन ,, ९९ + ,, ५ = १०४
सामसंहिता की सम्पूर्ण ऋचायें = १८७५ (१८ सौ पचहत्तर)।

सामवेद की शाखायें

भागवत, विष्णुपुराण तथा वायुपुराण के अनुसार वेदव्यासजी ने अपने शिष्य जैमिनि को साम की शिक्षा दी। कवि जैमिनि ही साम के आद्य आचार्य के रूप में सर्वत्र प्रतिष्ठित हैं। जैमिनि ने अपने पुत्र सुमन्तु को, सुमन्तु ने अपने पुत्र सुन्वान् को और सुन्वान् ने स्वकीय सूनु सुकर्मा को सामवेद को संहिता का अध्ययन कराया। इस संहिता के विपुल विस्तार का श्रेय इन्हीं सामवेदाचार्य सुकर्मा को प्राप्त है। इनके दो पट्ट-शिष्य हुए—(१) हिरण्यनाभ कौशल्य तथा (२) पौष्यञ्जि, जिनसे सामगायन की द्विविध धारा—प्राच्य तथा उदीच्य का आविर्भाव सम्पन्न हुआ। प्रश्न उपनिषद् (६।१) में हिरण्यनाभ कोशल-देशीय राजपुत्र के रूप में निर्दिष्ट किये गये हैं। भागवत (१२।६।७८) ने सामगों की दो परम्पराओं का उल्लेख किया है—प्राच्यसामगाः तथा उदीच्य सामगाः। ये दोनों भौगोलिक भिन्नता के कारण नाम निर्देश हैं। इन भेदों का मूल सुकर्मा नामक सामाचार्य के शिष्यों के उद्योगों का फल है। भागवत ने सुकर्मा के दो शिष्यों का उल्लेख किया है—(१) हिरण्यनाभ (या हिरण्यनाभी) कौशल्य, (२) पौष्यञ्जि जो अवन्ति देश के निवासी होने से 'आवन्त्य' कहे गये हैं। इनमें से अन्तिम आचार्य के शिष्य 'उदीच्य सामग' कहलाते थे। हिरण्यनाभ कौशल्य की परम्परा वाले सामग 'प्राच्य सामगाः' के नाम से विख्यात हुए। प्रश्नोपनिषद् (६।१) के अनुसार हिरण्यनाभ—कोशल देश के राजपुत्र थे। फलतः पूर्वी प्रान्त का निवासी होने के कारण उनके शिष्यों को 'प्राच्य-सामगाः' नाम से विख्याति उचित ही है। हिरण्यनाभ का शिष्य पौरववंशीय सन्नतिमान् राजा का पुत्र कृत था, जिसने सामसंहिता का चौबीस प्रकार से अपने शिष्यों द्वारा प्रवर्तन किया। इसका वर्णन मत्स्यपुराण (४९ अ०, ७५–७६ श्लो०), हरिवंश (२०।४१–४४), विष्णु (४।१९–५०), वायु (४१।४४), ब्रह्माण्ड पुराण (३५।४९–५०), भागवत (१२।६।८०) में समान शब्दों में किया गया है। वायु तथा ब्रह्माण्ड में कृत के चौबीस शिष्यों के नाम भी दिये गये हैं। कृत के अनुयायी होने के कारण ये साम-आचार्य 'कार्ताः' नाम से प्रख्यात थे—

> **चतुर्विंशतिधा येन प्रोक्ता वै सामसंहिताः।**
> **स्मृतास्ते प्राच्यसामानः कार्ता नामेह सामगाः॥**
>
> (मत्स्य, ४९।७६)

इनके लौगाक्षि, माङ्गलि, कुल्य, कुसीद तथा कुक्षि नामक पाँच शिष्यों के नाम श्रीमद्भागवत (१२।६।७९) में दिये गये हैं, जिन्होंने सौ-सौ सामसंहिताओं का अध्यापन प्रचलित कराया। वायु तथा ब्रह्माण्ड के अनुसार इन शिष्यों के नाम तथा संख्या में पर्याप्त भिन्नता दीख पड़ती है। इनका कहना है कि पौष्यिञ्जि के चार शिष्य थे—लौगाक्षि, कुथुमि, कुसीदी तथा लाङ्गलि, जिनकी विस्तृत शिष्य परम्परा का विवरण इन पुराणों में विशेषरूप से दिया गया है। नाम-धाम में जो कुछ भी भिन्नता हो, इतना तो निश्चित सा प्रतीत होता है कि सामवेद के सहस्र शाखाओं से मण्डित होने में सुकर्मा के ही दोनों शिष्य—हिरण्यनाभ तथा पौष्पिञ्जि—प्रधानतया कारण थे। पुराणोपलब्ध सामप्रचार का यही संक्षिप्त वर्णन है।

सामवेद की कितनी शाखायें थीं? पुराणों के अनुसार पूरी एक हजार, जिसकी पुष्टि पतञ्जलि के 'सहस्रवर्मा सामवेदः' वाक्य से भली-भांति होती है। सामवेद गानप्रधान है। अतः संगीत की विपुलता तथा सूक्ष्मता को ध्यान में रखकर विचारने से यह संख्या कल्पित सी नहीं प्रतीत होती, परन्तु पुराणों में कहीं भी इन सम्पूर्ण शाखाओं का नामोल्लेख उपलब्ध नहीं होता। इसलिये अनेक आलोचकों की दृष्टि में 'वर्त्म' शब्द शाखावाची न होकर केवल सामगायनों की विभिन्न पद्धतियों को सूचित करता है। जो कुछ भी हो, साम की विपुल बहुसंख्यक शाखायें किसी समय अवश्य थीं, परन्तु दैवदुर्योग से उनमें से अधिकांश का लोप इस ढंग से हो गया कि उनके नाम भी विस्मृतिके गर्त में विलीन हो गये।

आजकल प्रपञ्चहृदय, दिव्यावदान, चरणव्यूह तथा जैमिनि गृह्यसूत्र (१।१४) के पर्यालोचन से १३ शाखाओं के नाम मिलते हैं। सामतर्पण के अवसर पर इन आचार्यों के नाम तर्पण का विधान मिलता है—राणायन-सत्यमुग्र-व्यास-भागुरि-औलुण्डि-गौल्मुलवि-भानु-मानौपमन्यव-काराटि-मशक-गार्ग्य-वार्षगण्य-कौथुमि-शालिहोत्र-जैमिनि-त्रयोदशैते मे सामगाचार्याः स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः। इन तेरह आचार्यों में से आजकल केवल तीन ही आचार्यों की शाखायें मिलती हैं—(१) कौथुमीय, (२) राणायनीय तथा (३) जैमिनीय। एक बात ध्यान देने योग्य है कि पुराणों में उदीच्य तथा प्राच्य सामगों के वर्णन होने पर भी आजकल न उत्तर भारत में साम का प्रचार है, न पूर्वी भारत में; प्रत्युत दक्षिण तथा पश्चिम भारत में आज भी इन शाखाओं का यत्किञ्चित् प्रचार है। संख्या तथा प्रचार की दृष्टि से कौथुम शाखा विशेष महत्त्वपूर्ण है।

इसका प्रचलन गुजरात के ब्राह्मणों में, विशेषतः नागर ब्राह्मणों में है। राणायनीय शाखा महाराष्ट्र में तथा जैमिनीय सुदूर दक्षिण भारत के तिन्नेवेली और तञ्जोर जिले में मिलती जरूर है, परन्तु इनके अनुयायियों की संख्या कौथुमों की अपेक्षा अल्पतर है।

(१) **कौथुम शाखा**—इसकी संहिता सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसी का विस्तृत वर्णन पहले किया जा चुका है। इसी की **ताण्ड्य** नामक शाखा भी मिलती है, जिसका किसी समय विशेष प्रभाव तथा प्रसार था। शङ्कराचार्य ने वेदान्त-भाष्य के अनेक स्थलों पर इसका नाम निर्देश किया है[१], जो इसके गौरव तथा महत्त्व का सूचक है। पचीस काण्डात्मक विपुलकाय ताण्ड्य-ब्राह्मण इसी शाखा का है। सुप्रसिद्ध छान्दोग्य उपनिषद् भी इसी शाखा से सम्बन्ध रखती है[२]। इसका निर्देश शङ्कराचार्य ने भाष्य में स्पष्टतः किया है।

(२) **राणायनीय शाखा**—इनकी संहिता कौथुमों से कथमपि भिन्न नहीं है। दोनों मन्त्र-गणना के हिसाब से एक ही हैं। केवल उच्चारण में कहीं-कहीं पार्थक्य उपलब्ध होता है। कौथुमीय लोग जहाँ 'हाउ' तथा 'राइ' कहते हैं, वहाँ राणायनीय गण 'हावु' तथा 'रायी' उच्चारण करते हैं। राणायनीयों की एक अवान्तर शाखा **सात्यमुग्रि** है जिसकी एक उच्चारणविशेषता भाषा-विज्ञान की दृष्टि से नितान्त आलोचनीय है। आपिशली शिक्षा[३] तथा महाभाष्य[४] ने स्पष्टतः निर्देश किया है कि सात्यमुग्रि लोग एकार तथा ओकार का ह्रस्व उच्चारण किया करते थे। आधुनिक भाषाओं के जानकारों को याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि प्राकृत भाषा तथा आधुनिक प्रान्तीय अनेक भाषाओं में 'ए' तथा 'ओ' का उच्चारण ह्रस्व भी किया जाता है। इस विशेषता की इतनी प्राचीन और लम्बी परम्परा है; भाषाविदों के लिए यह ध्यान देने की वस्तु है।

---

१. "अन्येऽपि शाखिनः ताण्डिनः शाट्यायिनः"—(शां० भा० ३।३।२७)।
२. "यथा ताण्डिनामुपनिषदि षष्ठे प्रपाठके स आत्मा"–(शां० भा० ३।३।३६)। =स आत्मा···छान्दोग्य उपनिषद् (६।८।७) का एक विख्यात अंश है।
३. "छान्दोगानां सात्यमुग्रि राणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति"—(अपि० शि०)।
४. "ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रि राणायनीया अर्धमेकारं···अर्धमोकारञ्च अधीयते। सुजाते ए अश्वसूनृते। अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्—(साम वेद १।६।२।३); शुक्रं ते ए अन्यद्यजतम्—(साम १।१।८।३)।"
(महाभाष्य १।१।४, ४८)।

(३) जैमिनीय शाखा—हर्ष का विषय है कि इस मुख्य शाखा के समग्र अंश—संहिता, ब्राह्मण, श्रौत तथा गृह्यसूत्र—आजकल उपलब्ध हो गये हैं। जैमिनीय संहिता नागराक्षर में भी लाहौर से प्रकाशित हुई है। इसके मन्त्रों की संख्या १६८७ है, अर्थात् कौथुम शाखा से एक सौ बयासी (१८२) मन्त्र कम हैं। दोनों में पाठभेद भी नाना प्रकार के हैं। उत्तरार्चिक में ऐसे अनेक नवीन मन्त्र हैं जो कौथुमीय संहिता में उपलब्ध नहीं होते[1], परन्तु जैमिनीयों के सामगान कौथुमों से लगभग एक हजार अधिक हैं। कौथुमगान केवल २७२२ हैं, परन्तु इनके स्थान पर जैमिनीय गान छत्तीस सौ इक्यासी (३६८१) हैं। इन गानों के प्रकाशन होने पर दोनों की तुलनात्मक आलोचना से भाषाशास्त्र के अनेक सिद्धान्तों का परिचय मिलेगा। तवल्कार शाखा इसकी अवान्तर शाखा है, जिससे लघुकाय, परन्तु महत्त्वशाली केनोपनिषद् सम्बद्ध है। ये तवल्कार जैमिनि के शिष्य बतलाए जाते हैं।

ब्राह्मण तथा पुराण के अध्ययन से पता चलता है कि साममन्त्रों, उनके पदों तथा सामगानों की संख्या अद्यावधि उपलब्ध अंशों से कहीं बहुत ही अधिक थी। शतपथ में साममन्त्रों के पदों की गणना ४ सहस्र बृहती बतलाई गई है[2], अर्थात् ४ हजार × ३६ = १४४०००, अर्थात् साममन्त्रों के पद एक लाख ४४ हज़ार थे। पूरे सामों की संख्या थी आठ हजार तथा गायनों की संख्या थी चौदह हजार आठ सौ बीस १४८२०[3]। अनेक स्थलों पर बार बार उल्लेख से यह संख्या अप्रामाणिक नहीं प्रतीत होती। इस गणना में अन्य शाखाओं के सामों की संख्या अवश्य ही सम्मिलित की गई है।

---

१. द्रष्टव्य श्रीपाद सातवलेकर द्वारा सम्पादित सामवेद का परिशिष्ट भाग, पृ० २८६–२९७।

२. "अथेतरौ वेदौ व्यौहत्। द्वादशैव बृहती सहस्राणि अष्टौ यजुषां चत्वारि साम्नाम्"—(बृह० १०।४।२।२३)

३. अष्टौ साम सहस्राणि छन्दोगार्चिकसंहिता।
गानानि तस्य वक्ष्यामि सहस्राणि चतुर्दश॥
अष्टौ शतानि ज्ञेयानि दशोत्तरं दशैव च।
ब्राह्मणं चोपनिषदं सहस्रं त्रितयं तथा॥

(चरणव्यूहे)

सामगान पद्धति

इन्हीं सामयोनि मन्त्रों का आश्रय लेकर ऋषियों ने गान मन्त्रों की रचना की है। ये चार प्रकार के होते है—(१) (ग्राम) गेय गान (जिसे 'प्रकृति-गान' तथा 'वेय गान' भी कहते हैं); (२) आरण्यक-गाम, (३) ऊहगान और (४) ऊह्य-गान (या रहस्य-गान)। इन गानों में वेय-गान पूर्वार्चिक के प्रथम पाँच अध्याय के मन्त्रों के ऊपर होता है। अरण्य गान आरण्यक पर्व में निर्दिष्ट मन्त्रों का, ऊह और ऊह्य-गान उत्तरार्चिक में उल्लिखित मन्त्रों का मुख्यतया होता है। भिन्न-भिन्न शाखाओं में इन गानों की संख्या भिन्न-भिन्न है। सबसे अधिक गान जैमिनीय शाखा में उपलब्ध होते हैं। यथा—

	कौथुमीय गान	जैमिनीय गान
वेयगान	११९७	१२३२
अरण्यगान	२९४	२९१
ऊहगान	१०२६	१८०२
ऊह्यगान	२०५	३५६
कुलयोग	२७२२	३६८१

भारतीय संगीतशास्त्र का मूल इन्हीं साम गायनों पर अवलम्बित है। भारतीय संगीत जितना सूक्ष्म, बारीक तथा वैज्ञानिक है वह संगीत के समझदारों से अपरचित नहीं है, परन्तु विद्वज्जनों की अवहेलना के कारण उसकी इतनी बड़ी दुरवस्था आजकल उपस्थित है कि उसके मौलिक सिद्धान्तों को समझना एक बड़ी विषम समस्या है। साम-गायन की पद्धति के रहस्य का ज्ञान उसी प्रकार दुरूह है। एक तो यों ही साम के जानने वाले कम हैं तिस पर सामगानों को ठीक स्वरों में गाने वालों की संख्या तो उँगलियों पर गिनने लायक है, परन्तु फिर भी जानने वालों का नितान्त अभाव नहीं है। यदि गायक के गले में लोच हो और वह उचित मूर्छना, आरोह और अवरोह का विचार कर सामगायन करे, तो विचित्र आनन्द आता है। वह साम मन्त्रार्थ न जानने पर भी हृदय को बरबस खींच लेता है। इसके लिए साम-वेदीय शिक्षाओं की शिक्षा परमावश्यक है।

नारद शिक्षा के अनुसार साम के स्वरमण्डल इतने हैं—७ स्वर, ३ ग्राम, २१ मूर्छना तथा ४९ तान। इन सात स्वरों की तुलना वेणु-स्वर से इस प्रकार है—

साम	वेणु
१ प्रथम	माध्यम । म
२ द्वितीय	गान्धार । ग
३ तृतीय	ऋषभ । रे
४ चतुर्थ	षड्ज । सा
५ पञ्चम	निषाद । नि
६ षष्ठ	धैवत । ध
७ सप्तम	पञ्चम । प

सामगानों में ये ही ७ तक के अंक तत्तत् स्वरों के स्वरूप को सूचित करने के लिए लिखे जाते हैं। साम-योनि मन्त्रों के ऊपर दिये गये अङ्कों की व्यवस्था दूसरे प्रकार की होती है। सामयोनि मन्त्रों के सामगानों के रूप में ढालने पर अनेक संगीतानुकूल शाब्दिक परिवर्तन किये जाते हैं। इन्हें 'सामविकार' कहते हैं, जो संख्या में ६ प्रकार के होते हैं—

(१) विकार = शब्द का परिवर्तन। 'अग्ने' के स्थान पर ओग्नायि।

(२) विश्लेषण = एक पद का पृथक्करण, यथा 'वीतये' के स्थान पर 'वोयि तोया २ यि'।

(३) विकर्षण = एक स्वर का दीर्घ काल तक विभिन्न उच्चारण; ये = या २३ यि।

(४) अभ्यास = किसी पद का बार-बार उच्चारण, यथा 'तोयायि' का दो बार उच्चारण।

(५) विराम = सुभीते के लिए किसी पद के बीच में ठहर जाना, यथा 'गृणानो हव्यदातये' में ह पर विराम लेना।

(६) स्तोभ = औ, होवा, हाउआ आदि गानानुकूल पद।

ये विकार भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी नितान्त मननीय हैं।

साम का परिचय

'साम' रूढ़ शब्द है, जिसका अर्थ गान अथवा गीति है, जैसा कि जैमिनि ने 'गीतिषु सामाख्या' (जै० सू० २।१।३६) में बतलाया है। गान-विशेष का रथन्तर, बृहत् आदि नामकरण है। सामान्यवाची 'साम' शब्द है और रथन्तर, बृहत् आदि शब्द गानविशेष के वाचक हैं। रथन्तर, बृहत् आदि नाम-करण का प्रयोजक अध्येतृ-प्रसिद्धि ही है। गायत्र्यादि सभी छन्दों में सामगान है।

उदाहरणार्थ—'अग्न आयाहि वीतये' (छंद आर्चिक १।१।१) इस गायत्री-छन्दस्क ऋचा पर वेयगान १।१।१ में साम है। 'पुरुत्वादाशिव' (छं० आ० २।१।१) इस उष्णिक् छन्दस्क ऋचा पर वेयगान ३।१।९ में साम है। 'अग्न ओजिष्ठमाभर' (छं० आ० १।२।२७) इस अनुष्टुप् छन्दवाली ऋचा पर वेयगान के २।२।१९ में साम है। 'यज्ञायज्ञा वो' (छं० आ० १।१।३५) इस बृहती छन्द की ऋचा पर वेयगान १।२।२२ में साम है। 'स्वादोरित्था विषूवतो' (छं० आ० ५।१।१९) इस पङ्क्तिछन्दस्क ऋचा पर वेयगान ११।१।६ में, 'आ जुहोता हविषा' (छं० आ० १।२।९) इस त्रिष्टुप् छन्द की ऋचा पर वेयगान २।१।३४ में, 'चित्र इच्छिशो० (छं० आ० १।२।१०) इस जगती छन्द की ऋचा पर वेयगान २।१।३५ में साम है। इसी प्रकार अतिजगती, शक्करी, अतिशक्करी, अष्टि तथा अत्यष्टि नामक अतिछन्दक ऋचाओं पर भी साम है।

सामवेदीय शाखाओं का संहिता भाग में पार्थक्य कौथुमी एवं जैमिनीय शाखा के संहिता-ग्रन्थों को देखने से प्रतीत होता है। इसी प्रकार गान-भाग में भी पार्थक्य है, किंवा नहीं ? यह अनुभवराहित्य के कारण निश्चित रूप से कहना कठिन है। संभव है कि संहिता भाग में पार्थक्य की तरह गान-भाग में भी कुछ वैशिष्ट्य हो। कौथुमी शाखा से भिन्न जैमिनीय शाखा के कुछ मन्त्र ऋग्वेद संहिता में मिलते हैं। सामों का परस्पर वैशिष्ट्य विकार, विश्लेषण, विकर्षण, अभ्यास, विराम तथा स्तोभ के कारण होता है।

यज्ञों में औद्गातृगण के चारों ऋत्विजों के कर्मकलापों में कहीं-कहीं भिन्नता और कहीं-कहीं सहकारित्व है। इसका विधान श्रौतसूत्रों द्वारा अवगत हो सकता है। सामों का यज्ञों में कहीं-कहीं केवल प्रस्तोता के लिए, तो कहीं उद्गाता के लिए गान करने का विधान है और कहीं-कहीं प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव तथा निधन रूप से ५ भाग करके विभिन्न अंश विभिन्न ऋत्विक् को उच्चारण करने की विधि है।

पूर्वार्चिक का उत्तरार्चिक से यही सम्बन्ध है कि उत्तरार्चिक में जो प्रगाथ किंवा तीन-चार ऋचाओं के सूक्त हैं, उनमें अधिकतर पहली ऋचाएँ पूर्वार्चिक में पठित हैं। पूर्वार्चिक में नानाविध सामों की योनिभूत ऋचाएँ पठित हैं और उत्तरार्चिक में प्रगाथ तथा तृचादि सूक्त पठित हैं। एक प्रगाथात्मक या तृचाद्यात्मक सूक्त में पूर्वार्चिकान्तर्गत योनिभूत ऋक् पहली है और अन्य दो उत्तर ऋचाएँ हैं। पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक के सम्बन्ध को लेकर पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्तरूपेण मीमांसा की है। डाक्टर कैलेण्ड तो कभी

(ऋ० ९।१०७।४; सा० सं० ५११) के ऊपर गाये जाते हैं। इससे उतर कर सामों की दूसरी बड़ी संख्या ५९ है, जो 'पुरोजिती वो अंधस' (सा० सं० ५४५) ऋचा के ऊपर अधिष्ठित होते हैं। तीसरी संख्या ४८ सामों की है, जो 'यो धारया पावकया' (सा० सं० ६९८) के ऊपर गाये जाते हैं। २९ सामों को रखनेवाली ऋचायें तो संख्या में अनेक हैं[1]। इन विशिष्ट सामों की स्थिति तथा संख्या का नियम प्राचीन वैदिक परम्परा के ऊपर आश्रित है।

स्तोभ तथा विष्टुति

शस्त्र तथा स्तोत्र में अन्तर होता है। शस्त्र का लक्षण है 'अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रम्'—अर्थात् विना गाये गए मन्त्रों के द्वारा सम्पादित स्तुति। 'शस्त्र' ऋग्वेद में होता है और स्तोत्र सामवेद में। स्तोत्र का स्पष्ट अर्थ है—'प्रगीत-मन्त्र-साध्या स्तुतिः स्तोत्रम्।' स्तोभ भी स्तुति का ही एक प्रकारान्तर है। स्तोभों का प्रयोग भी यज्ञ यागों में होता था। इनका विशेष वर्णन ताण्ड्यब्राह्मण में किया गया है। स्तोभ की संख्या नौ है—(१) त्रिवृत्, (२) पञ्चदश, (३) सप्तदश, (४) एकविंश, (५) त्रिणव, (६) त्रयस्त्रिंश, (७) चतुर्विंश, (८) चतुश्चत्वारिंश तथा (९) अष्टचत्वारिंश। ये स्तोभ प्रायः तृच पर हुआ करते हैं। इन तृचों को तीन पर्याय में गाने का है और प्रत्येक पर्याय में तृचों पर साम के गान की आवृत्ति का नियम है। इस प्रकार तृतीय पर्याय में स्तोभ का स्वरूप निष्पन्न हो जाता है। इस आवृत्ति-जन्य गान के प्रकार की संज्ञा 'विष्टुति' (=विशेष स्तुति) है। इन नवों स्तोभों की समग्र विष्टुतियाँ संख्या में २८ हैं जिनका विशेष वर्णन ताण्ड्य-ब्राह्मण के द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में दिया गया है।

उदाहरणार्थ 'पञ्चदशस्तोभ' को लीजिए। इसकी तीन विष्टुतियाँ होती हैं। प्रत्येक विष्टुति में तृच की प्रत्येक ऋचा का गायन तीन पर्याय में सिद्ध होता है। प्रतिपर्याय में ५ बार गायन होता है, जिससे मिलाकर पूरा गायन १५ बार सम्पन्न होता है। प्रथम पर्याय में पहली ऋचा को तीन बार तथा दूसरी और तीसरी को एक-एक बार गाना पड़ता है। द्वितीय पर्याय में प्रथम तथा तृतीय ऋचा को एक-एक बार और द्वितीय ऋचा को तीन बार गाना चाहिए। तृतीय पर्याय में प्रथम द्वितीय ऋचा एक-एक बार तथा तृतीय ऋचा को तीन बार गाना होता है।

---

१. द्रष्टव्य सातवडेकर द्वारा सम्पादित 'सामवेद' पृ० २२५ (औध. १९४२)।

भली भाँति चलता है। वेयगान का दूसरा नाम है—ग्रामे गेय गान, अर्थात् वह ग्राम में, समाज में गाने योग्य होता है, परन्तु 'आरण्य-गान' के अन्तर्गत साम अरण्य में ही गाने योग्य होते हैं। सामवेदियों की मान्यता है कि आरण्य-गान के स्तोभ इतने विलक्षण तथा विचित्र हैं कि ग्राम में गाने पर उनसे अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। वे इतने पवित्र होते हैं कि अरण्य के पूत वातावरण में ही उनका उचित गायन किया जा सकता है और उचित प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। 'ऊह' का अर्थ है ऊहन, किसी अवसरविशेष पर मन्त्रों का सामयिक परिवर्तन। इसी व्याख्या के अनुसार 'ऊह-गान' सोमयाग के अवसर पर प्रयोजनीय सामों का नाम है। 'ऊह्य-गान' का पूरा नाम ऊह्य-रहस्य-गान है, तथा रहस्यात्मक होने के कारण ही ये 'अरण्य-गान' के विकृति-गान माने जाते हैं। अरण्य के समान ये गान भी रहस्यात्मक होते हैं और इसीलिए सर्व-साधारण के सामने समाज के भीतर इनका गायन निषिद्ध माना जाता है।[1]

मन्त्रों पर साम निश्चित ही है। किस ऋचा पर कौन से तथा कितने साम होंगे? इसका निश्चय वैदिकों की परम्परा से होता आया है। साम अनियत नहीं, किन्तु नियत हैं। नियमन का बीज वैदिक प्रसिद्धि ही मानना उचित है। सामवेद में पठित समग्र ऋचाओं पर साम हों, ऐसा कोई नियम नहीं है। कतिपय ऋचाओं पर साम का सर्वथा अभाव है। ये ऋचायें उत्तरार्चिक में ही पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ 'यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव' (सामवेद सं० १८६६), 'भद्र कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' (सामवेद सं० १८७४), 'आशुः शिशानो वृषभो न भीमः' (साम० सं० १८४९) ऋचाओं पर कोई भी गान गानग्रन्थों में नहीं दिये गये हैं। ऋचा-विशेष पर सामों की संख्या भी वैदिक प्रसिद्धि से नियत ही है। ऐसी अनेक ऋचायें मिलती हैं जिनके ऊपर चारों प्रकार के गान होते हैं और वे भी अनेक प्रकार के मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'अया रुचा हरिण्या' (सा० सं० ४६३) तथा 'अयं पूषा रयिर्भगः' (सा० सं० ५४६ तथा ८१८) के ऊपर पूर्वोक्त चारों प्रकार के गान मिलते हैं। द्वितीय ऋचा पर तो समग्र सामों की संख्या २५ है। इतना ही नहीं, एक ऋचा के ऊपर प्रयुक्त सामों की सबसे बड़ी संख्या ६१ है, जो 'पुनानः सोम धारया'

---

१. इन गानग्रन्थों का संग्रह पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने सामवेद के प्रकाण्ड संस्करण (५ जिल्दों में) किया है। हाल में सातवलेकर ने वेय तथा अरण्यगान को एक साथ प्रकाशित किया है (औंध, १९४२)।

(ऋ० ९।१०७।४; सा० सं० ५११) के ऊपर गाये जाते हैं। इससे उतर कर सामों की दूसरी बड़ी संख्या ५९ है, जो 'पुरोजिती वो अंधस' (सा० सं० ५४५) ऋचा के ऊपर अधिष्ठित होते हैं। तीसरी संख्या ४८ सामों की है, जो 'यो धारया पावकया' (सा० सं० ६९८) के ऊपर गाये जाते हैं। २५ सामों को रखनेवाली ऋचायें तो संख्या में अनेक हैं[1]। इन विशिष्ट सामों की स्थिति तथा संख्या का नियम प्राचीन वैदिक परम्परा के ऊपर आश्रित है।

स्तोभ तथा विष्टुति

शस्त्र तथा स्तोत्र में अन्तर होता है। शस्त्र का लक्षण है 'अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रम्'—अर्थात् विना गाये गए मन्त्रों के द्वारा सम्पादित स्तुति। 'शस्त्र' ऋग्वेद में होता है और स्तोत्र सामवेद में। स्तोत्र का स्पष्ट अर्थ है—'प्रगीत-मन्त्र-साध्या स्तुतिः स्तोत्रम्।' स्तोभ भी स्तुति का ही एक प्रकारान्तर है। स्तोभों का प्रयोग भी यज्ञ यागों में होता था। इनका विशेष वर्णन ताण्ड्यब्राह्मण में किया गया है। स्तोभ की संख्या नौ है—(१) त्रिवृत्, (२) पञ्चदश, (३) सप्तदश, (४) एकविंश, (५) त्रिणव, (६) त्रयस्त्रिंश, (७) चतुर्विंश, (८) चतुश्चत्वारिंश तथा (९) अष्टचत्वारिंश। ये स्तोभ प्रायः तृच पर हुआ करते हैं। इन तृचों को तीन पर्याय में गाने का है और प्रत्येक पर्याय में तृचों पर साम के गान की आवृत्ति का नियम है। इस प्रकार तृतीय पर्याय में स्तोभ का स्वरूप निष्पन्न हो जाता है। इस आवृत्ति-जन्य गान के प्रकार की संज्ञा 'विष्टुति' (=विशेष स्तुति) है। इन नवों स्तोभों की समग्र विष्टुतियाँ संख्या में २८ हैं जिनका विशेष वर्णन ताण्ड्य-ब्राह्मण के द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में दिया गया है।

उदाहरणार्थ 'पञ्चदशस्तोभ' को लीजिए। इसकी तीन विष्टुतियाँ होती हैं। प्रत्येक विष्टुति में तृच की प्रत्येक ऋचा का गायन तीन पर्याय में सिद्ध होता है। प्रतिपर्याय में ५ बार गायन होता है, जिससे मिलाकर पूरा गायन १५ बार सम्पन्न होता है। प्रथम पर्याय में पहली ऋचा को तीन बार तथा दूसरी और तीसरी को एक-एक बार गाना पड़ता है। द्वितीय पर्याय में प्रथम तथा तृतीय ऋचा को एक-एक बार और द्वितीय ऋचा को तीन बार गाना चाहिए। तृतीय पर्याय में प्रथम द्वितीय ऋचा एक-एक बार तथा तृतीय ऋचा को तीन बार गाना होता है।

---

१. द्रष्टव्य सातवडेकर द्वारा सम्पादित 'सामवेद' पृ० २२४ (औंध, १९४२)।

भली भाँति चलता है। वेयगान का दूसरा नाम है—ग्रामे गेय गान, अर्थात् वह ग्राम में, समाज में गाने योग्य होता है, परन्तु 'आरण्य-गान' के अन्तर्गत साम अरण्य में ही गाने योग्य होते हैं। सामवेदियों की मान्यता है कि आरण्य-गान के स्तोभ इतने विलक्षण तथा विचित्र हैं कि ग्राम में गाने पर उनसे अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। वे इतने पवित्र होते हैं कि अरण्य के पूत वातावरण में ही उनका उचित गायन किया जा सकता है और उचित प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। 'ऊह' का अर्थ है ऊहन, किसी अवसरविशेष पर मन्त्रों का सामयिक परिवर्तन। इसी व्याख्या के अनुसार 'ऊह-गान' सोमयाग के अवसर पर प्रयोजनीय सामों का नाम है। 'ऊह्य-गान' का पूरा नाम ऊह्य-रहस्य-गान है, तथा रहस्यात्मक होने के कारण ही ये 'अरण्य-गान' के विकृति-गान माने जाते हैं। अरण्य के समान ये गान भी रहस्यात्मक होते हैं और इसीलिए सर्व-साधारण के सामने समाज के भीतर इनका गायन निषिद्ध माना जाता है।[१]

मन्त्रों पर साम निश्चित ही है। किस ऋचा पर कौन से तथा कितने साम होंगे? इसका निश्चय वैदिकों की परम्परा से होता आया है। साम अनियत नहीं, किन्तु नियत हैं। नियमन का बीज वैदिक प्रसिद्धि ही मानना उचित है। सामवेद में पठित समग्र ऋचाओं पर साम हों, ऐसा कोई नियम नहीं है। कतिपय ऋचाओं पर साम का सर्वथा अभाव है। ये ऋचायें उत्तरार्चिक में ही पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ 'यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव' (सामवेद सं० १८६६), 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' (सामवेद सं० १८७४), 'आशुः शिशानो वृषभो न भीमः' (साम० सं० १८४९) ऋचाओं पर कोई भी गान गानग्रन्थों में नहीं दिये गये हैं। ऋचा-विशेष पर सामों की संख्या भी वैदिक प्रसिद्धि से नियत ही है। ऐसी अनेक ऋचायें मिलती हैं जिनके ऊपर चारों प्रकार के गान होते हैं और वे भी अनेक प्रकार के मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'अया रुचा हरिण्या' (सा० सं० ४६३) तथा 'अयं पूषा रयिर्भगः' (सा० सं० ५४६ तथा ८१८) के ऊपर पूर्वोक्त चारों प्रकार के गान मिलते हैं। द्वितीय ऋचा पर तो समग्र सामों की संख्या २५ है। इतना ही नहीं, एक ऋचा के ऊपर प्रयुक्त सामों की सबसे बड़ी संख्या ६१ है, जो 'पुनानः सोम धारया'

---

१. इन गानग्रन्थों का संग्रह पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने सामवेद के प्रकाण्ड संस्करण (५ जिल्दों में) किया है। हाल में सातवलेकर ने वेय तथा अरण्यगान को एक साथ प्रकाशित किया है (औंध, १९४२)।

अथर्ववेद की शाखायें

पुराण के अनुसार वेदव्यासजी ने जिस शिष्य को अथर्व का अध्ययन कराया उनका नाम था—सुमन्तु[1]। भागवत में अभिचार-प्रधान वेद के मुख्य प्रचारक होने के कारण सुमन्तु 'दारुण मुनि' की उपाधि से विभूषित किये गये हैं। सुमन्तु ने दो संहितायें अपने शिष्य कबन्ध को दीं, जिनके दो पट्टशिष्य थे—पथ्य और देवदर्श। पथ्य के तीन शिष्य थे—(१) जाजलि, (२) कुमुद, (३) शौनक और देवदर्श के चार शिष्य थे—(१) मोद, (२) ब्रह्मबलि, (३) पिप्पलाद, (४) शौष्कायनि (या शौक्लायनि)। इनमें शौनक के शिष्य बभ्रु तथा सैन्धवायन बतलाये जाते हैं। इन्हीं मुनियों द्वारा अथर्ववेद का विशेष प्रचार सम्पन्न हुआ।

पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में 'नवधाऽऽथर्वणो वेदः' लिखकर इस वेद की ९ शाखाओं का उल्लेख किया है। प्रपञ्चहृदय, चरणव्यूह तथा सायण-भाष्य के उपोद्घात में शाखाओं की संख्या में अभिन्नता होने पर भी इनके नामों में महती भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इनकी तुलना करने पर इनके अभिधान इस प्रकार ठीक जमते हैं :—

(१) पिप्पलाद, (२) स्तौद (या तौद), (३) मौद, (४) शौनकीय, (५) जाजल, (६) जलद, (७) ब्रह्मवद, (८) देवदर्श तथा (९) चारण वैद्य। इन शाखाओं में पिप्पलाद तथा शौनक के अनुसार कतिपय ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। अन्य शाखाओं का तो नाममात्र शेष है।

(१) **पिप्पलाद**—पिप्पलाद मुनि एक बहुत बड़े अध्यात्मवेत्ता प्रतीत होते हैं। अपनी अध्यात्मविषयक शंकाओं के निवारण करने के अभिप्राय से सुकेशा, भारद्वाज आदि छः मुनियों के इनके पास जाने का उल्लेख मिलता है और इन्होंने जो उत्तर दिये वे प्रश्नोपनिषद् में सुरक्षित हैं। प्राचीनकाल में इनकी संहिता की विशेष ख्याति का पता चलता है। इनके दो ग्रन्थ थे। 'प्रपञ्चहृदय' का कथन है कि पिप्पलाद शाखा की मन्त्र-संहिता २० काण्ड वाली है, तथा उसके ब्राह्मण में आठ अध्याय विद्यमान हैं। पिप्पलाद संहिता की एकमात्र प्रति शारदा लिपि में कश्मीर में उपलब्ध हुई; जिसे कश्मीर-नरेश ने जर्मन विद्वान् डा० राथ को १८७५ में उपहार में भेज दी। उसी प्रति से १९०१ ई० में अमेरिका से

---

1. द्रष्टव्य—श्रीमद्भागवत (१२।७।१-३); वायुपुराण (६१।४९-५२); विष्णुपुराण (३।६।९-१३)।

मन के द्वारा यज्ञ के दूसरे पक्ष का संस्कार करता है।[1] ऐतरेय-ब्राह्मण (५।३३) के अनुसार यज्ञ के दो मार्ग हैं—वाक् तथा मन। वचन के द्वारा वेदत्रयी यज्ञ के एक पक्ष को संस्कृत बनाती है, दूसरे पक्ष का संस्कार ब्रह्मा करता है और वह मन के द्वारा करता है। इन कथनों से स्पष्ट है कि यज्ञ के पूर्ण संस्कार के लिये अथर्ववेद की नितान्त आवश्यकता होती है।

पुरोहित के लिए अथर्ववेद का ज्ञान इसलिये आवश्यक होता है कि वह राजा के शान्ति और पौष्टिक कार्यों का सम्पादन अथर्ववेद के द्वारा ही करता है। अथर्व-परिशिष्ट का तो यहाँ तक कहना है कि जिस राजा के जनपद में अथर्ववेद का ज्ञाता निवास करता है वह राष्ट्र उपद्रवहीन होकर वृद्धि को प्राप्त होता है। इस प्रकार ऐहिक तथा आमुष्मिक; लौकिक तथा पारलौकिक विषयों का प्रतिपादक होने के कारण अथर्ववेद वैदिक संहिताओं में अपना वैशिष्ट्य रखता है।

अथर्ववेद के उपलब्ध अनेक अभिधानों में अथर्ववेद, ब्रह्मवेद अंगिरोवेद, अथर्वाङ्गिरस वेद आदि नाम मुख्य हैं। 'अथर्व' शब्द की व्याख्या तथा निर्वचन निरुक्त (११।२।१७) तथा गोपथ-ब्राह्मण (१।४) में मिलता है। 'थर्व' धातु कौटिल्य तथा हिंसावाची है। अत एव 'अथर्व' शब्द का अर्थ है अकुटिलता तथा अहिंसा वृत्ति से मन की स्थिरता प्राप्त करने वाला व्यक्ति। इस व्युत्पत्ति की पुष्टि में योग के प्रतिपादक अनेक प्रसंग स्वयं इस वेद में मिलते हैं (अथर्व ६।१; १०।२।२६–२८)। 'ब्रह्मवेद' शब्द का प्रयोग इसीलिये है कि इस वेद में परमब्रह्म की प्राप्ति स्पष्टतः मन्त्रों द्वारा निर्दिष्ट की गई है। अथर्वण तथा आङ्गिरस ऋषियों के द्वारा वेद के अनेक मन्त्र दृष्ट हुए हैं। इसीलिये इस वेद का एक नाम अथर्वाङ्गिरस वेद भी है। अवेस्ता का 'अथ्रवन्' शब्द अथर्वन् का ही प्रतिनिधि है और बहुत सम्भव है कि इन दोनों का सामान्य अर्थ ऋत्विज् ही है, जो अग्नि की उपासना तथा पूजा किया करता था। पश्चिमी विद्वानों के कथनानुसार अथर्वन् उन मन्त्रों के लिये प्रयुक्त होता है जो सुख उत्पन्न करने वाले अच्छे जादू टोनों के लिये प्रयुक्त होते हैं। आङ्गिरस का अर्थ वह अभिचार मन्त्र है जिसका प्रयोग मारण तथा मोहन के लिये किया जाता था। इस अथर्ववेद में रोगों को दूर करने वाले मन्त्रों के साथ शत्रुओं तथा प्रतिपक्षियों के विरुद्ध अभिशापों का भी पर्याप्त वर्णन है।

---

१. स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यन्तरः पक्षः संस्क्रियते।
मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यन्तरं पक्षं संस्करोति॥
(गो० ब्रा० १।२)

अथर्ववेद की शाखायें

पुराण के अनुसार वेदव्यासजी ने जिस शिष्य को अथर्व का अध्ययन कराया उनका नाम था—सुमन्तु[1]। भागवत में अभिचार-प्रधान वेद के मुख्य प्रचारक होने के कारण सुमन्तु 'दारुण मुनि' की उपाधि से विभूषित किये गये हैं। सुमन्तु ने दो संहितायें अपने शिष्य कबन्ध को दीं, जिनके दो पट्टशिष्य थे—पथ्य और देवदर्श। पथ्य के तीन शिष्य थे—(१) जाजलि, (२) कुमुद, (३) शौनक और देवदर्श के चार शिष्य थे—(१) मोद, (२) ब्रह्मबलि, (३) पिप्पलाद, (४) शौष्कायनि (या शौक्लायनि)। इनमें शौनक के शिष्य बभ्रु तथा सैन्धवायन बतलाये जाते हैं। इन्हीं मुनियों द्वारा अथर्ववेद का विशेष प्रचार सम्पन्न हुआ।

पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में 'नवधाऽऽथर्वणो वेदः' लिखकर इस वेद की ९ शाखाओं का उल्लेख किया है। प्रपञ्चहृदय, चरणव्यूह तथा सायण-भाष्य के उपोद्घात में शाखाओं की संख्या में अभिन्नता होने पर भी इनके नामों में महती भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इनकी तुलना करने पर इनके अभिधान इस प्रकार ठीक जमते हैं :—

(१) पिप्पलाद, (२) स्तौद (या तौद), (३) मौद, (४) शौनकीय, (५) जाजल, (६) जलद, (७) ब्रह्मवद, (८) देवदर्श तथा (९) चारण वैद्य। इन शाखाओं में पिप्पलाद तथा शौनक के अनुसार कतिपय ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। अन्य शाखाओं का तो नाममात्र शेष है।

(१) **पिप्पलाद**—पिप्पलाद मुनि एक बहुत बड़े अध्यात्मवेत्ता प्रतीत होते हैं। अपनी अध्यात्मविषयक शंकाओं के निवारण करने के अभिप्राय से सुकेशा, भारद्वाज आदि छः मुनियों के इनके पास जाने का उल्लेख मिलता है और इन्होंने जो उत्तर दिये वे प्रश्नोपनिषद् में सुरक्षित हैं। प्राचीनकाल में इनकी संहिता की विशेष ख्याति का पता चलता है। इनके दो ग्रन्थ थे। 'प्रपञ्चहृदय' का कथन है कि पिप्पलाद शाखा की मन्त्र-संहिता २० काण्ड वाली है, तथा उसके ब्राह्मण में आठ अध्याय विद्यमान हैं। पिप्पलाद संहिता की एकमात्र प्रति शारदा लिपि में कश्मीर में उपलब्ध हुई; जिसे कश्मीर-नरेश ने जर्मन विद्वान् डा० राथ को १८७५ में उपहार में भेज दी। उसी प्रति से १९०१ ई० में अमेरिका से

---

1. द्रष्टव्य—श्रीमद्भागवत (१२।७।१-३); वायुपुराण (६१।४९-५३); विष्णुपुराण (३।६।९-१३)।

मन के द्वारा यज्ञ के दूसरे पक्ष का संस्कार करता है।[1] ऐतरेय-ब्राह्मण (५।३३) के अनुसार यज्ञ के दो मार्ग हैं—वाक् तथा मन। वचन के द्वारा वेदत्रयी यज्ञ के एक पक्ष को संस्कृत बनाती है, दूसरे पक्ष का संस्कार ब्रह्मा करता है और वह मन के द्वारा करता है। इन कथनों से स्पष्ट है कि यज्ञ के पूर्ण संस्कार के लिये अथर्ववेद की नितान्त आवश्यकता होती है।

पुरोहित के लिए अथर्ववेद का ज्ञान इसलिये आवश्यक होता है कि वह राजा के शान्ति और पौष्टिक कार्यों का सम्पादन अथर्ववेद के द्वारा ही करता है। अथर्व-परिशिष्ट का तो यहाँ तक कहना है कि जिस राजा के जनपद में अथर्ववेद का ज्ञाता निवास करता है वह राष्ट्र उपद्रवहीन होकर वृद्धि को प्राप्त होता है। इस प्रकार ऐहिक तथा आमुष्मिक; लौकिक तथा पारलौकिक विषयों का प्रतिपादक होने के कारण अथर्ववेद वैदिक संहिताओं में अपना वैशिष्ट्य रखता है।

अथर्ववेद के उपलब्ध अनेक अभिधानों में अथर्ववेद, ब्रह्मवेद अंगिरोवेद, अथर्वाङ्गिरस वेद आदि नाम मुख्य हैं। 'अथर्व' शब्द की व्याख्या तथा निर्वचन निरुक्त (११।२।१७) तथा गोपथ-ब्राह्मण (१।४) में मिलता है। 'थर्व' धातु कौटिल्य तथा हिंसावाची है। अत एव 'अथर्व' शब्द का अर्थ है अकुटिलता तथा अहिंसा वृत्ति से मन की स्थिरता प्राप्त करने वाला व्यक्ति। इस व्युत्पत्ति की पुष्टि में योग के प्रतिपादक अनेक प्रसंग स्वयं इस वेद में मिलते हैं (अथर्व ६।१; १०।२।२६–२८)। 'ब्रह्मवेद' शब्द का प्रयोग इसीलिये है कि इस वेद में परमब्रह्म की प्राप्ति स्पष्टतः मन्त्रों द्वारा निर्दिष्ट की गई है। अथर्वण तथा आङ्गिरस ऋषियों के द्वारा वेद के अनेक मन्त्र दृष्ट हुए हैं। इसीलिये इस वेद का एक नाम अथर्वाङ्गिरस वेद भी है। अवेस्ता का 'अथ्रवन्' शब्द अथर्वन् का ही प्रतिनिधि है और बहुत सम्भव है कि इन दोनों का सामान्य अर्थ ऋत्विज् ही है, जो अग्नि की उपासना तथा पूजा किया करता था। पश्चिमी विद्वानों के कथनानुसार अथर्वन् उन मन्त्रों के लिये प्रयुक्त होता है जो सुख उत्पन्न करने वाले अच्छे जादू टोनों के लिये प्रयुक्त होते हैं। आङ्गिरस का अर्थ वह अभिचार मन्त्र है जिसका प्रयोग मारण तथा मोहन के लिये किया जाता था। इस अथर्ववेद में रोगों को दूर करने वाले मन्त्रों के साथ शत्रुओं तथा प्रतिपक्षियों के विरुद्ध अभिशापों का भी पर्याप्त वर्णन है।

---

१. स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यन्तरः पक्षः संस्क्रियते।
मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यन्तरं पक्षं संस्करोति॥
(गो० ब्रा० १।२)

उत्पत्ति का सिद्धान्त प्राचीन आयुर्वेद को आधुनिक वैद्यक-शास्त्र के साथ सम्बन्ध कर रहा है। रोगकारक नाना कृमियों का वर्णन (२।३१।१-५), नेत्र, नासिका तथा दाँतों में प्रवेश करने वाले कृमियों के नाम तथा निरसन उपाय (५।२३।-१-१३) तथा सूर्य-किरणों के द्वारा इनका नाश (४।३७।१-१२) आदि अनेक विषय वैज्ञानिक आधार पर निर्मित प्रतीत होते हैं। रोगों के निवारणार्थ तथा सर्पविष के दूरीकरणार्थ नाना ओषधियों, औषधों तथा मणियों का निर्देश यहाँ मिलता है। आश्चर्य की बात है 'विषस्य विषमौषधम्' का सिद्धान्त भी अथर्व के एक मन्त्र में (७।८८।१) पाया जाता है। इस प्रकार आयुर्वेद की दृष्टि से अथर्ववेद एक नितान्त वैज्ञानिक शास्त्र है।

अनेक भौतिक विज्ञानों के तथ्य भी यहाँ यत्र तत्र बिखरे मिलते हैं। उन्हें पहचानने तथा मूल्यांकन करने के लिए वेदज्ञ होने के अतिरिक्त विज्ञानवेत्ता होना भी नितान्त आवश्यक है। एक दो पदों या मन्त्रों में निगूढ़ वैज्ञानिक रहस्यों का उद्घाटन किया गया है जिसे वैज्ञानिक की शिक्षित तथा अभ्यस्त दृष्टि ही देख सकती है। एक विशिष्ट उदाहरण ही इस विषय-संकेत के लिए पर्याप्त होगा। अथर्ववेद के पञ्चम काण्ड के पञ्चम सूक्त में लाक्षा (लाख) का वर्णन है, जो वैज्ञानिकों की दृष्टि में नितान्त प्रामाणिक, तथ्यपूर्ण तथा उपादेय है। आज कल राँची (बिहार) में भारत सरकार की ओर से 'लाख' के उत्पादन तथा व्यावहारिक उपयोग के विषय में एक अन्वेषण-संस्था कार्य कर रही है। उसकी नवीन वैज्ञानिक खोजों के साथ इस सूक्त में उल्लिखित तथ्यों की तुलना करने पर किसी भी निष्पक्ष वैज्ञानिक को आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। आधुनिक विज्ञान के द्वारा समर्थित और पुष्ट की गई सूक्त-निर्दिष्ट बातें संक्षेप में ये हैं :—

(१) लाह (लाख, लाक्षा) किसी वृक्ष का निस्यन्द नहीं है, प्रत्युत उसे उत्पन्न करने का श्रेय कीट-विशेष को (मुख्यतया स्त्री कीट को) है। वह कीट यहाँ 'शिलाची' नाम से व्यवहृत किया गया है। उसका पेट लाल रङ्ग का होता है और इसी से वह स्त्री (कीट) संखिया खाने वाली मानी गयी है। यह कीट अश्वत्थ, न्यग्रोध, धव, खदिर आदि वृक्षों पर विशेषतः रह कर लाक्षा को प्रस्तुत करता है (५।५।५)।

(२) स्त्री कीट के बड़े होने पर अण्डा देने से पहिले उसका शरीर क्षीण हो जाता है और उसके कोष में पीलापन विशेषतः आ जाता है। इसीलिए यह कीट यहाँ 'हिरण्यवर्णा' तथा 'सूर्यवर्णा' कही गई है (५।५।६)। इसके शरीर के

ऐसी नाना क्रियायें, अनुष्ठान तथा विश्वास विद्यमान थे जिनका विशद चित्र वैदिक साहित्य में अन्यत्र अनुपलब्ध होने पर भी इसी अथर्व संहिता में उपलब्ध होता है। शत्रुओं पर विजय पाने के लिये, क्लेशदायी दीर्घ रोग निवारण के लिए, सद्योजात बालकों तथा उनकी माताओं को सन्तप्त करने वाले भूत-प्रेतों के विनाश के लिए नाना अभिचारों का विचित्र वर्णन अथर्ववेद को मानवशास्त्र के अभ्यासियों के निमित्त एक बहुमूल्य विश्वकोष सिद्ध कर रहा है। जादू-टोना का प्रचार आथर्वण युग की एक विशिष्ट घटना है। जादू (यातु) भी दो प्रकार के होते हैं—शोभन प्रकार के जादू में किसी दूसरे अनिष्ट से अपने आपको बचाने की भावना प्रबल रहती है। अशोभन प्रकार के जादू में जिसे अंग्रेजी में 'ब्लैक मैजिक' (काला जादू) के नाम से पुकारते हैं, शत्रु-विशेष के ऊपर मारण, मोहन तथा उच्चाटन की भावनायें विशेष जागरूक रहती हैं। अथर्ववेद में इन दोनों प्रकार के जादू-टोने का उत्कृष्ट साम्राज्य मानव-संस्कृति के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक घटना है।

अथर्व में विज्ञान

अथर्ववेद के भीतर आयुर्वेद के सिद्धान्त तथा व्यवहार की अनेक महनीय जिज्ञास्य बातें भरी हुई हैं, जिनके अनुशीलन से आयुर्वेद की प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा व्यापकता का पूरा परिचय हमें मिलता है। रोग, शारीरिक प्रतीकार तथा औषध के विषय में अनेक उपयोगी एवं वैज्ञानिक तथ्यों की उपलब्धि अथर्ववेद की आयुर्वेदिक विशिष्टता बतलाने के लिए पर्याप्त मानी जा सकती है[1]। तक्म रोग (ज्वर) का सामान्य वर्णन (६।२१।१–३), सतत–शारद–ग्रैष्म–शीत–वार्षिक–तृतीयक आदि ज्वर के प्रभेदों का निर्देश (१।२५।४–५), बलास रोग का अस्थि तथा हृदय की पीड़ा करना (६।१४।१–३), अपचित (गण्डमाला) के एनी-श्येनी-कृष्णा आदि भेदों का निदर्शन (६।८३।१–३) यक्ष्मा, विद्रध, वातीकार आदि नाना रोगों का वर्णन (९।१३।१–२२) इस संहिता में स्थान-स्थान पर किया गया है। प्रतीकार के विषय में आधुनिक प्रणाली की शल्यचिकित्सा का निर्देश अतीव विस्मयकारी प्रतीत होता है, जैसे-मूत्राघात होने पर शरशलाका आदि के द्वारा मूत्र का निःसारण (१।३।१९), सुख-प्रसव के लिए योनिभेदन (१।११।१–६), जल-धावन के द्वारा व्रण का उपचार (५।५७।१–३) आदि। नाना कृमियों के द्वारा नाना प्रकार के रोगों की

---

१. द्रष्टव्य राजगुरु पण्डित हेमराज शर्मा द्वारा लिखित 'काश्यप-संहिता' का उपोद्घात, पृ० ९–१२ (बम्बई, १९३८ ई०)।

उत्पत्ति का सिद्धान्त प्राचीन आयुर्वेद को आधुनिक वैद्यकशास्त्र के साथ सम्बन्ध कर रहा है। रोगकारक नाना कृमियों का वर्णन (२।३१।१–५), नेत्र, नासिका तथा दाँतों में प्रवेश करने वाले कृमियों के नाम तथा निरसन उपाय (५।२३।१–१३) तथा सूर्य-किरणों के द्वारा इनका नाश (४।३७।१–१२) आदि अनेक विषय वैज्ञानिक आधार पर निर्मित प्रतीत होते हैं। रोगों के निवारणार्थ तथा सर्पविष के दूरीकरणार्थ नाना ओषधियों, औषधों तथा मणियों का निर्देश यहाँ मिलता है। आश्चर्य की बात है 'विषस्य विषमौषधम्' का सिद्धान्त भी अथर्व के एक मन्त्र में (७।८८।१) पाया जाता है। इस प्रकार आयुर्वेद की दृष्टि से अथर्ववेद एक तिनान्त वैज्ञानिक शास्त्र है।

अनेक भौतिक विज्ञानों के तथ्य भी यहाँ यत्र तत्र बिखरे मिलते हैं। उन्हें पहचानने तथा मूल्यांकन करने के लिए वेदज्ञ होने के अतिरिक्त विज्ञानवेत्ता होना भी नितान्त आवश्यक है। एक दो पदों या मन्त्रों में निगूढ़ वैज्ञानिक रहस्यों का उद्घाटन किया गया है जिसे वैज्ञानिक की शिक्षित तथा अभ्यस्त दृष्टि ही देख सकती है। एक विशिष्ट उदाहरण ही इस विषय-संकेत के लिए पर्याप्त होगा। अथर्ववेद के पञ्चम काण्ड के पञ्चम सूक्त में लाक्षा (लाख) का वर्णन है, जो वैज्ञानिकों की दृष्टि में नितान्त प्रामाणिक, तथ्यपूर्ण तथा उपादेय है। आज कल राँची (बिहार) में भारत सरकार की ओर से 'लाख' के उत्पादन तथा व्यावहारिक उपयोग के विषय में एक अन्वेषण-संस्था कार्य कर रही है। उसकी नवीन वैज्ञानिक खोजों के साथ इस सूक्त में उल्लिखित तथ्यों की तुलना करने पर किसी भी निष्पक्ष वैज्ञानिक को आश्चर्य हुए विना नहीं रह सकता। आधुनिक विज्ञान के द्वारा समर्थित और पुष्ट की गई सूक्त-निर्दिष्ट बातें संक्षेप में ये हैं :—

(१) लाह (लाख, लाक्षा) किसी वृक्ष का निस्यन्द नहीं है, प्रत्युत उसे उत्पन्न करने का श्रेय कीट-विशेष को (मुख्यतया स्त्री कीट को) है। वह कीट यहाँ 'शिलाची' नाम से व्यवहृत किया गया है। उसका पेट लाल रङ्ग का होता है और इसी से वह स्त्री (कीट) संखिया खाने वाली मानी गयी है। यह कीट अश्वत्थ, न्यग्रोध, धव, खदिर आदि वृक्षों पर विशेषतः रह कर लाक्षा को प्रस्तुत करता है (५।५।५)।

(२) स्त्री कीट के बड़े होने पर अण्डा देने से पहिले उसका शरीर क्षीण हो जाता है और उसके कोष में पीलापन विशेषतः आ जाता है। इसीलिए यह कीट यहाँ 'हिरण्यवर्णा' तथा 'सूर्यवर्णा' कही गई है (५।५।६)। इसके शरीर के

ऐसी नाना क्रियायें, अनुष्ठान तथा विश्वास विद्यमान थे जिनका विशद चित्र वैदिक साहित्य में अन्यत्र अनुपलब्ध होने पर भी इसी अथर्व संहिता में उपलब्ध होता है। शत्रुओं पर विजय पाने के लिये, क्लेशदायी दीर्घ रोग निवारण के लिए, सद्योजात बालकों तथा उनकी माताओं को सन्तप्त करने वाले भूत-प्रेतों के विनाश के लिए नाना अभिचारों का विचित्र वर्णन अथर्ववेद को मानवशास्त्र के अभ्यासियों के निमित्त एक बहुमूल्य विश्वकोष सिद्ध कर रहा है। जादू-टोना का प्रचार आथर्वण युग की एक विशिष्ट घटना है। जादू (यातु) भी दो प्रकार के होते हैं—शोभन प्रकार के जादू में किसी दूसरे अनिष्ट से अपने आपको बचाने की भावना प्रबल रहती है। अशोभन प्रकार के जादू में जिसे अंग्रेजी में 'ब्लैक मैजिक' (काला जादू) के नाम से पुकारते हैं, शत्रु-विशेष के ऊपर मारण, मोहन तथा उच्चाटन की भावनायें विशेष जागरूक रहती हैं। अथर्ववेद में इन दोनों प्रकार के जादू-टोने का उत्कृष्ट साम्राज्य मानव-संस्कृति के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक घटना है।

अथर्व में विज्ञान

अथर्ववेद के भीतर आयुर्वेद के सिद्धान्त तथा व्यवहार की अनेक महनीय जिज्ञास्य बातें भरी हुई हैं, जिनके अनुशीलन से आयुर्वेद की प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा व्यापकता का पूरा परिचय हमें मिलता है। रोग, शारीरिक प्रतीकार तथा औषध के विषय में अनेक उपयोगी एवं वैज्ञानिक तथ्यों की उपलब्धि अथर्ववेद की आयुर्वेदिक विशिष्टता बतलाने के लिए पर्याप्त मानी जा सकती है[1]। तक्म रोग (ज्वर) का सामान्य वर्णन (६।२१।१–३), सतत–शारद–ग्रैष्म–शीत–वार्षिक–तृतीयक आदि ज्वर के प्रभेदों का निर्देश (१।२५।४–५), बलास रोग का अस्थि तथा हृदय की पीड़ा करना (६।१४।१–३), अपचित (गण्डमाला) के एनी-श्येनी-कृष्णा आदि भेदों का निदर्शन (६।८३।१–३) यक्ष्मा, विद्रध, वातीकार आदि नाना रोगों का वर्णन (९।१३।१–२२) इस संहिता में स्थान-स्थान पर किया गया है। प्रतीकार के विषय में आधुनिक प्रणाली की शल्यचिकित्सा का निर्देश अतीव विस्मयकारी प्रतीत होता है, जैसे-मूत्राघात होने पर शरशलाका आदि के द्वारा मूत्र का निःसारण (१।३।१९), सुख-प्रसव के लिए योनिभेदन (१।११।१–६), जल-धावन के द्वारा व्रण का उपचार (५।५७।१–३) आदि। नाना कृमियों के द्वारा नाना प्रकार के रोगों की

---

१. द्रष्टव्य राजगुरु पण्डित हेमराज शर्मा द्वारा लिखित 'काश्यप-संहिता' का उपोद्घात, पृ० ९–१२ (बम्बई, १९३८ ई०)।

होता है। शत्रुओं को परास्त करने की प्रार्थना के साथ-साथ संग्राम तथा तदुपयोगी साधनों—जैसे रथ, दुन्दुभि, शंख आदि का विशेष विवरण सांग्रामिक दृष्टि से भी अथर्व की महत्ता घोषित कर रहा है। 'क्षत्रवेद' नाम का यही कारण प्रतीत होता है। उस युग में प्रजा ही राजा का संवरण (चुनाव) करती थी। अथर्व ३।४ सूक्त में मनुष्यों के साथ ही साथ अश्विन्, मित्रावरुण, मरुत् तथा वरुण के द्वारा भी राजा के संवरण करने का वर्णन किया गया है। अन्य सूक्त (अथर्व० ३।३) से पता चलता है कि देश से निष्कासित राजा पुनः राज्य में बुलाया जाता था, तथा सम्मानपूर्वक प्रतिष्ठा पाता था। संग्राम के लिए वीरों के हृदय में उत्साह फूँकनेवाले नगाड़े (दुन्दुभि) का वर्णन नितान्त साहित्यिक तथा वीर रस से पूर्ण है। पाँचवें काण्ड का दशमसूक्त कवित्व तथा मनोहर भावों के प्रदर्शन के कारण बड़ा ही रोचक, सरस तथा अभिव्यञ्जनात्मक है। दुन्दुभि की गड़गड़ाहट सुनकर शत्रु की नारी को भयानक अस्त्रों के संघर्ष के बीच में अपने पुत्र को छाती से चिपका कर भाग जाने की यह प्रार्थना संग्राम के प्रांगण में कितना करुणाजनक दृश्य उपस्थित करती है :—

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम्॥

(अथर्व ५।२०।५)

दुन्दुभिसूक्त (५।२१) में सुन्दर उपमा तथा भाव सौष्ठव का योग उसे वीर रस के आदि काव्य होने की स्पष्ट घोषणा कर रहा है। दुन्दुभि से शत्रुओं के त्रासन तथा मोहन की प्रार्थना करते समय मालोपमा का यह सौन्दर्य नितान्त अभिराम तथा श्लाघनीय है—

यथा श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभिक्रन्द प्रत्रासयाथो चित्तानि मोहय॥

(अथर्व० ५।२१।६)

मन्त्र का आशय है कि जिस प्रकार बाजपक्षी से अन्य पक्षी उद्विग्न हो जाते हैं, और जिस प्रकार सिंह की गर्जना सुनकर प्राणी भयभीत हो उठते हैं, उसी प्रकार हे दुन्दुभि! तुम हमारे शत्रुओं के प्रति अपनी गड़गड़ाहट करो, उन्हें खूब डरा दो और उनके चित्त को मोहित कर दो, जिससे युद्ध में उनकी शक्ति का ह्रास हो तथा वे शीघ्र ध्वस्त हो जाँय।

करने के लिए यहाँ प्रायश्चित्तों का विधान है। इनसे सम्बन्ध रखनेवाले ऐसे उत्सव, गीत तथा मन्त्र पाये जाते हैं, जिनके द्वारा शारीरिक दुर्बलता, मानसिक त्रुटि, दुःस्वप्न, अपशकुन आदि वस्तुएँ निराकृत तथा दूरीकृत की जाती हैं। इस युग में अशुभ शकुनों में भी विश्वास था—पक्षियों के उड़ने का स्वप्न, युग्म बालक के जन्म का स्वप्न, बालक का अशुभ नक्षत्र में जन्म। आज की भाँति उस युग में भी इन अपशकुनों के द्वारा मानव अपने कल्याण की भावना से भयभीत तथा त्रस्त होता है और उसे दूर करने के निमित्त अनेक उपायों को करता था, जिनका यहाँ बहुत विवरण मिलता है।

(५) **स्त्रीकर्माणि**—विवाह तथा प्रेम से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत से सूक्त तत्कालीन समाज का चित्र प्रस्तुत करने के लिये विशेष सहायक हैं। इन सूक्तों में पुत्रोत्पत्ति के लिये तथा सद्योजात शिशु की रक्षा करने के लिये भव्य प्रार्थना की गई है। १४वाँ काण्ड विशेषतः इसी प्रसंग से सम्बद्ध है। दूसरे प्रकार के मन्त्रों में अपनी सपत्नी को वश में करने के लिये तथा अपने पति के स्नेह का सम्पादन करने के लिये अनेक जादू-टोनों का वर्णन है। कौशिक-सूत्र से पता लगता है कि किसी स्त्री के प्रेम सम्पादन के लिये किस प्रकार उसकी मिट्टी की मूर्ति बनाई जाती है, तथा बाण के द्वारा उसके हृदय को विद्ध किया जाता है, तथा उस समय अथर्व (३।२५) के मन्त्रों का पाठ भी किया जाता है। इसी प्रकार पति के वशीकरण के निमित्त स्त्री उसकी मूर्ति बनाकर गरम बाणों के सिरे से उसके मस्तक को बेधती है। साथ ही साथ अथर्व वेद के ६।१३०, ६।१३८ सूक्त के मन्त्रों का पाठ भी करती है। इन सूक्तों में देवताओं से पति को पागल बनाने की प्रार्थना है जिससे वह दिन-रात उसी के ध्यान में आसक्त रहे—"हे मरुत् ! मेरे पति को उन्मत्त बना दो, हे अन्तरिक्ष ! तथा हे अग्नि ! उसे पागल बना दो जिससे वह मेरा ही चिन्तन किया करे" (६।१३०।४)। यदि वह भागकर तीन या पाँच योजन भी अन्यत्र चला गया हो तो वह लौट आवे (अ० ६। १३१।४)। सबसे भयानक तथा घृणापूर्ण तो वह प्रार्थना है जिसमें एक स्त्री अपनी प्रतिस्पर्धिनी स्त्री को ध्वस्त तथा परास्त करने के लिए आग्रह करती है (अ० १।१४)। इन मन्त्रों तथा क्रियाओं को 'आभिचारिक' नाम से पुकारते हैं, क्योंकि विशेषतः मारण, मोहन (वशीकरण) तथा उच्चाटन आदि फलों की सिद्धि के निमित्त इनका बहुल प्रयोग होता है।

(६) **राजकर्माणि**—राजाओं से संबद्ध बहुत से सूक्त अथर्व वेद में पाये जाते हैं जिनके अध्ययन से तत्कालीन राजनैतिक दशा का विशद चित्र उपलब्ध

होता है। शत्रुओं को परास्त करने की प्रार्थना के साथ-साथ संग्राम तथा तदुपयोगी साधनों—जैसे रथ, दुन्दुभि, शंख आदि का विशेष विवरण सांग्रामिक दृष्टि से भी अथर्व की महत्ता घोषित कर रहा है। 'क्षत्रवेद' नाम का यही कारण प्रतीत होता है। उस युग में प्रजा ही राजा का संवरण (चुनाव) करती थी। अथर्व ३।४ सूक्त में मनुष्यों के साथ ही साथ अश्विन्, मित्रावरुण, मरुत् तथा वरुण के द्वारा भी राजा के संवरण करने का वर्णन किया गया है। अन्य सूक्त (अथर्व० ३।३) से पता चलता है कि देश से निष्कासित राजा पुनः राज्य में बुलाया जाता था, तथा सम्मानपूर्वक प्रतिष्ठा पाता था। संग्राम के लिए वीरों के हृदय में उत्साह फूँकनेवाले नगाड़े (दुन्दुभि) का वर्णन नितान्त साहित्यिक तथा वीर रस से पूर्ण है। पाँचवें काण्ड का दशमसूक्त कवित्व तथा मनोहर भावों के प्रदर्शन के कारण बड़ा ही रोचक, सरस तथा अभिव्यञ्जनात्मक है। दुन्दुभि की गड़गड़ाहट सुनकर शत्रु की नारी को भयानक अस्त्रों के संघर्ष के बीच में अपने पुत्र को छाती से चिपका कर भाग जाने की यह प्रार्थना संग्राम के प्रांगण में कितना करुणाजनक दृश्य उपस्थित करती है :—

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम्॥

(अथर्व ५।२०।५)

दुन्दुभिसूक्त (५।२१) में सुन्दर उपमा तथा भाव सौष्ठव का योग उसे वीर रस के आदि काव्य होने की स्पष्ट घोषणा कर रहा है। दुन्दुभि से शत्रुओं के त्रासन तथा मोहन की प्रार्थना करते समय मालोपमा का यह सौन्दर्य नितान्त अभिराम तथा श्लाघनीय है—

यथा श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभिक्रन्द प्रत्रासयाथो चित्तानि मोहय॥

(अथर्व० ५।२१।६)

मन्त्र का आशय है कि जिस प्रकार बाजपक्षी से अन्य पक्षी उद्विग्न हो जाते हैं, और जिस प्रकार सिंह की गर्जना सुनकर प्राणी भयभीत हो उठते हैं, उसी प्रकार हे दुन्दुभि! तुम हमारे शत्रुओं के प्रति अपनी गड़गड़ाहट करो, उन्हें खूब डरा दो और उनके चित्त को मोहित कर दो, जिससे युद्ध में उनकी शक्ति का ह्रास हो तथा वे शीघ्र ध्वस्त हो जाँय।

करने के लिए यहाँ प्रायश्चित्तों का विधान है। इनसे सबन्ध रखनेवाले ऐसे उत्सव गीत तथा मन्त्र पाये जाते हैं, जिनके द्वारा शारीरिक दुर्बलता, मानसिक त्रुटि दुःस्वप्न, अपशकुन आदि वस्तुएँ निराकृत तथा दूरीकृत की जाती हैं इस युग में अशुभ शकुनों में भी विश्वास था—पक्षियों के उड़ने का स्वप्न, युग बालक के जन्म का स्वप्न, बालक का अशुभ नक्षत्र में जन्म। आज की भाँति उस युग में भी इन अपशकुनों के द्वारा मानव अपने कल्याण की भावना से भयभीत तथा त्रस्त होता है और उसे दूर करने के निमित्त अनेक उपायों को करता था, जिनका यहाँ बहुत विवरण मिलता है।

(५) **स्त्रीकर्माणि**—विवाह तथा प्रेम से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत से सूक्त तत्कालीन समाज का चित्र प्रस्तुत करने के लिये विशेष सहायक हैं। इन सूक्तों में पुत्रोत्पत्ति के लिये तथा सद्योजात शिशु की रक्षा करने के लिये भव्य प्रार्थना की गई है। १४वाँ काण्ड विशेषतः इसी प्रसंग से सम्बद्ध है। दूसरे प्रकार के मन्त्रों में अपनी सपत्नी को वश में करने के लिये तथा अपने पति के स्नेह का सम्पादन करने के लिये अनेक जादू-टोनों का वर्णन है। कौशिक-सूत्र से पता लगता है कि किसी स्त्री के प्रेम सम्पादन के लिये किस प्रकार उसकी मिट्टी की मूर्ति बनाई जाती है, तथा बाण के द्वारा उसके हृदय को विद्ध किया जाता है, तथा उस समय अथर्व (३।२५) के मन्त्रों का पाठ भी किया जाता है। इसी प्रकार पति के वशीकरण के निमित्त स्त्री उसकी मूर्ति बनाकर गरम बाणों के सिरे से उसके मस्तक को बेधती है। साथ ही साथ अथर्व वेद के ६।१३०, ६।१३८ सूक्त के मन्त्रों का पाठ भी करती है। इन सूक्तों में देवताओं से पति को पागल बनाने की प्रार्थना है जिससे वह दिन-रात उसी के ध्यान में आसक्त रहे—"हे मरुत्! मेरे पति को उन्मत्त बना दो, हे अन्तरिक्ष! तथा हे अग्नि! उसे पागल बना दो जिससे वह मेरा ही चिन्तन किया करे" (६।१३०।४)। यदि वह भागकर तीन या पाँच योजन भी अन्यत्र चला गया हो तो वह लौट आवे (अ० ६। १३१।४)। सबसे भयानक तथा घृणापूर्ण तो वह प्रार्थना है जिसमें एक स्त्री अपनी प्रतिस्पर्धिनी स्त्री को ध्वस्त तथा परास्त करने के लिए आग्रह करती है (अ० १।१४)। इन मन्त्रों तथा क्रियाओं को 'आभिचारिक' नाम से पुकारते हैं, क्योंकि विशेषतः मारण, मोहन (वशीकरण) तथा उच्चाटन आदि फलों की सिद्धि के निमित्त इनका बहुल प्रयोग होता है।

(६) **राजकर्माणि**—राजाओं से संबद्ध बहुत से सूक्त अथर्व वेद में पाये जाते हैं जिनके अध्ययन से तत्कालीन राजनैतिक दशा का विशद चित्र उपलब्ध

(७) ब्रह्मण्यानि—इनमें जगत् के परमतत्त्वभूत परमात्मा तथा परब्रह्म के स्वरूप और कार्य का विवेचन है। इन आमुष्मिक ब्रह्मण्य सूक्तों के कारण ही अथर्व-वेद 'ब्रह्मवेद' के महनीय अभिधान से पुकारा जाता है। इन सूक्तों में दर्शन के गम्भीरतम तथ्यों की विशद समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इन सूक्तों में अन्तर्दृष्टि से संवलित प्रातिभचक्षु ऋषियों के स्वानुभूत तत्त्वों का विशद विवेचन इन्हें बहुमूल्य तथा दार्शनिक दृष्टि से विशेष उपादेय सिद्ध कर रहा है।

परमतत्त्व नाना अभिधानों तथा संज्ञाओं के द्वारा अभिहित किया गया है। वही 'काल' नाम से जगत्, पृथ्वी तथा दिव् का उत्पादक और नियन्ता है। काल समस्त प्रपञ्च का अधिष्ठान है। उसमें केवल मन, प्राण तथा नाम ही समाहित नहीं हैं; प्रत्युत वह सबका ईश्वर तथा प्रजापति का भी पिता है। उसी के संकल्प करने पर यह जगत् उत्पन्न हुआ और उसी में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार काल ही जगत् का परमतत्त्व स्वीकृत किया गया है (१९।५३, ५४):—

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः॥

(१९।५३।८)

त्रयोदश काण्ड के अनेक सूक्तों में जिस 'रोहित' का वर्णन है वह भी सूर्य या सूर्यस्थ वीर्य का प्रतीक होने से जगत् के सृष्टि आदि समस्त व्यापारों का निर्वाहक है। सूर्य के घोड़े उसी रोहित को रथ पर चढ़ाकर चारों ओर ले जाते हैं। वही यज्ञ का जनयिता, अथ च समग्र विश्व का निर्माता है। उसी के अधिष्ठान के ऊपर यह विश्व खड़ा है, तथा अपना जीवन यापन करता है। इस वर्णन से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि रोहित ब्रह्म का ही प्रतीक है।

अन्य सूक्तों में गौ का वर्णन बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है (१०।१०), तथा वशा गौ जगत् के समस्त पदार्थों की जननी के रूप में चित्रित की गई है। ब्राह्मणों के लिए दक्षिणास्वरूप होने से ही गौ का महत्त्व वैदिक युग में नहीं था; प्रत्युत कृषक-समाज के लिए सर्वस्व होने के कारण भी गौ का गौरव अतीव महान् था। इस सूक्त में वशा गौ जगत् में सर्वश्रेष्ठ तत्त्व के रूप में चित्रित की गई है। कोई वशा की अमृत रूप से और कोई मृत्यरूप से उपासना करते हैं। संसार में देव, मनुष्य, असुर, पितर तथा ऋषिगण सब कुछ वशा ही है—

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते।
वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्या असुराः पितर ऋषयः॥

(अथर्व १०।१०।२६)

गौ के इस आध्यात्मिक महत्त्व को समझने वाले व्यक्ति को ही यज्ञ में दान देने से वह सफल तथा कल्याण-प्रद होता है (मं० २७)।

'स्कम्भ' (१०।७,८) तथा 'उच्छिष्ट' (११।९) प्रकारान्तर से परब्रह्म के ही नवीन अभिधान एवं स्वरूप प्रतीत होते हैं। जगत् के समस्त पदर्थों का आश्रय तथा अधिष्ठाता होने के कारण ही वह परमतत्त्व स्कम्भ (आधार) की संज्ञा से मण्डित है। वह केवल विश्व का ही कारण नहीं; प्रत्युत ब्रह्म का भी कारण है और इसीलिए वह 'ज्येष्ठ ब्रह्म' कहलाता है। जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष तथा आकाश समाहित हैं—अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य तथा वायु जिसमें अर्पित होकर रहते हैं—वही स्कम्भ है (१०।७।१२)। वही आतमा के साथ ऐक्य धारण करनेवाला तत्त्व है। उच्छिष्ट सूक्त (११।७) में भी वही ब्रह्म 'उच्छिष्ट' नाम से अभिहित किया गया है। 'उच्छिष्ट' शब्द का अर्थ होता है—बचा हुआ, शेष पदार्थ। दृश्य प्रपञ्च के निषेध करने पर जो वस्तु अवशिष्ट रहती है वही 'उच्छिष्ट' है, अर्थात् 'नेति नेति' ब्रह्म। जगत् के समस्त पदार्थों की उत्पत्ति—वेद तथा पुराण की उत्पति (मन्त्र २४), प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र आदि की उत्पत्ति (मन्त्र २५) उच्छिष्ट से ही हुई है—

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः॥
(११।७।२३)

व्रात्य—अथर्ववेद की शौनक शाखा की संहिता ही पूर्णतया उपलब्ध है, तथा आजकल प्रचलित है। इसका १५वाँ काण्ड 'व्रात्यकाण्ड' के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि इसमें व्रात्य का ही समग्रतया विवरण है। इस काण्ड में दो अनुवाक हैं, जिनमें प्रथम अनुवाक में ७ सूक्त तथा दूसरे में ११ सूक्त हैं। इस प्रकार इसमें १८ सूक्त हैं और प्रति सूक्त में अनेक गद्यात्मक मन्त्र हैं। पैप्पलाद शाखा की उपलब्ध अपूर्ण संहिता में १८ वें काण्ड के २७ वें सूक्त में व्रात्य-विषयक केवल ९ मन्त्र ही मिलते हैं, शेष मन्त्र लुप्त हो गये हैं। विचारणीय यह प्रश्न है कि 'व्रात्य' कौन है? साधारणतः व्रात्य उस मनुष्य को कहते हैं जिसका जन्म द्विजकुल में हुआ हो, पर जिसका उपनयनादि संस्कार न हुआ हो। जान पड़ता है कि प्राचीन काल में आर्यों की कुछ अर्धसभ्य शाखायें थीं, जो क्षत्रियों के बाहर रहती थीं और धीरे-धीरे वे आर्य-समाज में मिल गईं, परन्तु उस आदिम काल में उनका रहन-सहन अन्य लोगों से भिन्न था। सम्भवतः वे वैदिक संस्कारों को नहीं

मानती थीं। ताण्ड्य-ब्राह्मण (१७।१) में इनकी वेशभूषा का बड़ा ही विस्तृत तथा सजीव वर्णन किया गया मिलता है जिससे इनकी जाति-गत विशिष्टता, आचार-व्यवहार और रहन-सहन का रोचक चित्र हमारे नेत्रों के सामने झलक उठता है, परन्तु अथर्ववेदीय 'व्रात्यकाण्ड' में निर्दिष्ट व्रात्य का तात्पर्य क्या है ? आचार-विचार से रहित तथा नियम की शृंखला में न बद्ध होने वाले व्यक्ति का द्योतक होने के कारण 'व्रात्य' शब्द का लाक्षणिक अर्थ हुआ—ब्रह्म, जो जगत् के नियमों की शृंखला में न बद्ध है और न जो कार्यकरण की भावना से ही ओत-प्रोत है। इसी ब्रह्म के स्वरूप का तथा उससे उत्पन्न सृष्टिक्रम का व्यवस्थित वर्णन इस काण्ड में विस्तार के साथ किया गया है।

'व्रात्यो वा इदम् अग्र आसीत्'—पैप्पलाद शाखा के इस वाक्य से स्पष्ट है कि जगत् के आदि में 'व्रात्य' ही केवल विद्यमान था। फलतः 'व्रात्य' शब्द से 'ब्रह्म' का ही यहाँ संकेत है। यह व्रात्य गतिमान होकर प्रजापति को प्रेरित करता है। यहाँ प्रजापति से तत्पर्य हिरण्यगर्भ से है—"स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्यपश्यत् तत्प्राजनयत्।" यहाँ जीवों के शुभाशुभ कर्मों के संस्कार को सुवर्ण कहा गया है। जिस प्रकार सोने से नाना आकार वाले भूषणों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार जीवों के संस्कारसमूह से नाना रूप वाला जगत् बनता है। इन्हीं के आधार होने के कारण प्रजापति हिरण्यगर्भ के भी नाम से प्रख्यात है। हिरण्यगर्भ के द्वारा सृष्टि के क्रम का वर्णन यहाँ किया गया है। इसके अनन्तर वह व्रात्य किस प्रकार नाना दिशाओं में जाता है, तथा तत्सम्बद्ध जीवों की सृष्टि में समर्थ होता है ? इसका विशद विवरण इस काण्ड में है। इस प्रकार यह व्रात्यकाण्ड भी उच्छिष्ट सूक्त के समान आध्यात्मिक तथ्यों का प्रतिपादक है जिसका विपुल वर्णन उपनिषदों में किया गया है।

अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तों में निर्दिष्ट तत्त्व उपनिषदों की पूर्वपीठिका माने जा सकते हैं। इन्हीं सूत्रों की महती व्याख्या उपनिषदों में उपलब्ध होती है। इस प्रकार अथर्ववेद के विषयों की यह आलोचना उसके ऐहिक तथा आमुष्मिक रूप से परिचय देने के लिए पर्याप्त मानी जा सकती है।

अथर्व=ऋग्वेद का पूरक

काव्य की दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पूरक माना जा सकता है। ऋग्वेद को प्राचीनतम काव्य का निदर्शन मानना एक स्वतः सिद्ध सिद्धान्त है, परन्तु वह गौरव अथर्ववेद को भी प्रदान करना चाहिए, क्योंकि यदि ऋग्वेद अधिकांश में आधिदैविक तथा अध्यात्म-विषयक मनोरम मन्त्रों का एक चारु समुच्चय है, तो

अथर्ववेद आधिभौतिक विषयों पर रचित मन्त्रों का एक प्रशंसनीय संग्रह है। काव्य की दृष्टि से दोनों में उदात्त भावना से मण्डित तथा मानव-हृदय को स्पर्श करनेवाले सुचारु गीतिकाव्यों का बृहत् संग्रह है। दोनों मिलकर आर्यों के प्राचीनतम काव्यकला के रुचिर दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं; यह संशयहीन सिद्धान्त है।

किसी देश या समाज में दो स्तरों के मनुष्य पाये जाते हैं—एक तो हैं निम्नस्तर के पुरुष, जिनके आचार-विचार एक विचित्र धारा में प्रवाहित होते रहते हैं। साधारण जनता के नाम से ये ही पुकारे जाते हैं; दूसरे उच्च स्तर के पुरुष, जिनकी विशेष शिक्षा-दीक्षा होती है और अपनी शिक्षा के प्रभाव से जिनकी विचारधारा एक विशिष्ट मोड़ लेकर प्रवाहित होती है। दोनों की रुचि भिन्न होती है और दोनों के लिए कविता भी भिन्न प्रकार की होती है। कविता के ये विभिन्न प्रकार निःसन्देह एक दूसरे के पूरक होते हैं। अथर्व तथा ऋग्वेद की कविता का पार्थक्य इसी कारण सिद्ध होता है। अथर्ववेद के विचारों का धरातल सामान्य जनजीवन है, तो ऋग्वेद का विशिष्ट जनजीवन है। साधारण जनता के अनेक विश्वास विचित्र तथा विलक्षण हुआ करते हैं। किसी रोग का निदान करते समय वे आधिदैविक कारणों की उपेक्षा नहीं करते। उनके जीवन पर भूत-दूत, प्रेत-पिशाच, डाकिनी-शाकिनी जैसे अदृश्य अर्धदैविक प्राणियों की सत्ता उसी प्रकार प्रभाव डालती है, जिस प्रकार भूतल के दृश्य प्राणियों का अस्तित्व। उनकी दृष्टि में ये पदार्थ अदृश्य जगत् के निवासी न होकर इस ठोस धरातल पर उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार मनुष्य तथा पशु। फलतः उनके विचार में इन प्राणियों का अस्तित्व उनके जीवन की घटनाओं को प्रभावित करने में सर्वथा समर्थ होता है। कोई कुमारी अपने लिए योग्य पति के पाने में यदि असमर्थ है, तो इसका कारण वह न तो अपने सौन्दर्य के अभाव को हेतु मानती है, और न अपने माता-पिता के प्रयत्नों के शैथिल्य को, प्रत्युत वह किसी अदृश्य जीव को अपने ऊपर प्रभावशाली मानकर उसके प्रभाव को ध्वस्त करने का प्रयत्न करती है। साधारण जन अपने शत्रु को परास्त करने के लिए टोना टोटका की शरण में जाता है। ऐसे प्राकृत जन के विश्वासों तथा आचारों की जानकारी के लिए अथर्ववेद सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। इस वेद के अध्ययन से पता चलता है कि अभिचार दो प्रकार का होता था—एक तो मंगलसाधक, जिससे साधक अपने कल्याण की कामना करता था; दूसरा होता था अमंगलसाधक, जिसमें शत्रुओं को परास्त तथा ध्वस्त करने की भावना प्रबल होती थी। पवित्र अभिचार (अथर्व) में हमें रोग की चिकित्सा के हेतु मन्त्र मिलते हैं, तो अमांगलिक

अभिचार (आंगिरस) में शत्रुओं तथा विद्रोहियों के प्रति अभिशाप मन्त्र मिलते हैं। इन दोनों प्रकार के अभिचार मन्त्रों का संग्रह होने के कारण यह समग्र वेद 'अथर्वाङ्गिरस' के नाम से प्रसिद्ध है।

कतिपय उदाहरणों के द्वारा इन अभिचारों के स्वरूप का यहाँ प्रदर्शन किया जा रहा है। यदि कोई व्यक्ति किसी सुन्दरी का प्रेम प्राप्त करना चाहता है, तो उसे अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिये अथर्व में अनेक विधान मिलते हैं। 'कौशिक-सूत्र' में एक विधान का प्रकार इस प्रकार है—प्रेमी अपनी सुन्दरी की मिट्टी की मूर्ति बनाता है। अपने हाथ में वह सन की डोरी वाले धनुष को लेता है, जिसके बाण का अग्रभाग तीक्ष्ण कंटक से बिंधा रहता है। इसी बाण से वह अपनी प्रेयसी के हृदय को बेधता है और साथ में अथर्व के मन्त्रों का (३।२५।१–५ और ६) उच्चारण करता है, जिससे उसका मनोरथ पूर्ण हो जाता है। कभी-कभी बड़े बर्बर अभिचार का प्रयोग हम पाते हैं, जब किसी स्त्री को वन्ध्या बनाना अभीष्ट होता है अथवा किसी पुरुष को पुंस्त्वशक्ति से विहीन बना कर नपुंसक बनाने की भावना प्रबल होती है (अथर्व ६।१३८; ७।९०)। दुःस्वप्नों को दूर हटाने के लिए कहीं भूतापसरणविधि दी गई है, तो कहीं संग्राम मे शत्रु की प्रबल सेना को ध्वस्त करने के लिए तथा राजा को विजयी बनाने के लिए अनेक अभिचार मन्त्र हैं। रोगों को दूर करने के नाना प्रकार की ओषधियों का प्रयोग मन्त्रों के साथ दिया गया है। साधारण ज्वर (तक्मन्) किलास (श्वेत कुष्ठ), क्षेत्रिय रोग (कुलक्रमागत रोग), यक्ष्मा (क्षय रोग), विष (शरीर में किसी भी प्रकार से प्रविष्ट विष) आदि के निवारण के लिए ओषधियों का प्रयोग नाना विधान के साथ यहाँ उपलब्ध होता है जिससे मानव के कल्याण की भावना सर्वतोमुखी प्रतीत होती है। तात्पर्य यह है कि अथर्ववेद प्राकृतजन के विश्वासों का, आचार विचारों का, रहन-सहन का, अलौकिक शक्ति में दृढ़ विश्वास का, भूत प्रेत आदि अदृश्य जीवों में पूर्ण आस्था का एक विराट् विश्वसनीय कोश है, जिसकी सहायता से हम उस प्राचीन युग की एक भव्य झाँकी देख करते हैं। इसके मन्त्रों की भाषा भी अपेक्षाकृत सरल तथा सुबोध है।

ऋग्वेद संस्कृत जन के विचारों की झाँकी प्रस्तुत करता है। उसके आचार-विचारों का धरातल नितान्त उच्चस्तरीय, सुसंस्कृत तथा शिष्ट है। समाज उच्च-स्तर के विचारकों की विचार-धारा मन्त्रों के माध्यम द्वारा यहाँ प्रवाहित होती है। मानव जीवन को सुखमय बनाने वाले तथा प्राकृत दृश्यों के प्रतीकरूप देव हमारे जीवन में सर्वथा प्रभविष्णु तथा महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ हैं। इसीलिए पुरोहित वर्ग

अपने लिए, अपने यजमान के लिए, अपने आश्रयदाताओं के लिए बड़ी सुश्लिष्ट स्तुतियाँ सुनाकर उन्हें कृपाशील बनने के लिए प्रार्थना करता है। वे सर्वदा अपने पुत्रपौत्रों के सुख-समृद्धि आदि के निमित्त देवों से प्रार्थना करने में कभी नहीं चूकते। देवों को साक्षात् करने तथा श्रद्धामयी पूजा देने का प्रधान उपकरण यज्ञ माना है। इन्हीं को लक्ष्य कर ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र प्रवर्तित होते हैं। अनेक सूक्त यज्ञ के सम्बन्ध से सर्वथा विहिन आपाततः प्रतीत होते हैं, परन्तु भीतर कोई याज्ञिक उद्देश्य अवश्यमेव विद्यमान रहता है। यज्ञीय उपकरण नितान्त उदात्त तथा विशुद्ध होते हैं। घृत, यव तिल तथा सोमरस—ये देवता के उद्देश्य से अर्पित किये जानेवाले प्रधान पदार्थ हैं। इनमें भी सोमरस का प्रामुख्य है। सोम-याग में सोमरस तीन बार पत्थरों से कूटकर चुलाया जाता था, जिसे 'सवन-विधि' कहते थे। तदनन्तर उनके वस्त्र से उसे छानकर द्रोण-कलश में रखते थे, तथा उसमें दूध मिलाने की भी विधि थी, इसी का नाम था **'पवमान सोम'**, जिसके विशिष्ट मन्त्रों के लिए ऋग्वेद का एक विशिष्ट मण्डल ही पृथक् कर दिया गया है। फलतः यज्ञ के अवसर पर इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, सविता, अश्विन आदि देव-ताओं के लिए सोमरस का समर्पण ऋग्वेदीय युग का परमोन्नत धार्मिक कृत्य था। इसी के लिए यजुः तथा साम का भी प्रयोग होता था। फलतः ये तीनों—ऋक्, यजुः तथा साम—एक ही यज्ञ को ध्यान में लक्ष्य कर प्रवृत्त होनेवाले मन्त्रपुंज हैं। समाज का उच्चस्तरीय भाग इस पूजा-विधान का अधिकारी था, तथा इसके लिए प्रयुक्त होने वाली संस्कृत भाषा अपने विशुद्ध उदात्त रूप में हमारे सामने आती है। फलतः ऋग्वेद तथा अथर्व के मन्त्र दोनों मिलकर वैदिक युग के धार्मिक विधि-विधान का स्वरूप प्रस्तु करने में समर्थ हैं। प्राकृतजन तथा संस्कृतजन—दोनों जनों का विचार—धरातल इन ग्रन्थों में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। अत एव ये दोनों एक दूसरे के परस्पर पूरक माने जा सकते हैं।

ऊपर के वर्णन से यह न समझना चाहिए कि अथर्व में यज्ञ विधान का स्थान नगण्य और उपेक्षणीय है। ऋग्वेदीय यज्ञ-याग का विधान यहाँ भी किया गया, परन्तु यज्ञ का सम्बन्ध अभिचार के साथ विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया गया। उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति के साथ ही साथ सांसारिक अभ्युदय तथा शत्रुओं का पराजय भी था। यज्ञ एक प्रकार माया शक्ति का आश्रय माना जाने लगा और इस माया शक्ति का नाम ही पड़ गया—ब्रह्मन्। इस प्रकार अथर्व में हम यज्ञ की भावना में भी एक विकास का परिचय पाते हैं। यह विकाश भौतिक रूप से मानस स्तर तक पहुँचने का सूचक है। यज्ञ प्रतीकात्मक रूप से होकर मानस विधान की कोटि में आता है, अर्थात् यज्ञ के वास्तव विधान से आगे उठ-

कर यजमान केवल मानसिक क्रिया के द्वारा अब यज्ञ का निष्पादन करता है। इस प्रकार यज्ञ की यह आध्यात्मिक भावना हमें औपनिषद कल्पना के पास पहुँचा देती है। अब यज्ञ बहुत सीधे-सादे विधान थे, जिनका सम्पादन थोड़े से खर्चे में और थोड़े ही दिनों में होना शक्य हो गया। इस प्रकार अथर्व वेद में हम यज्ञ के स्वरूप तथा विधान में पूर्ववेदों की अपेक्षा मौलिक परिवर्तन पाते हैं।

अथर्ववेद में कौटुम्बिक अभिचार

वैदिक साहित्य में अथर्ववेद का स्थान बड़ा ही अनुपम है। जहाँ अन्य वेद देवताओं की स्तुति को ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं, वहाँ अथर्ववेद भौतिक विषयों के भी वर्णन में अपने को कृतकार्य मानता है। आदिम मानव की नाना प्रकार की विचित्र क्रियाओं, आचार-विचारों और रहन-सहन की पूरी जानकारी के लिए अथर्ववेद से पुराना ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। जैसे शत्रुओं पर विजय पाने के लिए, क्लेशदायी दीर्घ रोगों के निवारण के लिए, सद्योजात शिशु तथा उसकी माता—जच्चा तथा बच्चा को सन्तप्त करनेवाले भूत-प्रेतों के विनाश के लिए नाना अभिचारों का विचित्र वर्णन अथर्ववेद के सूक्तों में पाया जाता है, जिसके कारण यह वेद 'नृतत्व' (ऐनथ्रोपोलाजी) के अभ्यासियों के लिए एक बहुमूल्य विश्वकोष का काम करता है। जादू टोना का प्रचार आथर्वण सभ्यता की एक विशिष्ट घटना है।

जादू-टोना सदा बुरा ही नहीं हुआ करता है। इसके द्वारा प्राचीन मानव अपने कुटुम्ब की रक्षा अपने शत्रुओं से तथा रोगों के आक्रमण से किया करता था। आत्म-संरक्षण की भावना ही जादू-टोना जैसी क्रियाओं की पृष्ठभूमि है। प्राणी इस पृथ्वीतल पर अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहता है। उसकी कामना यही रहती है कि वह भी दीर्घ काल तक सुख भोगे, तथा उसका कुटुम्ब, उसका परिवार तथा उसकी सन्तान भी कल्याणमय जीवन बितावे। इसे ही कहते हैं आत्म-संरक्षण की सहजा प्रवृत्ति। मानव प्रथमतः अपनी रक्षा अपने ही भौतिक उद्योगों के बल पर करता है, परन्तु जब असफलता उसे दूर खदेड़ कर उसके प्रयासों को विफल बना देती है, तब वह आधिदैविक क्रियाओं तथा प्रयासों की ओर अग्रसर होता है और इन्हीं प्रयासों के अन्तर्गत जादू-टोना की भी गणना की जाती है। जादू (संस्कृत नाम=यातु) इस तरह दो प्रकार का होता है—शोभन तथा अशोभन, भला और बुरा। शोभन प्रकार में किसी दूसरे के द्वारा किये गये अनिष्ट से अपने को बचाने की भावना प्रबल

होती है। अशोभन प्रकार में शत्रुविशेष के ऊपर मारण, मोहन तथा उच्चाटन की भावनायें विशेष जागरूक रहती हैं। पाश्चात्य जगत् कितना भी सभ्य क्यों न हो गया हो, परन्तु वहाँ भी इन दोनों की सत्ता विद्यमान है। इनमें से प्रथम प्रकार 'श्वेतजादू' के नाम से प्रसिद्ध है, तो दूसरा 'काला जादू' के नाम से प्रख्यात है। शेक्सपीयर ने अपने अनेक नाटकों में, विशेषतः 'मैकबेथ' में इस दूसरे प्रकार के जादू का साहित्यिक विवरण प्रस्तुत कर यूरोप की मध्ययुगीन धारणाओं का एक भव्यरूप प्रस्तुत किया है।

अथर्ववेद ऐसे विश्वासों की जानकारी के लिए मानव-इतिहास में सबसे प्राचीन ग्रन्थ-रत्न है। अथर्व संहिता में भी अन्य संहिताओं के समान मन्त्रों का ही संग्रह है, परन्तु इन मन्त्रों का उपयोग कब तथा किस उद्देश्य से किया जाता था, इसका पता हमें **कौशिक-गृह्यसूत्र** की सहायता से ही लगता है। कौशिक गृह्यसूत्र अथर्ववेद का एकमात्र गृह्यसूत्र है जिसमें १४ अध्याय हैं। इसका सम्पादन न्यूहावेन (अमेरिका) से डा० ब्लूमफील्ड ने किया है (१८९०में), तथा इसका पुनर्मुद्रण हिन्दी अनुवाद के साथ किया है मुजफ्फरपुर से उदयनारायण सिंह ने (१९४२ ई० में)। मानव विज्ञान के इतिहास में कौशिक-सूत्र नितान्त उपादेय, प्रामाणिक तथा रोचक ग्रन्थ है, जिसमें उन अभिचारीय क्रिया-कलापों का विचित्र वर्णन है जो मन्त्रों के साथ प्रयुक्त होते थे।

अथर्ववेद के केवल विवाह सम्बन्धी सूक्तों का एक संक्षिप्त अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। विवाह से सम्बद्ध अनेक सूक्त अथर्ववेद में उपलब्ध होते हैं, जिनके अनुशीलन से उस युग के समाज का चित्र हमारे नेत्रों के सामने बलात् प्रस्तुत हो जाता है। इन सूक्तों में कहीं तो पुत्र की उत्पत्ति के लिए प्रार्थना है, तो कहीं सद्योजात शिशु की रक्षा के लिए देवताओं की स्तुति है। अथर्ववेद का १४वाँ काण्ड 'विवाह काण्ड' है, जिसके दो अनुवाकों में १३९ मन्त्र हैं, जिनका उपयोग विवाह के अवसर पर किया जाता है। इनमें से अनेक मन्त्र ऋग्वेद के वैवाहिक सूक्तों में भी उपलब्ध हैं। इस मन्त्र में अग्नि तथा सूर्य से प्रार्थना की गई है कि वे कुटुम्ब के नाना क्लेशों को दूर करें—

यत् ते प्रजायां पशुषु यद्वा गृहेषु
निष्ठितमघं कृद्भिरघं कृतम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः
सविता च प्रमुञ्चताम्॥

(अथर्व १४।२।६२)

इसी प्रकार जब वधू अपने नवीन घर—पतिगृह में आती है, तब उसे दीर्घ जीवन पाने के लिए भव्य प्रार्थना इस मन्त्र में की गई है—

प्रबुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना
दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो
दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥

(वही, मन्त्र ७५)

अब दूसरे प्रकार के मन्त्रों तथा तत्सम्बद्ध अनुष्ठानों पर दृष्टिपात कीजिए। कोई स्त्री अपने पति का प्रेम पाना चाहती है अथवा कहीं वह अपनी सपत्नी को अपने वश में करना चाहती है, तब वह एक विशिष्ट अनुष्ठान के साथ इस सूक्त के मन्त्रों का उपयोग करती है—

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥
आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्प कुल्मलाम्।
तां सुसन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥
या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसन्नता।
प्राचीनपत्रा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

(३।२५)

भावार्थ—दूसरों को बेचैन बनाने वाला काम तुम्हें बेचैन बनावे। अपनी सेज पर तुम आनन्द के साथ मत रहो। काम का जो भयानक बाण है उससे मैं तुम्हारे हृदय को बेधती हूँ। कामदेव का बाण मानसिक व्यथा के पत्तों से युक्त है। इच्छा के जिसमें काँटे गड़े हैं, संकल्प (निश्चित इच्छा) ही जिसका डंडा है ऐसे बाण से तुम्हारे ऊपर ठीक लक्ष्य रख कर काम तुम्हारे हृदय को बेधे। काम का बाण प्लीहा को सोखने वाला है, ठीक लक्ष्य पर जमा है, उसके पंख आगे उड़ रहे हैं तथा यह जलाने वाला है (व्योषा), ऐसे बाण से मैं तुम्हारे हृदय को बेधती हूँ। इस सूक्त में कुल छः मन्त्र हैं जिनमें से तीन मन्त्रों का अर्थ ऊपर दिया गया है। शेष मन्त्र भी इसी भाव को पुष्ट करने वाले हैं। कौशिक-सूत्र का कथन है कि यदि कोई पुरुष किसी स्त्री के प्रेम को पाकर उसे अपने वश में लाना चाहता है, तो वह उस स्त्री की मिट्टी की मूर्ति बनाता है, सन की बनी डोरीवाला धनुष तथा काँटों की नोक वाला बाण बनाता है। बाण का पंख उल्लू की पाँख का होता है, तथा बाण का हाथ काली लकड़ी का बना होता है और

वह इसी बाण से उस प्रेमिका की मृत्तिकामूर्ति को छेदकर आर-पार कर देता है। काम के द्वारा कामिनी के हृदय को वेधने का यह प्रतीक है। दोनों क्रियायें साथ-साथ होती हैं—बाण से हृदय का वेधना और ऊपर के मन्त्रों का उच्चारण। यह वशीकरण क्रिया कहलाती है। ऐसी मूर्ति या चित्र बनाकर उसे वेधने का ढंग संसार के अन्य भागों में आज भी प्रचलित है।

इसी प्रकार पति के वश में लाने वाली वधू इस वशीकरण क्रिया का आश्रय लेती है। वह अपने प्रियतम की मूर्ति बनाती है, उसे अपने सामने रखती है और उसके सिर पर गरम बाणों से आघात करती है, साथ ही साथ अथर्व के दो सूक्तों (६।१३० तथा ६।१३८) का पाठ भी करती जाती है। इन सब का ध्रुव वाक्य है—'देवाः प्रहिणुत स्मरम् असौ मामनुशोचतु' अर्थात् हे देवगण! काम को इसके प्रति भेजिए, जिससे वह मेरे प्रेम से उद्विग्न हो जाय।

एक दो मन्त्रों को लीजिए।

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्षमादय।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनुशोचतु।
(६।१३०।४)

हे देवता लोग इसे पागल बना डालिए मेरे प्रेम से। ऐ वायु! इसे पागल बना डालो। हे अग्निदेव! आप भी इसे पागल बना डालो। वह मेरे प्रेम से शोक से व्याप्त हो जाय।

यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पित॥
(६।१३१।३)

स्त्री पति को लक्ष्य कर कह रही है—अगर तुम तीन योजनों तक यहाँ से दौड़ गये हो, पाँच योजनों तक अथवा घोड़े के दिन भर चलने के रास्तों को पार कर गये हो, तो वहाँ से तुम मेरे पास अवश्य चले आवो और हमारे पुत्रों के तुम पिता बनो।

अन्तिम मन्त्र का तात्पर्य यह है कि पति स्त्री के पास से भाग कर बहुत दूर चला गया है, परन्तु इस आभिचारिक अनुष्ठान के बल पर वह फिर लौट कर घर चला आता है, अपनी गृहस्थी जमाता है तथा अनेक पुत्रों का पिता बन जाता है। इन मन्त्रों की भावना सौम्यभाव से परिपूर्ण है, परन्तु जिन मन्त्रों में

कोई स्त्री अपनी वैरिणी को परास्त करना चाहती है उनमें तो घृणा की तथा प्रत्यपकार की बड़ी ही तीव्र-भावना दीख पड़ती है। इस घृणा-भाव के लिए इन मन्त्रों पर ध्यान दीजिये—

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम्॥
(१।१४)

मैंने इस स्त्री (अपनी वैरिणी) के कल्याण, सौभाग्य तथा तेज को अपने वास्ते ले लिया है जिस प्रकार पेड़ से माला को। दृढ़ मूल वाले पर्वत के समान वह पिता माता के यहाँ ही सदा बैठी रहे। दोनों उपमाओं का तात्पर्य सुन्दर है। माला तो सौभाग्य तथा तेज का प्रतीक है। पर्वत की उपमा देकर वह स्त्री कहती है कि जिस प्रकार दृढ़मूल पहाड़ उखाड़े नहीं उखड़ता, उसी प्रकार वह स्त्री भी हटाये न हटे। अपने मायके में ही पहाड़ की तरह जमी रहे। हमारे प्रियतम का मुख देखने का सौभाग्य उसे नहीं मिले।

एषः ते राजन् कन्या वधूर्निधूमतां यम।
सा मातुर्वध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः॥ २॥
एषा ते कुलपा राजन्! तामु ते परि दद्मसि।
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात्॥ ३॥

यहाँ स्त्री यम को लक्ष्य कर कह रही है कि हे राजन् यम! इस कन्या को आप अपनी बहू बनाकर अपने वश में रखिये। यह अपनी माता या भाई के या पिता के घर में बँधी रहे। हे राजन्! यह कन्या तुम्हारे कुल की रक्षा करने वाली है, इसे हम लोग तुम्हें देते हैं। यह अपने माता-पिता के यहाँ तब तक निवास करती रहे जब तक इसके बाल सर से न झड़ जाँय!!! इस चण्डिका की प्रार्थना सचमुच बड़ी कठोर है। यमराज की पत्नी बना देने से ही उसे सन्तोष नहीं है। वह तो चाहती है कि वह बुड्ढी-टुड्ढी बन कर मर भले ही जाय, परन्तु पति का मुँह न देखे। इससे बढ़ कर घृणा की भावना क्या हो सकती है?

उग्र प्रतिहिंसा की आग जल रही है उन मन्त्रों में, जिनमें कोई स्त्री अपनी वैरिणी को बाँझ बना देने की प्रार्थना करती है (७।३५), अथवा किसी पुरुष के पुंस्त्व को नष्ट कर उसे नपुंसक बना देने की निर्भ्रान्त प्रार्थना है। दूसरे प्रकार के दो सूक्त हैं जिनमें से ७।९० तो उतना उग्र या तीव्र नहीं हैं, परन्तु ६।१३८ सूक्त में तो प्रतिहिंसा की कठोर भावना पढ़ कर चित्त विचलित हो उठता है।

कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट ओषधि से प्रार्थना कर रहा है कि तुम्हारे प्रयोग के द्वारा मैं अपने शत्रुको क्लीब (=शक्तिहीन) बना देना चाहता हूँ। इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह उस व्यक्ति को सदा के लिए क्लीब बना डाले और दो पत्थरों से उसके दोनों अण्डकोशों को सदा के लिए कुचल डाले। इसे पढ़ कर तो प्रतिहिंसा की भावना अपने नग्न रूप में हमारे सामने सजीव होकर खड़ी हो जाती है। भला इन्द्र से ऐसी प्रार्थना!!! परन्तु वे तो शत्रुओं के 'पुरभेत्ता' ठहरे और इसलिए उनसे 'अण्डभेत्ता' बनने की प्रार्थना में वह व्यक्ति कोई अनौचित्य नहीं देखता!!! भला हो उस प्रतिहिंसा का जो ऐसे अनुचित कार्यों के लिए प्राणियों को अग्रसर करती। इस मन्त्र को लीजिए :—

क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ॥
(६।१३८।२)

एतद्विषयक अन्य सूक्तों में साहित्यक सौन्दर्य की कमी नहीं है। सीदे-सादे शब्दों में अपने मनोगत भावों को प्रकट करने की कला को देखकर आलोचक को आश्चर्य हुए विना नहीं रहता।

अथर्व का रचनाकाल

अथर्व वेद का रचनाकाल ऋग्वेद की अपेक्षा अवान्तरकालीन प्रतीत होता है। भाषा तथा छन्द की दृष्टि से अथर्व का अनुशीलन इस पूर्वोक्त सिद्धान्त का पोषक है। अथर्व की भाषा ऋग्वेद की संस्कृत से अनेक रूपों में अर्वाचीन प्रतीत होती है। छन्दों की भी यही दशा है, परन्तु इतना ही नहीं; भौगोलिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ यह व्यक्त करती हैं कि अथर्व में चित्रित समाज का प्रतिबिम्ब ऋग्वेद में चित्रित समाज की अपेक्षा अवान्तरकालीन है। अथर्व के काल में हम आर्यों को दक्षिण पूर्व की ओर बढ़ते हुए पाते हैं। यही कारण है कि अथर्व में व्याघ्र, जो बंगाल के जंगलों में प्राप्त होने वाला पशु है, अत्यन्त शक्तिशाली और आखेट के समस्त पशुओं में नितान्त भयानक बतलाया गया है। अथर्ववेद में राजा राज्याभिषेक के अवसर पर व्याघ्रचर्म पर आसीन होता है जो उसकी राजकीय शक्ति का प्रतीक समझा जाता है। चातुर्वर्ण्य से ऋग्वेद केवल परिचय रखता है, क्योंकि उसके दशम मण्डल में ही (जो सब मण्डलों की अपेक्षा नूतन मण्डल माना जाता है) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का उल्लेखमात्र मिलता है, परन्तु अथर्व में ब्राह्मण की शक्ति तथा गरिमा की गौरव-गाथा विशेष रूप से गाई गई है। समाज में ब्राह्मणों का अधिकार

विशेषतया समृद्ध उपलब्ध होता है और यह काम था पुरोहित वर्ग का जिसने अपने यज्ञीय कौशल और अभिचारीय नैपुण्य के बल पर समाज में अपना उच्च आसन प्राप्त कर लिया था। अथर्व के मन्त्रों में निर्दिष्ट अभिचार अपने विशुद्ध रूप में जनता के लोकप्रिय रीति-रिवाजों की भाँति उपलब्ध नहीं होते। इनमें पुरोहित वर्ग के द्वारा अथर्व संहिता का संकलन ही हम नहीं पाते, प्रत्युत अनेक सूक्तों का प्रणयन भी पुरोहित वर्ग के उद्योग का परिणत फल है। इस प्रकार अथर्व वेद में पौरोहित्य दृष्टिकोण की सत्ता उपमाओं तथा दृष्टान्तों के द्वारा यत्र तत्र उपलब्ध होती है। क्षेत्र-कृमि से सम्बद्ध एक मन्त्र में कहा गया है कि इस अभिचार के प्रभाव से ये कीड़े फसल को विना छुये हुए वैसे ही छोड़ देंगे जैसे अपूर्ण यज्ञ के भोजन को ब्राह्मण छोड़ देता है।

अथर्व में निर्दिष्ट देवमण्डल भी ऋग्वेद से आवन्तरकालीन विकाश का सूचक और पोषक है। अथर्व में इन्द्र, अग्नि आदि ऋग्वेदीय देवों की सत्ता होने पर भी उनके स्वरूप और कार्यों में पर्याप्त पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। इन देवताओं का प्राकृतिक दृश्यों का प्रतीकात्मक रूप अब विस्मृतप्राय बन जाता है। अब वे केवल देवविशेष के रूप में ही उपस्थित होते हैं जिनका काम केवल राक्षसों का संहार, रोगों का विनाशन और शत्रुओं का विध्वंसन है। अथर्व में बहुत अध्यात्मवाद तथा सृष्टिवाद से सम्बद्ध सूक्त भी उसे पीछे की रचना सिद्ध कर रहे हैं। इन सूक्तों का अध्यात्मवाद उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्त की कोटि में आ जाता है इनका प्रयोग भी इन्द्रजाल के अवसर पर भूतों और पिशाचों को भागने के उद्देश्य से किया जाता है। इन प्रमाणों पर दृष्टि डालने से स्पष्ट है कि अथर्व संहिता की रचना का समय ऋक्संहिता के निर्माण काल से अवश्यमेव पीछे का है।

वेद के लिए प्राचीन साहित्य में त्रयी शब्द का प्रयोग हम पाते हैं, जिससे ऋक्, यजुः और साम इन तीनों वेदों से तात्पर्य समझा जाता है। अन्यत्र विद्याओं की गणना के प्रसंग में भी वेदत्रयी के अनन्तर इतिहास तथा आख्यान का नाम होने पर भी हम अथर्व को अनुल्लिखित पाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि बहुत काल तक त्रयी के समान अथर्व को मान्यता नहीं प्राप्त थी और यह मान्यता शनैः शनैः अवान्तर शताब्दियों के प्रयास का श्लाघनीय फल है।

अथर्व में बाह्य प्रभाव

लोकमान्य तिलकजी ने अथर्ववेद के स्वरूप पर विचार करते समय एक नई सम्भावना को अग्रसर किया है। उनका कहना है कि अथर्व का अनेक स्थलों पर भारत के बाहर पनपने वाले धार्मिक सिद्धान्तों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

वर्तमान इराक का बहुत प्राचीन काल में नाम था काल्डिया। इस प्रदेश को तुरानियन लोगों ने पाँच हजार वर्ष ईसा पूर्व अपना उपनिवेश बनाया। उनके धार्मिक सिद्धान्तों का परिचय विद्वानों को हाल में चला है। इसी प्रदेश को दो हजार वर्ष ईसा पूर्व 'बेबिलोनिया' (बाबुल) के नाम से पुकारते थे, तथा भारतवर्ष के साथ उस युग में भी इन लोगों का बड़ा समृद्ध व्यवसाय चलता था। बाबुल देश का कीमती कपड़ा (मलमल) 'सिन्धु' के नाम से संकेतित किया गया है। यह शब्द इसका स्पष्ट प्रमाण है कि सिन्धु या भारत से उस देश में कपड़ों का आयात होता था और वह भी जलमार्ग से ही, स्थलमार्ग से नहीं। स्थलमार्ग से आने पर फारसी भाषा के प्रभाव से उस शब्द को वञ्चित करना कठिन होता और इसलिए वह शब्द 'हिन्द' के नाम से प्रख्याति पाता।

बाबुल के उदय से हजारों वर्ष पूर्व ही काल्डिया देश से भी भारत का घनिष्ठ व्यावसायिक सम्पर्क था। दोनों देशों में विचारों के आदान-प्रदान उस सुदूर प्राचीन युग में होता रहता था। इसका प्रभाव अथर्व के मन्त्रों के ऊपर है। अथर्व के पञ्चम काण्ड १३वें सूक्त के अष्टम मन्त्र में 'तैमात', 'उरुगूला' आदि शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ इसी काल्डिया के प्राचीन धार्मिक तथ्यों के अनुशीलन से लग सकता है। उस देश का विश्वास है कि पाताल में 'तियामत' नामक इक बृहत्काय सर्प रहता था जिसे 'मर्दुक' नामका देवता ने अपने अस्त्र से मार डाला। तिलकजी का कहना है कि अथर्व का 'तैमात' (जो सर्प का बोधक शब्द है) इसी 'तियामत' का ही प्रतिरूप है। 'उरुगल' शब्द का अर्थ है एक विराट् नगर, अर्थात् पाताल लोक। अथर्व के 'उरुगूला' का यही मौलिक स्रोत है। काल्डिया में 'अप्सु' या 'अब्जु' तियामत के पति का नाम था, जिसे 'मर्दुक' ने मार डाला था और इसीलिए वह 'अब्जुजित्' की उपाधि से विभूषित था। तिलकजी के अनुसार वैदिक इन्द्र मर्दुक का ही प्रतिरूप है। फलतः वेद में इन्द्र की उपाधि 'अप्सुजित्' सार्थक है। 'अप्सुजित्' का प्रथम अंश 'अप्' शब्द का सप्तम्यन्त न होकर वह स्वयं व्यक्तिवाचक संज्ञा है। अप्सु=अब्जु। 'उर्वशी' शब्द का अर्थ ऊरु से उत्पन्न होने वाली न होकर अप्सरा अर्थ होना चाहिए, क्योंकि काल्डी-भाषा में 'ऊरु' का अर्थ है पाताल या वहाँ का जल। फलतः उर्वशी जल में उत्पन्न होने वाली दिव्याङ्गना है और उसका ठीक प्रतिरूप है अप्सरा (जिनकी उत्पत्ति जल से मानी जाती है)। इन्द्र को वेद में 'सतहन्' कहा गया है। तियामत के सात सिर थे। फलतः वह वृत्र का ही प्रतिरूप था और इस प्रकार वृत्रहा इन्द्र का 'सतहन्' उपाधि-धारण कुछ विचित्र नहीं है।

काल्डी भाषा में 'किम्म-दिम्म' नाम वहाँ के भूत-पिशाचों का है और इसी की प्रतिध्वनि 'किमिदिन' ऋग्वेदीय शब्द में है जिसका यास्क ने 'किमिदानीम्' शब्द से सम्बद्ध बतलाया है। हिब्रूधर्म में निर्दिष्ट 'तेहोम' भी 'तियामत' से ही निष्पन्न हुआ है। तिलकजी की कल्पना है कि काल्डी शब्द अथर्व में अनेक उपलब्ध होते हैं और इसी विदेशी प्रभाव के कारण अथर्व की विशुद्धि दीर्घकाल तक अमान्य थी और वह बहुत पीछे चतुर्वेद में स्थान पा सका[1]।

---

१. द्रष्टव्य 'भंडारकर स्मृतिग्रन्थ' में तिलक का 'काल्डियन वेद' विषयक निबन्ध।

*

अष्टम परिच्छेद

ब्राह्मण

(सामान्य परिचय)

संहिताओं के विवरण देने के अनन्तर वेद के ब्राह्मणों का परिचय देना अवसर-प्राप्त है। ग्रन्थवाची ब्राह्मण शब्द नपुन्सक लिंग में ही विशेषतः व्यवहृत किया गया है। मेदिनी कोश के अनुसार वेद-भाग का सूचक 'ब्राह्मण' शब्द नपुंसक ही होता है—"ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्।" ग्रन्थ अर्थ में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग पाणिनीय अष्टाध्यायी (३।४।३६), निरुक्त (४।२७), ब्राह्मण (शतपथ ४।६।९।२०), ऐतरेय ब्राह्मण (६।२५,८।२) में ही उपलब्ध नहीं होता; प्रत्युत तैत्तिरीय-संहिता में इसका सब से प्राचीन प्रयोग मिलता है—"एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि" तैत्तिरीय सं० ३।७।१।१। इसके अर्थ के विषय में मतभेद नहीं है। ब्राह्मण ब्रह्मन् के व्याख्यापरक ग्रन्थों का नाम है। 'ब्रह्म' शब्द स्वयं अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, जिसमें इसका एक अर्थ है मन्त्र, वेद में निर्दिष्ट मन्त्र (ब्रह्म वै मन्त्रः, शत० ब्रा० ७।१।१।५)। इस प्रकार वैदिक मन्त्रों के व्याख्यान उपस्थित करने के कारण ब्राह्मण का यह नामकरण है। 'ब्रह्म' शब्द का एक दूसरा अर्थ है—यज्ञ। विस्तार किये जाने के कारण यज्ञ ब्रह्म तथा वितान शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार यज्ञ के कर्मकाण्ड की व्याख्या तथा विवरण प्रस्तुत करना ब्राह्मणों का मुख्य विषय है। इस प्रकार ब्राह्मणों में मन्त्रों, कर्मों तथा विनियोगों की व्याख्या है। ब्राह्मणों की अन्तरङ्ग परीक्षा करने पर यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला एक महनीय विश्वकोश है[1]। संसार के किसी भी धार्मिक साहित्य में ब्राह्मण जैसे ग्रन्थों का

---

१. ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः।

(भट्ट भास्कर—तै० सं० १।५।१ भाष्य)

नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्।
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते॥

(वाचस्पति मिश्र)

नितान्त अभाव है जिसमें कर्मकाण्ड का, विशेषकर यज्ञ-यागादि के विधान का इतना साङ्गोपाङ्ग तथा पूर्ण परिचय दिया गया हो। सच तो यह है कि यज्ञ भी एक विज्ञान है। बाह्य दृष्टि रखने वालों के लिये उसका धार्मिक मूल्य भले ही नगण्य हो, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से मण्डित आलोचक की दृष्टि में यज्ञ एक स्वतन्त्र विज्ञान है जिसके प्रत्येक क्रियाकलाप का अपना मूल्य है और जिसका पूर्ण निर्वाह तथा समग्र फल इन विधानों के उचित अनुष्ठान पर ही आश्रित रहता है। यज्ञ के पूर्ण रूप का परिचायक यही ब्राह्मण ग्रन्थ हैं।

निरुक्त आदि ग्रन्थों में 'इति विज्ञायते' कहकर ब्राह्मण ग्रन्थों का ही निर्देश किया गया है। इस शब्द की व्याख्या में दुर्गाचार्य ने यही लिखा है—"एवं ब्राह्मणेऽपि विचार्यमाणे ज्ञायते" (निरुक्तटीका ३।११, २।१८)। पाणिनि[२] की अष्टाध्यायी में 'अनुब्राह्मण' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ ब्राह्मण तो नहीं, परन्तु ब्राह्मणों से मिलता-जुलता ग्रन्थ किया गया है। इस शब्द का प्रयोग भट्ट भास्कर ने तैत्तिरीयसंहिता की भाष्यभूमिका में किया है। प्रतीत होता है कि ब्राह्मण के ही अवान्तर भाग को अनुब्राह्मण संज्ञा दी गई थी।

ब्राह्मण ग्रन्थों का विस्तार बहुत ही विशाल तथा व्यापक था। आजकल उपलब्ध ब्राह्मणों की संख्या जितनी मिलती है उससे यह संख्या कितनी गुनी अधिक थी। आश्वलायन गृह्यसूत्र (३ अ० ३ ख०) में ऋषि-तर्पण के साथ आचार्य-तर्पण भी उपलब्ध होता है। आश्वलायन ने ऋषियों और आचार्यों में भेद किया है। ऋषि तो वे हैं जो मन्त्रों के द्रष्टा हैं, परन्तु आचार्य वे हैं जो ब्राह्मणों के द्रष्टा हैं। ऐसे आचार्यों के यहाँ तीन गण उपलब्ध होते हैं—(१) माण्डूकेय गण, (२) शांखायन गण, (३) आश्वलायन गण। इन आचार्यों के नाम ये हैं—कहोल, कौषीतक, महाकौषीतक, भरद्वाज, पैङ्ग्य, महापैङ्ग्य, सुयज्ञ, शांखायन, ऐतरेय, बाष्कल, शाकल, गार्ग्य, सुजातवक्त्र, औदवाहि, सौजामि, शौनक, आश्वलायन। इन नामों की परीक्षा करने से ये नाम नवीन तथा अन्यत्र अज्ञात हैं। पैङ्ग्य नामों से प्रतीत होता है कि भारत तथा महाभारत के समान दो भिन्न भिन्न ग्रन्थ थे, एक छोटा तथा दूसरा बड़ा। सामान्यतः शांखायन ब्राह्मण ही कौशीतक ब्राह्मण माना जाता है, परन्तु इस आचार्य-सूची में पृथक् तर्पण होने के कारण ये दोनों भिन्न-भिन्न आचार्य हैं। हम निश्चय-पूर्वक नहीं

---

२ अनुब्राह्मणादिनिः ४।२।६२—तदधीते तद्वेद इत्यर्थे।
ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थोऽनुब्राह्मणं तदधीते अनुब्राह्मणी।

कह सकते कि इन समस्त आचार्यों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण किया था, परन्तु ऐतरेय तथा शांखायन तो निश्चय ही ब्राह्मणों के द्रष्टा ऋषि हैं जिनके ब्राह्मण-ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हो रहे हैं।

संहिता तथा ब्राह्मण का विषय-पार्थक्य

संहिता तथा ब्राह्मण के स्वरूप एवं विषय का पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है। संहिता का स्वरूप दोनों प्रकार का है। अधिकांश संहिताएँ छन्दोबद्ध हैं। उनके कतिपय अंश ही (कृष्णयजुर्वेदीय संहिता में तथा अथर्वसंहिता का स्वल्प अंश) गद्यात्मक हैं, परन्तु ब्राह्मण सर्वथा गद्यात्मक ही होता है। विवेच्य विषय में भी अन्तर है। ऋग्-मन्त्रों में देव-स्तुतियों का प्राधान्य है, अथर्व-मन्त्रों में नाना प्रकार के ऐहिक तथा पारलौकिक फल देने वाले विषयों का विवेचन है। उसके सूक्त रोग निवारण, सुयोग्य पति का वरण, घर बनाने, हल जोतने, बीज बोने आदि गार्हस्थ्य सम्बन्धी कार्यों के लिए आशीर्वाद; राजकीय विषयों—जैसे शत्रु को परास्त करना, संग्राम में सेना का संचालन तथा तदुपयोगी साधनों—का विवरण आदि लौकिक विषयों का प्रतिपादन विस्तार से करते हैं। यजुर्वेद की संहिताओं में मुख्यतया दर्शपौर्णमास इष्टियों तथा अन्य यज्ञों का विस्तृत विवरण उपलब्ध किया गया है। ब्राह्मणों का विवेच्य विषय इनसे नितान्त भिन्न होता है। ब्राह्मणों का मुख्य विषय है विधि—यज्ञ का विधान कब किया जाय? कैसे किया जाय? उसमें किन साधनों की आवश्यकता होती है? कौन उन यज्ञों के अधिकारी होते हैं? इस प्रकार के याग की प्रक्रिया के विषय को सुलझाने के लिए ही इस साहित्य का उदय तथा अभ्युदय हुआ। यज्ञ के विषय में यदि कुछ विरोध प्रतीयमान होता है, तो उसका परिहार करना भी ब्राह्मण का उद्देश्य है। शबरस्वामी के अनुसार ब्राह्मण की विधियों की संख्या दश प्रकार की होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि संहिता में स्तुति का प्राधान्य है और ब्राह्मण में विधि का।

फलतः विधि ही ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रधान विषय है और जितने भी अन्य विषय उपलब्ध होते हैं वे सब अवान्तर होने से उसी के पोषक तथा निर्वाहक-मात्र हैं। ऐसे विषयों का मीमांसक अभिधान 'अर्थवाद' है। अर्थवाद में निन्दा तथा प्रशंसा का निवेश रहता है, जिसमें यागनिषिद्ध वस्तुओं की निन्दा रहती है, तथा यागोपयोगी द्रव्यों की प्रशंसा रहती है। विधि-विधान सयुक्तिक होता है। यह केवल कल्पना-मात्र की प्रसूति न होकर युक्ति तथा तर्क की आधार-शिला पर

खड़ा रहता है। अतः इनके लिए 'हेतु' या कारण का निर्देश करना भी ब्राह्मणों का कार्य है। स्थान-स्थान पर अनुष्ठेय वस्तुओं की पुष्टि के लिए ही अनेक प्राचीन इतिहास तथा आख्यान दिये गये हैं, जो अनुष्ठानों की प्रशंसा कर उनके प्रति याज्ञिकों की श्रद्धा बढ़ाने में समर्थ होते हैं। 'निर्वचन' या निरुक्ति का उदय इन्हीं विधियों में प्रयुक्त शब्द-विशेष की व्युत्पत्ति दिखलाने से होता है। निरुक्ति-जन्य अर्थ से भी ब्राह्मण-वाक्यों का समर्थन होता है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणों में विधि ही वह केन्द्रबिन्दु है जिसके चारों ओर निरुक्ति, स्तुति, आख्यान तथा हेतु-वचन आदि विविध विषय अपना आवर्तन पूरा किया करते हैं।

जैमिनी ने भी 'कर्ममीमांसा' में यह पूर्वपक्ष उठाया है कि "वेद में केवल विधिवाक्यों का ही तो अस्तित्व नहीं है। उनसे भिन्न विषय के प्रतिपादन करने वाले वाक्यों की भी यहाँ सत्ता है। फलतः ये वाक्य तो अनर्थक ही हैं; विध्यर्थक न होने से नितान्त व्यर्थ हैं" (**आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यमतदर्थानाम्**)। सिद्धान्त पक्ष का कथन है कि इन वाक्यों की भी उपादेयता है। ये स्वतः उपयोगी नहीं हैं, प्रत्युत विधियों की स्तुति करने के कारण ये विधि-वाक्यों के साथ 'एकवाक्य' हो जाते हैं। विधि की ही प्रशंसा में ये प्रयुक्त हैं और इसीलिए विधिप्रतिपादित अर्थ के ही ये अवान्तर वाक्य समझे जाने चाहिए। अतः परम्परया इनका उपयोग विधि-विधान में अवश्यमेव है—"**विधिना तु एकवाक्यात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः**" (जैमिनिसूत्र १।२।२७)। यह विश्लेषण ब्राह्मणों के विषयों को ही लक्ष्य कर प्रस्तुत किया गया है।

ब्राह्मणों के प्रतिपाद्य विषयों में इन दश वस्तुओं का निर्देश इस संग्रह श्लोक में किया गया है—

> **हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।**
> **परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना॥**
> **उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु।**
>
> (शाबर-भाष्य २।१।८)

परन्तु मुख्यतया 'विधि' को ही प्राप्त है और अन्य विषय तदङ्ग तथा तन्निर्वाहक होने से 'गौण' ही हैं। ब्राह्मण में विहित यज्ञीय अनुष्ठानों की इतनी विशाल राशि तथा बृहत् स्तूप प्रस्तुत हो गया कि उनको यथार्थ रूप से समझना तथा उचित रीति से अनुष्ठान करना एक दुष्कर व्यापार हो गया। फलतः अनुष्ठानों में सौलभ्य तथा सौकर्य को दृष्टि में रखकर कालान्तर में श्रौतसूत्रों की उत्पत्ति हुई। इस विधि तथा अर्थवाद के कतिपय उदाहरण ही यहाँ पर्याप्त होंगे।

विषय-विवेचना

'विधि' का अर्थ है—यज्ञ तथा उसके अङ्गो-उपाङ्गों के अनुष्ठान का उपदेश। ताण्ड्य (६।७) में अनेक विधियाँ उपलब्ध होती हैं। उदाहरणार्थ 'बहिष्-पवमान' के लिये अध्वर्यु तथा उद्गाता आदि पाँच ऋत्विजों के प्रसर्पण का विधान किया गया है। साथ ही साथ दो नियमों का पालन करना भी नितान्त आवश्यक होता है। ऋत्विजों को प्रसर्पण करते समय धीरे-धीरे पैर रखने का नियम है, तथा मौन रहने का भी विधान है। पाँचों ऋत्विजों में अध्वर्यु, प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता तथा ब्रह्मा को एक दूसरे के पीछे इसी क्रम से पंक्ति बाँधकर चलने की व्यवस्था है। इस पंक्ति के टूट जाने पर अनेक हानि तथा अनर्थ की सम्भावना होती है। इस समय अध्वर्यु अपने हाथ में कुश को लेकर चलता है।

शतपथ-ब्राह्मण तो विधि-विधानों की एक विशाल राशि प्रस्तुत करता है। आरम्भ के ही काण्ड में दर्श और पौर्णमास इष्टियों के मुख्य तथा अवान्तर अनुष्ठानों का वर्णन यागक्रम से किया गया है, तथा द्वितीय काण्ड में आधान तथा पुनराधान, अग्निहोत्र तथा उपस्थान, आग्रायण तथा दाक्षायण यज्ञ का वर्णन बड़े विस्तार से पुंखानुपुंख किया गया है। विधि के साथ ही साथ हेतु का सयुक्तिक निर्देश भी किया गया है। शतपथ के आरम्भ की कण्डिका में ही सहेतुक विधि का निर्देश उपलब्ध होता है। पौर्णमाण इष्टि में दीक्षित होने वाला व्यक्ति आहवनीय तथा गार्हपत्य अग्नियों के बीच पूरब की ओर खड़ा होकर जल का स्पर्श करता है। इस जल के स्पर्श का क्या कारण ? जल मेध्य होता है, अर्थात् यज्ञ के लिए उपयोगी पदार्थ होता है। झूठ बोलने वाला व्यक्ति यज्ञ करने के लिए उपयुक्त नहीं होता। अतः जल के स्पर्श करने से वह पापों को दूर कर मेध्य बनता है, या जल पवित्र होता है। अतः जल के स्पर्श करने से व्यक्ति पवित्र होकर दीक्षित होता है। इसीलिए जल को स्पर्श करता है[1]।

विनियोग

ब्राह्मण-ग्रन्थों में मन्त्रों के विनियोग का प्रथम अवतार होता है। किस मन्त्र का प्रयोग किस उद्देश्य की सिद्धि के लिये किया जाता है ? इसकी सयुक्तिक व्यवस्था ब्राह्मणों में सर्वत्र उपलब्ध होती है। मन्त्र के अन्तरंग अर्थ से अपरिचित

---

१. अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति, तेन पूतिरन्तरतः। मेध्या वा आपः। मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति। पवित्रं वा आपः। पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति तस्माद्वा अप उपस्पृशति—शत० ब्रा० १।१।१।१।

पाठक मन्त्र के विनियोग को अप्रमाणिक तथा कल्पना-प्रसूत मानने का दुःसाहस कर बैठता है, परन्तु वस्तुस्थिति कुछ दूसरी बात की ओर संकेत करती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों ने मन्त्र के पदों से ही विनियोग की युक्तिमत्ता सिद्ध की है। आपाततः मन्त्रों का जो तात्पर्य जान पड़ता है, ब्राह्मणों की अन्तरंग तथा आध्यात्मिक व्याख्या के अनन्तर ही उससे सच्चे अर्थ का बोध हमें होता है। ताण्ड्यब्राह्मण के एक दो दृष्टान्त विषय की विशदता के लिए पर्याप्त होंगे।

'स नः पवस्व शं गवे' (ऋ० ९।११।३) ऋचा का गायन पशुओं की रोगनिवृत्ति के निमित्त किया जाता है। इस विनियोग के विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह बात तो मन्त्र के पदों से सिद्ध होती है (ताण्ड्य ६।९।६–९), परन्तु 'आ नो मित्रावरुणा' (ऋ० ३।६२।१६) मन्त्र के गायन का विनियोग दीर्घ-रोगी की रोगनिवृत्ति के लिए है, यह कुछ आश्चर्यजनक जरूर प्रतीत होता है। इस विषय में ब्राह्मण का कथन है कि मित्रावरुण का सम्बन्ध प्राण और अपान से है। दिन के देवता होने से ही मित्र प्राण के प्रतिनिधि हैं, तथा रात्रि के देवता होने के कारण वरुण अपान के प्रतीक हैं। अतः दीर्घरोगी के शरीर में मित्रावरुण के रहने की प्रार्थना अन्ततः प्राण तथा अपान के धारण करने का प्रकारान्त से संकेत है। फलतः इस मन्त्र का पूर्वोक्त विनियोग नितान्त सयुक्तिक है[१]। कहीं विनियोग के प्रसंग में कल्पना का ही विशेष प्रभाव दीख पड़ता है, परन्तु ब्राह्मण की व्याख्या-शैली का अनुगमन करने पर ऐसे स्थलों पर भी युक्तिमत्ता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है[२]।

हेतु

हेतु से अभिप्राय उन कारणों के निर्देश से है जिसे कर्मकाण्ड की विशेष विधि के लिये उपयुक्त बतलाया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ के विधि-विधान के निमित्त उचित तथा योग्य कारण का भी निर्देश विस्तार के साथ किया गया है। अग्निष्टोम याग में उद्गाता सदस् नामक मण्डप में औदुम्बर वृक्ष की

---

१. ताण्ड्यब्राह्मण ६।१०।४–५।

२. ताण्ड्यब्राह्मण ६।९।२४–२५ = दविद्युतत्या रुचा (ऋ० ९।६४।२८) का अर्थ तथा विनियोग की युक्ति दर्शनीय है।

शाखा का उच्छ्रयण करता है। इस विधान के कारण का निर्देश करते हुए ताण्ड्यब्राह्मण (६।४।१) का कथन है कि प्रजापति ने देवताओं के लिये ऊर्ज का विभाग किया। उसी से उदुम्बर वृक्ष की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार उदुम्बर वृक्ष का देवता प्रजापति है। उद्गाता का भी सम्बन्ध प्रजापति से है। इसीलिये उद्गाता उदुम्बर शाखा के उच्छ्रयण का कार्य अपने प्रथम कर्म से करता है। इसके अतिरिक्त इस अवसर पर प्रयुक्त होने वाले उच्छ्रयण मन्त्र की भी व्याख्या विस्तार के साथ यहाँ की गई है। इसी प्रकार द्रोण-कलश में सोम-रस चुलाकर 'अग्निष्टोम' में रखने की व्यवस्था है। यह द्रोण-कलश रथ के नीचे रक्खा जाता है। इस विधान के कारण का पूर्ण निर्देश हम ताण्ड्यब्राह्मण (६।५) में पाया जाता है[1]। "प्रजापति ने कामना की कि मैं नाना प्रजाओं की सृष्टि करूँ। इस प्रकार विचार करते ही उनके मस्तक से आदित्य की सृष्टि हुई। उन्होंने प्रजापति के सिर को काट डाला। उसी से द्रोणकलश की सृष्टि हुई। उसी द्रोण-कलश में चमकने वाले सोम-रस को देवताओं ने ग्रहण कर दीर्घ आयु को प्राप्त किया।" इसी प्रकार पत्थर के ऊपर द्रोणकलश के स्थापन (अध्यूहन) के विषय में भी विधि-विधानों के कारणों का निर्देश किया गया है—ताण्ड्यब्राह्मण ६।६।१–३)। 'बहिष्पवमान' स्तोत्र में पाँचों ऋत्विजों के आगे चलने वाला अध्वर्यु अपने हाथ में दर्भ की मुष्टि (प्रस्तर) लेकर चलता है। क्यों? इसका कारण निर्देश करते समय ताण्ड्य (६।७।१६–२०) में अश्वरूप धारण कर यज्ञ के भागने तथा दर्भ की मुष्टि दिखला कर उसे लौटा लाने का आख्यान हेतुरूप से उपस्थित किया गया है। इस प्रकार 'हेतुवचन' प्रस्तुत करने से पाठकों को अनुष्ठानों के कारण का स्वयं परिचय मिलता है, तथा समधिक श्रद्धा का उदय होता है।

अर्थवाद

यज्ञ में निषिद्ध पदार्थों की निन्दा ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर पाई जाती है। यज्ञ में माष (उड़द) का विधान निषिद्ध है। इसलिये इसकी निन्दा इस वाक्य में की गई—'अमेध्या वै माषा' (तै० सं० ५।१।८।१)। अनुष्ठानों, हवनीय द्रव्यों तथा देवताओं की भूयसी प्रशंसा से ब्राह्मणों का कलेवर वृद्धिगत हुआ है। अग्निष्टोम याग की विशेष प्रशंसा ताण्ड्य (६।३) में

---

१. ता० ब्रा० ६।५।१

पाई जाती है। सब कामों (कामनाओं) के लिये उपादेय होने के कारण यही वास्तविक यज्ञ कहा गया है। यज्ञों में समधिक महत्त्वशाली होने से यही ज्येष्ठ यज्ञ की संज्ञा से मण्डित किया जाता है (ता० ब्रा० ६।३।८-९)। इसी प्रकार बहिष्-पवमान स्तोत्र की स्तुति यहाँ उपलब्ध होती है—(ता०—६।८।५)। अर्थवाद का उपयोग विधि की आस्थापूर्वक पुष्टि के लिए ही होता है और इन अर्थवाद—प्रशंसावचनों—से ब्राह्मणग्रन्थ आदि से अन्त तक भरे पड़े हुए हैं।

निरुक्ति

ब्राह्मण-ग्रन्थों में शब्दों के निर्वचन (व्युत्पत्ति) का भी स्थान-स्थान पर निर्देश किया गया है। यह निर्देश इतना मार्मिक और वैज्ञानिक है कि इनका भाषाशास्त्र की दृष्टि से बहुत ही अधिक महत्त्व है। निरुक्त में जो शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं उनका मूल इन्हीं ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। ये निर्वचन काल्पनिक नहीं हैं, प्रत्युत भाषा विज्ञान की दृष्टि से इनकी वैज्ञानिकता अक्षुण्ण है। ऐसी निरुक्ति स्वयं संहिता भाग में भी उपलब्ध होती है, जिनका आश्रय लेकर ब्राह्मण-ग्रन्थों की व्युत्पत्तियाँ निमित हुईं। 'दधि' तथा 'उदक' शब्द की व्याख्या संहिता ग्रन्थों मे इस प्रकार है—"तद्ध्नो दधित्वम्" (तै० सं० २।५।३।२); "उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते" (अथर्व ३।१३।१)। शतपथ-ब्राह्मण तथा ताण्ड्य-महाब्राह्मण ऐसी महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय निरुक्तियों का भण्डार है। नाना प्रकार के स्तोत्र तथा साम के नामों की बड़ी ही सुन्दर निरुक्ति ताण्डय-ब्राह्मण में उपलब्ध होती है। आज्य स्तोत्र की व्याख्या 'अजि' शब्द से बतला कर सुन्दर आख्यान का भी उपक्रम किया गया मिलता है—"यदाजिमायन् तदाऽऽज्यानाम् आज्यत्वम्" (ताण्ड्य ७।२।१)। 'रथन्तर' की निरुक्ति इस प्रकार है :—"रथं मर्या क्षेप्लाऽतारीत् इति तद् रथन्तरस्य रथन्तरत्वम्" (ताण्ड्य ७।६।४)।

इसी प्रकार बृहत्-साम की निरुक्ति का प्रकार यह है—

ततो बृहदनु प्राजायत। बृहन् मर्या इदं स ज्योगन्तरभूदिति तद् बृहतो बृहत्त्वम्—ताण्डय ७।६।५।

इसका आशय है कि रथन्तर साम के अनन्तर 'बृहत्' नामक साम की उत्पत्ति हुई। प्रजापति के मन में यह साम बृहत्काल तक निवास करता था। इसीलिए इस साम का यह विशिष्ट नामकरण है[1]।

---

१. विशेष उदाहरणों के लिए द्रष्टव्य डा० फतहसिंह—'वैदिक इटेमालोजी'।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में विधि-अर्थवाद का वर्णन इतने विस्तार के साथ किया गया है कि साधारण पाठकों को उद्वेग हुए विना नहीं रहता, परन्तु इन उद्वेजक विषय-व्यूहों में से कभी-कभी अत्यन्त रोचक आख्यान नितान्त आकर्ष तथा महत्त्वपूर्ण निकल आते हैं। तमिस्रा में प्रकाश की किरणों के समान तथा दीर्घ मरुभूमि में हरी भूमि की तरह ये आख्यान पाठकों के उद्विग्न हृदय को शान्त तथा शीतल बनाते हैं। विधि-विधानों के स्वरूप की व्याख्या ही इन आख्यानों की जननी है, परन्तु जब कभी-कभी ये यज्ञ के संकीर्ण प्रान्त से पृथक् होकर साहित्य के सार्वभौम क्षेत्र में विचरने लगते हैं तो कर्मकाण्ड की कर्कशता उन्हें रोक नहीं सकती। आख्यान दो प्रकार के हैं—स्वल्पकाय तथा दीर्घकाय। स्वल्पकाय आख्यानों में उन कथाओं की गणना है जो सद्यः विधि की सयुक्तिकता प्रदर्शित करने के लिए उल्लिखित हैं। ये आख्यान किञ्चित् भेद से अनेक ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं। ऐसे छोटे आख्यानों में कतिपय प्रधान ये हैं—वाक् का देवों का परित्याग कर जल और अनन्तर वनस्पति में प्रवेश (ताण्ड्य ६।५।१०-१२); स्वर्भानु असुर का आदित्य का आक्रमण तथा अत्रि द्वारा उस अन्धकार का विघटन (ताण्ड्य ६।६।८), यज्ञ का अश्वरूप में देवताओं से अपाक्रमण तथा दर्ग्रमुष्टि के द्वारा उसका प्रत्यावर्तन (ता० ६।७।१८); अग्निमन्थन के समय घोड़े को आगे रखने का प्राचीन इतिहास (शत० १।६।४।१५); असुरों तथा देवों के बीच नाना संग्राम (शत० २।१।६। ८-१८; ऐत० १।४।२३; ६।२।१)।

इन छोटे आख्यानों में कभी-कभी बड़ी गम्भीर तात्त्विक बातों का भी संकेत मिलता है, जो ब्राह्मणों के कर्मकाण्डात्मक वर्णन से नितान्त पृथक् होता है, तथा गूढ़ गंभीरार्थ प्रतिपादक होता है। प्रजापति की प्रार्थना उपांशु रूप से करने के निमित्त शतपथ ने जिस कथानक का उपक्रम किया है वह नितान्त रहस्यमय है। श्रेष्ठता पाने के लिए मन और वाक् में कलह उत्पन्न हुआ। मन का कहना था कि मेरे द्वारा अनभिगत बात वाणी नहीं बोलती। मेरा अनुकरण करती हुई मेरे पीछे चलती है (कृतानुकरा अनुगन्त्री)। वाणी का कथन था कि जो तुम जानते हो उसकी विज्ञापना मैं ही करती हूँ। मन के द्वारा ज्ञान या चिन्तित तथ्यों का प्रकटीकरण वाणी करती है। अतः मैं ही श्रेष्ठ हूँ। दोनों प्रजापति के पास गए। उन्होंने अपना निर्णय मन के पक्ष में दिया। फलतः वाणी की अपेक्षा मन श्रेष्ठ माना जाता है। इस कथानक के भीतर मनोवैज्ञानिक तथ्य का विशद संकेत है (शत० १।४।५।८-१२)। वाक् से सम्बद्ध अनेक आख्यायिकायें बड़ी ही रोचक तथा शिक्षाप्रद हैं। गायत्री छन्द सोम को देवताओं के निमित्त

ले जा रहा था कि गन्धर्वों ने उसका हरण किया। देवता लोगों ने वाक् को भेजा। वाक् अपने साथ सोम को लेकर लौटी। अब वाक् के लौटाने का उद्योग होने लगा। गन्धर्वों ने स्तुति तथा प्रशंसा से उसे अपनी ओर आकृष्ट करना चाहा। उधर देवों ने गायन तथा वादन के द्वारा आवर्जन करना चाहा। वाक् देवों के कार्य पर रीझकर उन्हीं के पास चली गई। इस कथा के प्रतीयमान उपदेश पर ब्राह्मण आग्रह दिखला रहा है कि यही कारण है कि स्त्रियाँ आज भी स्तुति की अपेक्षा संगीत से अधिक आकृष्ट होती हैं। यह उनका स्वभाव ही ठहरा (शत० ३।२।४।२–६)।

सृष्टि के विषय में भी अनेक आख्यन ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। पुरुष के द्वारा चारों वर्णों की उत्पत्ति का उल्लेख तो पुरुषसूक्त में ही उपलब्ध है। ब्राह्मणों में भी इस प्रसंग का सुन्दर वर्णन मिलता है। ताण्ड्यब्राह्मण (६।१।) प्रजापति के अंग विशेष से वर्णों की तथा तत्तत् देवताओं की उत्पत्ति बतलाता है, जिसमें शूद्रवर्ण को यज्ञाधिकार से वंचित होने की भी सुन्दर उपपत्ति प्रस्तुत की गई है। प्रजापति के मुख से ब्राह्मण तथा अग्नि की, बाहु से क्षत्रिय तथा इन्द्र की, मध्यदेश से वैश्य तथा विश्वेदेवा की तथा पैरों से केवल शूद्र की ही (देवता की नहीं) उत्पत्ति बतलाकर शूद्र के कर्तव्य का निर्देश मिलता है कि वर्णत्रय के पादावनेजन से ही शूद्र का कल्याण होता है, यज्ञ करने से नहीं, क्योंकि उसके साथ किसी देवता की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी—"तस्मात् शूद्र उत बहुपशुरयज्ञियो विदेवो हि। न हि तं काचन देवतान्वसृज्यत। तस्मात् पादावनेज्यं नातिवर्धते। पत्तो हि सृष्टः" (ताण्ड्य० ६।१।११)।

किन्हीं आख्यानों में साहित्यिक सौन्दर्य तथा कल्पना की सुन्दर अभिव्यञ्जना मिलती है। रजनी के उदय के विषय में एक सुन्दर आख्यान मैत्रायणी संहिता (१।५।१२) में मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि रात्रि की उत्पत्ति यमी के विषाद को भुला देने के लिए की गई है। यम के परलोक चले जाने पर यमी उसके दुःख से इतनी दुःखित हुई कि वह सर्वदा विषाद तथा विलाप करती थी, यम को किसी प्रकार भूलती ही न थी। उस समय दिन का ही राज्य था। दिन में उसकी स्मृति भूलती न थी। प्रजापति ने दयावश रात्रि को जन्म दिया। अन्धकार से जगत् व्याप्त हो गया। तभी यमी यम को भुला सकी। पर्वतों के पक्ष सम्पन्न होने तथा इन्द्र के द्वारा उनके पक्षच्छेदन की कथा भी इसी संहिता (१।१०।१३) में उपलब्ध होती है। ये आख्यायिकायें सचमुच सुन्दर रोचक तथा कमनीय प्रतीत होती हैं।

बृहत्काय आख्यानों में पुरूरवा तथा उर्वशी का आख्यान (शत० ११। ५।१), प्राचीन जलौघ का इतिहास (शत० १।८।१) तथा शुनःशेप का आख्यान (ऐत० ७।२) मुख्य हैं। इनमें से अनेक आख्यानों का बीज संहिताओं में ही अन्तर्निविष्ट है जिन्हें ग्रहण कर ब्राह्मणों तथा पुराणों ने अपनी पद्धति के अनुरूप उनका पल्लवन किया है। पुरुरवा तथा उर्वशी का वर्णन तो ऋग्वेद के एक विख्यात संवाद सूक्त (ऋ० १०।९५) में है जिनमें दोनों में परस्परोपकथन-विषयक मन्त्र दिये गये हैं। शतपथ में यही आख्यान विस्तार के साथ दिया गया है, तथा पुरूरवा एवं उर्वशी का प्रेम आदर्शकोटि तक पहुँचा हुआ प्रदर्शित किया गया है। प्राचीन ओघ या जलप्लावन की कथा भारतेतर साहित्य में भी उपलब्ध होती है। विषम जलप्लावन से एक वर्धिष्णु मत्स्य ने मनु को कैसे बचाया तथा किस प्रकार मनु ने प्लावन के अनन्तर मानवी सृष्टि का पुनः आरम्भ किया—यह कथा मत्स्यावतार से सम्बन्ध रखती है, तथा पुराणों में विस्तार से वर्णित है (द्रष्टव्य भागवत स्कन्ध ८।२४)। शुनःशेप की कथा का संकेत ऋग्वेदीय सूक्तों में (१।२४ सू०—३० सू०) उपलब्ध होता है और इसी का सुन्दर विन्यास ऐतरेयब्राह्मण का वैशिष्ट्य है इस प्रकार आख्यानों के विकास में ब्राह्मण भी एक आवश्यक शृङ्खला है। ब्राह्मण-ग्रन्थों को सरस, रोचक तथा आकर्षक बनाने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं आख्यानों को मिलना चाहिए।

ब्राह्मणों का महत्त्व

ब्राह्मणों के यागानुष्ठानों के विशाल सूक्ष्मतम वर्णन को आजकल का आलोचक नगण्य दृष्टि से देखने का दुःसाहस भले ही करे, परन्तु वे एक अतीत युग के संरक्षित निधि हैं, जिन्होंने वैदिक युग के क्रियाकलापों का एक भव्य चित्र धर्म-मीमांसक के लिए प्रस्तुत कर रखा है। यह परिस्थिति के परिवर्तन होने से अवश्य ही धूमिल सा हो गया है, परन्तु फिर भी वह है धार्मिक दृष्टि से उपादेय, संग्रहणीय और मननीय। भारतीय धर्म के इतिहास में श्रौत-विधानों का एक विचित्र युग ही था। उस युग को अपने पूर्ण सौन्दर्य तथा सौष्ठव के साथ आज भी उपस्थित करने का श्रेय इन्हीं ब्राह्मण-ग्रन्थों को है। समय ने पल्टा खाया है। युगों ने करवटें बदली हैं। भक्ति-आन्दोलन की व्यापकता के कारण वैदिक कर्मकाण्ड का सर्वत्र ह्रास हो गया। श्रौत यज्ञविधान आज अतीत की एक स्मृति मात्र है। वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड से लोगों की आस्था उठती गई। फलतः न कहीं श्रौत याग होते हैं और न कहीं उन अनुष्ठानों को साक्षात् करने का अवसर ही कभी प्राप्त होता है। यही कारण है कि आज ब्राह्मणों के क्रियाकलापों को

इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों का गाढ़ अनुशीलन अनेक सिद्धान्तों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। (क) यज्ञों के नाना रूपों तथा विविध-अनुष्ठानों के इतिहास का पूर्ण परिचय देता है। ब्राह्मणों में यज्ञ एक वैज्ञानिक संस्था के रूप में हमारे सामने आता है। (ख) हम उन निर्वचनों से परिचय पाते हैं जो निरुक्त की निरुक्तियों का मौलिक आधार है। (ग) उन सुन्दर आख्यानों का मूल रूप हमें यहाँ मिलता है जिनका विकास अवान्तरकालीन पुराणों में विशेषतः दृष्टिगोचर होता है। (घ) 'कर्ममीमांसा' के उत्थान तथा आरम्भ का रूप जानने के लिए ब्राह्मण पूर्वपीठिका का काम करते हैं। ब्राह्मणों के अध्ययन से हम इन विविध शास्त्रों के उदय की कथा जान सकते हैं और स्वयं देख सकते हैं कि यज्ञ की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उत्पन्न होने वाले ये शास्त्र किस प्रकार सार्वभौम क्षेत्र में पदार्पण कर अपना विकास सम्पन्न करने लगते हैं।

ब्राह्मणों का देश-काल

ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध भौगोलिक विवरण से स्पष्ट होता है कि इन ग्रन्थों के उदय का स्थान है कुरुपाञ्चाल प्रान्त तथा सरस्वती नदी का प्रदेश। ताण्ड्य-ब्राह्मण में सारस्वत प्रदेश का परिचय बड़ा ही घनिष्ठ है। सरस्वती नदी के लुप्त हो जाने के स्थान का नाम 'विनशन' है, तथा उसके पुनः उद्गम के स्थान का अभिधान 'प्लक्ष प्रास्रवण' है (ताण्ड्य० २५।१०।२१) यह स्थान विनशन से अश्व की गति से ४४ दिनों तक चलने की दूरी पर था (ताण्डय० २५।१०।१६)। यमुना के बहने का प्रदेश 'कारपचव' नाम से अभिहित किया गया है (ताण्डय० २५।१०।२३)। इतना ही नहीं, सरस्वती तथा दृषद्वती के बीच के प्रदेश तथा उनके संगम का भी निर्देश मिलता है। सब से महत्त्वपूर्ण संकेत है कुरुक्षेत्र को प्रजापति की वेदि मानना (एतावती वाव प्रजापतेर्वेदिर्यावत् कुरुक्षेत्रमिति—ताण्डय २५।१३।३)। प्रजापति को यज्ञ का प्रतीक होने से कुरुक्षेत्र यज्ञ की वेदि सिद्ध होता है। अर्थात् इसी प्रदेश में ब्राह्मणों का संकलन किया गया, तथा यज्ञ-याग की पूर्ण प्रतिष्ठा इसी प्रान्त में हुई। मनुस्मृति में दृषद्वती तथा सरस्वती दोनों देवनदियों के बीच का यही देवनिर्मित प्रदेश 'ब्रह्मावर्त' के नाम सुप्रसिद्ध हुआ (मनु० २।२२)। यज्ञ-संस्कृति का यही केन्द्र तथा पीठस्थल है जहाँ ब्राह्मणों की यज्ञ-प्रक्रिया का पूर्ण विकास सम्पन्न हुआ। इसी प्रान्त की भाषा राष्ट्रभाषा हुई, तथा यहाँ का आचार समग्र भारतवर्ष का मान्य आचार हुआ, यहीं की संस्कृति समग्र भारत की संस्कृति है।

ब्राह्मणों के संकलन-काल का अनुमान ज्यौतिष-सम्बन्धी उल्लेखों के आधार पर लगाया गया है। ब्राह्मण साहित्य से उपनिषदों के उदय का काल लगभग एक हजार वर्ष पीछे माना जाना चाहिए। स्वरों से युक्त होने के कारण शतपथब्राह्मण अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। इसके द्वितीय काण्ड में (जिसे सब लोग प्राचीनतम भाग स्वीकार करते हैं) एक बहुत ही महत्त्वशाली ज्यौतिष की घटना का उल्लेख मिलता है। इसका आशय है कि कृत्तिका ठीक पूरब दिशा में उदय लेती हैं और वहाँ से प्रच्युत नहीं होतीं। इस घटना की स्थिति प्रसिद्ध ज्यौतिषी शंकरबालकृष्ण दीक्षित के गणनानुसार विक्रमपूर्व तीन हजार वर्ष में होनी चाहिए। दीक्षित की इस गणना पर किसी यूरोपीय विद्वान् ने विशेष ध्यान नहीं दिया, परन्तु डा० विण्टरनित्स ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में किसी जर्मन ज्यौतिषी (प्रोफेसर ए० प्रे०) के गणनानुसार इस ग्रहस्थिति को ११०० ई० पू० माना है। इन ज्यौतिष की व्याख्या है कि कृत्तिकायें अपने उदय के बाद बहुत देर तक पूरब में दृष्टिगोचर होती थीं और ऐसी दशा ११०० ई० पू० में ही सिद्ध होती है। परन्तु "एताः (कृत्तिकाः) हवै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते" शब्द की यह नई व्याख्या मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरी विप्रपत्ति यह है कि 'वेदांग ज्यौतिष' सर्वसम्मति से शतपथ से अर्वाचीन रचना माना जाता है। इसका काल १४०० ई० पूर्व माना जाता है। डा० मैक्समूलर भी इसका समय ११८१ ई० पू० से कथमपि पीछे मानने के पक्ष में नहीं हैं। यदि शतपथ का यह नया काल माना जायगा, तो 'वेदांग ज्यौतिष' के समय से उसकी पूर्ववर्तिता भंग हो जायगी, जो कथमपि स्वीकार्य नहीं है। मैत्री-उपनिषद् में निर्दिष्ट ज्यौतिष घटना के आधार पर इसका समय १९०० ई० पू० माना गया है। इस घटना को ध्यान में रखकर हम दीक्षित के मतानुसार मान सकते हैं कि शतपथब्राह्मण का रचनाकाल तीन सहस्र ई० पू० है, तथा ब्राह्मण युग तीन सहस्र ई० पू० से लेकर दो सहस्र वर्ष ई० पू० तक मानना चाहिए। प्राचीनतम होने से शतपथ इस काल के आदि में और अर्वाचीन होने से गोपथ इसके अन्त में आता है। (वैद्य—वैदिक साहित्य का इतिहास, पृ० १८–२४)।

भाषा तथा शैली

समस्त ब्राह्मण ग्रन्थ गद्य में ही निबद्ध किये गए हैं। ब्राह्मणों का गद्य बड़ा ही परिमार्जित, प्रसन्न तथा उदात्त है। दीर्घ समास का न तो कहीं दर्शन होता है और न अर्थ समझने में कहीं दुरूहता। भगवती भागीरथी के भव्य प्रवाह के समान यह गद्य अपने प्रवाह को लिए प्रवाहित होता है। भाषा मन्त्रों की

भाषा के समान ही है, परन्तु वह प्राचीन शब्दों तथा धातुओं से वंचित होकर नये शब्द तथा नये शब्दरूपों को ग्रहण करने में पराङ्मुख नहीं होती। ब्राह्मणों की भाषा संहिताओं की भाषा तथा पाणिनि के द्वारा नियमित संस्कृत भाषा को मिलाने वाली बीच की कड़ी है। वाक्यों का विन्यास सरल, सीधा तथा सरस है। यज्ञीय विधानों के वर्णन में नीरसता आने की सम्भावना कम नहीं है, तथापि यह गद्य लघुवाक्यों में विन्यस्त होने के कारण पर्याप्तरूपेण रोचक, आकर्षक तथा हृदयावर्जक है। आख्यायिका वाले अंश तो विशेषरूप से हृदयंगम हैं। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

सत्यं वै चक्षुः सत्यं हि वै चक्षुस्तस्मात् यदिदानीं द्वौ विवदमाना-वेयातम्—'अहमदर्शम्' 'अहमश्रौषम्' इति। य एव ब्रूयात् अहमदर्श-मिति तस्मा एव श्रद्दध्याम्। तत् सत्येनैवैतत् समर्धयति॥

(शत० १।३।२।२७)

ब्राह्मणकालीन धर्म तथा समाज

ब्राह्मण-युग में यज्ञ का सम्पादन ही धर्म का मुख्य उद्देश्य था। सच तो यह है कि यज्ञ के सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुष्ठानों के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों में बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है, तथा इन विधियों के पूर्ण निर्वाह के लिए विशेष आग्रह दीख पड़ता है। अग्नि की स्थापना कब करनी चाहिए? कैसे करनी चाहिए? घी की आहुति वेदि में कहाँ गिरे? वेदि पर बिछाने के लिए दर्भ का अग्रभाग पूरब की ओर रहना है या उत्तर की ओर—आदि का वर्णन इतनी सूक्ष्मता तथा विस्तार के साथ किया गया है कि इसे पढ़कर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। समस्त कर्मों में यज्ञ ही श्रेष्ठतम माना जाता था—"**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**" (शत १।७।३।५)। ब्राह्मणों में यज्ञ की इतनी महिमा तथा आदर है कि विश्व का सबसे श्रेष्ठ देवता प्रजापति भी यज्ञ का ही रूप है—"**एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः**" (शत० ४।३।४३)।

विष्णु का भी प्रतीक यही यज्ञ है—"यज्ञो वै विष्णुः"। आकाश में दीप्यमान भी आदित्य यज्ञ रूप है—"**स यः यज्ञोऽसौ आदित्यः**" (शत० ब्रा० १४।१।१।१६)।

समस्त कर्मों में श्रेष्ठतम होने के कारण इस विश्व में यज्ञ ही परम आराध्य वस्तु है। जगत् के जितने पदार्थ हैं, यहाँ तक कि देवों का जनकरूप प्रजापति भी यज्ञ के ही आध्यात्मिक प्रतीक हैं। यज्ञ से ही सृष्टि हुई, इस वैदिक तत्त्व का

परिचय हमें पुरुष-सूक्त में ही मिल जाता है, परन्तु ब्राह्मणयुग में यज्ञ की महनीयता तथा परम साधनरूपा होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। अग्नि-होत्र अनुष्ठान से प्राणी अपने सब पापों से छूट जाता है—"**सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति**" (शत० ब्रा० २।३।१।६)। अश्वमेध से यज्ञ करने वाला यजमान अपने समग्र पाप कर्मों को, समस्त ब्रह्म-हत्या को दूर भगा देता है (शत० ब्रा० १३।५।४।१) गोपथ-ब्राह्मण में एक बड़ी सुन्दर उपमा के द्वारा इस पापनिर्मोचन का तत्त्व समझाया गया है। जिस प्रकार साँप अपनी पुरानी केचुल से छूट जाता है, तथा 'इषीका' मूँज से छूट जाती है, उसी प्रकार शाकला का हवन करने वाला समस्त पापों से छूट जाता है :—

तद् यथाहिर्जीर्णायस्त्वचो निर्मुच्यते इषीका वा मुञ्जात्।
एवं हैं वै ते सर्वस्मात् पाप्मनः संमुच्यन्ते ये शाकलां जुह्वति ॥

(गो० ब्रा० उत्तर ४।६)

इतना उपादेय होने के कारण ही यज्ञ के पूर्ण अनुष्ठान करने के लिए ब्राह्मणों का इतना आग्रहपूर्वक आदेश है।

संहिता काल के मुख्य देवता इस युग में कुछ गौण हो गये हैं, अथवा गौण देवताओं को यहाँ मुख्यता प्राप्त हो गई है। कहीं नवीन देवता की भी कल्पना की गई मिलती है। ऋग्वेद के गौण देवताओं में प्रजापति अग्रगण्य है। ऐतरेय-ब्राह्मण के आरम्भ में ही विष्णु के परम देव होने की सूचना है—"**अग्निर्वै देवनामवमो विष्णुः परमः**" (ऐत० १।१)[1]।

रुद्र के लिए 'महादेव' शब्द का प्रयोग ब्राह्मणों में स्पष्टतः उल्लिखित है। 'प्रजापति' का पद तो देवों में अग्रस्थानीय है। जगत् के स्रष्टा प्रजापति ही हैं। प्रजापति देवताओं के भी सृष्टिकर्ता हैं प्रजापति ही इस भूतलके पदार्थों के स्रष्टा हैं। वे ही देवताओं को उत्पन्न कर उनमें ऊर्ज का विभाग करते हैं और इसी ऊर्ज-विभाग से उदुम्बर वृक्ष का जन्म हुआ, इसीलिये 'प्रजापति' की महिमा ब्राह्मणों में सर्वतो महीयान् है[2]।

---

१. द्रष्टव्य ताण्ड्य-महाब्राह्मण, अध्याय ६, खण्ड ९, कण्डिका, ७९।

२. वही ६।१।१, ६।४।१ आदि।

चतुर्वर्ण

ब्राह्मण-युगीय समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों तथा इनके कार्यों की पूरी व्यवस्था एवं प्रतिष्ठा उपलब्ध होती है। वैदिक यज्ञ का सम्पादन तथा निर्वाहक होने के कारण ब्राह्मण का स्थान चारों वर्णों में अग्रतम था। ब्राह्मणों में वेदशास्त्र को पढ़ने वाला ब्राह्मण 'मनुष्यदेव' के महनीय अभिधान से मण्डित किया जाता था—

ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः।

(शत० ब्रा० २।२।२।६)

विद्वांसो ही देवाः (शत० ब्रा० ३।७।३।१०)

तैत्तिरीय-संहिता (१।७।३।१) में ब्राह्मण 'प्रत्यक्ष देव' कहा गया है—"एते देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणः।" शतपथ में दो प्रकार के देवता माने गये हैं—अग्नि आदि हविर्भोजी देव तथा मनुष्य-देव, ब्राह्मण। दोनों के लिए यज्ञ का दो विभाग किया गया है। आहुति देवों के लिए और दक्षिणा मनुष्य-देवों के लिए होती है, जिनके द्वारा वे प्रसन्न होकर यजमान का कल्याण करते हैं (शत० ब्रा० २।२।२।६) राजा अपने समग्र राज्य को दक्षिणा रूप में दे सकता है, परन्तु ब्राह्मण की सम्पति को छोड़ कर ही। अभिषेक के अवसर पर ब्राह्मण कहता है—हे मनुष्यों, यह मनुष्य तुम्हारा राजा है। ब्राह्मणों का राजा सोम है (सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा)। शतपथ की व्याख्या के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि राजा के लिए समस्त प्रजा अन्न-स्थानीय है, परन्तु ब्राह्मण नहीं; क्योंकि वह तो भौतिक राजा की प्रजा ही नहीं होता। वह सोम राजा की ही प्रजा होता है (शत० ब्रा० १३।३।५।३)। ब्राह्मण के लिए आदर्श है ब्रह्मवर्चसी होना, अर्थात् वेद के अध्ययन से तेजस्वी बनना और इसीलिए ब्राह्मणों में वही सर्वश्रेष्ठ वीर्यवान् माना जाता है जो वेद का ज्ञाता होता है:—

तद्धयेव ब्राह्मणेनैष्टव्यं यद् ब्रह्मवर्चसी स्यादिति॥

(शत० ब्रा० १।९।३।१६)

यो वै ब्राह्मणानामनूचानमतः स एषां वीर्यवत्तमः॥

(शत० ४।६।६।५)

ब्राह्मण का बल उसके मुख में—भाषण में, वाक् शक्ति में ही होता है, क्योंकि उसकी सृष्टि मुख से ही हुई है—

तस्माद् ब्राह्मणो मुखेन वीर्यं करोति। मुखतो हि सृष्टः।

(ताण्ड्य० ब्रा० ६।१।६)

ऐसे अनूचान ब्राह्मण के वश में क्षत्रिय के रहने पर ही राष्ट्र का मंगल होता है और राष्ट्र में वीर पैदा होते हैं—

'तद् यत्र ब्राह्मणः क्षत्रं वशमेति तद् राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते" (ऐत० ब्रा० ८।९)।

क्षत्रिय राष्ट्र का रक्षक तथा वैश्य उसका वर्धक माना जाता था। पैर से उत्पन्न होने के कारण शूद्र का सेवाधर्म ही प्रधान धर्म था। इस प्रकार यज्ञ-प्रधान वैदिकसमाज में वेदज्ञ ब्राह्मणों की महती प्रतिष्ठा होना स्वाभाविक ही है।

नैतिकता

यज्ञ का सम्पादन बाह्य आचार के होने पर भी वह अन्तर आचरण के ऊपर पूर्णतया अवलम्बित था। जिन पाश्चात्य[1] आलोचकों ने ब्राह्मणग्रन्थों में नैतिकता के अभाव की बात कही है उनका कथन कथमपि मान्य तथा प्रमाणिक नहीं है। उस काल का समाज पूर्णरूपेण नैतिक था, आचारवान् था, तथा कल्याण के लिए सत्य के अनुष्ठान पर आग्रही था। दीक्षित को ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति को सत्यभाषी होना चाहिए। झूठ बोलने वाला व्यक्ति यज्ञ के लिए उपयुक्त नहीं होता।[2] झूठ का बोलना जल से अग्नि का सेचन करना है, तथा सत्य बोलना अग्नि को घी से सेचन करना है। झूठ बोलने वाले का तेज धीरे धीरे कम हो जाता है। वह नित्य-प्रति पापी होता है, अत एव सत्य ही बोलना चाहिए। इस प्रकार सत्य पर आग्रह करनेवाले ब्राह्मण पर नैतिक-हीनता का आरोप क्या कथमपि समुचित है?

ब्राह्मणकालीन समाज पाप के आवर्तनशील स्वभाव से भली-भाँति परिचित था। वह जानता था कि जो मनुष्य एक बार पाप करता है वह अभ्यासवश उसके अनन्तर अन्य पाप का भी आचरण करता है, रुकता नहीं—

यः सकृत् पापकं कुर्यात् कुर्यादेनस्ततोऽपरम्।

(ऐत० ब्रा० ७।१७)

---

1. Winternitz : History of Indian Literature. vol. 1 pp, 267—208.

२. अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति—शत० ३।१।३।१८।

इसलिए पाप को रोककर पुण्य करने की आवश्यकता है। सत्य तथा श्रद्धा के आचरण से ही मनुष्य स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेता है। वाग्देवी के दो स्तन हैं—सत्य और अनृत। सत्य वाग्देवी के पुत्रों की उपासकों की रक्षा करता है, परन्तु उन्हें अनृत मार डालता है—

"वाचो वाव तौ स्तनौ सत्यानृते वाव ते। अवत्येनं सत्यं नैतमनृतं हिनस्ति य एवं वेद" (ऐत० ब्रा० ४।१)

ताण्ड्यब्राह्मण में असत्य बोलना वाणी का छिद्र कहा गया है ("एतद्वाचश्छिद्रं यदनृतम्" ताण्ड्य ८।६।१२)। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार छेद के भीतर से सब वस्तुयें गिर जाती हैं, उसी प्रकार अनृतभाषी की वाणी में से उसका सार गिर जाता है, अर्थात् वह सारहीन वाणी किसी पर अपना प्रभाव नहीं जमा सकती। शतपथब्राह्मण (२।२।२।१९) में सत्य तथा अनृत के रूप में निर्देश के लिए एक सुन्दर उपमा का प्रयोग किया गया है। सत्य बोलना क्या है? अग्नि का घृत से अभिषेक है, अर्थात् उद्दीप्त करना है। अनृत क्या है? जलते हुए अग्नि पर जल का अभिषेक है। अनृतभाषी का तेज धीरे-धीरे कम हो जाता है और अन्त में वह पापी बन जाता है। इसीलिए सत्य ही बोलना चाहिए[1]। ऐतरेय-ब्राह्मण में श्रद्धा तथा सत्य की मिथुन कल्पना बड़ी ही सुन्दर एवं रोचक है। "श्रद्धा पत्नी है, सत्य यजमान है। श्रद्धा तथा सत्य की जोड़ी बहुत ही उत्तम है। यजमान अपनी पत्नी के साथ मिलकर यज्ञ के द्वारा स्वर्ग पाने में समर्थ होता है। उसी प्रकार सत्य श्रद्धा के साथ संयुक्त होकर स्वर्गलोकों को जीत लेता है।"

श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः। श्रद्धा सत्यं तदित्युत्तमं मिथुनम्।
श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गाल्लोकान् जयतीति॥

(ऐत० ब्रा० ७।१०)

---

१. **स यः सत्यं वदति, यथा अग्निं समिद्धं तं घृतेनाभिषिञ्चेत्। एवं हैनं स उद्दीपयति तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति, श्वः श्वः श्रेयान् भवति। अथ योऽनृतं वदति, यथा अग्निं समिद्धं तमुदकेनाभिषिञ्चेत्। एवं हैनं स जासयति तस्य कनीयः कनीय एव तेजो भवति, श्वः श्वः पापीयान् भवति। तस्मात् सत्यमेव वदेत्॥**

(शतपथ० २।२।२।१९)

समाज में दान तथा आतिथ्य की प्रतिष्ठा थी। जो मनुष्य न देवों को, न पितरों को और न अतिथियों को दान से तर्पण करता था, वह पुरुष 'अनद्धा' अनृत कहलाता है।[२] सायंकाल में आये हुए अतिथि का किसी प्रकार निराकरण नहीं करना चाहिए।[३] जो पुरुष अतिथि की सेवा करता है वह मानों मोटा हो जात है—प्रसन्न हो जाता है।[४] उस समाज में आतिथ्य की बड़ी महिमा का पता इसी घटना से लग सकता है कि आतिथ्य यज्ञ का शिर माना जाता था। अतिथि की पूजा यज्ञ के मस्तक की पूजा मानी जाती थी:—

शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् आतिथ्यम् ॥

(ऐत० ब्रा० १।२५)

नारी की महिमा

समाज में स्त्री का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उचित भी ऐसा ही है। यज्ञ में पत्नी यजमान की सहधर्मचारिणी होती है। 'पत्नी' शब्द की व्युत्पत्ति भी तो इसी विशिष्टता की ओर संकेत कर रही है। पत्नी से विहीन पुरुष यज्ञ करने का कथमपि अधिकारी नहीं होता था ("अयज्ञो वा एषो योऽपत्नीकः" तै० ब्रा० २।२।२।६)। पत्नी शरीर का आधा भाग मानी जाती थी। ("अथा अर्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नी" तै० ब्रा० ३।३।३।५)। वेदि की रचना के प्रसंग में शतपथब्राह्मण स्त्री-सौन्दर्य के लिए एक महनीय आदर्श की ओर संकेत करता है। स्थूल जघन, कन्धों के बीच छाती का भाग जघन की अपेक्षा कम स्थूल तथा हस्तग्राह्य मध्यभाग स्त्री की शारीरिक सुषमा के श्लाघनीय प्रतीक थे ("एवमिव हि योषं प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तरांसा मध्ये संग्राह्येति" शत० १।२।५।१६)। ऐसा रूप सुन्दर केशपाश तथा अन्य आभूषणों से सुसज्जित होकर चमक उठता था। ऐसी ही सुन्दर स्त्री के साथ वैदिककालीन पुरुष विवाह-सम्बन्ध में दीक्षित होकर गुणवान् पुत्र की उत्पत्ति को स्वर्ग का मुख्य साधन समझता था। ऐतरेयब्राह्मण में पुत्र की भव्य प्रशंसा समाज में वीर संतान के मूल्यांकन करने में पर्याप्त मानी जा सकती है। पितृलोक पुत्र के द्वारा ही अत्यन्त बहुल क्लेश को भी पार

---

२. कोऽनद्धा पुरुष इति ? न देवान् न पितॄन् न मनुष्यानिति।
(ऐत० ब्रा० ७।९)

३. तस्मादाहुर्न सायमतिथिरपरुध्यः। (ऐत० ब्रा० ५।३०)

४. यदा वा अतिथिं परिवेविषत्यापीन इव वै स तर्हि भवति ॥
(ऐत० ब्रा० १।:७)

करने में समर्थ होते हैं। पुत्र आत्मा से जन्मने वाला स्वयं आत्मा ही होता है। वह अन्न से भरी नौका है जो इस संसृति-सरित् को पार करने में नितान्त समर्थ होती है। "स वै लोकोऽवदावदः" (पुत्र निन्दा के अयोग्य स्वर्गलोक का प्रतीक है), "ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्", "नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति"—आदि श्रुति-वाक्य पुत्र के सामाजिक मूल्य की कल्पना के कतिपय निदर्शन-मात्र हैं। नारी के लिए पातिव्रत धर्म का पालन परम मंगलमय माना जाता था।[१] समाज में किसी प्रकार के नैतिक स्खलन या शैथिल्य का चिह्न नहीं पाया जाता था। ऐसे नैतिक आदर्श पर चलने वाले ब्राह्मणकालीन समाज का अवलोकन कर कोई भी विद्वान् उसके ऊपर अनैतिकता का आरोप नहीं कर सकता।

ब्राह्मण साहित्य

ब्राह्मणों का साहित्य बड़ा ही विशाल था, परन्तु आज अनेक ब्राह्मण काल-कवलित हो गये हैं, केवल उनका नाम-निर्देश तथा उद्धरण ही कतिपय श्रौत ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। साहित्य में उद्धृत, परन्तु अनुपलब्ध, ब्राह्मणों में से कतिपय महत्त्वशाली ग्रन्थों का नामोल्लेख यहाँ किया जा रहा है। डाक्टर बटकृष्ण घोष ने ऐसे अनुपलब्ध ब्राह्मणों के उपलभ्यमान उद्धरणों को एकत्र प्रकाशित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है।[२]

ऐसे ब्राह्मणों में (१) **शाट्यायन-ब्राह्मण** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। इसके ७० उद्धरण आज भी उपलब्ध हैं जिनमें अधिकांश ऋग्वेद के सायणभाष्य (१।१०५।१०; ७।३३।७; ८।९१।१; ८।९१।५ आदि) तथा ताण्ड्य-ब्राह्मण के सायणभाष्य (४।२।१०; ४।३।२; ४।५।१४; ४।६।२३ में मिलते हैं। चार पाँच उद्धरण ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य (३।३।२५; ३।३।२६; ४।१।१६; ४।१।१७) में मिलते हैं। इतने बहुल उद्धरण ग्रन्थ की महत्ता के पर्याय सूचक हैं। इसके अधिकांश उद्धरण जैमिनीय ब्राह्मण में भी अक्षरशः उपलब्ध होते हैं।

---

१. शतपथ (२।५।२।२०) के अनुसार जो स्त्री एक की होती हुई दूसरे के साथ संगति करती है वह वरुण-सम्बन्धी (वरुण्य = पाप) कार्य करती है—वरुण्यं वा एतत् स्त्री करोति यदन्यस्य सती अन्येन चरति॥ 'वरुण्य' = पाप। वरुणो वा एतं गृह्णाति यः पाप्मना गृहीतो भवति (शत० १२।७।२।१७)।

२. द्रष्टव्य उनका ग्रन्थ Collection of Fragments of Lost Brahmanas, Calcutta, 1935.

(२) भाल्लवि-ब्राह्मण सामवेद की ही एक सुप्रसिद्ध शाखा का ब्राह्मण था, जिसका निर्देश श्रौत ग्रन्थों के अतिरिक्त पतञ्जलि ने महाभाष्य में (४।२।१०४) तथा काशिका ने (४।२।६६, ४।३।१०५ सूत्रों पर) किया है। (३) जैमिनीय या तवलकार ब्राह्मण—सामवेद की जैमिनि-शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण जो बृहत् तथा महत्त्वपूर्ण होने पर भी पिछले ग्रन्थों में उद्धृत नहीं है। शाट्यायन के साथ इसकी समानता इतनी अधिक है कि उसकी प्रसिद्धि के सामने इसका उद्धरण आवश्यक नहीं माना गया। इन महत्त्वशाली ब्राह्मणों के अतिरिक्त इस श्रेणी के ग्रन्थ ये हैं:—(४) आह्वरक-ब्राह्मण (चरणव्यूह में निर्दिष्ट चरकशाखा से सम्बद्ध); (५) कंकति-ब्राह्मण; (६) कालबवि-ब्राह्मण (पुष्पसूत्र में शाट्यायन ब्राह्मण के संग में निर्दिष्ट); (७) चरक-ब्राह्मण (कृष्णयजुः की प्रधान शाखा चरक से सम्बद्ध); (८) छागलेय-ब्राह्मण (तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध), (९) जाबालि-ब्राह्मण, (१०) पैंगायनि-ब्राह्मण, (११) माषशरावि-ब्राह्मण, (१२) मैत्रायणीय-ब्राह्मण (कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा से सम्बद्ध), (१३) रौरुकि-ब्राह्मण; (१४) शैलालि-ब्राह्मण (महाभारत ६।४।१४४ तथा काशिका में निर्दिष्ट), (१५) श्वेताश्वतर-ब्राह्मण, (१६) हारिद्रविक-ब्राह्मण (चरण-व्यूह में निर्दिष्ट यजुर्वेद की शाखा से सम्बद्ध)। इनके अतिरिक्त इन आठ ब्राह्मणों के नाम और भी मिलते हैं—काठक-ब्राह्मण, खाण्डिकेय-ब्राह्मण, औखेय-ब्राह्मण, गालव-ब्राह्मण, तुम्बरु ब्राह्मण, आरुणेय ब्राह्मण, सौलभ-ब्राह्मण, पराशर-ब्राह्मण[1]। उपलब्ध ब्राह्मणों की संख्या वेदानुसार इस प्रकार हैं—

ऋग्वेद—(१) ऐतरेयब्राह्मण, (२) शांखायन-ब्राह्मण

शुक्लयजुर्वेद—(३) शतपथ-ब्राह्मण

कृष्णयजुर्वेद—(४) तैत्तिरीय-ब्राह्मण

सामवेद (९ ब्राह्मण)—(५) ताण्ड्य, (६) षड्विंश, (७) सामविधान, (८) आर्षेय, (९) दैवत, (१०) उपनिषद्-ब्राह्मण, (११) संहितोपनिषद्, (१२) वंशब्राह्मण, (१३) जैमिनीयब्राह्मण

अथर्व वेद—(१४) गोपथ-ब्राह्मण।

---

१. द्रष्टव्य भगवद्दत्त; वैदिक-वाङ्मय का इतिहास, भाग द्वितीय, पृ० २६-३४।

वैदिक ग्रन्थों की सूची

वेद	शाखा	ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्
ऋग्वेद	१—शाकल *	ऐतरेयब्राह्मण	ऐतरेय आरण्यक	ऐतरेय उपनिषद् = [आरण्यक २।४–६]
	२—वाष्कल	कौषितकि-ब्राह्मण (शांखायन-ब्राह्मण भी कहते हैं)	शांखायन आरण्यक	१—कौषितकि उपनिषद् [= आरण्यक ३–६]
				२—वाष्कल मन्त्रोपनिषद्
सामवेद	१—कौथुम *	१—पञ्चविंश=(प्रौढ=ताण्ड्य-महाब्राह्मण)		
		२—षड्विंश ब्राह्मण (अद्भुत ब्राह्मण अन्तिम प्रपाठक में है)		
		३—सामविधान ब्राह्मण		
		४—आर्षेय ब्राह्मण		
		५—मन्त्र (=उपनिषद्) ब्राह्मण		छान्दोग्यउपनिषद् [ब्राह्मण के अन्तिम आठ प्रपाठक]
		६—देवताध्याय-ब्राह्मण		
		७—वंश-ब्राह्मण		
		८—संहितोपनिषद् ब्राह्मण		

वेद	शाखा	ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्
	२—रामायणीय +	कतिपय सूत्रग्रन्थों में ही रक्षित		
	३—जैमिनीय *	१—जैमिनीय ब्राह्मण		
		२—जैमिनीयोपनिषद् (=तलवकार-ब्राह्मण)		केनोपनिषद् (=ब्राह्मण ४।१८–२१)
		३—आर्षेय ब्राह्मण ?		
कृष्णयजुर्वेद	१—तैत्तिरीय *	१क—तैत्तिरीय संहिता (ब्राह्मण भाग)	तैत्तिरीय आरण्यक	१—तैत्तिरीय उपनिषद् (=आरण्यक ७–९)
		१ख—तैत्तीरीय ब्राह्मण (संहिता भाग को छोड़कर)		२—महानारायण उपनिषद् (=आरण्यक १०)
	२—मैत्रायणी *	मैत्रायणी संहिता (ब्राह्मण भाग)		मैत्रायणीय उपनिषद् (=मैत्री उपनिषद्)
	३—कठ *	काठक संहिता (ब्राह्मण भाग)		कठोपनिषद्
	४—कापिष्ठलकठ ×	कापिष्ठल कठ-संहिता (ब्राह्मण भाग)		
	५—श्वेताश्वतर			श्वेताश्वतरोपनिषद्

वेद	शाखा	ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्
शुक्लयजुर्वेद	१—काण्व *	शतपथ-ब्राह्मण	बृहदारण्यक (=ब्राह्मण काण्ड १७)	१—ईशावास्योपनिषद् = (संहिता ४०) २—बृहदारण्यकोपनिषद् (=आरण्यक ३-८)
	२—माध्यन्दिन *	शतपथ-ब्राह्मण	बृहदारण्यक (=ब्राह्मण काण्ड १४)	१—ईशावास्योपनिषद् = (संहिता ४०) २—बृहदारण्यकोपनिषद् (=आरण्यक ४-९)
अथर्ववेद	१—पैप्पलाद ×			प्रश्नोपनिषद्
	२—शौनक*	गोपथ-ब्राह्मण		१—मुण्डकोपनिषद् २—माण्डूक्योपनिषद् ३—अनेक पिछले उपनिषद्

*पूर्णतया उपलब्ध +अनुपलब्ध ×अंशतः उपलब्ध

विशेष परिचय

ऐतरेय-ब्राह्मण—ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय ब्राह्मण है ऐतरेय-ब्राह्मण। इसके रचयिता ऋषि महिदास ऐतरेय माने जाते हैं। इस नाम की व्युत्पत्ति के आधार पर सायणाचार्य ने अपने भाष्य के आरम्भ में एक कथानक दिया है जिसके अनुसार ये किसी शूद्रा इतरा के पुत्र थे, परन्तु इसमें ऐतिहासिक तथ्य थोड़ा भी प्रतीत नहीं होता। अवेस्ता में ऋत्विज् अर्थ में व्यवहृत 'एथ्रेय' शब्द उपलब्ध होता है। विद्वानों का अनुमान है कि 'ऐतरेय शब्द भी इसी एथ्रेय से साम्य रखता है, तथा इसका भी अर्थ ऋत्विज् ही है।

ऐतरेय की लेखनशैली विशुद्ध ब्राह्मणोचित है। संहिताकाल की भाषा से वह बहुत दूर नहीं है। इसकी रचना में एक प्रकार की एकता तथा समानता वर्तमान है जिससे इसमें किसी प्रकार के अवान्तर प्रक्षेप की कल्पना सर्वथा निराधार है। आश्वलायन के तर्पणविधि में किसी महैतरेय का भी नामोल्लेख पाया जाता है जिससे इस ग्रन्थ के किसी महान् तथा विशाल संस्करण की कल्पना की जा सकती है, परन्तु ऐसे ग्रन्थ की स्थिति आज तो नितान्त अभाव-रूप है। यदि इस नाम का कोई ब्राह्मण कभी होगा भी, तो आज वह नष्ट हो गया है।

ऐतरेय-ब्राह्मण में चालीस अध्याय हैं, तथा प्रत्येक पाँच अध्यायों को मिलाकर एक 'पंचिका' कहते हैं और प्रत्येक अध्याय में कण्डिका की कल्पना है। इस प्रकार पूरे ऐतरेय में ४० अध्याय, ८ पंचिका तथा २८५ कंडिकायें हैं। ऋग्वेद से सम्बद्ध यह ब्राह्मण यज्ञ में होतृ नामक ऋत्विज् के विशिष्ट कार्य-कलापों का विशेष विवरण प्रस्तुत करता है। प्रथम तथा द्वितीय पंचिका में 'अग्निष्टोम' याग में होतृ के विधिविधानों तथा कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन है। यही 'अग्निष्टोम' समस्त सोमयागों की प्रकृति है। इसीलिए इसका विशेष विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है। तृतीय चतुर्थ पंचिका में प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन के समय प्रयुज्यमान शस्त्रों का वर्णन मिलता है। साथ ही साथ अग्निष्टोम की विकृतियों—उक्थ्य, अतिरात्र तथा षोडशी नामक यागों का भी संक्षिप्त विवेचन है। पंचम में द्वादशाह यागों का तथा षष्ठ में कई सप्ताहों तक चलने वाले सोमयागों में होता तथा उसके सहायक ऋत्विजों के कार्यों का विवेचन पर्याप्तरूपेण किया गया है। सप्तम पंचिका का प्रधान विषय 'राजसूय' है तथा इसी प्रसंग में शुनःशेपका प्रख्यात आख्यान भी विस्तार के साथ दिया गया है। अष्टम पंचिका ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त महत्त्वशाली है, क्योंकि

प्रथमतः इसमें 'ऐन्द्र महाभिषेक' का तथा तदनन्तर उसी के आधार पर चक्रवर्ती नरेशों के महाभिषेक का बड़ी ही रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम अध्याय में पुरोहित के धार्मिक तथा राजनीतिक महत्त्व का प्रतिपादन नितान्त उपादेय है। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण सोमयाग के नाना प्रकारों के स्वरूप तथा इतिहास बतलाने में विशेष गौरव रखता है।

महत्त्व

धार्मिक दृष्टि से ऐतरेय की आलोचना हमें अनेक नवीन तथा प्रामाणिक तथ्यों का ज्ञान कराती है। इसका अनुशीलन हमें बतलाता है कि इसके युग में किस प्रकार विष्णु की महिमा वैदिक समाज में विशेष स्थान कर रही थी, परन्तु शुनःशेप के आख्यान के कारण यह ब्राह्मण वैदिक ग्रन्थों में चिरस्मरणीय रहेगा। शुनःशेप ऋग्वेद के ऋषि हैं तथा प्रथम मण्डल के अनेक सूक्तों (२४–२७तक) के द्रष्टा हैं। शुनःशेप का आख्यान बड़ा ही करुणोत्पादक होने से साहित्यिक दृष्टि से भी पठनीय है[1]। राजा हरिश्चन्द्र वरुण की दया से प्राप्त पुत्र को उन्हें बलि देना चाहता है। समर्थ होने पर वह पुत्र 'रोहित' जंगल में चला जाता है और पिता उदर-व्याधि का शिकार बन जाता है। समाचार पाकर रोहित जंगल से घर लौटता है। इन्द्र उसे लौटने से रोकता है। अन्ततोगत्वा रोहित घर लौट आता है, परन्तु अजीगर्त सौयवसि नामक ब्राह्मण से उसके मध्यम पुत्र शुनःशेप को गायों की दक्षिणा देकर खरीद लाता है। वरुण के यज्ञ में पिता ही अपने पुत्र को बलि देने के लिए दक्षिणा लेकर तैयार हो जाता है, परन्तु अनेक देवताओं की अभ्यर्थना के बल पर वह प्राण बचा लेता है। विश्वामित्र उसे अपना पोष्य पुत्र बना लेते हैं। उनके जिन पचास पुत्रों को यह घटना मान्य नहीं होती उन्हें पिता के अभिशाप से आर्य देश की प्रान्तभूमि में आन्ध्र, मूतिब, पुलिन्द आदि म्लेच्छ जाति के रूप में परिणत होना पड़ता है।

ऐतरेय के ही कथनानुसार यह पूर्वोक्त आख्यान एक शत ऋचाओं के ऊपर आश्रित बतलाया गया है (ऋक्-शतगाथं शौनःशेपमाख्यानम्), परन्तु वस्तुतः ये ऋचाएँ संख्या में ९७ ही हैं; तथापि तीन ऋचाओं की कमी पर ध्यान न देकर पूरी संख्या एक शत बतलाई गई है। इस आख्यान को अनेक पश्चिमी

---

1. द्रष्टव्य लेखक का ग्रन्थ—वैदिक कहानियाँ; पृष्ठ ३८—पृष्ठ ५८।

वेदज्ञ वैदिक युग में मनुष्य के बलिदान का परिचायक प्रमाण मानते हैं[1], परन्तु भारतवर्ष के आर्य धर्म में मनुष्य के बलि देने का कहीं विधान नहीं है। शांखायन श्रौत सूत्र में पुरुषमेध की राजसूय के समय योजना का वर्णन जो मिलता है वह वास्तव नहीं, प्रत्युत काल्पनिक तथा प्रतीकात्मक है। राजा के अभिषेक के समय इस आख्यान का पुरोहित द्वारा कथन एक आवश्यक तथ्य का संकेत कर रहा है। राजा को मनुष्य तथा देवता किसी को भी दी गई प्रतिज्ञा का निभाना आवश्यक धर्म है। हरिश्चन्द्र ने वरुण के सामने पुत्र के बलिदान की प्रतिज्ञा को निष्कृति के दान से निभा कर अपने सत्य-सन्ध होने की बात स्पष्टतः प्रमाणिक की। रोहित को घर लौटने से इन्द्र ने रोक कर 'चरैवेति चरैवेति' की जो सुन्दर शिक्षा दी है वह आर्य जाति के अभ्युदय का संबल है। कर्म की दृढ़ उपासना ही आर्य संस्कृति का मेरुदण्ड है। आर्य-धर्म कर्मण्यता का पक्षपाती और अकर्मण्यता का प्रतिद्वन्द्वी है।

यह आख्यान आर्यों के दक्षिण देशों में प्रसार के इतिहास तथा समय का पूर्ण साक्षी है। ऐतरेय के ही समय आर्य लोग अपनी अभ्यस्त सीमा के बाहरी प्रान्तों में जाकर निवास करने लगे थे। पौण्ड्र, आन्ध्र, पुलिन्द, शबर तथा मूतिब आर्यों के सीमान्त प्रदेश में निवास करने वाली ऐसी ही अनार्य जातियाँ हैं, जिनके साथ आर्यों का इस युग में सम्पर्क होता है। पौण्ड्र से बंगाल का संकेत है। आन्ध्र तो आज भी अपने स्थान पर है। पुलिन्द तथा शबर मध्यभारत में रहने वाली जंगली जातियाँ हैं। मूतिब का ठीक पता नहीं चलता।

ऐतरेय का भौगोलिक सम्बन्ध मध्यदेश से ही है, क्योंकि मध्यदेश का उल्लेख बड़े अभिमान के साथ किया गया है, और वह ध्रुव तथा प्रतिष्ठा माना गया है (**ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि—एते० ८।१४**), परन्तु ऋग्वेद के समान इसका भी प्रकार आजकल महाराष्ट्र देश में ही है। इसीलिए 'ड' के स्थान पर 'ळ, का बहुत प्रयोग इस ब्राह्मण में मिलता है।

इसके ऊपर तीन व्याख्याओं का पता चलता है—(१) सायणकृत भाष्य[2]; (२) षड्गुरु-शिष्य-रचित 'सुखप्रदा' नाम्नी लघुकाय व्याख्या;[3]

---

१. जर्मन विद्वान् हिलेब्राण्ट इससे मनुष्य-बलिदान की प्रथा को वैदिक युग में वास्तव मानते हैं, परन्तु डॉ० कीथ ने इसका सप्रमाण खण्डन किया है। द्रष्टव्य ऐतरेय का अंग्रेजी अनुवाद (भूमिका)।

२. सं० आनन्दाश्रम सं० सीरिज में, पूना।

३. सं० अनन्तशयन ग्रन्थमाला सं० १४९, ट्रिवेनड्रम् सन् १९४२।

गोविन्द स्वामी की व्याख्या (अप्रकाशित)। इस व्याख्या-सम्पत्ति से भी इसकी महिमा का पता भली भाँति चल सकता है।

शांखायन ब्राह्मण

ऋग्वेद का यह दूसरा ब्राह्मण ३० अध्यायों में विभक्त है; प्रत्येक अध्याय में खण्ड हैं जो ५ से लेकर १७ तक हैं। सम्पूर्ण खण्डों की संख्या २२६ है। खण्डों के भीतर लम्बे-लम्बे गद्य हैं। इसमें कौषीतकि नामक आचार्य का उल्लेख पैंग्य आचार्य के विरोध में किया गया है, तथा कौषीतकि का मत ठहराया गया है (द्रष्टव्य ८।९; २६।३)। कौषीतकि के मत का निर्देश अन्य स्थलों पर भी है (११।५; २५।१५)।

विषय की दृष्टि से यह ऐतरेय का ही अनुगामी है, जिसके आरम्भिक तीस अध्यायों का विषय यहाँ प्रायः समानता के साथ दिया गया है। इसके अनुशीलन से अनेक महनीय बातों से परिचय मिलता है :—

(१) उदीच्य लोगों का संस्कृत ज्ञान प्रशंसनीय माना गया है। उस समय के लोग भाषा सीखने के लिए उदीच्य प्रान्त में जाते थे और देश में लौटने पर वे आदर तथा सत्कार के पात्र माने जाते थे (**उदञ्च एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्; यो वै तत आगच्छति तं शुश्रूषन्ते**—८।६), भाषाशास्त्र की दृष्टि से इस कथन का मूल्य बहुत ही अधिक है। पाणिनि भी उदीच्य थे, क्योंकि उनका जन्मस्थान शालापुर तक्षशिला के ही पास था। इस घटना से पाणिनि का भाषाज्ञान विशेष श्लाघनीय प्रतीत होता है।

(२) रुद्र की विशेष महिमा का वर्णन है। वह देवों में श्रेष्ठ तथा ज्येष्ठ माना गया है (**रुद्रो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च देवानाम्** २५।१३)। ६ अ० मे शिव के भव, शिव, पशुपति, उग्र, महादेव, रुद्र, ईशान तथा अशनि नाम दिये गये हैं, तथा इन नामों की उत्पत्ति विचित्र रूप से बतलाई गई है, साथ ही उनके विशिष्ट व्रत का भी यहाँ निर्देश किया गया है।

(३) सप्तम अध्याय में अग्नि बिल्कुल निम्नकोटि के तथा विष्णु उच्चकोटि के देवता माने गये हैं (**अग्निरवरार्ध्यः विष्णुः परार्ध्यः**)। यह इस युग की धार्मिक मान्यता थी जिसकी पुष्टि ऐतरेय ब्राह्मण से भी होती है। उस युग की उदात्त भावना का प्रतीक यज्ञ विष्णु का प्रतीक था (**यज्ञो वै विष्णुः**)।

(४) यज्ञ के हिंसित पशुओं के विषय में कहा गया है कि वे दूसरे लोक में जाकर यज्ञ करने वाले को खाते हैं जिससे स्पष्ट है कि पशु-याग तथा मांसभक्षण के प्रति लोगों में घृणा की भावना जाग रही थी और लोग उससे पराङ्मुख होने की चेष्टा करते थे (**अमुष्मिन् लोके पशवो मनुष्यानश्नन्ति**—११।१३)।

(५) अध्याय २३।२ में शक्करी (छन्द) के नाम की ऐतिहासिक निरुक्ति है। इन छन्दों के द्वारा इन्द्र वृत्र को मारने में समर्थ हुआ; यही तो शक्करी का शक्करीत्व है (**इन्द्रो वृत्रमशकद्धन्तुमाभिस्तस्मात् शक्कर्यः**)। महानाम्नी साम में शक्करी ऋचायें हैं और यह मुख्यतया इन्द्र के प्रति कहा गया है।

(६) गोत्र का प्रचलन तथा प्रभाव दृढ़ हो गया था, क्योंकि एक स्थान पर ब्राह्मण से कहा गया है कि अपने ही गोत्र वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के साथ निवास करे, अन्य गोत्रीय के साथ नहीं (**ब्राह्मणे समानगोत्रे वसेत्, यन् समाने गोत्रेऽन्नाद्यं तस्योपाप्त्यै**—२५।१५)।
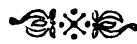
यजुर्वेदीयब्राह्मण

शतपथ-ब्राह्मण

ब्राह्मण ग्रन्थों में सब से अधिक महत्त्वशाली विपुलकाय तथा यागानुष्ठान का सर्वोत्तम प्रतिपादक ग्रन्थ यही है शतपथ-ब्राह्मण। शुक्लयजुर्वेद की उभय शाखाओं—माध्यन्दिन तथा काण्व शाखाओं—में यह उपलब्ध होता है। विषय की एकता होने पर भी उसके वर्णनक्रम तथा अध्यायों की संख्या में यहाँ अन्तर पड़ता है। माध्यन्दिन शतपथ में काण्डों की संख्या १४, अध्यायों की पूरी एक सौ, प्रपाठकों की ६८, ब्राह्मणों की ४३८ तथा कण्डिकाओं की ७६२४ है। काण्व शतपथ में प्रपाठक नामक उपखण्ड का अभाव है, तथा काण्डों की संख्या १७, अध्यायों की १०४, ब्राह्मणों की ४३५ तथा कण्डिकाओं की ६८०६ है। माध्यन्दिन शतपथ में प्रथम काण्ड से आरम्भ कर नवम काण्ड तक पिण्डपितृ-यज्ञ को छोड़कर विषयों का क्रम माध्यन्दिन-संहिता के अनुसार ही है। पिण्डपितृ यज्ञ का वर्णन संहिता में दर्शपौर्णमास के अनन्तर है, परन्तु ब्राह्मण में आधान के

अनन्तर है; यही अन्तर है। अवशिष्ट काण्डों में भी संहिता का ही क्रम अङ्गीकृत किया गया है। दोनों शतपथों के आरम्भ में ही एक अन्तर दृष्टिगोचर होता है। माध्यन्दिन शतपथ के प्रथम काण्ड का विषय (दर्शपूर्णमासेष्टि) काण्व के द्वितीय काण्ड में है और द्वितीय काण्ड का विषय (आधान, अग्निहोत्र आदि) काण्व के प्रथम काण्ड में ही समाविष्ट है। अन्यत्र विषय उतने ही हैं, परन्तु उनका क्रम दोनों में भिन्न-भिन्न है।

माध्यन्दिन शतपथ के प्रथम काण्ड में दर्शपूर्णमास इष्टियों का तथा द्वितीय काण्ड में आधान, अग्निहोत्र, पिण्डपितृयज्ञ, आग्रायण और चातुर्मास्य का वर्णन है। सोमयाग के नाना यागों के विवरण से सम्बद्ध तृतीय तथा चतुर्थ काण्ड है। पञ्चम काण्ड में वाजपेय याग तथा राजसूय याग का विवेचन है। ६ काण्ड से लेकर १० काण्ड तक उषासम्भरण, विष्णुक्रम, वनीवाहनकर्म (६ काण्ड), चयन का सम्पूर्ण वर्णन (७ तथा ८ काण्ड), शतरुद्रिय होम (९ काण्ड) तथा चित्तिसम्पत्ति तथा उपनिषद् रूप से अग्नि की उपासना आदि का वर्णन (१० काण्ड) किया गया है। प्रथम काण्ड-पञ्चक में याज्ञवल्क्य का—जो चतुर्दश काण्ड में समस्त शतपथ के कर्ता माने गये हैं—प्रामाण्य सर्वातिशायी है, परन्तु द्वितीय काण्ड-पञ्चक (६ काण्ड—१० काण्ड) में याज्ञवल्क्य का नाम-निर्देश न होकर शाण्डिल्य ऋषि का ही प्रामाण्य निर्दिष्ट है। ये ही शाण्डिल्य १०म काण्ड में वर्णित 'अग्निरहस्य' के प्रवक्ता बतलाये गए हैं। अन्तिम काण्ड-चतुष्टय (११ काण्ड–१४ काण्ड) में अनेक नवीन विषयों का विवेचन उपलब्ध होता है, जो साधारण रीति से ब्राह्मणों में विवेचित तथा संकेतित नहीं होते। ऐसे विषयों में से कतिपय महत्वशाली विषय ये हैं—उपनयन (११।५।४), स्वाध्याय—जो ब्रह्मयज्ञ के रूप में स्वीकृत किया गया है (११।५।६–८), और्ध्व-देहिक क्रियाओं का अनुष्ठान (१३।८), अश्वमेध, पुरुषमेध तथा सर्वमेध का विशद विवेचन १३वें काण्ड में तथा प्रवर्ग्य याग का वर्णन १४वें काण्ड में किया गया है। शतपथ के अन्त में बृहदारण्यक उपनिषद् है, जिसका विषय-विवेचन अगले परिच्छेद में उपनिषदों के प्रसङ्ग में किया जायेगा।

विषय विवेचन

शतपथ-ब्राह्मण की महत्ता इस घटना से है कि वह विभिन्न प्रकार के यज्ञ-यागों का बड़ा ही सांगोपांग तथा पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है, जो अन्य ब्राह्मणों में दुर्लभ है, अथवा मात्रा में बहुत ही न्यून है। यज्ञ का आरम्भ वैदिक युग के

आरम्भ काल से है। पहले यज्ञ का विधान संक्षेप में ही होता था, परन्तु कालान्तर में यह यज्ञ संस्था बहुत ही विस्तृत बन गई। यज्ञ के विभिन्न अंशों के यथावत् अनुष्ठान पर विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। ब्राह्मण युग यज्ञ संस्था के पूर्ण विकाश का युग है जिसका परिचय हमें विभिन्न ब्राह्मणों से लग सकता है। इस ब्राह्मण साहित्य का भी अपने वर्ण्य विषयों के विस्तार, विचार तथा विवरण के कारण शतपथ-ब्राह्मण मुकुटमणि माना जाता है।

शतपथ-ब्राह्मण का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से (अर्थात् वाजसनेयी संहिता से) है। इसलिए संहिता में निर्दिष्ट इष्टि और याग उसी क्रम से यहाँ भी उल्लिखित हैं। शतपथ के प्रथम नौ काण्डों में वाजसनेयी संहिता के प्रथम १८ अध्यायों की क्रमबद्ध व्याख्या है, जिसमें ब्राह्मणोचित आख्यायिकाओं का भी यथास्थान निवेश यज्ञ के शुष्क वर्णनों को सजीव तथा रोचक बना देता है। इष्टियों में दर्शपूर्णमास प्रधान तथा प्रकृति माने जाते हैं। दर्श इष्टि प्रत्येक अमावस्या के अनन्तर प्रतिपद् में सम्पन्न होती है और पूर्णमास इष्टि पूर्णिमा के दूसरे दिन होने वाली प्रतिपद में। इनके प्राधान्य के कारण इनका साङ्गोपाङ्ग विवरण शतपथ के प्रथम काण्ड में दिया गया है। इन इष्टियों के उपयुक्त मन्त्रों का निर्देश संहिता के प्रथम अध्याय की पञ्चम कण्डिका से लेकर द्वितीय अध्याय की २८वीं कण्डिका तक किया गया है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र का वर्णन प्रथमतः है। प्रत्येक आर्यगृहस्थ के लिए अग्नि का आधान करके उसमें प्रातः और सायं हवन करने की विधि है। इसी का नाम 'अग्निहोत्र' है। 'पिण्डपितृ-यज्ञ' पितरों की तृप्ति के उद्देश्य से किया जाता है। 'नवान्नेष्टि' में अगहन के महीने में नये अन्न के उत्पन्न होने पर उसी से हवन का विधान है। 'चातुर्मास्य' भी एक विशिष्ट याग है। पूर्वोक्त चारों यागों का विवरण शतपथ के द्वितीय काण्ड में प्रस्तुत मिलता है।

तृतीय और चतुर्थ काण्ड का विषय सोमयाग है। सोमयाग में सोमलता को कूटकर उसका रस निकालते हैं और उसमें गाय का दूध तथा मधु मिलाकर उचित समय पर देवता के निमित्त आग में हवन करते हैं। सोमयाग का प्रकृतिभूत याग 'अग्निष्टोम' कहलाता है जिसके उपयोगी मन्त्रों का सङ्कलन वाजपेय संहिता के चौथे अध्याय से आरम्भ कर ८वें अध्याय की ३२वीं कण्डिका तक किया गया है। प्रकृतियाग होने के कारण 'अग्निष्टोम' का वर्णन तृतीय काण्ड में तथा इसकी विकृति होने वाले ज्योतिष्टोम आदि इतर सोमयागों का वर्णन चतुर्थ काण्ड में दिया गया है। पञ्चम काण्ड में वाजपेय तथा राजसूय का विस्तृत विवरण है। राजसूय एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण याग है जिसका मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय

नरेश ही अधिकारी होता है। अभिषेक प्राचीन भारत में राजनैतिक आधिपत्य का सूचक एक महनीय व्यापार था। अभिषिक्त राजन्य राजसूय जैसे लम्बे याज्ञिक अनुष्ठान का सम्पादक होता था। षष्ठ काण्ड से लेकर दशम काण्ड तक 'अग्नि-चयन' का विशिष्ट और विस्तृत विवरण है। इन काण्डों में शाण्डिल्य का प्रामाण्य विशेष रूप से स्वीकृत है और उनकी सम्मति बड़े आदर के साथ उद्धृत की गई है। इन शाण्डिल्य काण्डों में गान्धार, केकय और शाल्य जन-पदों का उल्लेख किया गया है, जब कि इतर काण्डों में आर्यावर्त के मध्यभाग के निवासी अथवा पूरब के निवासियों—कुरुपाञ्चाल, कोशल विदेह, सृञ्जय, आदि—का उल्लेख मिलता है। इससे डा० मैक्डोनल ने निष्कर्ष निकाला है कि इन काण्डों के रचयिता याज्ञवल्क्य न होकर शाण्डिल्य हैं, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं प्रतीत होती! प्राच्य लोगों के उल्लेख से यही जान पड़ता है कि याज्ञवल्क्य विदेह के निवासी थे और विदेह के राजा जनक उनके शिष्य थे। सम्भवतः शाण्डिल्य का सम्बन्ध उत्तर-पश्चिम के प्रान्तों से था और इसीलिए उनके निर्देश के सङ्ग में इन जनपदों का उल्लेख स्वाभाविक प्रतीत होता है। आर्यनिवास के तीनों खण्डों में इस समय पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध का अभाव नहीं था। ये तीन प्रान्त थे—(क) गान्धार पञ्जाब, (ख) कुरु-पाञ्चाल और मध्यदेश, (ग) पूरबी भाग, विदेह और कोशल। ब्राह्मणों में स्पष्ट वर्णन है कि व्याकरण का अध्ययन उत्तरी भाग में विशेष रूप से किया जाता था और कर्मकाण्ड का मध्य-देश में। वैयाकरण पाणिनि का जन्मस्थान गान्धार प्रान्त के शालातुर नामक स्थान में था, तथा कुरुपाञ्चाल आर्यसंस्कृति के विकास का क्षेत्र था—इन बातों की सङ्गति पूर्णरूप से जमती है। फलतः शाण्डिल्य के प्रामाण्य का उल्लेख होने पर भी हमें इन काण्डों की भी रचना का श्रेय याज्ञवल्क्य को ही देना उचित प्रतीत होता है।

शतपथ-ब्राह्मण के अन्तिम चार काण्डों की विषय-योजना मूल संहिता के आधार पर है। ११वें काण्ड में पशुबन्ध, पञ्चमहायज्ञ तथा दर्श-पूर्णमास के अवशिष्ट विधानों का वर्णन है। भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्म-यज्ञ—ये प्रख्यात यज्ञ 'महायज्ञ' के रूप में यहाँ अंकित हैं (११।५।६)। स्वाध्याय—वेद का अध्ययन—ब्रह्मयज्ञ का ही रूपान्तर है जिसकी यहाँ (११।५।७) भूयसी प्रशंसा बड़ी ही आलङ्कारिक शैली में की गई है। 'ऋक् का अध्ययन देवों के लिए पय आहुति है, यजुष् का आज्याहुति, साम का सोमाहुति, अथर्वा-ङ्गिरस का मेद-आहुति तथा अनुशासन (वेदाङ्ग) विद्या, वाको वाक्य, इतिहास—पुराण और नराशंसी गाथाओं का अध्ययन देवों के लिए मधु की

आहुति है।' और इसलिए शतपथ का वेद तथा वेदाङ्ग के अनुशीलन के लिए बड़ा ही बलवान् आग्रह है। अनेक प्रमाणों से 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' का समर्थन इस काण्ड का महिमामय सिद्धान्त है। द्वादश काण्ड में द्वादश-सत्र, संवत्सरसत्र, सौत्रामणी और और्ध्वदेहिक अनुष्ठान का विस्तृत वर्णन है। जो यज्ञ आरम्भ के दिन से लेकर लगातार बारह दिनों तक चलते हैं, उन्हें '**क्रतु**' कहते हैं। बारह दिनों से अधिक दिनों (६ मास या कई सालों) तक चलने वाले यज्ञों को 'सत्र' कहते हैं। द्वादशाह दोनों प्रकार का होता है—सत्र और अहीन। द्वादशसत्र और संवत्सरसत्र (वर्ष भर तक चलने वाला यज्ञ) के अनन्तर **सौत्रामणी** नामक प्रख्यात याग का विवरण कुछ विस्तार के साथ किया गया है (१२।७।१)। इस याग के आध्यात्मिक रूप का भी विवेचन बड़ा मार्मिक है (१२।९।१)।

१३वें काण्ड में अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध तथा पितृमेध का विवरण है। मूर्धाभिषिक्त राजन्य को ही 'अश्वमेध' करने का अधिकार था। अश्वमेध अनेक दिनों में व्याप्त होने वाला याज्ञिक विधान था, जिसमें यज्ञीय अश्व के हवन का विधान है। यज्ञ के प्रसङ्ग में हम आगे चल कर इन यज्ञों का विशिष्ट विवरण प्रस्तुत करेंगे। १४वें काण्ड में 'प्रवर्ग्य' का वर्णन है। अन्तिम पाँच अध्यायों में (चौथे अध्याय से लेकर ९वें अध्याय तक) बृहदारण्यक उपनिषद् निबद्ध है जिसका वर्णन उपनिषदों के प्रसङ्ग में यथास्थान किया जायगा। इस प्रकार यज्ञ के नाना प्रकारों का विस्तृत, प्राञ्जल तथा प्रामाणिक विवरण देने में शतपथ-ब्राह्मण अद्वितीय है; इस कथन में कथमपि विप्रतिपत्ति नहीं है।

यज्ञों का आध्यात्मिक तत्त्व—यज्ञ कर्म के भीतर नाना कर्मों का अनुष्ठान पाया जाता है और वह भी एक विशिष्ट क्रम से सम्पन्न होता है। यह क्रम भी सयुक्तिक है। शतपथ-ब्राह्मण में इस क्रम के प्रत्येक पदार्थ की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए बड़ी ही उदात्त और प्राञ्जल व्याख्या की गई है। तथ्य यह है कि भौतिक याग एक प्रतीकात्मक व्यापार है। अन्तर्याग तथा बहिर्याग में पूर्ण सामञ्जस्य और आनुरूप्य है। अग्नि-समिन्धन होने पर दो आहुतियाँ प्रथमतः दी जाती हैं—मन के लिए पहिली आहुति पूर्वाघार आहुति कहलाती है और वाक् के लिए दूसरी आहुति उत्तराघार आहुति। भौतिक रथ को ले चलने के लिए जैसे दो अश्वों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार यज्ञचक्र को खींचने के लिए मन वाक् की आवश्यकता होती है। मन किसी वस्तु का प्रथमतः संकल्प करता है, तब वाक् वचन-व्यापार के द्वारा उसका प्रतिपादन करती है। मन-वाक् के विना संयोग हुए किसी भी कर्म का, विशेषतः यज्ञ जैसे अध्यात्म-

कर्म का, यथार्थ सम्पादन असम्भव है। इसी दृष्टि से दोनों आहुतियों की निष्पत्ति क्रमशः स्रुव तथा स्रुक् नामक पात्रों के द्वारा की जाती है। इस विश्व के भीतर दो प्रधान तत्त्व हैं—अग्नि और सोम (अग्निसोमात्मकं जगत्)। अग्नि है अन्नाद (=अन्न का भक्षण करने वाला, पुरुष तत्त्व) तथा सोम है अन्न (उपभोग्य तत्त्व, स्त्री तत्त्व)। इन तत्त्वों का यथार्थ मिलन और सामञ्जस्य होने पर ही विश्व का कल्याण सम्पन्न होता है। अग्नि में सोमरस की आहुति देने का यही अभिप्राय है कि अन्नाद तथा अन्न के परस्पर सम्बन्ध से जगन्मंगल-साधिका सामग्री प्रस्तुत होती है। उपनिषदों में यही तत्त्व रयि और प्राण के नाम से उल्लिखित है। यज्ञ की प्रत्येक छोटी-सी छोटी क्रिया का भी स्वारस्य इस मूलतत्त्व की पीठिका में पूर्णतया अभिव्यक्त करने का श्रेय शतपथ-ब्राह्मण को है। पूर्वाधार की आहुति बैठे ही दी जाती है, तथा उत्तराधार की आहुति खड़े-खड़े दी जाती है। इस प्रक्रिया के भीतर विद्यमान तत्त्व का स्पष्टीकरण शतपथ में बड़े विस्तार के साथ किया गया है (१।४।५)। सच तो यह है कि यज्ञ का विधान साधारण दृष्टि से निर्जीव, आडम्बर सा प्रतीत होता है, परन्तु शतपथ की व्याख्या के अनुशीलन से उसके अन्तर्निहित तत्त्वों का उन्मीलन यथार्थतः होता है[१]।

शतपथ की प्राचीनता

शतपथ-ब्राह्मण आजकल उपलब्ध ब्राह्मणों में प्राचीनतम माना जाता है। भट्टोजि-दीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी में निर्दिष्ट एक उल्लेख से यह प्राचीन न होकर नवीन ब्राह्मण प्रतीत होता है। इस तथ्य का कारण क्या? अष्टाध्यायी में **'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण-कल्पेषु'** (४।३।१०५) सूत्र के द्वारा प्रोक्त अर्थ में 'णिन्' प्रत्यय का विधान किया गया है, यदि वह ब्राह्मण या कल्प चिरन्तन ऋषि के द्वारा प्रोक्त हो। उदाहरण इस सूत्र का है—भाल्लविनः तथा शाट्यायनिनः; अर्थात् इन उदाहरणों के द्वारा भल्लु ऋषि एवं शाट्यायन ऋषि तथा उनके द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण प्राचीन है। प्रत्युदाहरण **'याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि'** है, अर्थात् याज्ञवल्क्य के द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण में णिन् प्रत्यय का इसीलिए निषेध है कि वे अर्वाचीन काल के ऋषि थे, भल्लु तथा शाट्यायन के समान याज्ञवल्क्य प्राचीन नहीं थे। भट्टोजिदीक्षित का यह मत प्राचीन वैयाकरणों के मत से नितान्त विरुद्ध होने के कारण उपेक्षणीय है। उन्होंने वररुचि के वार्तिक **'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः, तुल्यकालत्वात्'** की बिल्कुल उपेक्षा कर दी है।

---

१. द्रष्टव्य मोतीलाल शर्मा द्वारा रचित शतपथ का वैज्ञानिक भाष्य (जयपुर)।

यह वार्तिक स्पष्टतः याज्ञवल्क्य को पूर्व निर्दिष्ट ऋषियों का 'तुल्य काल' अर्थात् समकालीन मानता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में इस वार्तिक को स्वीकार किया है[1]। इस विषय की मीमांसा हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि वैयाकरणों की दृष्टि में भाल्लवि-ब्राह्मण तथा शाट्यायन-ब्राह्मण, जो आज उपलब्ध नहीं है, निःसन्देह प्राचीनतम थे, तथा याज्ञवल्क्य के द्वारा प्रोक्त शतपथ-ब्राह्मण भी इसी काल से सम्बद्ध ग्रन्थ था। भट्टोजिदीक्षित के द्वारा इसे अर्वाचीन मानना कथमपि न्याय नहीं है। नागोजिभट्ट ने 'लघुशब्देन्दुशेखर' में याज्ञवल्क्य को अर्वाचीन मानना दीक्षितजी का अभिमान बतलाया है[2]। अतः दीक्षित-पूर्व तथा दीक्षित-पश्चात् उभयविध वैयाकरणों के द्वारा शतपथ-ब्राह्मण की प्राचीनता अक्षुण्ण ही सिद्ध होती है।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से पश्चिमी विद्वानों में शतपथ के समय के विषय में दो मत दृष्टिगोचर होते हैं। डा० वाकरनागेल पञ्चविंश और तैत्तिरीय-ब्राह्मण को प्राचीनतम ब्राह्मणों के अन्तर्गत मानते हैं; ऐतरेय और शतपथ को अर्वाचीन ब्राह्मण स्वीकार करते हैं। इसी मत के समान ही मत है डा० ओल्डनबर्ग का, जिन्होंने संस्कृत गद्य के इतिहास-प्रतिपादक अपने ग्रन्थ में प्राचीन गद्य के उदाहरण तैत्तिरीयसंहिता से और अर्वाचीन गद्य का नमूना शतपथ-ब्राह्मण से दिया है। डा० कीथ इन मतों के विपरीत मत रखते हैं। उनकी दृष्टि में अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा शतपथ प्राचीनतर है। यही मत युक्तियुक्त प्रतीत होता है। शतपथ स्वरांकित रूप में उपलब्ध है और तैत्तिरीय-ब्राह्मण को छोड़ कर अन्य कोई भी ब्राह्मण स्वरांकित नहीं है। शतपथ की प्राचीनता का यह स्पष्ट सूचक है। इसकी स्वरांकन-पद्धति सामान्य वैदिक पद्धति से भिन्न है, परन्तु इसका कोई महत्त्व नहीं। वाजसनेयी संहिता की भी तो स्वरांकन पद्धति अन्य वेदों की पद्धति से भिन्न है। इसी कारण यहाँ भी भिन्नता सम्भाव्य है। शतपथ का उच्चारण वाजसनेयी संहिता के अनुरूप है—यकार का उच्चारण होता है जकार, षकार का खकार, अनुस्वार का 'गुँ', पद के आदि में वकार का द्वित्व वकार

---

१. द्रष्टव्य ४।३।१०५ का भाष्य।

२. याज्ञवल्क्यानीति कण्वादिभ्य इत्यण्। ते हि पाणिन्यपेक्षया आधुनिका इत्यभिमानः, भाष्ये तु शाट्यायनादितुल्यकालत्वात्; याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तद्विषयता च नेति वचनमेवारब्धम्॥

—नागेश।

(ञ्व), ऊष्म और ऋकार से संयुक्त रेफ का 'रे' (यथा 'सहस्रशीर्षा' सहस्रशीरेखा उच्चारण होता है) तथा ऊष्मयुक्त लकार का उच्चारण 'ले' होता है। यह उच्चारण-पद्धति माध्यन्दिन-शाखा की अपनी विशिष्टता है और तदन्तर्भुक्त होने के कारण शतपथ में भी इसका होना नितान्त स्वाभाविक है।

शतपथ का वैशिष्ट्य

शतपथ-ब्राह्मण ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक दृष्टियों से महत्त्वशाली है। जैसा ऊपर वर्णित है—इसमें यज्ञ-विद्या अपने पूर्ण वैभव के साथ आलोचकों के सामने उपस्थित होती है। यज्ञीय अनुष्ठान के छोटे से छोटे विधि-विधानों का विशद वर्णन, इन क्रियाओं के लिए हेतु का निर्देश, प्राचीन आख्यानों का सरस बिवेचन—इस ब्राह्मण के उत्कर्ष बतलाने के लिए पर्याप्त कारण माने जा सकते हैं, परन्तु इतना ही नहीं; यज्ञ के आध्यात्मिक रहस्य का पूर्ण संकेत भी इस ब्राह्मण में पाया जाता है। **मण्डल-ब्राह्मण** (दशम मण्डल) सूर्य के आध्यात्मिक रूप को दिखलाने में जितना समर्थ है, उतना ही समर्थ वह भी भाग है जिसमें यज्ञ के अवान्तर अनुष्ठान कहीं प्रजापति के और कहीं विष्णु के प्रतीक रूप में उल्लिखित किये गये हैं। प्राचीन आख्यानों में मनु की कथा बड़ी मार्मिक तथा सरस है। पुराणों में उल्लिखित मत्स्यावतार का बीज इसी कथा में है (शतपथ० १।८।१)। जिससे पता चलता कि किसी प्रकार जल के ओघ (बाढ़) से मनु ने उस अपूर्व मत्स्य की सहायता के बल पर मानवी सृष्टि की रक्षा की, मानवों के नष्ट हो जाने पर संचित बीजों के द्वारा यज्ञ से मानव का पुनः प्रादुर्भाव इस भूतल पर हुआ आदि। यह घटना हिमालय के ऊपर घटित हुई थी और मनु के नाव बाँधने का स्थान 'मनोरवसर्पण' के नाम से विख्यात था। इस प्रकार प्रलयंकारी जलौघ की कथा पुरानी बाइबिल में हिब्रू लोगों के बीच भी पायी जाती है। यह कथा शतपथ-ब्राह्मण से ली गई है, अथवा स्वतन्त्र रूप से पश्चिम देश मे आविर्भूत हुई है ? यह निर्णय करना प्रमाणों के अभाव में नितान्त कठिन है।

आर्यावर्त में आर्यों के प्रसार के वृत्तज्ञान के निमित्त शतपथ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का वर्णन करता है। इसके प्रथम काण्ड (अध्याय ४, ब्रा० १, कण्डिका १०–१७) में **माथव विदेघ** तथा उनके पुरोहित **गोतम राहूगण** ऋषि की बड़ी ही रोचक आख्यायिका दी गई है जिसके अनुसार विदेघ माथव सरस्वती के तट पर थे। वहाँ से अग्नि वैश्वानर सब स्थानों को जलाता हुआ पूर्व की ओर उत्तरगिरि (हिमालय) से बहने वाली 'सदानीरा' नदी तक गया और वहीं रह गया। राजा और पुरोहित अग्नि के पीछे-पीछे गए और अपने

निवास स्थान के विषय में पूछने पर अग्नि ने 'सदानीरा' (गण्डक) के पूरब प्रदेश में उन्हें रहने की आज्ञा दी। इस कथा में वैदिक धर्म के सारस्वत-मण्डल से पूरब की ओर प्रसार का संकेत है। यहाँ सदानीरा से पूरब का प्रान्त प्राचीन काल में ब्राह्मणों के निवास के लिए अयोग्य बतलाया गया है[1]। इस घटना के अनन्तर ही वह आर्य-प्रदेश बना तथा ब्राह्मण वहाँ निवास करने लगे। सदानीरा के पार्श्वस्थ भूखण्ड—मिथिला में शतपथ के मान्य राजा जनक का उल्लेख है, जिनके प्रधान उपदेष्टा याज्ञवल्क्य मुनि थे। अनेक प्राचीन राजाओं का भी उल्लेख अश्वमेध के प्रसंग में यहाँ किया गया है। दुष्यन्त तथा भरत अश्वमेध के कर्ता रूप में उल्लिखित किये गये हैं (शत० १३।५।४)। महाराज जन्मेजय का भी वहाँ निर्देश है। स्मरण रखना चाहिए कि मिथिला के राजाओं की उपाधि ही 'जनक' थी। अतः शतपथ में उल्लिखित जनक को जानकी का जनक बतलाना एकदम निराधार तथा प्रमाणरहित है। शतपथ में याज्ञवल्क्य के गुरु उद्दालक आरुणि का व्यक्तित्व और पाण्डित्य बड़ा ही आकर्षक है। अनेक शिष्यों की सत्ता उनके व्यक्तित्व को स्पष्टतर बना रही है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण

तैत्तिरीय-ब्राह्मण कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा का एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण है। काठक-ब्राह्मण का नाम ही सुना जाता है। अभी तक उसकी उपलब्धि नहीं हुई है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का पाठ स्वरों से युक्त मिलता है, जिस प्रकार शतपथ-ब्राह्मण का। फलतः यह कारण नितान्त प्राचीन प्रतीत होता है। परिमाण में भी यह न्यून नहीं है। यह तीन भागों में विभक्त है, जिन्हें 'काण्ड' कहते हैं। पीछे ये ऋग्वेदीय विभाग के समान 'अष्टक' के नाम से भी प्रसिद्ध हुए। प्रथम तथा द्वितीय काण्ड में आठ अध्याय (मूल नाम प्रपाठक) है, तथा तृतीय काण्ड में १२ अध्याय जिनके अवान्तर खण्ड 'अनुवाक' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणि (जिसमें सोम के स्थान पर सुरा के पान का विधान है) तथा बृहस्पतिसव, वैश्यसव आदि नाना सवों का विवरण दिया गया है। प्रत्येक

---

१. तत एतर्हि प्राचीना बहवो ब्राह्मणाः तद्ध अक्षेत्रतर-निवास-स्रावितरमिव अस्वादितमग्निना वैश्वानरेणेति—शत० १।४।१।१५।
'स्रावितरम्' अतिशयेन स्रवणशीलं फलदानासमर्थमिति—सायण-भाष्य।

अनुष्ठान के उपयोगी ऋग्मन्त्रों का भी सर्वत्र निर्देश है। इनमें से अनेक ऋचायें ऋग्वेद से उद्धृत हैं, तथा अनेक नवीन प्रतीत होती हैं। नासदीय सूक्त (ऋ० १०।१२९) के मन्त्रों का विनियोग एक सामान्य उपहोम (काण्ड २, प्रपाटक ८) के निमित्त है। इस काण्ड में अनेक मन्त्रों में ऋग्वेद के प्रश्नों का भी उत्तर मिलता है। उदाहरणार्थ ऋ० १०।८१।४ में उस वन तथा वृक्ष का नाम पूछा गया है जिससे द्यावापृथिवी का निर्माण किया गया है। इस ब्राह्मण में उत्तर दिया गया है कि वह वन तथा वृक्ष 'ब्रह्म' ही है। फलतः उपनिषदों के ब्रह्मतत्त्व का संकेत यहाँ विशद तथा अविस्मरणीय शब्दों में किया गया है, परन्तु यज्ञ की भावना से यह सर्वत्र ओतप्रोत है। इसीलिए यज्ञ की वेदि ही पृथ्वी का परम अन्त तथा मध्य मानी गई है—"**वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः, वेदिमाहुर्भुवनस्य नाभिम्**" (तै० ब्रा० २।७।४-१०)।

तृतीय काण्ड अवान्तरकालीन रचना माना जाता है जिसमें प्रथमतः 'नक्षत्रेष्टि' का विस्तृत वर्णन है। चतुर्थ प्रपाठक में पुरुषमेध के उपयुक्त पशुओं का वर्णन है, जो कृष्णयजुर्वेद की संहिता में उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत माध्यन्दिन-संहिता से वहाँ उद्धृत किया गया है। इस काण्ड के अन्तिम तीन (१०-१२) प्रपाठक 'काठक' नाम से यजुर्वेदियों के द्वारा अभिहित किये जाते हैं। बहुत सम्भव है कि यह अंश काठकशाखीय ब्राह्मण का हो तथा किसी विशेष उद्देश्य से यहाँ संगृहीत हो। एकादश प्रपाठक में ब्रह्मचर्य के द्वारा भरद्वाज ऋषि ने अनन्त वेदों में से केवल तीन मुष्टियों को प्राप्त किया, जो त्रयी-विद्या के नाम से प्रसिद्ध है। चतुर्थवेद के नाम न होने से कुछ विद्वान् अथर्व को तैत्तिरीय ब्राह्मण से भी अवान्तर रचना मानते हैं! नाचिकेत अग्नि की वेदि तथा उपासना का यहाँ विशेष वर्णन है, जिसमें अग्निविद्या के ही द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का निर्देश है। कठोपनिषद् में इसी आख्यान का विकसित रूप हमें उपलब्ध होता है। द्वादश प्रपाठक में चातुर्होत्र तथा वैश्वसृज याग का वर्णन है। वैश्वसृज याग एक प्रतीकात्मक अनुष्ठान है जिसमें समस्त पदार्थों का होम सम्पन्न किया जाता है। देवताओं ने एक सहस्र वर्षों में इसका सम्पादन किया और ब्रह्म के साथ सायुज्य, सलोकता, सार्ष्टिता तथा समानलोकता प्राप्त की।

इस ब्राह्मण में सामवेद समस्त वेदों का शीर्ष-स्थानीय माना गया है। मूर्ति तथा वैश्य की उत्पत्ति ऋक् से, गति तथा क्षत्रिय की उत्पत्ति यजुष् से तथा ज्योति और ब्राह्मण की उत्पत्ति सामवेद से बतला कर यह ब्राह्मण साम को सर्वश्रेष्ठ बतलाता है। नाना प्रकार के यज्ञों में गाय की दक्षिणा का ही सर्वत्र विधान है।

वर्णव्यवस्था की पूर्ण प्रतिष्ठा तथा उसका सर्वत्र आदर दीख पड़ता है। अश्वमेध केवल क्षत्रिय राजाओं के लिए ही विहित था और इसका वर्णन यहाँ (काण्ड ३, प्रपाठक ८ और ९) बड़े विस्तार तथा विशदता से किया गया है। वह वर्णन शतपथ के विवरण से विशेष साम्य रखता है। क्षत्रियों में दो प्रकार का भेद दीखता है—जो राज्य करने के अधिकारी थे उनका नाम 'राजपुत्र' था, परन्तु राज्य करने के अनधिकारी क्षत्रिय का नाम 'उग्र' था। शूद्र यज्ञ के लिए अपवित्र माना जाता था, क्योंकि उसके द्वारा दुहा गया दूध यज्ञ के लिए उपादेय नहीं माना जाता था—"अहविरेव तद् इत्याहुर्यच्छूद्रो दोग्धीति" (तै० ब्रा० ३।२।३)। पुरुषमेध के लिए निर्दिष्ट पशुओं की आलोचना करने से प्रतीत होता है कि संकर जातियों की उत्पत्ति हो गई थी। स्त्रियों का आदर समाज में विशेष था, तथा उनके लिए उपयुक्त आभूषणों का भी वर्णन मिलता है जिन्हें ऋत्विज् लोग यज्ञ की दक्षिणा के रूप में विशेष महत्त्व देते थे (३।१०।४)। ब्राह्मण लोग यज्ञ के अवसर पर यज्ञ तथा दर्शन से सम्बद्ध विषयों पर शास्त्रार्थ करते थे, तथा अपने प्रतिपक्षियों को प्रशस्त करने में गौरव समझते थे। पुराणों में उल्लिखित अनेक अवतारों की कथाओं के बीज यहाँ उपलब्ध होते हैं। यहाँ (१।२) वराह अवतार का स्पष्ट संकेत मिलता है। वैदिक कालीन ज्योतिः-शास्त्र के अनेक ज्ञातव्य तथ्यों का उल्लेख इस ब्राह्मण को इस दृष्टि से भी नितान्त उपयोगी बनाता है।

काठक ब्राह्मण के कुछ अंश प्राप्त हुए हैं जिनका 'काठक-ब्राह्मण-संकलनम्' के नाम से डा० सूर्यकान्त ने प्रकाशन किया है।

सामवेदीय ब्राह्मण

सामवेद के ब्राह्मणों की संख्या इतर वेद के ब्राह्मणों की अपेक्षा कहीं अधिक है। सामवेदीय ब्राह्मणों की संख्या आठ है जिनका नामोल्लेख सायण ने इस प्रकार किया है—

> अष्टौ हि ब्राह्मणग्रन्थाः प्रौढं ब्राह्मणमादिमम्।
> षड्विंशाख्यं द्वितीयं स्यात् ततः सामविधिर्भवेत् ॥
> आर्षेयं देवताध्यायो भवेदुपनिषत् ततः।
> संहितोपनिषद् वंशो ग्रन्था अष्टावितीरिताः ॥

(१) प्रौढ-ब्राह्मण (=ताण्ड्य, पञ्चविंश); (२) षड्विंश, (३) सामविधि (=सामविधान), (४) आर्षेय, (५) देवताध्याय, (६) उपनिषद् ब्राह्मण; (७) संहितोपनिषद् ब्राह्मण; तथा (८) वंश-ब्राह्मण ।

इन ब्राह्मणों का यहाँ इसी क्रम से संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है। इनमें से कतिपय ब्राह्मणों का तो वही विषय है जो अन्य वेदों की अनुक्रमणियों का होता है। सम्भवतः इनमें से अनेक ब्राह्मण एक ही बड़े सामब्राह्मण के विविध भाग थे, जो कारणवशात् आज स्वतन्त्ररूप से हमारे सामने हैं; तथापि इनके पारस्परिक संवलन का प्रामाण्य इन ब्राह्मणों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है।

(१) ताण्ड्य-ब्राह्मण

सामवेद का प्रधान ब्राह्मण ताण्डि-शाखा से सम्बद्ध होने के कारण 'ताण्ड्य', पचीस अध्यायों में विभक्त होने के हेतु 'पञ्चविंश' तथा विशाल काय होने से 'महाब्राह्मण' के नाम से ख्यात है[1]। यज्ञानुष्ठानों में उद्गाता के कार्यों की विपुल मीमांसा इसे महनीय बना रही है। यज्ञ के विविध रूपों का—एक दिन से लेकर सहस्र संवत्सर तक चलने वाले यज्ञों का–एकत्र प्रतिपादन इस महाब्राह्मण में है। इसके द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश आदि स्तोमों की विष्टुतियों का विशद वर्णन है।

चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायों में 'गवामयन' का वर्णन है। यह एक वर्ष तक चलने वाला याग और समस्त सत्रों की प्रकृति है।

६–९।२ अध्याय तक ज्योतिष्टोम, उक्थ्य तथा अतिरात्र का वर्णन है, जो एकाह तथा अहीन यज्ञों की प्रकृति होते हैं। ६ अ० ६।७।–८ तक ज्योतिष्टोम की उत्पत्ति, उद्गाता के द्वारा औदुम्बरी शाखा की स्थापना, द्रोणकलश की स्थापना का वर्णन है।

सप्तम खण्ड ६।७ से लेकर ७ के द्वितीय खण्ड तक प्रातःसवन; ७।२ से लेकर ८।३ तक माध्यन्दिन सवन; जिसमें रथन्तर, बृहत्, नौधस तथा कालेय सामों का विस्तृत वर्णन है।

८ के शेष खण्ड से नवम अध्याय तक सायं सवन तथा रात्रिकालीन पूजा का विधान है।

---

1. सायणभाष्य के साथ चौखम्भा, काशी से प्रकाशित।

दशम से लेकर १५ अ० तक द्वादशाह यागों का विधान जिनमें क्रमशः प्रथम दिन से आरम्भ कर दशम दिन तक के विधानों तथा सामों का विशिष्ट वर्णन है।

१६–१९ अ० तक नाना प्रकार के 'एकाह' यागों का विवरण है।

२०–२२ अ० तक अहीन यागों का वर्णन है। अहीन याग से तात्पर्य उस सोमयाग से है जिसमें तीनों वर्णों का अधिकार रहता है, दक्षिणा होती है, अन्त में अतिरात्र संस्था होती है तथा एक दो तीन चार आदि अनेक यजमानों के द्वारा निष्पन्न होता है। "त्रैवर्णिकाधिकारिकः सदक्षिणोऽतिरात्रसंस्थाकः, एकद्वित्रिचतुराद्यनेक-यजमान-कर्तृकः सोमयागोऽहीनः"।

२३–२५ तक सत्रों का वर्णन। सत्र का लक्षण है—"ब्राह्मणकर्तृकोऽदक्षिण उभयतोऽतिरात्रसंस्थाकः सोमयागविशेषः सत्रम्"। सत्र में आहिताग्नि अग्निष्टोम संस्था के सम्पादक कम से कम १७ और अधिक से अधिक २४ अधिकारी होते हैं। सभी यजमान होते हैं, इसीलिए सत्रजन्य फल सब को समानरूपेण मिलता है और दक्षिणा नहीं दी जाती। सभी के यजमान होने पर १७ अधिकारि-पक्ष में एक गृहपति कहलाता है तथा अन्य सोलह ब्रह्मादि का कार्य करते हैं। २४ अधिकारि-पक्ष में ८ गृहपति होते हैं तथा १६ ऋत्विक् आदि का कार्य करते हैं। इन्हीं अध्यायों में १३ दिन में समाप्य त्रयोदशाह यज्ञ से लेकर सहस्र संवत्सर सत्र का विशद विवेचन है।

इस सामान्य विवेचन से ताण्ड्य-महाब्राह्मण का यज्ञ-पक्ष नितरां स्पष्ट हो जाता है।

ताण्ड्य-महाब्राह्मण में साम और सोमयाग का वर्णन ही मुख्य विषय है। सामवेद से सम्बद्ध होने के कारण साम के विशेष प्रकारों का तथा उनके नाम-करण और उदय का विवेचन यहाँ औचित्य-प्राप्त ही है। साम का नामकरण उनके द्रष्टा ऋषियों के कारण ही पड़ता है। द्युतान ऋषि के द्वारा दृष्ट 'द्यौतान' (१७।१।६), वैखानस ऋषियों के द्वारा दृष्ट साम 'वैखानस' (१४।४।७), शर्कर-दृष्ट साम 'शार्कर' (१४५।१४)—सामों के नामकरण की यही परि-पाटी है। कहीं कहीं सामों की स्तुति तथा महत्ता के प्रदर्शनार्थ प्राचीन रोचक आख्यायिका भी दी गई है। यथा 'वात्स' साम के विषय में। वत्स तथा मेधा-तिथि दो काण्व ऋषि थे। मेधातिथि ने वत्स को शूद्रापुत्र तथा अब्राह्मण कहकर गाली दी। वत्स 'वात्स साम' से तथा मेधातिथि 'मेधातिथ्य साम' से अग्नि के

पास ब्राह्मीयान् के निर्णय के लिए पहुँचे तथा अपने को वत्स ने अग्नि में डाल दिया, परन्तु अग्नि ने उसका रोंआ भी नहीं जलाया। (तस्य लोम च नौषत्)। तभी से वात्स साम इच्छाओं के पूरक होने से 'कामसनि' के नाम से विख्यात हुआ (१४।६।६)। इसी प्रकार वींङ्क साम के द्वारा च्यवन ऋषि को यौवन प्रदान करने की आख्यायिका का उल्लेख किया गया है (१४।६।१०)।

इस ब्राह्मण में यज्ञ के प्रधान विषयों को लेकर विभिन्न ब्रह्मवादियों के मतों का उल्लेख बहुशः उपलब्ध होता है (ताण्ड्य १४।५।८;१५।१२।३), भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों का खण्डन कर स्वाभीष्ट मत की पुष्ट स्थापना भी की गई है। १७।१।११-१२ में प्रसङ्ग है कि व्रात्य यज्ञ में अग्निष्टोम साम का विधान किस मन्त्र पर हो। किसी की सम्मति है 'देवो वा द्रविणोदा' (साम, उत्तरार्चिक ७।१।१०) पर साम का विधान होना चाहिए। अन्य आचार्य 'अदर्शि गातु वित्तम' (उत्तरा० ७।१।११) सतो बृहती पर साम रखने के पक्षपाती हैं। ता० १७।१।१२ में इनका खण्डन कर पूर्वमत का मण्डन किया गया है। ताण्ड्य का रचनाकाल यज्ञ के उत्कर्ष का प्रतीक है, जब यज्ञ ही मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए पर्याप्त साधन माना जाता था। इसीलिए एकत्र उल्लेख है (ता० १८।१।९) कि इन्द्र ने यज्ञ न करने वाले यतियों को शृगालों को भक्षण करने के लिए दे दिया था। इसी कारण अपनी लौकिकी समृद्धि पाने के लिए नागों ने भी यज्ञ किया था।

व्रात्यों को आर्यों के समकक्ष स्थान पाने के लिए अथवा आर्यों की श्रेणी में लाने के हेतु ताण्ड्य में **व्रात्य यज्ञ** का वर्णन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। ताण्ड्य के १७ अ० १ खण्ड में व्रात्यों की वेशभूषा, आचार-विचार के विषय में बहुमूल्य पदार्थों का निर्देश मिलता है जो धार्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं। प्रवास करने वाले आचार से हीन आर्य लोग ही 'व्रात्य' के नाम से पुकारे जाते थे। इनके चार भेदों का उल्लेख सायण-भाष्य में किया गया है (ताण्ड्य १७।१।१), तथा इन सब की दोषमुक्ति के लिए अलग-अलग यज्ञों का विधान यहाँ मिलता है। व्रात्यों के गृहपति तथा अन्य व्यक्तियों की दक्षिणा में भी यहाँ पार्थक्य किया है। इन वस्तुओं की सूची देखने से व्रात्यों के साधनों का परिचय मिल सकता है। गृहपति की देय दक्षिणा है-(१७।१।१४) उष्णीष (पगड़ी), प्रतोद (बैलों को हाँकने के लिए लोहे की सिरा वाला डंडा); ज्याह्रोड (इषु रहित केवल धनुर्दण्ड), फलकास्तीर्ण विपथ (तख्तों से फैला हुआ कुटिल मार्ग में जाने वाला रथ), कृष्णश-वास (काली धारी वाली धोती), काला और सफेद अविचर्म,

रजत निष्क (चाँदी का बना हुआ कर्ण-भूषण) । अन्य व्रात्यों की दक्षिणा में इन वस्तुओं का निर्देश है—लाल किनारे की धोती या कपड़ा, दो जूता, तथा शुक्लकृष्ण अजिन आदि (ता० १७।१।१५) ।

ब्राह्मणयुगीय भौगोलिक ज्ञान के लिए भी इस ब्राह्मण की प्रकृष्ट उपयोगिता है । ताण्ड्य का भौगोलिक क्षेत्र कुरुक्षेत्र तथा सरस्वती का मण्डल है, जो स्वर्ग के समान माना गया है (२५ अ०) । कुरुक्षेत्र से नैमिषारण्य तक का प्रदेश यज्ञभूमि के रूप में उल्लिखित है । 'रोहितकूलीय' साम की व्याख्या (१४।३।१३) में भरतों के साथ विश्वामित्र का रोहित नदी के कूल (यमुना नदी के पास का प्रदेश) को जीतने का उल्लेख है । महाभारत के अनुसार कर्ण तथा नकुल ने रोहितक लोगों को जीता था । विनशन (२५।१०।१), प्लक्ष प्रास्रवण (=सरस्वती के पुनरुद्गम का स्थान, २५।१०।१६), यमुना तथा कारपचव (यमुना के प्रवाह वाला प्रान्त; २५।१०।२६) कतिपय महत्त्वपूर्ण भौगोलिक स्थान यहाँ निर्दिष्ट हैं ।

(२) षड्विंश ब्राह्मण

यह ब्राह्मण[1] पाँच प्रपाठकों में विभक्त है और प्रत्येक प्रपाठक में अनेक अवान्तर खण्ड हैं । जैसा इनके नाम से प्रतीत होता है, यह ब्राह्मण पञ्चविंश ब्राह्मण का ही परिशिष्ट भाग है और इसका विषय उस ब्राह्मण के विषयों का आवश्यक पूरक सा प्रतीत होता है । इसके पंचम प्रपाठक को 'अद्भुत ब्राह्मण' इसीलिए कहते हैं कि इसमें भूकम्प अकाल में पुष्प तथा फल उत्पन्न होने, अश्वतरी के गर्भ होने, हथिनी के डूबने आदि नाना प्रकार के उत्पातों के लिए शान्ति का विधान किया गया है । यह प्रपाठक उस युग की विचित्र भावनाओं को समझने के लिए नितान्त उपयोगी है । इन्हीं विषयों को ग्रहण कर पिछले युग के धर्मग्रन्थों में प्रायश्चित्तों का विपुल विधान पाया जाता है । दोनों की तारतम्य-परीक्षा के लिए इस प्रपाठक का मूल्य अत्यधिक है ।

तत्कालीन धार्मिक धारणाओं का भी विशेष संकेत उपलब्ध होता है । प्रथम काण्ड के आरम्भ में ही 'सुब्रह्मण्या' ऋचा का विशेष व्याख्यान मिलता है । ऋत्विजों के वेष के वर्णन से पता चलता है कि वे लोग लाल पगड़ी तथा किनारी वाली धोतियों को यज्ञ के अवसर पर पहनते थे—"लोहितोष्णीषा लोहितवाससो

---

१. सायणभाष्य के साथ सं० जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता, सन् १८८१ ।

निवीता ऋत्विजः प्रचरन्ति"[१] (३।८।२२)। ब्राह्मणों के लिए सन्ध्यावन्दन का काल अहोरात्र के सन्धिकाल में बतलाया गया है—"तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते" (४।५।४)। इसी प्रकार के अन्य उपादेय तथ्यों का संकलन किया जा सकता है।

(३) सामविधान

यह सामवेद का अन्यतम ब्राह्मण है जिसका विषय ब्राह्मणों में उपलब्ध विषयों से नितान्त भिन्न है[२]। इस ब्राह्मण में जादू तथा टोना करने के लिए—जैसे किसी व्यक्ति को गाँव से भगाने के लिए, शत्रु को ध्वस्त करने के लिए, धन पाने के लिए—नाना उपद्रवों की शान्ति के लिए सामगायन के साथ कतिपय अनुष्ठानों के करने का विधान पाया जाता है। अन्य वेदों में भी तत्तत् मन्त्रों के इस प्रकार आभिचारिक प्रयोगों के उपयोग का वर्णन मिलता है। 'ऋग्विधान' में ऋग्वेदीय मन्त्रों का तथा 'यजुर्विधान' में यजुर्वेदीय मन्त्रों का प्रयोग ऐसी क्रियाओं के लिए किया गया है, परन्तु ये ब्राह्मणों से भिन्न ही ग्रन्थ हैं।

ब्राह्मण की शैली न तो पुनरुक्ति-प्रधान है (जैसा ब्राह्मणों में प्रायः पाया जाता है) और न अत्यन्त संक्षिप्त है (जैसा सूत्रों में उपलब्ध होता है); यह दोनों शैलियों के बीच की रचना है। कुमारिल भट्ट (सप्तम शतक) ने सामवेद के आठों ब्राह्मणों का नाम निर्देश किया है, जिनमें यह ब्राह्मण अन्यतम है।

इस ब्राह्मण में तीन प्रकरण हैं जिसमें प्रथम प्रकरण कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र आदि स्मृतियों में बहुशः वर्णित व्रतों का वर्णन उपलब्ध होता है। पुराणों मे वर्णित व्रतों का मूल इस ब्राह्मण में उपलब्ध है, जैसे किसी मन्त्र को जल में कमर तक खड़े होकर जपने से विशेष फल की प्राप्ति आदि। इन्हीं विषयों का ग्रहण धर्मसूत्रों तथा कालान्तर में धर्मशास्त्रों में विशेषरूप से उपलब्ध होता है। ध्यान

---

१. महाभाष्य (१।१।२७; २।२।२४) तथा काव्यप्रकाश (पञ्चम उल्लास) में 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' पूर्वोक्त वाक्य का ही संक्षिप्त संकेत प्रतीत होता है।

२. बर्नेल साहब ने सायण-भाष्य के साथ बंगलोर (१८७५ ई०) से एक लम्बी अंग्रेजी भूमिका के साथ प्रकाशित किया है। भरतस्वामी और सायण के भाष्यों के साथ इसका प्रकाशन केन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठ तिरुपति से हुआ है (१९६५ ई०)।

देने की बात यह है कि अथर्ववेद के मन्त्रों का उपयोग तथा प्रयोग तान्त्रिक विधि-विधानों की दृष्टि से तो किया ही जाता था, परन्तु इस विशेषता तथा आवश्यकता की पूर्ति अन्य वेदों के मन्त्रों के द्वारा भी की जाने लगी। 'साम-विधान' इसी वैशिष्ट्य का परिचायक है। इसमें काम्य प्रयोग तथा प्रायश्चित्तों का विधान विशेष रूप से किया गया है।

सामविधान (२।६।१४) में किसी शत्रु को गाँव से भगाने के लिए किसी चिता से चौराहे पर भस्म को लाने तथा शत्रु के घर में या बिस्तरे पर उसे फेंकने का वर्णन है। इसी प्रकार मणिभद्र (यक्ष-विशेष) की मांस-बलि तथा साम-गायन के साथ पूजा का विधान सुवर्ण की प्राप्ति के लिए किया गया है (३।३।३); पुराणों के प्रसिद्ध रुद्रानुचरों की शान्ति के लिए भी यहाँ साम का विधान कम कौतूहलवर्धक नहीं है। विनायक तथा स्कन्द की शान्ति दो सामों के द्वारा तथा रुद्र और विष्णु की शान्ति अन्य दो सामों के द्वारा विहित है (१।४।६–१९) शत्रु के मारने की एक विचित्र विधि का उल्लेख यहाँ मिलता है। शत्रु की आटे की मूर्ति बनानी चाहिए जिसका गला छूरे से काटना होता है तथा अंगों को काट-काट कर आग में डालना पड़ता है (२।५।४)। राजयक्ष्मा एक भयानक रोग माना गया था जिसे दूर करने की विधि का वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है (२।४।९)। द्वितीय प्रकरण के आठवें खण्ड में सुन्दर तथा दीर्घायु पुत्र की प्राप्ति के लिए नाना प्रयोगों का वर्णन किया गया है।

तृतीय परिच्छेद में ऐश्वर्य, नवीन गृह में प्रवेश तथा आयुष्य की प्राप्ति के लिए नाना अनुष्ठानों का वर्णन भिन्न-भिन्न साम-गायन के साथ किया गया है। अभिषेक के अवसर पर 'एकवृष' साम से अभिषेक करने पर राजा सम्राट् हो जाता था। सेना के नाना अंगों—घोड़ा, हाथी आदि को मारने के लिए आटे की मूर्ति बनाकर छूरे से गला काटने का विधान बहुशः किया गया है। भूत-प्रेत, गन्धर्व-अप्सरा तथा देवताओं के प्रत्यक्षीकरण के लिए सामों का प्रयोग किया गया है (३।७।६)। 'श्रुतिनिगादी' ऐसे व्यक्ति को कहते हैं जो किसी मन्त्र को एकबार में ही सुनकर उसका पाठ करने लगता है। इस सिद्धि की प्राप्ति के लिए भी साम-गायन का विधान है।

यह ब्राह्मण-ग्रन्थ धर्मसूत्रों की पूर्वपीठिका है, क्योंकि धर्म-सूत्रों में विस्तार से वर्णित दोष, अपराध तथा उनके प्रायश्चित्त इस ब्राह्मण में मुख्यतया प्रदिपादित हैं। उस काल में समाज चार वर्णों में विभक्त था, तथा शूद्रा के साथ विवाह सर्वथा निषिद्ध माना जाता था। जिन पापाचरणों के लिए प्रयश्चित्त का विधान है उन्हें

देखकर तत्कालीन समाज की स्थिति का परिचय मिल सकता है और स्मृतियों में निर्दिष्ट अपराधों से ये भिन्न नहीं हैं। शूद्रों का वेद पढ़ाना तथा उन्हें यज्ञ कराना, अशोभन शब्दो को बोलना, सुरा पीना, ब्राह्मण अदि चारों वर्णों के व्यक्तियों की हत्या, गाय को मारना, जेठ भाई से पहिले ही विवाह करना, शूद्रा के साथ व्यभिचार, ब्राह्मण के लिए दूध, मधु आदि रसों तथा पशुओं का बेंचना—इन पापाचरणों के दूरीकरण के लिए प्रायश्चित्त का विधान इस ब्राह्मण में किया गया है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ एक नवीन तथा विचित्र विधिविधानों के परिचय के लिए अपना विशेष महत्त्व रखता है।

(४) आर्षेय ब्राह्मण[1]

यह सामवेद का चौथा ब्राह्मण है। यह तीन प्रपाठक तथा ८२ खण्डों में विभक्त है। यह ब्राह्मण सामवेद के लिए आर्षानुक्रमणी का काम करता है, जैसा इसके नाम से स्पष्ट है। इस ब्राह्मण में साम के उद्भावक ऋषियों का नाम तथा संकेत दिया गया है। साम-गायन के वैज्ञानिक अनुशीलन के निमित्त यह ब्राह्मण नितान्त उपादेय है। सामवेद के वर्णन के समय साम-योनि ऋचाओं तथा सामों में विभेद दिखलाया गया है। यह ब्राह्मण सामगायन के प्रथम प्रचारक ऋषियों का वर्णन करने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से भी विशेष महत्त्वशाली है। सामगान का विषय बड़ा ही कठिन तथा पेचीदा है। इसका सच्चा अध्ययन विशेष अध्यवसाय, मनोयोग तथा अनुशीलन का परिणाम हो सकता है। इस कार्य में नारदीय, गौतमी तथा माण्डूकी आदि सामवेदी शिक्षाओं का गंभीर अध्ययन अपेक्षित है। इस कार्य में आर्षेय ब्राह्मण निःसन्देह विशेष उपकार तथा लाभ पहुँचा सकता है।

(५) देवताध्याय ब्राह्मण[2]

यह दैवत ब्राह्मण सामवेदीय ब्राह्मणों में बहुत ही छोटा है। इसमें केवल तीन खण्ड हैं—(१) प्रथम खण्ड में (२६ कंडिका) देवताओं का वर्णन है। प्रथम कंडिका के अनुसार साम-देवताओं का नाम-निर्देश इस प्रकार है—अग्नि, इन्द्र,

---

१. बर्नेल द्वारा मंगलोर से रोमन अक्षरों में प्रकाशित तथा सत्यव्रत सामश्रमी के द्वारा नागराक्षरों में सायणभाष्य के साथ प्रकाशित, कलकत्ता।

२. सं० सायणभाष्य के साथ जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता सन् १८८१ और केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, १९६५ ई०।

प्रजापति, सोम, वरुण, त्वष्टा, अंगिरस, पूषा, सरस्वती तथा इन्द्राग्नी तथा इन देवताओं की प्रशंसा में गेय सामों के विशिष्ट नाम भी दिये गये हैं। (२) द्वितीय खण्ड (११ कंडिका) में छन्दों के देवता तथा वर्णों का विशेष वर्णन, (३) तृतीय खण्ड (२५ कंडिका) में छन्दों की निरुक्तियाँ दी गयी हैं। इन निरुक्तियों में से अनेक निरुक्तियाँ यास्क ने अपने निरुक्त में ग्रहण की है (७।१२, १३)। यह खण्ड भाषाशास्त्र की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है, क्योंकि छन्दों के नाम का निर्वचन बड़े ही प्रामाणिक ढंग से यहाँ किया गया है। 'गायत्री' छन्द के नाम का अर्थ है—स्तुति, अर्थ वाले गै धातु से निष्पन्न होने से देवताओं के प्रशंसक तथा वेद समुदाय को गाने वाले ब्राह्मण से उत्पन्न होने वाला छन्द। इसी प्रकार अन्य छन्दों के भी निर्वचन उपलब्ध होते हैं।

(६) उपनिषद् ब्राह्मण

यह ब्राह्मण १० प्रपाठकों में विभक्त है। जिसमें दो ग्रन्थ संमिलित हैं :—

(१) **मन्त्र-ब्राह्मण**—इसी का दूसरा नाम छन्दोग्य-ब्राह्मण है। इसके संस्करण भारत तथा विदेशों में अनेक विद्वानों ने प्रकाशित किया है। सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से १८९० ई० में मन्त्र-ब्राह्मण के नाम से टीका के साथ इसे प्रकाशित किया। योरप के दो विद्वानों ने दोनों प्रपाठकों का अलग-अलग संस्करण निकाला है, तथा जर्मन भाषा में इनका अनुवाद भी किया है। प्रो० दुर्गामोहन भट्टाचर्य ने गुणविष्णु और सायण के भाष्यों के साथ इसे कलकत्ता से प्रकाशित किया है।

इस ब्राह्मण में दो प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक में ८, ८ खण्ड हैं। यह ब्राह्मण गृह्य संस्कारों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का एक सुन्दर संग्रह है। ये ही मन्त्र खादिर एवं गोभिल गृह्यसूत्रों में भिन्न-भिन्न संस्कारों के अवसर पर प्रयुक्त होते हैं। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में मन्त्र-ब्राह्मण तथा छान्दोग्य उपनिषद् से उद्धरण देते समय इन दोनों ग्रन्थों को ताण्ड्य-शाखा से सम्बद्ध बतलाया है। इससे ज्ञात होता है कि सामवेद की शाखाओं में ताण्ड्य-शाखा का प्राधान्य बहुत कुछ था। शंकराचार्य के उद्धरण इस प्रकार हैं :—

[1]ताण्डिनाम् (मन्त्रसमाम्नायः)—देव सवितः (मन्त्र-ब्रा० १।१।१),

[2]अस्ति ताण्डिनां श्रुतिः—अश्व इव रोमाणि (छा० उप० ८।१३।१),

१—ब्रह्मसूत्र भाष्य ....३।३।२५

२—ब्रह्मसूत्र भाष्य ....३।३।२६

'ताण्डिनामुपनिषदि—स आत्मा तत्त्वमसि (छा० उप० ६।८।७)।

देवताध्याय-ब्राह्मण में उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जिनके आधार पर सामगानों के (सूक्तों तथा मन्त्रों के नहीं) देवता का निर्धारण किया जाना चाहिए। आर्षेय तथा देवताध्याय—दोनों ही ब्राह्मण एक ही मूलभूत ब्राह्मण के भाग प्रतीत होते हैं, क्योंकि प्रथम में सामगान सम्बन्धी ऋषियों का तथा दूसरे में तत्सम्बद्ध देवताओं का विवरण दिया गया है। देवताध्याय के ४।४ सूत्र से दोनों के संपृक्तभाव का स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होता है। सूत्र है 'स्वस्ति देव ऋषिभ्यश्च' का सायणभाष्य कहता है—"देवा ऋषयश्च ये आर्षेय देवताध्यायाभ्यां प्रतिपादितास्तत्सकाशाच्च स्वस्ति भवति।" यहाँ स्पष्टतः दोनों ब्राह्मणों के परस्पर एकाङ्गीभाव का प्रमाण उपलब्ध होता है। तथ्य तो यह है कि सामवेद के ये छोटे-छोटे ब्राह्मण किसी एक बड़े ब्राह्मण के अंग प्रतीत होते हैं, जो कालान्तर में अपने मूल से किसी कारणवश पृथक् हो गये हैं। इनका विषय इतर वेदों की अनुक्रमणियों के ही समान है। किसी भी सूक्त के ज्ञान की पूर्णता के निमित्त उस सूक्त के ऋषि, देवता तथा छन्द के ज्ञान की नितान्त आवश्यकता होती है। इन तीनों की जानकारी के विना सूक्त का ज्ञान अधूरा ही रहता है। इस ज्ञान की पूर्ति अनुक्रमणी द्वारा होती है अन्य वेदों में; साममें इसके साधन ये ही ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं, जो अपने विशिष्ट विषय के प्रतिपादन में ही जागरूक रहते हैं।

इस ब्राह्मण में कुल मन्त्र २५७ हैं; इनके अतिरिक्त गुणविष्णु ने गृह्यसूत्रों से ११ मन्त्र और लेकर उनको सभाष्य जोड़ा है। प्रथम प्रपाठक में विवाह, गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, चूडाकरण, उपनयन, समावर्तन एवं गो-वृद्धि के लिए मन्त्र दिये गए हैं। दूसरे प्रपाठक में भूतबलि, आग्रहायणीकर्म, पितृपिण्डदान, देवबलिहोम, दर्शपूर्णमास, आदित्योपस्थान, नवगृह-प्रवेश, स्वस्त्ययन एवं प्रसाद-प्राप्ति आदि के मन्त्र हैं। यद्यपि दूसरी संहिताओं एवं ब्राह्मणों से भी मन्त्र लिये गए हैं, तथापि अनेक मन्त्र नये हैं। मन्त्रों की भाषा सरल, आकर्षक एवं प्रसादपूर्ण है:—

इयं नार्युपब्रूतेऽग्नौ लाजानावपन्ती।
दीर्घायुरस्तु मे पतिः शतं वर्षाणि जीवतु॥

(१.२.२.)

१—ब्रह्मसूत्र भाष्य ३।३।३६

जिनके नाम और फल का विवरण इस खण्ड के अन्त में दिया गया है। द्वितीय तथा तृतीय खण्ड में गान-संहिता की विधि, स्तोम, अनुलोम-प्रतिलोम स्वर, अन्य नाना प्रकार के स्वर आदि का बड़ा ही व्यापक प्रतिपादन है। यह विषय सातिशय वैज्ञानिक है और सामगायन के मर्म का उद्घाटन यहीं पूरे विस्तार के साथ किया गया है। इन खण्डों की जानकारी सामगायन के विधान के लिए नितान्त आवश्यक तथा महनीय है। तृतीय खण्ड के अन्तिम भाग में गुरु तथा शिष्य की योग्यता का विवेचन तथा पात्र में दान की भूयसी प्रशंसा की गई है। चतुर्थ तथा पञ्चम खण्ड का विषय पूर्वोक्त तथ्य का पूरक है। इस प्रकार सामगायन के रहस्य की जानकारी के लिए यह ब्राह्मण एक प्रकार से अद्वितीय है। इसीलिए इसके टीकाकार द्विजराजभट्ट की संस्तुति है—"सामब्रह्मरसज्ञानां विशुद्धज्ञानहेतवे", अर्थात् सामब्रह्म के रस जानने वालों को इस ब्राह्मण के अध्ययन से अपने विषयों का विशुद्ध ज्ञान निश्चितरूप से होता है।

इसकी दो टीकाओं का प्रकाशन हुआ है—(क) सायणभाष्य, जो केवल प्रथम खण्ड तक ही उपलब्ध है। (ख) विष्णुभट्ट के आत्मज द्विजराजभट्ट-रचित भाष्य। सायणभाष्य संक्षिप्त है, लेकिन द्विजराजभाष्य विशेषरूपेण विस्तृत है। दोनों की तारतम्य परीक्षा से प्रथमभाष्य प्रख्यात सायणाचार्य की कृति होने की योग्यता नहीं रखता। उसमें सामान्य अनवधानजन्य अनेक त्रुटियाँ हैं। द्विजराजभट्ट ने यद्यपि अपने रचनाकाल का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, तथापि वे सायण के पश्चाद्वर्ती, १५ शती के ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं। विषम सामगायन के गम्भीर तत्त्वों का ज्ञान इन टीकाओं के साहाय्य से भले-प्रकार किया जा सकता है। इन टीकाओं के साथ इसका एक विशुद्ध समीक्षणात्मक संस्करण तिरुपति मे अभी प्रकाशित हुआ है (१९६५), जिसके विद्वान् सम्पादक डा० बे० रा० शर्मा ने ग्रन्थ की भूमिका में तथा समालोचनात्मक टिप्पणियों में अनेक प्रमेयों की सुचारु व्याख्या की है। यह ब्राह्मण कभी बहुत ही प्रसिद्ध था। निरुक्तकार ने अपने ग्रन्थ (२।४) में "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम" आदि मन्त्रों को इसी ब्राह्मण के तृतीय खण्ड में से उद्धृत किया है। इसी मन्त्र का भावानुवाद मनुस्मृति (२। ११४) में मनु ने भी किया है। इससे स्पष्ट है कि यह ब्राह्मण निरुक्त तथा मनुस्मृति से प्राचीनतम है[1]।

१—टीका के साथ इसका संस्करण बर्नेल साहब ने मंगलोर से १८७७ ई० में रोमन में प्रकाशित किया है। १९६५ में केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति से नागरी लिपि में प्रकाशित है।

(८) वंशब्राह्मण[1]

यह ब्राह्मण मात्रा में बहुत ही छोटा है। इसमें केवल तीन खण्ड हैं। इसमें सामवेद के आचार्यों की वंशपरम्परा दी गई है। प्राचीन ऋषियों के इतिहास जानने के लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा।

(९) जैमिनीय-ब्राह्मण

जैमिनि-शाखा का यह ब्राह्मण सम्पूर्णरूप से अब तक उपलब्ध नहीं होता था। इसके अंश ही छिन्न-भिन्न रूप से अब तक मिलते थे। डा० ओर्टल ने इसके अंशों को अमेरिका से निकला था तथा, डा० कैलेण्ड ने विशेष टुकड़ों को जर्मन अनुवाद के साथ सम्पादित किया था। डा० रघुवीर ने इस महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण का सम्पूर्ण अंश एक विशुद्धसंस्करण में प्रकाशित किया है (नागपुर, १९५४)। ब्राह्मणों में शतपथ के समान यह ब्राह्मण भी विपुलकाय तथा यागा-नुष्ठान के रहस्य जानने के लिए नितान्त उपादेय तथा महत्त्वशाली है। ''जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण' भी इस महान् ब्राह्मण-ग्रन्थ का एक अंशमात्र है, जो गायत्र्यु-पनिषद् के नाम से विख्यात है। इसका सम्पादन डा० ओर्टल ने अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी के जर्नल (भाग १६, १८९४) में रोमन अक्षरों में किया है। यह लाहौर से नागराक्षरों में भी प्रकाशित है।[2]

अथर्ववेदीय-ब्राह्मण

गोपथब्राह्मण—

अथर्ववेद का केवल एक ही ब्राह्मण है जिसका नाम 'गोपथब्राह्मण' है। इसके दो भाग हैं—(१) पूर्व-गोपथ, (२) उत्तर-गोपथ। प्रथम ग्रन्थ में पाँच प्रपाठक या अध्याय हैं, तथा द्वितीय में ६। प्रपाठकों का विभाजन कण्डिकाओं में हुआ है, जो कुल मिलाकर २५८ हैं।

---

१. बर्नल ने मंगलोर से १८७३ ई० में तथा सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से उषापत्रिका १८९२ में इस ब्राह्मण को प्रकाशित किया। केन्द्री संस्कृत विद्यापिठ से भी १९६५ ई० में प्रकाशित हुआ है।

२. लाहौर, सन् १९२१ ई०। दयानन्द महाविद्यालय संस्कृत-ग्रन्थमाला, संख्या ३।

ब्राह्मण-साहित्य में यह ग्रन्थ बहुत ही पीछे की रचना माना जाता है। इस ब्राह्मण में अथर्ववेद की स्वभावतः विशेष महिमा गाई गई है। अथर्व ही सब ब्राह्मणों में अग्रगण्य तथा प्रथम माना गया है। अथर्व से ही तीनों वेदों तथा ओंकार की उत्पत्ति और ओम् से समस्त संसार की उत्पत्ति बतलाई गई है। इसीलिये इस ब्राह्मण का आग्रह है कि प्रत्येक वेदाभ्यासी को अन्य वेदों के पढ़ने के पूर्व अथर्व का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है। पूर्व गोपथ के प्रथम प्रपाठक में ओंकार तथा गायत्री की विशेष महिमा का सुन्दर वर्णन है। द्वितीय प्रपाठक में ब्रह्मचारी के नियमों का विशेष वर्णन है। प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिये बारह वर्ष का समय नियत किया गया है, परन्तु छात्र की शक्ति को देखकर इस अवधि में कमी भी की जा सकती है। तृतीय प्रपाठक में यज्ञ के चारों ऋत्विजों के कार्यकलाप का वर्णन है। चतुर्थ प्रपाठक में ऋत्विजों की दीक्षा का विशेष वर्णन किया गया है। पञ्चम प्रपाठक में प्रथमतः सम्वत्सर-सत्र का वर्णन है। अनन्तर अश्वमेध, पुरुषमेध, अग्निष्टोम आदि अन्य सुप्रसिद्ध यज्ञों का भी विवरण है। उत्तर-गोपथ का विषय-वर्णन इतना सुव्यवस्थित नहीं है; तथापि नाना प्रकार के यज्ञों तथा तत्सम्बद्ध आख्यायिकाओं के उल्लेख से यह भाग भी पूर्व की अपेक्षा कम रोचक नहीं है।

'गोपथब्राह्मण'[1] के रचयिता निश्चय ही 'गोपथ' ऋषि हैं। अथर्ववेदीय ऋषियों की नामावली में 'गोपथ' का नाम आता है, परन्तु अन्य वेदों के ऋषियों की नामावली में इनका नाम नहीं मिलता। इस ब्राह्मण के देश-काल का परिचय अनुमान से ही हमें मिलता है। इसमें निर्दिष्ट देशों में कुरु-पंचाल, अङ्ग-मगध, काशि-कौशल, साल्व-मत्स्य तथा वश-उशीनर (उदीच्यदेश) का नाम पाया जाता है (गोपथ, पूर्व २।१०), जिससे रचयिता मध्यदेश का निवासी प्रतीत होता है। अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र का उल्लेख वह **'शन्नो देवीरभिष्टय'** से करता है जिससे उसका पिप्पलाद-शाखीय होना अनुमान से सिद्ध है। यास्क ने निरुक्त में गोपथब्राह्मण के निश्चित अंशों को उद्धृत किया है[2], जिससे इसकी निरुक्त से पूर्वकालीनता स्वतः सिद्ध होती है। ब्लूमफील्ड इसे वैतानसूत्र से भी

---

१. 'गोपथब्राह्मण' का एक सुन्दर संस्करण डा० गास्ट्रा (Dr. D. Gaastra) ने लाइडन नगर से १९१९ में प्रकाशित किया है।

२. 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धम्' (निरुक्त १।१६ = गोपथब्रा० २।२।६; २।४।२)

अर्वाचीन मानते हैं, परन्तु डा० कैलेण्ड तथा कीथ इसे प्राचीन ही मानते हैं। फलतः ब्राह्मण-साहित्य में पिछली रचना होने पर भी यह एक सहस्र वर्ष वि० पू० से अर्वाचीन नहीं हो सकता।

अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण होने से यदि इसके अन्तिम खण्ड में अथर्व की विपुल प्रशंसा गाई गई हो, तो हमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। इसमें बहुत से नवीन विचार पाये जाते हैं, जैसे ब्रह्म द्वारा कमल के ऊपर ब्रह्मा का उदय (पृ० १६), ब्राह्मण को न गाना चाहिए, न नाचना और इस प्रकार 'आग्लागृध' नहीं कहलाना चाहिए (**तस्माद् ब्राह्मणो नैव गायेन्न नृत्येन माग्लागृधः** २।२१); प्रत्येक वेदमन्त्र के उच्चारण से पूर्व ॐकार का उच्चारण; किसी अनुष्ठान से आरम्भ के पहिले तीन बार आचमन करना (जिसके लिए विशिष्ट मन्त्र का संकेत है १।३९)। ऋग्वेद से अनेक मन्त्र उद्धृत हैं, परन्तु मन्त्रों के ऋषियों के विषय में पार्थक्य दीखता है।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से गोपथ के अनेक संकेत बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। '**परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः**' का शब्दों के निर्वचन के प्रसंग में भी यहाँ अनेकत्र उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ—(१) 'वरुण' शब्द की व्युत्पत्ति राजा वरण किये जाने के कारण है ("**तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते**" पूर्व-गोपथ १।६); (२) 'मृत्यु' शब्द की व्युत्पत्ति 'मुच्यु' शब्द से सिद्ध की गई है। (३) 'अंगिरा' की व्युत्पत्ति 'अंगरस' से तथा (४) 'दीक्षित' की व्युत्पत्ति 'धीक्षित' (श्रेष्ठ धी को आश्रय करने वाला व्यक्ति) से दी गई है ("**श्रेष्ठां धियं क्षियतीति तं वा एतं धीक्षितं सन्तं दीक्षित इत्याचक्षते**"—गोपथ-पूर्व, ३।१९) ये व्युत्पत्तियां भाषाशास्त्र की दृष्टि से अपना महत्त्व रखती हैं। बहुतों का उल्लेख स्वयं अवान्तरकालीन निरुक्त-ग्रन्थों में किया गया है।

———

*

नवम परिच्छेद

आरण्यक

सामान्य परिचय

आरण्यक तथा उपनिषद् ब्राह्मणों के परिशिष्ट ग्रन्थ के समान हैं, जिनमें ब्राह्मण-ग्रन्थों के सामान्य प्रतिपाद्य विषय से भिन्न विषयों का प्रतिपादन सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। सायणाचार्य की सम्मति में अरण्य में पाठ्य होने के कारण इनका 'आरण्यक' नामकरण सार्थक है[1], अर्थात् इन ग्रन्थों के मनन का स्थान अरण्य का एकान्त शान्त वातावरण ही उपयुक्त था। ग्राम के भीतर इनका अध्ययन कथमपि लाभप्रद, उचित तथा उपादेय नहीं था। अरण्यक का मुख्य विषय यज्ञ नहीं, प्रत्युत यज्ञ-यागों के भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा है; यज्ञीय अनुष्ठान नहीं, बल्कि तदन्तर्गत दार्शनिक विचार ही इनके मुख्य विषय हैं। प्राणविद्या की भी महिमा का विशेष प्रतिपादन यहाँ स्पष्टतः उपलब्ध होता है। संहिता के मन्त्रों में इस विद्या का संकेत अवश्य है, परन्तु आरण्यकों में इन्हीं बीजों का पल्लवन है।

तैत्तिरीय आरण्यक के आरम्भिक अनुवाकों में काल के पारमार्थिक तथा व्यावहारिक रूप का निदर्शन बड़ी सुन्दरता से किया गया है। काल निरन्तर बहता चला जाता है। अखण्ड सम्वत्सर के रूप में इसी पारमार्थिक काल का हमें दर्शन होता है। व्यावहारिक काल अनेक तथा अनित्य है। व्यवहार के लिए उसके नाना खण्ड मुहूर्त, दिवारात्री, पक्ष, मास आदि—किये जने पर भी वस्तुतः वह एकरूप एकाकार ही रहता है। इस प्रसंग में उसकी तुल्ना उस महानदी से की गई है जो अक्षय्य स्रोत से सदा प्रवाहित होती है, जिसे नाना सहायक नदियाँ आकर पुष्ट बनाती हैं, तथा जो विस्तीर्ण होकर कभी नहीं सूखती; काल की दशा भी यथार्थ में ऐसी ही है—

---

१. अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते॥
(तै० आ० भा०, श्लोक ६)

नदीव प्रभवात् काचिद् अक्षय्यात् स्यन्दते यथा।
तां नद्योऽभिसमायान्ति सोरुः सती न निवर्तते॥

(तैत्ति० आरण्यक १।२)

इस आरण्यक के प्रथम प्रपाठक के तृतीय तथा चतुर्थ अनुवाक में ऋतुओं के रूप का वर्णन बड़ा ही वैज्ञानिक तथा मार्मिक है, जिसमें अनेक ज्ञातव्य वार्ता का संकलन है, यथा वर्षा ऋतु में रोग की उत्पत्ति तथा पाण्डु रोग का प्रसार (अदुःखो दुःखचक्षुरिव तथा पीत इव दृश्यते), पञ्च महायज्ञों का विवेचन तथा स्वाध्याय के अध्ययन की मीमांसा बड़ी ही सुन्दर है (२।१०)। अन्यत्र पुण्य के उपार्जन तथा पाप के वर्जन का आलंकारिक भाषा में निदर्शन है (१०-११)।

विषय-विवेचन

प्राणविद्या का महत्त्व आरण्यक का विशिष्ट विषय प्रतीत होता है। अरण्य का शान्त वातावरण इस विद्या की उपासना के लिए नितान्त उपादेय होता है! ऐतरेय आरण्यक में इसका समधिक महत्त्वशाली वर्णन है (२।१–३)। आरण्यक प्राणविद्या को अपनी अनोखी सूझ नहीं बतलाते, प्रत्युत ऋग्वेद के मन्त्रों[1] को अपनी पुष्टि में उद्धृत करते हैं, जिससे प्राणविद्या की दीर्घकालीन परम्परा का इतिहास मिलता है। सब इन्द्रियों में प्राणों की श्रेष्ठता सुन्दर आख्यायिका के द्वारा सिद्ध की गई है (ऐतरेय आर० २।१।४)।

सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, तद्यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः। एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्।

(ऐत० आर० २।१।६)

अर्थात् प्राण इस विश्व का धारक है। 'प्राण की ही शक्ति से जैसे यह आकाश अपने स्थान पर स्थित है, उसी तरह सबसे बड़े प्राणी से लेकर चींटी तक समस्त जीव इस प्राण के द्वारा ही विधृत हैं।' यदि प्राण न होता, तो इस विश्व का, जो यह महान् संस्थान हमारे नेत्रों के सामने सतत आश्चर्य पैदा किया करता है, वह कहीं भी नहीं रहता।

---

१. द्रष्टव्य ऋग्वेद १।१६४।३१, १।१६४।३८।

प्राण सर्वत्र व्याप्त है। 'सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्' (प्राण से यह सारा जगत् आवृत है)। वह विश्व का धारक है, अतः वह उसका रक्षक है। मन्त्र में इसीलिए प्राण को 'गोपा' कहा गया है। प्राण ही आयु का कारण है। कौषीतकि उपनिषद् में प्राण के यह आयुष्कारक होने की बात स्पष्ट ही कही गई है—

"यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः"—१.२।

जब तक इस शरीर में प्राण रहता है तभी तक आयु है। अतः श्रुतिमन्त्रों में प्राण के लिए 'गोपा' शब्द का व्यवहार उचित ही है।

प्राण के द्वारा अन्तरिक्ष तथा वायु की सृष्टि हुई है, प्राण पिता है तथा अन्तरिक्ष और वायु उसकी सन्तान हैं। जिस प्रकार कृतज्ञ पुत्र अपने सत्कर्मों से पिता की सेवा किया करता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष और वायुरूप पुत्र भी प्राण की सेवा में लगे रहते हैं। अन्तरिक्ष का अनुसरण करके ही प्राणीमात्र का सञ्चरण होता है और अन्तरिक्ष की सहायता से ही आदमी दूर स्थान पर कहे गये शब्दों को सुन लिया करता है। इस प्रकार अन्तरिक्ष प्राण की परिचर्या करता है। वायु भी शोभन गन्ध ले आकर प्राण को तृप्त कर देता है, तथा इस प्रकार अपने पिता प्राण की सेवा किया करता है। ऐतरेय आरण्यक में प्राण के स्रष्टा तथा पिता होने की बात इस प्रकार कही गई है—

प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च। अन्तरिक्षं वा अनुचरन्ति। अन्तरिक्षमनुशृण्वन्ति। वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहति। एवमेतौ प्राणपितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च।

ध्यान करने के लिये प्राण के भिन्न-भिन्न गुणों का उल्लेख विस्तृत रूप से किया गया है। तत्तद्रूप से प्राण का ध्यान करना चाहिये। उन-उन रूपों से उपासना करने से फल भी तदनुरूप ही उपासक को प्राप्त होंगे।

प्राण ही अहोरात्र के रूप में कालात्मक है। दिन प्राणरूप तथा रात्रि अपानरूप है। सवेरे प्राण सब इन्द्रियों को इस शरीर में अच्छी तरह से फैला देता है। इस 'प्रतनन' को देखकर मनुष्य लोग कहते हैं 'प्राताग्नि' अर्थात् प्रकर्ष-रूप से प्राण विस्तृत हुआ। इसी कारण दिन का आरम्भकाल, जिसमें प्राण का प्रसरण दृष्टि-गोचर होता है, 'प्रातः' (सवेरा) कहलाता है। दिन के अन्त होने पर इन्द्रियों में संकोच दीख पड़ता है। उस समय कहते हैं 'समागात्'; इसी कारण उस काल को 'सायं' कहते हैं। विकास के कारण दिन प्राणरूप है और संकोच के हेतु रात्रि अपान है। प्राण का ध्यान इस प्रकार अहोरात्र के रूप में करना चाहिए।

प्राण ही देवात्मक है। वाग् में अग्नि देवता का निवास है चक्षु सूर्य है; मन चन्द्रमा है; श्रोत्र दिशाएँ हैं। प्राण में इन सब देवताओं की भावना करनी चाहिये। 'हिरण्यदन् वैद' नामक एक ऋषि ने प्राण के इस रूप को जाना था, तथा प्राण की देवता-रूप से उपासना की थी। इस उपासना का विपुल फल उन्हें प्राप्त हुआ (ऐत० आर० १०३–१०४)।

प्राण ही ऋषि-रूप है। ऋग्वेद के मन्त्रों के द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गये हैं। इन सब ऋषियों की भावना प्राण में करनी चाहिये, क्योंकि प्राण ही इन मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों के आकार में विद्यमान है। प्राण ही शयन के समय वाक्, चक्षु आदि इन्द्रियों के निगरण करने के कारण 'गृत्स' कहलाता है और रति के समय वीर्य के विसर्गजन्य मद को उत्पन्न करने के कारण अपना ही 'मद' हुआ। अतः प्राण और अपान के संयोग को ही **गृत्समद** कहते हैं। प्राण ही **विश्वामित्र है,** क्योंकि इस प्राण देवता का यह समस्त विश्व भोग्य होने के कारण मित्र है—**विश्वः मित्रं यस्य असौ विश्वामित्रः**। प्राण को देखकर वागाद्य-भिमानी देवताओं ने कहा, 'यही हम में वाम'—वन्दनीय, भजनीय, और सेवनीय है, क्योंकि यह हम में श्रेष्ठ है। इसी हेतु देवों में 'वाम' होने से प्राण ही **वामदेव** है, प्राण ही अत्रि है, क्योंकि इस प्राण ने ही समस्त विश्व को पाप से बचाया है (**सर्वं पाप्मनोऽत्रायत इति अत्रिः**)। प्राण ही **भरद्वाज** है। गतिसम्पन्न होने से मनुष्य के देह को 'वाज' कहते हैं; प्राण इस शरीर में प्रवेश कर उसकी रक्षा सतत किया करता है। अतः वह प्राण 'बिभ्रद्वाज' है। इसीकारण वह भरद्वाज है। देवताओं ने प्राण को देखकर कहा था कि तुम 'वसिष्ठ' हो, क्योंकि इस शरीर में इन्द्रियों के निवास करने का कारण प्राण ही है। प्राण ही सबसे बढ़कर वास या निवास का हेतु है। अतः वह **वसिष्ठ** हुआ। इन निर्वचनों से यही सिद्ध होता है कि प्राण ही ऋषि-रूप है। अतः प्राण में इन ऋषियों की भावना करनी चाहिए, तथा तद्रूप उपासना करनी चाहिये। अन्य ऋषियों की भी भावना इसी प्रकार बतलायी गयी है।

इस आरण्यक में यहां तक प्राण के विषय में कहा गया है कि—

"सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्"—(ऐत० २।२।१०, पृ० १२१)।

जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, जितने घोष हैं, वे सब प्राणरूप हैं। प्राण को ही इन रूपों में समझना चाहिये, तथा उसकी उपासना करनी चाहिये। प्राण के इन भिन्न-भिन्न रूपों तथा गुणों को जानकर तत्तद्रूप से उसकी उपासना करनी चाहिये।

इस प्रकार आरण्यकों में उन महनीय आध्यात्मिक तत्त्वों का संकेत उपलब्ध होता है, जिनका पूर्ण विकाश उपनिषदों में मिलता है। उपनिषद् आरण्यकों के ही अन्त में आने वाले परिशिष्ट हैं, तथा प्राचीन उपनिषद् आरण्यकों के ही अंश तथा अंगरूप में आज भी उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार वैदिक तत्त्वमीमांसा के इतिहास में आरण्यकों का विशेष महत्त्व है।

ऐतरेय आरण्यक[1]

ऋग्वेद के दो आरण्यकों में अन्यतम आरण्यक यही है, जो ऐतरेय-ब्राह्मण का ही परिशिष्ट भाग है। इसमें पाँच आरण्यक हैं, जो वस्तुतः पृथक् ग्रन्थ माने जाते हैं। ऋक् श्रावणी को ऋग्वेदी लोग वेदपारायण के अवसर पर ऐतरेय-ब्राह्मण को तो उसके आद्य वाक्य के द्वारा ही निर्देश कर समाप्त करते हैं, परन्तु ऐतरेय आरण्यक के अवान्तर्गत पाँचों आरण्यकों के आद्य पदों का पाठ पृथक् रूप से करते हैं, जो इनके पृथक् ग्रन्थ मानने का प्रमाण माना जा सकता है। ऋग्वेद के मन्त्रों का बहुशः उद्धरण 'तदुक्तमृषिणा' निर्देश के साथ किया गया है।

प्रथम आरण्यक में महाव्रत का वर्णन है, जो ऐतरेय-ब्राह्मण (प्रपाठक ३) के 'गवामयन' का ही एक अंश है। द्वितीय प्रपाठक के प्रथम तीन अध्यायों में उक्थ या निष्केवल्य शस्त्र तथा प्राणविद्या और पुरुष का विवेचन है। चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ अध्यायों में ऐतरेय उपनिषद् है। तृतीय आरण्यक का दूसरा नाम है संहितोपनिषद्, जिसमें संहिता, पद, क्रम पाठों का वर्णन तथा स्वर, व्यञ्जन आदि के स्वरूप का विवेचन है। इस खण्ड में शाकल्य तथा माण्डूकेय के मतों का उल्लेख है। यह अंश निःसन्देह प्रतिशाख्य तथा निरुक्त से प्राचीनतर है, तथा व्याकरण-विषयक नितान्त प्राचीन विवेचन है। यास्क से प्राचीन होने से यह आरण्यक निःसन्देह एक सहस्र वर्ष विक्रम-पूर्व होगा। इसमें निर्भुज (संहिता), प्रतृण्ण (पद), सन्धि, संहिता आदि पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। चतुर्थ आरण्यक बहुत ही छोटा है, जिसमें महाव्रत के पंचम दिन में प्रयुक्त होने वाली कतिपय महानाम्नी ऋचायें दी गयी हैं। अन्तिम आरण्यक में निष्केवल्य शस्त्र का वर्णन है। इन आरण्यकों में प्रथम तीन के रचयिता ऐतरेय, चतुर्थ के आश्वलायन तथा पंचम के शौनक माने जाते हैं। यह शौनक बृहद्देवता के निर्माता हैं, यह सिद्धान्त मान्य नहीं है। डाक्टर कीथ इसे निरुक्त से अर्वाचीन मानकर इसका

---

१. सायणभाष्य के साथ सं० आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली संख्या ३८, पूना, १८९८ तथा डा० कीथ द्वारा अंग्रेजी अनुवाद (आक्सफोर्ड)।

रचनाकाल षष्ठशतक वि० पू० मानते हैं, परन्तु वस्तुतः यह निरुक्त से प्राचीनतर है, तथा महिदास ऐतरेय के प्रथम तीन आरण्यकों के रचयिता होने से यह ऐतरेय-ब्राह्मण का ही समकालीन सिद्ध होता है।

शाङ्खायन-आरण्यक—ऋग्वेद का यह दूसरा आरण्यक है, जो सामान्यतः ऐतरेय आरण्यक के समान ही है। इसके १५ अध्यायों में से तीन से लेकर छ तक कौषीतकि नाम से प्रसिद्ध उपनिषद् है। षष्ठ अध्याय में उशीनर, मत्स्य, काशी, विदेह तथा कुरु-पांचाल का निर्देश इसे मध्यदेश से सम्बद्ध सिद्ध करता है। त्रयोदश अध्याय में उपनिषदों से—विशेषतः बृहदारण्यक उपनिषद् से—अनेक उद्धरण यहाँ दिये गये मिलते हैं।

बृहदारण्यक—जैसा इसके नाम से विदित होता है, वस्तुतः आरण्यक ही है, तथा शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध है, परन्तु आत्मतत्त्व की विशेष विवेचना के कारण यह उपनिषद् माना जाता है और वह भी प्राचीनतम तथा मान्यतम। कृष्ण-यजुर्वेदीय मैत्रायणीय शाखा का भी एक आरण्यक है, जो मैत्रायणीय उपनिषद् कहलाता है[1]।

तैत्तिरीय आरण्यक

इस आरण्यक में दस परिच्छेद या प्रपाठक हैं, जो साधारण रीति से 'अरण' कहे जाते हैं, तथा इनका नामकरण इनके आद्य पद के अनुसार होता है। जैसे प्रथम का नाम है, भद्र, (२) सहवै, (३) चित्ति, (४) युञ्जते, (५) देव वै, (६) परे, (७) शीक्षा, (८) ब्रह्मविद्या, (९) भृगु, (१०) नारायणीय। इसमें सप्तम, अष्टम तथा नवम प्रपाठक मिलकर 'तैत्तिरीय उपनिषद्' कहलाते हैं। दशम प्रपाठक भी महानारायणीय उपनिषद् है, जो इस आरण्यक का परिशिष्ट माना जाता है। प्रपाठकों का विभाजन 'अनुवाकों' में है, तथा नवम प्रपाठक तक के समस्त अनुवाक संख्या में १७० हैं। तैत्तिरीय-ब्राह्मण के समान ही यहाँ भी प्रत्येक अनुवाक में दस वाक्यों की एक इकाई मानी गई है, तथा प्रत्येक दशक का अन्तिम पद अनुवाक के अन्त में परिगणित किया गया है। इस आरण्यक में ऋग्वेदस्थ ऋचाओं का उद्धरण पर्याप्त संख्या में किया गया है।

---

१. यह मैत्रायणी संहिता के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित है, जो उपनिषद् संग्रहों में प्रकाशित संस्करण की अपेक्षा शुद्धतर प्रतीत होता है (औंध, १९५५)।

प्रथम प्रपाठक आरुण केतुक नामक अग्नि की उपासना तथा तदर्थ इष्टका-चयन का वर्णन करता है। द्वितीय प्रपाठक में स्वाध्याय तथा पञ्च महायज्ञों का वर्णन है और यहाँ गंगा-यमुना का मध्यदेश अत्यन्त पवित्र तथा मुनियों का निवास बतलाया गया है। तृतीय प्रपाठक चातुर्होत्र चिति के उपयोगी मन्त्रों का वर्णन प्रस्तुत करता है। चतुर्थ में प्रवर्ग्य के उपयोगी मन्त्रों का संग्रह है। यहाँ कुरुक्षेत्र तथा खाण्डव का वर्णन भौगोलिक स्थिति के अनुसार है। इस प्रपाठक में अभिचार मन्त्रों की भी सत्ता है, जिनका प्रयोग शत्रु के मारण आदि के लिये किया जाता था। ४।२७ में तथा ४।३७ में 'छिन्धी भिन्धी हन्धी कट' आदि जैसे अभिचार मन्त्रों का स्पष्ट ही वर्णन है। ४।३८ में भृगु तथा अंगिरा के रौद्र प्रयोगों का उल्लेख अथर्ववेद के अभिचारों की ओर स्फुट संकेत है। पंचम में यज्ञीय संकेतों की उपलब्धि होती है। षष्ठ प्रपाठक में पितृमेध-सम्बन्धी मन्त्रों का उल्लेख किया गया है तथा अनेक मन्त्र ऋग्वेद से यहाँ उद्धृत किये गये हैं।[1]

दशम प्रपाठक नारायणीयोपनिषद् है, जो खिल-काण्ड माना जाता है। सायण के कथनानुसार इसके अनुवाकों की भी संख्या बड़ी अस्त-व्यस्त है। द्रविड़ों के अनुसार इसमें ६४ अनुवाक हैं, आन्ध्रों के अनुसार ८०, कर्णाटकों के अनुसार कहीं ७४ और कहीं ८९। ऐसी परिस्थिति में मूल पाठ का पता लगाना एक विषम समस्या है। सायण ने आन्ध्र पाठ के अनुसार ८० अनुवाकों की सत्ता यहाँ मानी है।

इस आरण्यक में अनेक विशिष्ट बातें स्थान-स्थान पर आती हैं। (१) 'कश्यप' का अर्थ है सूर्य। इसकी व्युत्पत्ति पर्याप्त वैज्ञानिक है (**कश्यपः पश्यको भवति। यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्** १।८।८)। अर्थात् 'पश्यक' शब्द से वर्णव्यत्यय के नियम से 'कश्यप' शब्द निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार वर्णव्यत्यय (मेटाथेसिस) से निष्पन्न शब्द का यह सुन्दर वैदिक उदाहरण है। (२) पाराशर्य व्यास का उल्लेख यहाँ मिलता (१।९।२)। (३) द्वितीय प्रपाठक के आरम्भ में ही सन्ध्या में प्रयुक्त सूर्य के अर्घ्य-जल की महिमा वर्णित है कि उस जल के प्रभाव से सूर्य पर आक्रमण करने वाले 'मन्देह' नामक राक्षसों का सर्वथा संहार हो जाता है (२।२)।

---

१. तैत्तिरीय-आरण्यक के विशेष अनुशीलन के लिए देखिए—वैद्य-वैदिक-साहित्य का इतिहास, द्वितीय खण्ड, पृ० १५१–१५६।

सामवेद से भी सम्बद्ध एक आरण्यक है, जो 'तवल्कार आरण्यक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी आरण्यक को 'जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण' भी कहते हैं, इसके चार अध्याय हैं, तथा प्रत्येक अध्याय में अनुवाक हैं। चतुर्थ अध्याय के दशम अनुवाक में प्रसिद्ध तवल्कार या केन उपनिषद् है। अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं है। इस वेद से सम्बद्ध जो अनेक उपनिषद् उपलब्ध होते हैं वे किसी आरण्यक के अंश न होकर आरम्भ से ही स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में विद्यमान हैं।

उपनिषद्

उपनिषद् आरण्यकों में ही सम्मिलित हैं—उन्हीं के विशिष्ट अंग हैं। वेद के अन्तिम भाग होने से तथा सारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण उपनिषद् ही 'वेदान्त' के नाम से विख्यात हैं। भारतीय तत्त्वज्ञान तथा धर्म-सिद्धान्तों के मूल स्रोत होने का गौरव इन्हीं उपनिषदों को प्राप्त है। उपनिषद् वस्तुतः वह आध्यात्मिक मानसरोवर है जिससे ज्ञान की भिन्न-भिन्न सरितायें निकल कर इस पुण्यभूमि में मानवमात्र के ऐहिक कल्याण तथा आमुष्मिक मंगल के लिये प्रवाहित होती हैं। वैदिक धर्म की मूल-तत्त्व-प्रतिपादिका प्रस्थान-त्रयी में मुख्य उपनिषद् ही हैं। अन्य प्रस्थान—गीता तथा ब्रह्मसूत्र—उसी के ऊपर आश्रित हैं। भारतवर्ष में उदय लेने वाले समस्त दर्शनों का—सांख्य तथा वेदान्त आदि का—ही यह मूलग्रन्थ नहीं है, अपितु जैन तथा बौद्ध दर्शनों के भी मौलिक तथ्यों की आधारशिला यही है। उपनिषद् का इसीलिए भारतीय संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इनके अध्ययन से इस संस्कृति के आध्यात्मिक रूप का सच्चा परिचय हमें उपलब्ध होता है। इसीलिए जब से किसी विदेशी विद्वान् को इसके पढ़ने तथा मनन करने का अवसर मिला है, तब से वह इनकी समुन्नत विचारधारा, उदात्त चिन्तन, धार्मिक अनुभूति तथा आध्यात्मिक जगत् की रहस्यमयी अभिव्यक्तियों को शतमुख से प्रशंसा करता आया है। सत्रहवें शतक में दाराशिकोह तथा उन्नीसवें शतक में जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर तथा महाकवि गेटे ने अपने ग्रन्थों में इसकी विशेष प्रशंसा की है, तथा इसे अपने तात्त्विक विचारों का आश्रय बनाया है।

'उपनिषद्' शब्द उप नि उपसर्गक सद् धातु से निष्पन्न होता है। सद् धातु के अर्थ हैं विशरण = नाश होना; गति = पाना या जानना; अवसादन = शिथिल होना (सद्लृ विशरण-गत्यवसादनेषु)। उपनिषद् मुख्यतया 'ब्रह्मविद्या' का द्योतक है, क्योंकि इस विद्या के अनुशीलन से मुमुक्षु जनों की संसार-बीजभूता अविद्या नष्ट हो जाती है (विशरण), वह ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है (गति) तथा मनुष्य के गर्भवास आदिक दुःख सर्वथा शिथिल हो जाते हैं[1] (अवसादन)। गौण अर्थ में यह शब्द पूर्वोक्त ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ-विशेष का भी बोधक है और इसी अर्थ में इसका प्रयोग यहाँ किया जा रहा है। उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति जो आज अधिक प्रचलित है वह 'उप' एवं 'नि' उपसर्गों से युक्त सद् (बैठना) धातु से सिद्ध की जाती है। इस प्रकार अर्थ निकला है—(गुरु के) निकट विनम्रता पूर्वक बैठना (रहस्य ज्ञान के लिए); अर्थात् गुरु के निकट विनम्रतापूर्वक बैठ कर प्राप्त किया गया रहस्य-ज्ञान।

असली उपनिषदों की संख्या में पर्याप्त मतभेद है। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या १०८ है, जिनमें से १० उपनिषद् सम्बद्ध हैं ऋग्वेद से, १९ शुक्लयजुः से, ३२ कृष्णयजुः से, १६ साम से तथा ३१ अथर्व से। इधर अड्यार लाइब्रेरी (मद्रास) से लगभग ६० अप्रकाशित उपनिषदों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है, जिसमें छागलेय आदि चार उपनिषदों का भी समावेश है, जिनका अनुवाद १७वीं शताब्दी में दाराशिकोह की आज्ञा से फारसी में किया गया था। आचार्य शंकर ने जिन दश उपनिषदों पर अपना महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखा है वे प्राचीनतम तथा प्रामाणिक माने जाते हैं। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उनके नाम तथा क्रम इस प्रकार हैं—

> ईश केन कठ प्रश्न मुण्ड माण्डूक्य तित्तिरिः।
> ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश॥

(१) ईश, (२) केन, (३) कठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्डक, (६) माण्डूक्य, (७) तैत्तिरीय, (८) ऐतरेय, (९) छान्दोग्य तथा (१०) बृहदारण्यक—ये ही उपनिषद् प्राचीन तथा सर्वथा प्रामाणिक अंगीकृत हैं। इनके अतिरिक्त कौषीतकि उपनिषद्, श्वेताश्वतर तथा मैत्रायणीय भी प्राचीन माने जाते हैं, क्योंकि शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में दशोपनिषद् के साथ प्रथम दोनों को भी उद्धृत किया है, लेकिन उन्होंने इन पर भाष्य नहीं लिखा। श्वेताश्वतर पर शांकर-

---

१. द्रष्टव्य कठ तथा तैत्तिरीय उपनिषदों पर शाङ्कर-भाष्य का उपोद्घात।

भाष्य आद्य शंकराचार्य की कृति नहीं माना जाता। इस प्रकार ये ही त्रयोदश उपनिषद् वेदान्त-तत्त्व के प्रतिपादक होने से विशेषतः श्रद्धाभाजन माने जाते हैं। अन्य उपनिषद् तत्तत् देवता-विषयक होने से 'तान्त्रिक' माने जा सकते हैं। तन्त्रों को वेद से विरुद्ध तथा अर्वाचीन मानना यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। ऐसे उपनिषदों में वैष्णव, शाक्त, शैव तथा योगविषयक उपनिषदों की प्रधान गणना है[1]।

उपनिषदों के काल निरूपण करने तथा परस्पर सम्बन्ध दिखलाने के लिए अर्वाचीन विद्वानों ने बड़ा उद्योग किया है। जर्मन विद्वान् डायसन ने उपनिषदों को चार स्तरों में विभक्त किया है :—

(क) प्राचीन गद्य उपनिषद्, जिनका गद्य ब्राह्मणों के गद्य के समान प्राचीन, लघुकाय तथा सरल है—(१) बृहदारण्यक, (२) छान्दोग्य, (३) तैत्तिरीय, (४) ऐतरेय, (५) कौषीतकि तथा (६) केन उपनिषद्।

(ख) प्राचीन पद्य उपनिषद्, जिनका पद्य प्राचीन, सरल तथा वैदिक पद्यों के समान है—(७) कठ, (८) ईश, (९) श्वेताश्वतर, (१०) महानारायण।

(ग) पिछले गद्य उपनिषद्—(११) प्रश्न, (१२) मैत्री या मैत्रायणीय, (१३) माण्डूक्य।

(घ) आथर्वण उपनिषद्, जिनमें तान्त्रिक उपासना विशेषरूप से अङ्गीकृत है—(i) सामान्य उपनिषद् (ii) योग उप०, (iii) सांख्यवेदान्त उप०, (iv) शैव उप० (v) वैष्णव उप०, (vi) शाक्त उपनिषद्।

इस क्रम-साधन में अनेक दोषों तथा त्रुटियों को दिखाकर डा० बेलवेलकर तथा रानाडे ने एक नयी योजना तैयार की है[2] जिसके साधक प्रमाणों की संख्या अनेक है और जिसके अनुसार प्राचीन उपनिषदों में ये मुख्य हैं—छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कठ, ईश, ऐतरेय, तैत्तिरीय, मुण्डक, कौषीतकि, केन तथा प्रश्न। श्वेताश्वतर, माण्डूक्य और मैत्रायणीय द्वितीय श्रेणी के अन्तर्भुक्त माने गये हैं, तथा तृतीय श्रेणी में बाष्कल, छागलेय, आर्षेय तथा शौनक उपनिषद् आते हैं, जो

---

१. अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास से ये उपनिषद् 'उपनिषद् ब्रह्म योगी' की व्याख्या के साथ पृथक्-पृथक् चार खण्डों में प्रकाशित हुए हैं।

२. द्रष्टव्य Belvelkar and Ranade—History of Indian Philosophy Vol. 2. pp. 87. 90.

अभी हाल में उपलब्ध हुए हैं। इस योजना को सिद्ध करने के निमित्त उपन्यस्त तर्कप्रणाली बड़ी ही पेचीदी होने से विश्वास उत्पन्न नहीं करती। उपनिषदों के विभिन्न-कालीन स्तरों की कल्पना इतनी मनमानी तथा प्रमाण-विरहित है कि उन पर विश्वास उत्पन्न नहीं होता। ईशावास्य को द्वितीय स्तर में रखना क्या न्याय-संगत होगा? इसमें यज्ञ की महत्ता ब्राह्मण-काल के समान ही स्वीकृत है (कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः), तथा बृहदारण्यक के द्वारा उद्घोषित कर्मसंन्यास की भावना की घोषणा नहीं है (पुत्रैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाश्च भिक्षाचर्यं चरन्ति-बृहदा०)। अन्य उपनिषदों के समान आरण्यक का अंश न होकर वह माध्यन्दिन-संहिता का भाग है, तथा मुक्तिकोपनिषद् की मान्य परम्परा के अनुसार यह समस्त उपनिषदों की गणना में प्रथम स्थान रखता है। फलतः इसके प्रथम कालश्रेणी में अन्तर्भुक्त तथा प्राचीनतर होने में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता। डा० बेल्वेलकर तथा रानाडे ने उपनिषदों का व्यासात्मक अध्ययन कर उनके प्रत्येक खण्ड का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाया है। उनकी विश्लेषण शक्ति का परिचायक होने पर भी यह परीक्षण इतना विकट तथा विषम है कि वह तत्त्व जिज्ञासुओं के हृदय में सन्तोष तथा विश्वास नहीं उत्पन्न करता।

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपने ग्रन्थ में उपनिषदों की प्राचीनता तथा अर्वाचीनता के निर्णयार्थ दो साधन उपस्थित किये हैं[1]—(१) विष्णु या शिव का परदेवता के रूप में वर्णन तथा (२) दूसरा है प्रकृति-पुरुष तथा सत्त्व, रज, तम त्रिविध गुणों के सांख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्राचीनतम उपनिषदों ने वैदिक देवताओं से ऊपर उठकर एक अनामरूप ब्रह्म को ही इस विश्व का स्रष्टा, नियन्ता तथा पालनकर्ता विवेचित किया है। केवल पिछले उपनिषदों ने विष्णु को प्रथमतः, अनन्तर शिव को, उस परम पद पर प्रतिष्ठित किया है। इस दृष्टि से अनाम-रूप-ब्रह्म के प्रतिपादक होने से निम्नलिखित उपनिषदों की सर्व-प्राचीनता नितान्त मान्य है—छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य। इसके अन्तर कठोपनिषद् आता है, जो विष्णु को परमपद पर प्रथमतः प्रतिष्ठित करने का श्रेय रखता है। कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषदों में महादेव इस महनीय पद के अधिष्ठाता माने गए हैं। इसी निमित्त महेश्वर की महत्ता के हेतु श्वेताश्वतर कठ से अर्वाचीन तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इस देवत्रीय के गौरव

---

१. वैद्य—संस्कृत साहित्य के वैदिक काल का इतिहास (अंग्रेजी) द्वितीय खण्ड, पृष्ठ १७०-१७२।

गान के कारण मैत्रायणीय उपनिषद् श्वेताश्वतर से भी पीछे त्रयोदश उपनिषदों में अर्वाचीनतम माना जाना चाहिए। सांख्य-तथ्यों के प्रतिपादन से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। छान्दोग्यादि उपनिषदों में इस सिद्धान्त का कहीं भी निर्देश नहीं है। कठ में सांख्य के अनेक सिद्धान्त (गुण, महत् , आत्मा, अव्यक्त और पुरुष १।३।१०) उपलब्ध होते हैं। श्वेताश्वतर में सांख्य (तत् कारणं सांख्य-योगाधिगम्यम्) का तथा उसके प्रवक्ता कपिल ऋषि का (ऋषिप्रसूतं कपिलं पुराणम्), प्रधान ज्ञेय तथा ज्ञ का वर्णन सांख्य-सिद्धान्तों से पर्याप्त परिचय का द्योतक है। अतः कठ से इसकी अर्वाचीनता माननी चाहिए। मैत्रायणीय में प्रकृत तथा गुणत्रय का सांख्य-सिद्धान्त बड़े विस्तार के साथ दिया गया है और इसलिए इसे इस श्रेणी में पिछले युग की रचना मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

✓ इस प्रकार मोटे तौर से इन उपनिषदों को तीन श्रेणी में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी में हम छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य को रख सकते हैं, जो तत्तत् वेदों के आरण्यकों के अंश होने से निःसन्दिग्ध रूप से प्राचीन हैं। श्वेताश्वतर, कौषीतकि, मैत्रायणी तथा महानारायण तृतीय श्रेणी में रखे जा सकते हैं और दोनों के बीच में कठ, केन उपनिषद् को रख सकते हैं। उपनिषदों की भौगोलिक स्थिति मध्यदेश के कुरुपाञ्चाल से आरम्भ होकर विदेह तक फैली हुई है। इस समय आर्य-निवास से गान्धार नितान्त दूर पड़ गया था, क्योंकि छान्दोग्य के अनुसार किसी विज्ञ के उपदेशानुसार ही मनुष्य गान्धार में पहुँच सकता था। उपनिषद्-काल की सूचना मैत्रायणीय उपनिषद् में निर्दिष्ट ज्योतिःसम्बन्धी तथ्यों के आधार पर कल्पित की जा सकती है। तिलक के अनुसार मैत्रायणीय उपनिषद् का काल १९०० वि० पू० होना चाहिए और इस प्रकार उपनिषत्-काल का आरम्भ २५०० वि० पू० से मानना न्यायसंगत है।

उपनिषदों का प्रथम भाषान्तर

उपनिषदों का भाषान्तर सप्तदश शतक में फारसी भाषा में दाराशिकोह की प्रेरणा पर किया गया था। दाराशिकोह प्रकृत्या दार्शनिक तथा स्वभावतः नितान्त धर्मनिष्ठ राजकुमार था। १६४० ई० में वह कश्मीर यात्रा करने के लिये गया और वहीं उसने उपनिषदों की कीर्ति सुनी। फारसी अनुवाद की भूमिका में उसने

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य वैद्य—संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग दूसरा पृष्ठ १७२–१७४।

स्वयं लिखा है कि कुरान के अध्ययन करने पर उसे उसमें अनेक अनुद्घाटित रहस्य-मय तथ्यों से परिचय मिला, जिनके उद्घाटन के निमित्त उसने बाइबिल, इंजील आदि समस्त ग्रन्थों का अध्ययन किया, परन्तु उसकी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई। अनन्तर उसने हिन्दूधर्म का अध्ययन किया और यहीं, विशेष कर उपनिषदों में उसे अद्वैत तत्त्व का रहस्य प्रतिपादित मिला। वह उपनिषदों को 'दैवी रहस्यों का भाण्डा-गार' कहता है, तथा ज्ञान के पिपासु एवं जिज्ञासु जनों के निमित्त उसे नितान्त उपादेय बतलाता है। उसने काशी के पण्डितों तथा संन्यासियों की सहायता से उपनिषदों का फ़ारसी में अनुवाद 'सिर्र-ए-अकबर' (महान् रहस्य) के नाम से किया। इस नामकरण का कारण यह था कि वह उपनिषदों को कुरान-शरीफ में केवल संकेतित, परन्तु अव्याख्यात तत्त्वों तथा रहस्यों की कुंजी मानता है और केवल इनकी ही सहायता से उनका उद्घाटन हो सकता है। वह कहता है कि उप-निषद् ही कुरान में 'किताबिम मक्नुनिन' (अर्थात् छिपी हुई किताब) शब्द के द्वारा उल्लिखित है।

भूमिका-भाग के अनन्तर वह संस्कृत के लगभग एक सौ परिभाषिक शब्दों का फ़ारसी अनुवाद देता है। तदनन्तर वह ५० उपनिषदों का अनुवाद करता है। इस अप्रकाशित, परन्तु उपलब्ध, अनुवाद की भाषा बहुत ही सरल-प्राञ्जल तथा शैली बड़ी ही रोचक और उदात्त मानी जाती है। अनुवाद मूल को यथार्थतः प्रकट करता है, परन्तु व्याख्या के निमित्त टिप्पणियों का अभाव है। मुन्शी महेश-प्रसाद जी ने इन ५० उपनिषदों में से ४५ के मूल संस्कृत नामों को खोज निकाला है। इनमें बाष्कल, छागलेय, आर्षेय आदि हाल में प्रकाशित उप-निषदों के अनुवाद मिलते हैं। यह अनुवाद १६५७ ई० में दिल्ली के 'मंजिल निगमबोध' स्थान पर लगभग ६ महीनों के अश्रान्त परिश्रम के बाद समाप्त हुआ था। अपने पिता की ओर से दारा काशी का शासक था और यहीं उसने यह अनुवाद काशी के ही पण्डितों तथा संन्यासियों की सहायता से आरम्भ किया, जो दिल्ली में जाकर समाप्त हुआ[1]।

इस फारसी अनुवाद को प्रसिद्ध फ्रेंच यात्री बर्नियर अपने साथ फ्रांस ले गया, जो 'आक्वेंतील दू पेरों' नामक प्रख्यात यात्री तथा 'जन्द अवेस्ता' के अन्वेषक को १७७५ ईस्वी में प्राप्त हुआ। उन्होंने एक अन्य प्रति से मिलाकर

---

१. इस अनुवाद की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। इस वर्णन के लिए मैं मुन्शी महेश प्रसाद का उनके Unpublished Translation of Upnishads लेख (मोदी स्मारक ग्रन्थ, बम्बई) के लिए आभारी हूँ।

वे सुन्दर शब्दों में कह रहे हैं कि मैं स्वयं अपने आप पूछ रहा हूँ कि कब मैं वरुण के साथ मैत्रीसूत्र में बँध जाऊँगा ? क्रोधरहित होकर वरुण प्रसन्नचित्त से क्या मेरे द्वारा दी गई हवि को ग्रहण करेंगे ? कब मैं प्रसन्न-मानस होकर उनकी दया को देखूँगा—

उत स्वया तन्वा सं वदे तत्
कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत
कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्॥

(ऋ० ७।८६।२)

जब विद्वानों की मीमांसा से उसे वरुण के कोप का पता चलता है तब वह कह उठता है कि हे देव, पितरों के द्वारा किये गये द्रोहों को दूर कर दीजिए और उन द्रोहों तथा विरोधों को भी दूर हटाइए जिन्हें हमने अपने शरीर से स्वयं किया है। जिस प्रकार पशु को चुराने वाले चोर को तथा बछड़े को रस्सी से लोग छुड़ा देते हैं, उसी प्रकार आप भी अपराध की रस्सी में बँधे वसिष्ठ को भी मुक्त कीजिए—

अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽ-
व या वयं चकृमा तनूभिः।
अव राजन् पशुतृपं न तायुं
सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम्॥

(७।८६।५)

नम्रता तथा दीनता, अपराध-स्वीकृति तथा आत्मसर्पण की भव्य भावनाओं से मण्डित यह सूक्त वैष्णव भक्तों की उस वाणी की सुध दिलाता है जिसमें उन्होंने अपने को हजारों अपराधों का भाजन बता कर भगवान् से आत्मसात् करने की याचना की है।

सूर्य के उदय का दृश्य कवियों को बहुत ही प्यारा है जिसका वर्णन अनेक अलंकारों के सहारे किया गया है। एक कवि कहता है कि सूर्य के उदय होने पर उसकी किरणें अन्धकार को उसी प्रकार दूर कर देती हैं जैसे कोई व्यक्ति किसी चर्म को पानी के भीतर रख देता है—

दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य
चर्मेवावाधुस्तमो अप्स्वन्तः।

(४।१३।४)

रूपकों की भी बहुलता ऋग्वेदीय मन्त्रों में उपलब्ध होती है। सूर्य आकाश का सुनहला मणि है (दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति—७।६३।४)। सूर्य वह रङ्गीन पत्थर है जो आकाश में स्थापित है (मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा—५।४७।३)। 'अग्नि अपनी प्रभा से आकाश को छू रहा है' स्पष्ट ही अतिशयोक्ति का सूचक मन्त्र है (घृतप्रतीको बृहता दिवि स्पृशा—५।११।१)। ऋग्वेद में अतिशयोक्ति का उदाहरण वह प्रख्यात मन्त्र है जिसमें यज्ञ की (सायण के अनुसार) अथवा शब्द की (पतञ्जलि के अनुसार) अथवा काव्य की (राजशेखर के अनुसार) भव्य स्तुति की गई है—

चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥

(४।५८।३)

दूसरा उदाहरण है वह प्रसिद्ध मन्त्र जो द्वैतवाद की मूल वैदिक भित्ति है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(१।१६४।२०)

सुन्दर पंखवाले, सदा साथ रहने वाले, समान ख्याति रखने वाले दो भिन्न पक्षी एक ही वृक्ष पर आश्रय लेते हैं, जिनमें से एक स्वादु मीठे फल को खाता है और दूसरा विना खाये हुए ही विराजमान है। यहाँ पक्षीद्वयरूपी उपमान के द्वारा जीवात्मा तथा परमात्मा रूप उपमेय का सर्वथा निगरण होने से अतिशयोक्ति है; उत्तरार्ध में दोनों पक्षियों के स्वभाव में विभिन्नता के कारण 'व्यतिरेक' अलंकार का भी गूढ़ संकेत है। व्यतिरेक का एक अन्य सुन्दर उदाहरण है ऋतचक्र का वर्णन, जो सामान्य चक्र से भिन्न दिखलाया गया है—'द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य' (ऋक्० १।१६४।११)।

उपनिषदों में भी अनेक सुन्दर अलंकारों के दृष्टान्त मिलते हैं। शरीर रथ का रूपक कठोपनिषद् में (१।३।३) नितान्त विख्यात है। ऋतुवर्णन के भी सुन्दर मन्त्र ऋग्वेद में मिलते हैं। पर्जन्यसूक्त (५।८३) में वर्षा का बड़ा ही नैसर्गिक

वर्णन है। मण्डूक-सूक्त (७।१०३) भी वर्षा के समय का एक रमणीय दृश्य प्रस्तुत करता है, जब एक मेढक की आवाज सुनकर दूसरा मेढक अपनी टर्टर की आवाज लगाता है। यह ध्वनि गुरु के वचन को सुनकर वेदध्वनि करनेवाले शिष्यों की पाठ्यध्वनि के समान प्रतीत होती है ('वेद पढ़ै जनु बटु समुदाई'— तुलसीदास)।

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं
शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व
यत् सुवाचो वदथनाध्यप्सु॥

इस प्रकार वेदों में अलंकारों की भी प्रभा आलोचकों की दृष्टि बलात् आकृष्ट करती है।

सौन्दर्य की कल्पना

उषादेवी के विषय में उपलब्ध सूक्तों का अनुशीलन हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वे काव्य की दृष्टि से नितान्त सरस, सहज तथा भव्यभावना-मण्डित हैं। प्रातःकाल अरुणिमा से मण्डित, सुवर्णच्छटा से विच्छुरित प्राची-नभो-मण्डल पर दृष्टिपात करते समय किस भावुक के हृदय में सौन्दर्य की भावना का उदय नहीं होता? वैदिक ऋषि उसे अपनी प्रेमभरी दृष्टि से देखता है और उसकी दिव्य छटा पर रीझ उठता है। उषा मानवी के रूप में कवि-हृदय के नितान्त पास आती है। यदि उषा केवल महान् तथा स्वर्ग की अधिकारिणी-मात्र होती, तो इस विश्व से परे ऊर्ध्वलोक में अपनी दिव्य छवि छहराती रहती, मानव-जगत् से ऊपर उठकर अपनी भव्य सुन्दरता से मण्डित होकर अपने में ही पुञ्जीभूत बनी रहती, तो हमारे हृदय में केवल कौतुक या विस्मय जाग्रत होता, घनिष्ठता नहीं। जब हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तृत तथा व्यापक हो जाता है कि हम अपनी पृथक् सत्ता का सर्वथा निर्मूलन कर प्रकृतिक की सत्ता के भीतर नरसत्ता का सद्यः अनुभव करने लगते हैं, तब अनन्यता की भावना जन्म लेती है। इसका फल यह होता है कि कवि उषा को कभी कुमारी के रूप में, कभी गृहिणी के रूप में और कभी माता के रूप में देखता है; बाह्य सौन्दर्य के भीतर कवि आन्तर सौन्दर्य का अनुभव करता है। उषा केवल बाह्य सौन्दर्य की प्रतिमा न होकर कवि के लिए आन्तरिक सुषमा का भी प्रतीक बन जाती है।

कवि की दृष्टि उषा के रम्यरूप पर पड़ती है और वह उसे एक सुन्दर मानवी के रूप में देखकर प्रसन्न हो उठता है। वह कहता है—हे प्रकाशवती उषा, तुम कमनीय कन्या की भाँति अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अभिमत फलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उनके सम्मुख स्मितवदना युवती की भाँति अपने वक्ष को आवरणरहित करती हो—

कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती॥

(ऋग्० १।१२३।१०)

यहाँ कवि की मानवीकरण की भावना अत्यन्त प्रबल हो उठती है। यहाँ उषा के कुमारीरूप की कल्पना है। स्मितवदना सुन्दररूप को प्रगट करनेवाली युवती कन्या की कल्पना सूर्य के पास प्रणय-मिलन की भावना से जानेवाली उषा के ऊपर कितनी सयुक्तिक तथा सरस है।

उषा के ऊपर की गई अन्य कल्पना के भीतर भी उतना ही औचित्य दृष्टिगोचर हो रहा है। वह अपने प्रकाश द्वारा संसार को उसी प्रकार संस्कृत करती है, जिस प्रकार योद्धा अपने शस्त्रों को घिसकर उनका संस्कार करता है—

अपेजते शूरो अस्तेव शत्रून्
बाधते तमो अजिरो न वोळ्हा।

(६।६४।३)

उषा अपने प्रकाश को उसी प्रकार फैलाती है जिस प्रकार ग्वला चारागाह में गौवों को फैला देता है, अथवा नदी अपने जल को विस्तृत करती है—

पशून्न चित्रा सुभगा प्रथाना
सिन्धुर्नक्षोद उर्विया व्यश्वैत।

(१।९२।१२)

उषा का नित्य-प्रति उदित होना उसके अमरत्व की पताका है—

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वो-
र्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।

(३।६१।३)

उषा का नित्य-प्रति एकाकार रूप से आना कवि की दृष्टि में चक्र के आवर्तन के समान है। जिस प्रकार चक्र सदा आवर्तित होता रहता है, उसी प्रकार उषा भी अपना आवर्तन किया करती है—

समानामर्थं चरणीयमाना
चक्रमिव नव्यस्यावव्रृत्स्व ।

(३।६।३)

इन उदाहरणों में उपमा का विधान उषा की रूपभावना को तीव्र बनाने के लिए बड़े ही उचित ढंग से प्रयुक्त किया गया है।

उषा-विषयक मन्त्रों के अनुशीलन से हम वैदिक ऋषियों की प्रकृति के प्रति उदात्त भावना को भी भली-भाँति समझ सकते हैं। प्रकृति का चित्रण दो प्रकार से होता है—

(१) **अनावृत वर्णन**—अर्थात् प्रकृति का स्वतः आलम्बनत्वेन वर्णन, जहाँ प्रकृति की नैसर्गिक माधुरी कवि-हृदय को आकृष्ट करती है और अपने आनन्द से कवि मानस को सिक्त करती है।

(२) **अलंकृत वर्णन**—जहाँ प्रकृति तथा उसके व्यापारों का मानवीय-करण किया गया है। प्रकृति निश्चेष्ट न होकर चेतन प्राणी के समान नाना व्यापारों का सम्पादन करती है। वह कभी स्मितवदना सुन्दरी के समान दर्शकों का हृदय आकृष्ट करती है, तो कभी उग्ररूप भीषण जन्तु के समान हमारे हृदय में भय तथा क्षोभ उत्पन्न करती है।

वैदिक कवि की इस द्विविध भावना का स्फुट निदर्शन हमें मिलता है उषा-सम्बन्धी भावनाओं में। प्राचीन क्षितीज पर सुवर्ण के समान अरुण छटा छिटकाने वाली उषा का साक्षात्कार करते समय कवि का हृदय इस कोमल चित्र में रम जाता है और वह उल्लासमयी भाषा में पुकार उठता है—

उषो देव्यमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥

(३।६१।२)

हे प्रकाशमयी उषा, तुम सोने के रथ पर चढ़कर अमरणशील बनकर चमको। तुम्हारे उदय के समय पक्षिगण सुन्दर रसमय वाणी का उच्चारण करते हैं। सुन्दर शिक्षित पृथु बल से सम्पन्न घोड़े सुवर्ण वर्णवाली तुम्हें वहन करें।

अलंकृत वर्णन के अवसर पर उषा से सम्बद्ध रूप तथा व्यापारों पर मानवीय रूप और व्यापारों का बड़ा ही हृदयरञ्जक आरोप किया गया है। एक स्थल पर कवि उषा की रूपमाधुरी का वर्णन करते समय शोभनवस्त्रा युवती के साथ उसकी तुलना करता है—

जायेव पत्य उशती सुवासा
उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः।

(१।१२४।७)

यहाँ कवि नारी के कोमल हृदय को स्पर्श कर रहा है। पति के सामने कौन सुन्दरी अपने हृदय के उल्लास तथा मन की वासना को गुप्त रख सकती है? और कौन ऐसी स्त्री होगी जो पति के सामने अपने सुन्दरतम सज्जा-सम्पन्न रूप को प्रकट करना नहीं चाहती? अपने पतिभूत सूर्य का अनुगमन करने वाली उषा के आचरण में कवि साध्वी सती के आचरण की स्फुट अभिव्यक्ति पाता है (७।७६।३)। एक स्थान पर कवि भय से शंकित होकर कह उठता है कि कहीं उषा के सुकुमार शरीर को सूर्य की तीक्ष्ण किरणें संतप्त न कर दें, जिस प्रकार राजा चोर को या शत्रु को संतप्त करता है—

नेत् त्वा स्तेनं यथा रिपुं
तपाति सूरो अर्चिषा
सुजाते अश्वसूनृते॥

(५।७९।९)

अन्यत्र रंगमंच के ऊपर अपना उल्लासमय नृत्य दिखलाने वाली नर्तकी की समता कवि प्रातःकाल प्राची क्षितिज के रंगमंच पर अपने शरीर को विशद रूप से दिखलाने वाली उषा के साथ करता हुआ अपनी कला-प्रियता का परिचय देता है—

अधि पेशांसि वपते नृतूरिवा-
पोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्॥

(१।९२।४)

महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में प्रकृति के द्विविध रूप की भव्य झाँकी प्रस्तुत की है। 'ऋतु-संहार' में प्रकृत अपने अनावृत रूप में पाठकों के सामने अपनी रमणीय छवि दिखलाती है, तो मेघदूत में वह अलंकारों की सजावट से

चमत्कृत तथा कोमल हार्दिक भावभङ्गियों से स्निग्ध रमणी के रूप में आकर प्रस्तुत होती है। कालिदास का यह प्रकृति-चित्रण ऋग्वेदीय मञ्जुल धारा के ही अन्तर्गत है।

(२) वैदिक आख्यान

संहिताओं के अध्ययन से इतिहास तथा आख्यान की सत्ता का प्रमाण हमें वैदिक युग में उपलब्ध होता है। प्राचीन ग्रन्थों में इतिहास-पुराण के एक साथ और पृथक्-पृथक् उल्लेख पाये जाते हैं। अथर्ववेद में इतिहास-पुराण का निर्देश मौखिक साहित्य के रूप में न होकर लिखित ग्रन्थों के रूप में किया गया मिलता है। छान्दोग्य-उपनिषद् (७।१) में इतिहास-पुराण अध्ययन-अध्यापन का मुख्य विषय बतलाया गया है। कौटिल्य (तृतीय शती वि० पू०) ने इतिहास के अन्तर्गत इन विषयों की गणना की है—पुराण (प्राचीन आख्यान), इतिवृत्त (इतिहास), आख्यायिका (कहानियाँ), उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र; जिनका श्रवण अपराह्ण में राजा को अपने ज्ञानवर्धन के लिए अवश्यमेव करना चाहिए। इतिहास की यह परिबृंहित कल्पना अवान्तर काल से सम्बन्ध रखती है, प्राचीनकाल में भी इस प्रकार के साहित्य की स्थिति अवश्यमेव विद्यमान थी।

वेदों की व्याख्या प्रणाली का अन्यतम प्रकार 'ऐतिहासिकों' का भी था, जिसका उल्लेख यास्क ने निरुक्त में अनेकशः किया है। 'वृत्र' की व्याख्या में ऐतिहासकों का कहना था कि त्वाष्ट्र असुर की संज्ञा है। इस प्रकार इन व्याख्याकारों की सम्मति में वेदों में अनेक महत्त्वपूर्ण आख्यान विद्यमान हैं। ऋग्वेद में आख्यानों की संख्या कम नहीं है। इनमें से कुछ आख्यान तो वैयक्तिक देवता के विषय में हैं और कुछ आख्यान किसी सामूहिक घटना को लक्ष्य कर प्रवृत्त होते हैं। तथ्य यह है कि आख्यानों के मूल रूप की अभिव्यक्ति ऋग्वेद के मन्त्रों में मिलती है। अनन्तर युगों में ये ही आख्यान परिस्थिति के परिवर्तन से अथवा नवीन युग की नवीन कल्पना के प्रभाव से परिवर्तित और परिबृंहित होकर विकसित दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद के अनेक आख्यान ब्राह्मणों में, उपनिषदों में, सूत्र-ग्रन्थों में, रामायण महाभारत में तथा विभिन्न पुराणों में अपनी घटनाओं की स्थिति के विषय में विशेष रूप से विकसित और परिवर्धित उपलब्ध होते हैं। इस विकास के ऊपर तत्तत् युग की धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से अंकित दृष्टिगोचर होता है। मूल के सरल आख्यान पिछले ग्रन्थों में अनेक विस्तृत घटनाओं से मण्डित होने से विषम तथा मिश्रित रूप में हमें उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में इन्द्र तथा अश्विन् के

विषय में भी अनेक आख्यान मिलते हैं, जिनमें इन देवों की वीरता, पराक्रम तथा उपकार की भावना को स्पष्ट अंकित किया गया है। ऋग्वेद के भीतर ३० आख्यानों का स्पष्ट निर्देश किया गया है, जिनमें से कतिपय प्रख्यात आख्यानों की महत्त्वपूर्ण सूची यह है—शुनःशेप (१।२४), अगस्त्य और लोपामुद्रा (१।१७९), गृत्समद (२।१२), वसिष्ठ और विश्वामित्र (३५३, ७।३३ आदि), सोम का अवतरण (३।४३), त्र्यरुण और वृश जान (५।२), अग्नि का जन्म (५।११), श्यावाश्व (५।३२), बृहस्पति का जन्म (६।७१), राजा सुदास (७।१८), नहुष (७।९५), अपाला (८।९१), नाभानेदिष्ठ (१०।६१, ६२), वृषाकपि (१०।८६), उर्वशी और पुरुरवा (१०।९५), सरमा और पणि (१०।१०८), देवापि और शन्तनु (१०।९८), नचिकेता (१०।१३५)। इनके अतिरिक्त दान-स्तुतियों में अनेक राजाओं के नाम उपलब्ध हैं, जिनसे दान पाकर वैदिक ऋषियों को उनकी स्तुति में मन्त्र लिखने की भव्य प्रेरणा मिली।

प्रख्यात आख्यान[1]

शुनःशेप का आख्यान ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में (१।२४, २५) बहुशः संकेतित होने में सत्य घटना के ऊपर आश्रित प्रतीत होता है। ऐतरेय-ब्राह्मण (७।३) में यह आख्यान बड़े विस्तार के साथ वर्णित है, जिसके आदि में राजा हरिश्चन्द्र का और अन्त में विश्वामित्र का सम्बन्ध जोड़कर इसे परिवर्धित किया गया है। वरुण की कृपा से ऐक्ष्वाक नरेश हरिश्चन्द्र को पुत्र उत्पन्न होना, समर्पण के समय उनका जंगल में भाग जाना, हरिश्चन्द्र को उदररोग की प्राप्ति, रास्ते में अजीगर्त के मध्यम पुत्र शुनःशेप का क्रय करना, देवताओं की कृपा से उसका वध्य पशु होने से बच जाना, विश्वामित्र के द्वारा उसका कृतक पुत्र बनाना आदि घटनायें नितान्त प्रख्यात हैं।

उर्वशी और पुरुरवा का आख्यान—वेदयुग की एक रोमाञ्चक प्रणय-गाथा है। देवी होने पर भी उर्वशी ने राजा पुरुरवा के साथ प्रणय-पाश में बद्ध होकर पृथ्वीतल पर रहना अंगीकार किया था, परन्तु इसके लिए राजा को तीन शर्तें माननी पड़ी थीं—वह सदा घृत का ही आहार किया करेगी; उसके प्यारे दोनों

---

१. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—'वैदिक कहानियाँ' या ज्ञान की गरिमा। इस ग्रन्थ में वैदिक आख्यानों का विवरण बड़ी रोचक शैली में किया गया है। प्र० सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९५८।

मेष सदा उसकी चारपाई के पास बँधे रहेंगे, जिससे कोई उन्हें चुरा न सके; तीसरी बात सबसे विकट यह थी कि यदि वह किसी भी अवस्था में राजा को नग्न देख लेगी तो एकक्षण में वहाँ से गायब हो जायगी। पुरुरवा ने इन्हें स्वीकार कर लिया और दिव्य प्रेयसी के संग में आनन्द-विभोर होकर अपना जीवन बिताने लगा, परन्तु गन्धर्वों को उर्वशी की अनुपस्थिति में स्वर्ग नीरस तथा निर्जीव प्रतीत होने लगा; फलतः उन्होंने उन शर्तों को तोड़ डालने के लिए एक छल की रचना की। रात के समय उन्होंने उर्वशी के पास से एक मेष को चुरा लिया। मेष की करुणाजनक बोली सुनते ही उर्वशी ने चोर को पकड़ने के लिए राजा को ललकारा, जो तुरन्त ही आकाश में मेष की रक्षा के लिए दौड़ पड़ा। उसी समय गन्धर्वों ने बिजुली को आकाश में चमका दिया। राजा का नग्न शरीर उर्वशी के सामने स्पष्टतः प्रकट हो गया। वह राजा को छोड़कर बाहर निकल पड़ी। राजा उसके विरह में विषण्ण होकर पागल की तरह भूमण्डल में घूमने लगा। अन्ततोगत्वा कुरुक्षेत्र के एक जलाशय में उसने हंसि-नियों को पानी पर तैरते हुए देखा और उनमें हंसी का रूप धारण करने वाली अपनी प्रेयसी को पहचाना। उसे लौट आने की विनम्र प्रार्थना की, परन्तु उर्वशी किसी प्रकार भी राजा के पास लौट आने के लिए तैयार नहीं हुई। राजा की दयनीय दशा देखकर गन्धर्वों के हृदय में सहानुभूति उत्पन्न हुई और उन्होंने उसे अग्निविद्या का उपदेश दिया जिसके अनुष्ठान से उसे उर्वशी का अविच्छिन्न समागम प्राप्त हुआ।

ऋग्वेद के प्रख्यात सूक्त (१०।९५) में दोनों व्यक्तियों का कथनोपकथन-मात्र है, परन्तु शतपथ-ब्राह्मण (११।५।१) ने इस कथानक को रोचक विस्तार के साथ निबद्ध किया है, तथा इस प्रणय कथा के अंकन में साहित्यिक सौन्दर्य का भी परिचय दिया है। विष्णुपुराण (४।६), मत्स्यपुराण (अध्याय २४) तथा भागवत (९।१४) में इसी कथा का रोचक विवरण हम पाते हैं। कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक में इस कथानक को नितान्त मञ्जुल नाटकीय रूप प्रदान किया है। इस आख्यान के विकाश में एक विशेष तथ्य की सत्ता मिलती है। पुराणों ने तथा कालिदास ने मत्स्यपुराण का आधार लेकर इसे प्रणयगाथा के रूप में अंकित किया है, परन्तु वैदिक आख्यान में पुरुरवा पागल प्रेमी न होकर यज्ञ का प्रचारक नरपति है। वह पहिला व्यक्ति है जिसने श्रौत अग्नि (आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि नामक त्रेताअग्नि) की स्थापना का रहस्य जानकर यज्ञ-संस्था का प्रथम विस्तार किया। पुरुरवा के इस परोपकारी रूप की अभिव्यक्ति वैदिक आख्यान का वैशिष्ट्य है।

च्यवान भार्गव तथा सुकन्या मानवी का आख्यान भारतीय नारीचरित्र का एक नितान्त उज्ज्वल दृष्टान्त उपस्थित करता है। यह कथा ऋग्वेद के अश्विन् से सम्बद्ध अनेक सूक्तों में संकेतित है (१।११६, ११७ आदि)। यही कथा ताण्ड्य-ब्राह्मण (१४।६।११) में, निरुक्त (४।१९) में, शतपथ (काण्ड ४) में, तथा भागवत (स्कन्ध ९, अध्याय ३) में भी विस्तार से दी गई है। च्यवन का वैदिक नाम 'च्यवान' है। सुकन्या की वैदिक कहानी उसकी पौराणिक कहानी की अपेक्षा कहीं अधिक उदात्त और आदर्शमयी है। पुराण में सुकन्या ऋषि की चमकती हुई आँखों को छेदकर स्वयं अपराध करती है और इसके लिए उसे दण्ड मिलना स्वाभाविक ही है, परन्तु वेद में उसका त्याग उच्चकोटि का है; सैनिक बालकों के द्वारा किये गये अपराध के निवारण के लिए सुकन्या वृद्ध च्यवान ऋषि को आत्मसमर्पण करती है। उसके दिव्य प्रेम से प्रभावित होकर अश्विनों ने च्यवान को वार्धक्य से मुक्त कर दिया और उन्हें नूतन यौवन प्रदान किया।

तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि अनेक आख्यान कालान्तर में परिवर्तित मनोवृत्ति या विभिन्न सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के कारण अपने विशुद्ध रूप से नितान्त विकृत रूप धारण कर लेते हैं। विकाश की प्रक्रिया में अनेक अवान्तर घटनायें भी उस आख्यान के साथ संश्लिष्ट होकर उसे एक नया रूप प्रदान करती हैं, जो मूल आख्यान से नितान्त विरुद्ध सिद्ध होता है। शुनःशेप तथा वसिष्ठ-विश्वामित्र के कथानकों का अनुशीलन इस विचित्र सिद्धान्त के प्रदर्शन में दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। 'शुनःशेप' का आख्यान ऋग्वेद के प्रथम मण्डल (सूक्त २४, २५) में स्पष्टतः संकेतित है, जिसका विस्तार ऐतरेय (सप्तम पंचिका) में उपलब्ध होता है। यहाँ शुनःशेप का आख्यान आरम्भ में राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहिताश्व के साथ तथा कथान्त में ऋषि विश्वामित्र के साथ सम्बद्ध होकर एक भव्य नवीन रूप धारण कर लेता है। उसके अन्य दो भाइयों, उसके पिता के दारिद्र्य, उसके बेचने आदि की समस्त घटनायें कथानक में रोचकता लाने के लिए पीछे से गढ़ी गई प्रतीत होती हैं। 'शुनःशेप' का अर्थ भी कुत्ते से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, 'शुनः' का अर्थ है सुख, कल्याण तथा 'शेप' का अर्थ है स्तम्भ, खम्भा। अतः 'शुनःशेप' का अर्थ ही है 'सौख्य का स्तम्भ' और इस प्रकार यह कथानक वरुण के पाश से मुक्ति का सन्देश देता हुआ कल्याण के मार्ग को प्रशस्त बनाता है।

वसिष्ठ-विश्वामित्र का आख्यान ऋग्वेद में स्वतः संकेतित है। ये दोनों ऋषि सम्भवतः भिन्न-भिन्न समय में राजा सुदास के पुरोहित थे। ये उस युग के ऋषि हैं जो चातुर्वर्ण्य के क्षेत्र से बाहर माना जा सकता है। दोनों में परम सौहार्द तथा मैत्री की भावना का साम्राज्य विराजता है। दोनों तपस्या से पूत, तेज के पुञ्ज तथा अलौकिक शक्तिशाली महापुरुष हैं, परन्तु अवान्तर ग्रन्थों में—रामायण, पुराण, बृहद्देवता आदि में—दोनों के बीच एक महान् संघर्ष, वैमनस्य तथा विरोध की कल्पना का उदय मिलता है। विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मणत्व पाने के लिए लालायित, वसिष्ठ के द्वारा अनङ्गीकृत होने पर उनके पुत्रों के विनाशक के रूप में चित्रित किये गये हैं। इसी कल्पना के आधार पर आलोचकों ने ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच घोर विद्रोह का एक अमंगलमय दुर्ग खड़ा कर दिया है, जो वास्तव में निराधार, उपेक्षणीय तथा नितान्त भ्रान्त है। वैदिक आख्यान के स्वरूप से अपरिचित व्यक्ति ही इन पावनचरित्र ऋषियों के अवान्तर-कालीन वर्णनों से इस भ्रान्त निर्णय पर पहुँचता है कि प्राचीन भारत में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच महान् विरोध तथा संघर्ष था। यह वास्तव में निराधार कल्पना है। वैदिक आख्यानों का विकाश अवान्तर युग में किस प्रकार सम्पन्न हुआ; यह अध्ययन का एक गम्भीर विषय है। कतिपय आख्यानों के विकाश का इतिहास बड़े रोचक ढंग से कई विद्वानों ने वर्णन किया है[1]।

वैदिक आख्यान का तात्पर्य

आख्यानों का तात्पर्य क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में विद्वानों की पर्याप्त विमति है। अमेरिकन विद्वान् डा० ब्लूमफील्ड ने इस विषय की चर्चा करते हुए उन विद्वानों के मत का खण्डन किया है जिन्होंने इन आख्यानों की रहस्यवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ ये रहस्यवादी वैदिक पुरुरवा के आख्यान के भीतर एक गम्भीर रहस्य का दर्शन करते हैं। उनकी दृष्टि में पुरुरवा सूर्य और उर्वशी उषा है। उषा और सूर्य का परस्पर संयोग क्षणिक ही होता है। उनके वियोग का काल बड़ा ही दीर्घ होता है। वियुक्त सूर्य उषा की खोज में दिन भर उसके पीछे, घूमा करता है तब कहीं जाकर फिर दूसरे दिन प्रातः काल दोनों का समागम होता है। प्राचीन भारत के वैदिक विद्वानों की व्याख्या का यही रूप था। अतः इन आख्यानों को उनके मानवीय मूल्य से वञ्चित रखना कथमपि न्याय और उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

---

१. हरियप्पा—ऋग्वेदिक लीजेण्ड्स थ्रू दी एजेज—पूना, १९५३।

इन आख्यानों के अनुशीलन के विषय में दो तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है:—(क) ऋग्वेदीय आख्यान ऐसे विचारों को अग्रसर करते हैं और ऐसे व्यापारों का वर्णन करते हैं जो मानव समाज के कल्याण-साधन के नितान्त समीप हैं। इनका अध्ययन मानव-मूल्य के दृष्टिकोण से ही करना चाहिए। ऋग्वेदीय ऋषि मानव की कल्याणसिद्धि के लिए उपादेय तत्त्वों का समावेश इन आख्यानों के भीतर करता है। (ख) उसी युग के वातावरण को ध्यान में रखकर इनका मूल्य और तात्पर्य निर्धारण करना चाहिए; जिस युग में इन आख्यानों का आविर्भाव हुआ था। अर्वाचीन तथा नवीन दृष्टिकोण से इनका मूल्य-निर्धारण करना इतिहास के प्रति घोर अन्याय होगा। इन तथ्यों की आधारशिला पर ही आख्यानों की व्याख्या समुचित और वैज्ञानिक होगी।

आख्यानों की शिक्षा मानवसमाज के सामूहिक कल्याण तथा विश्वमंगल की अभिवृद्धि के निमित्त है। भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव और देव दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं। मनुष्य यज्ञों में देवों के लिए आहुति देता है, जो प्रसन्न होकर अभिलाषा पूर्ण करते हैं और अपने प्रसादों की वृष्टि उसके ऊपर निरन्तर करते हैं। इन्द्र तथा अश्विन् विषयक आख्यान इसके विशद दृष्टान्त हैं। यजमान के द्वारा दिये गये सोमरस का पान कर इन्द्र नितान्त प्रसन्न होते हैं और उसकी कामना को सफल बनाते हैं। अवर्षण के दैत्य (वृत्र) को अपने वज्र से छिन्न-भिन्न करके सब नदियों को प्रवाहित करते हैं। वृष्टि से मानव आप्यायित होते हैं, संसार में शान्ति विराजने लगती है। कालिदास ने इस वैदिक तथ्य को थोड़े शब्दों में रघुवंश (सर्ग ४) में बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है।

प्रत्येक आख्यान के अन्तस्तल में मानवों के शिक्षणार्थ तथ्य अन्तर्निहित हैं। अपाला आत्रेयी (ऋग्० ८।९१) का आख्यान नारीचरित्र की उदात्तता तथा तेजस्विता का विशद प्रतिपादक है। राजा त्र्यरुण त्रैवृष्ण और वृषजान का आख्यान (ऋग्० ५।२; ताण्ड्यब्रा० १३।३।१२; ऋग्विधान १२।५२; बृहद्देवता ५।१४–२३) वैदिककालीन पुरोहित की महत्ता और गरिमा का स्पष्ट संकेत करता है। सोभरि काण्व का आख्यान (ऋग्० ८।१९, ८।८१; निरुक्त ४।१५; भागवत ९।६) संगति के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। उषस्ति चाक्रायण (छन्दोग्य, प्रथम प्रपाठक, खण्ड १०–११) का आख्यान अन्न के सामूहिक प्रभाव तथा गौरव की कमनीय कथा है। श्यावाश्व आत्रेय की कथा (ऋग्० ५।६१) ऋषि के गौरव को, प्रेम की महिमा को तथा कवि की साधना को बड़ी सुन्दर

रीति से अभिव्यक्त करती है। ऋग्वेदीय युग की यह प्रख्यात प्रणय कहानी है, जिसमें प्रेम की सिद्धि के लिए श्यावाश्व तपस्या के बल पर मन्त्रद्रष्टा ऋषि बन जाते हैं। दध्यङ् आथर्वण का आख्यान (ऋग्० १।११६।१२; शतपथ १४।४।५।१३; बृहदारण्यक २।५, भागवतपुराण ६।१०) राष्ट्र के मंगल के लिए जीवन-दान की शिक्षा देकर हमें क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठने का और राष्ट्र के कल्याण करने का गौरवमय उपदेश देता है। पुराण में इन्हीं का नाम ऋषि दधीच है, जिन्होंने वृत्र को मारने के लिए इन्द्र को अपनी हड्डियाँ वज्र बनाने के लिए देकर आर्यसभ्यता की रक्षा की। अनधिकारी को रहस्य-विद्या के उपदेश का विषम परिणाम इस वैदिक आख्यान में दिखलाया गया है। इन सब आख्यनों का यही महनीय उपदेश है—ईश्वर में अटूट श्रद्धा तथा मानव से घनिष्ठ प्रेम। विश्व के कल्याण का यही मंगलमय मार्ग है।

कतिपय ऋषियों की चारित्रिक त्रुटियों का तथा अनैतिक आचरण का भी वर्णन वैदिक तथा तदनुसारी महाभारतीय और पौरणिक आख्यानों में उपलब्ध होता है; इनसे हमें उपदेश ग्रहण करना चाहिए। ये कथानक अनैतिक के गर्त में गिरने से बचाने के लिए ही निर्दिष्ट हैं। तपस्या से पवित्र जीवन में भी जब प्रलोभन के अवसर उपस्थित होने पर चारित्रिक पतन की सम्भावना हो सकती है, तब साधारण मानवों की कथा ही क्या ? कामिनी-काञ्चन का प्रलोभन उनके कच्चे हृदय को खींचने में कैसे नहीं समर्थ होगा ? फलतः इनसे हमें सदा जागरूक रहना चाहिए। इस विषय में महाभारत का यह कथन ध्यान देने योग्य है—

> **कृतानि यानि कर्माणि दैवतैर्मुनिभिस्तथा।**
> **न चरेत् तानि धर्मात्मा श्रुत्वा चापि न कुत्सयेत्॥**
> **अलमन्यैरुपालब्धैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः।**
> **पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः॥**
>
> (महाभारत १२।२९१।१७)

धर्मात्मा व्यक्ति का कर्तव्य होना चाहिए कि वह देवता और मुनियों के द्वारा किये गये लोकविरुद्ध कर्मों को न करे और सुनकर भी उनकी निन्दा न करे। दूसरों को उलाहना देने से लाभ क्या ? उनके चरित में देखे गये अतिक्रमों के कीर्तन से फल ही क्या होगा ? जो हित हमारे लिए शोभन तथा अनुरूप हो उसे ही करना चाहिए। महाभारत के इन सारगर्भित वचनों को सदा ध्यान में रखकर हमें अपना हित-चिन्तन करना चाहिए, दूसरों की निन्दा से लाभ ही क्या ?

वैदिक और लौकिक साहित्य का अन्तर

वैदिक साहित्य के अनन्तर लौकिक संस्कृत में निबद्ध साहित्य का उदय होता है। लौकिक संस्कृत में लिखा गया साहित्य विषय, भाषा, भाव आदि की दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। लौकिक साहित्य वैदिक साहित्य से आकृति, भाषा, विषय तथा अन्तस्तत्त्व की दृष्टि से नितान्त पार्थक्य रखता है।

(क) विषय—वैदिक साहित्य मुख्यतया धर्मप्रधान साहित्य है। देवताओं को लक्ष्य कर यज्ञ याग का विधान तथा उनकी कमनीय स्तुतियाँ इस साहित्य की विशेषताएँ हैं; परन्तु लौकिक संस्कृत साहित्य, जिसका प्रसार प्रत्येक दिशा में दीख पड़ता है, मुख्यतया लोकवृत्त प्रधान है; पुरुषार्थ के चारों अङ्गों में अर्थ-काम की ओर इसकी प्रवृत्ति विशेष दीख पड़ती है। उपनिषदों के प्रभाव से इस साहित्य के भीतर नैतिक भावना का महान् साम्राज्य है। धर्म का वर्णन भी है, परन्तु यह धर्म वैदिक धर्म पर अवलम्बित होने पर भी कई बातों में कुछ नूतन भी है। ऋग्वेदकाल में जिन देवताओं की प्रमुखता थी अब वे गौणरूप में ही वर्णित पाये जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना पर ही अधिक महत्त्व इस युग में दिया गया। नये देवताओं की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार प्रतिपाद्य विषय का अन्तर इस साहित्य में स्पष्ट दीख पड़ता है।

(ख) आकृति—लौकिक साहित्य जिस रूप में हमारे सामने आता है वह वैदिक साहित्य के रूप से अनेक अंशों में भिन्नता रखता है। वैदिक साहित्य में गद्य की गरिमा स्वीकृत की गई है। तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता तथा मैत्रायणी संहिता से ही वैदिक गद्य आरम्भ होता है। ब्राह्मणों में गद्य का ही साम्राज्य है। प्राचीन उपनिषदों में भी उदात्त गद्य का प्रयोग मिलता है, परन्तु लौकिक साहित्य के उदय होते ही गद्य का ह्रास आरम्भ हो जाता है। वैदिक गद्य में जो सौन्दर्य दीख पड़ता है वह लौकिक संस्कृत के गद्य में दिखलाई नहीं पड़ता। अब तो गद्य का क्षेत्र केवल व्याकरण और दर्शन शास्त्र तक ही सीमित रह जाता है, परन्तु वह गद्य दुरूह, प्रसादविहीन तथा दुर्बोध भी है। इस युग में पद्य की प्रभुता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ज्योतिष और वैद्यक जैसे वैज्ञानिक विषयों का भी वर्णन छन्दोमयी वाणी में ही किया गया है। साहित्यिक गद्य केवल कथानक तथा गद्यकाव्यों में ही दीख पड़ता है, परन्तु क्षेत्र के सीमित होने के कारण यह गद्य वैदिक गद्य की अपेक्षा कई बातों में हीन तथा न्यून प्रतीत होता है। पद्य की रचना जिन छन्दों में की गई है, वे छन्द भी वैदिक छन्दों से भिन्न ही हैं।

पुराणों तथा रामायण महाभारत में विशुद्ध 'श्लोक' का ही विशाल साम्राज्य विराजमान है, परन्तु पिछले कवियों ने साहित्य में नाना प्रकार के छोटे बड़े छन्दों का प्रयोग विषय के अनुसार किया है। वेद में जहाँ गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती का प्रचलन है वहाँ उक्त संस्कृत में उपजाती, वंशस्थ और वसन्ततिलका विराजती है। लौकिक छन्द वैदिक छन्दों से ही निकले हुए हैं, परन्तु इनमें लघु-गुरु के विन्यास को विशेष महत्त्व दिया गया है।

(ग) **भाषा**—भाषा की दृष्टि से भी यह साहित्य पूर्वयुग में लिखे गये साहित्य की अपेक्षा भिन्न है। इस युग की भाषा के नियामक तथा शोधक महर्षि पाणिनी हैं, जिनकी अष्टाध्यायी ने लौकिक संस्कृत का भव्य विशुद्ध रूप प्रस्तुत किया। इस युग के नियमों की मान्यता उतनी आवश्यक नहीं थी। इसीलिये रामायण, महाभारत तथा पुराणों में बहुत से 'आर्ष' प्रयोग मिलते हैं, जो पाणिनी के नियमों से ठीक नहीं उतरते। पिछली शताब्दियों में तो पाणिनी तथा उनके अनुयायियों की प्रभुता इतनी जम जाती है कि 'अपाणिनीय' प्रयोग के आते ही भाषा अत्यधिक खटकने लगती है। 'च्युत-संस्कारता' के नित्यदोष माने जाने का यही तात्पर्य है। आशय यह है कि वैदिक काल में संस्कृत भाषा व्याकरण के नपे-तुले नियमों से जकड़ी हुई नहीं थी, परन्तु इस युग में व्याकरण के नियमों से बँध कर वह विशेष रूप से संयत कर दी गयी है।

(घ) **अन्तस्तत्त्व**—वैदिक साहित्य में रूपक की प्रधानता है। प्रतीक रूप से अनेक अमूर्त भावनाओं की मूर्त कल्पना प्रस्तुत की गयी है, परन्तु लौकिक साहित्य में अतिशयोक्ति की ओर अधिक अभिरुचि दीख पड़ती है। पुराणों के वर्णन में जो अतिशयोक्ति दीख पड़ती है वह पौराणिक शैली की विशेषता है। वैदिक तथा पौराणिक तत्त्वों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, भेद शैली का ही है। वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध इन्द्र-वृत्र युद्ध अकाल दानव के ऊपर वर्षा-विजय का प्रतिनिधि है। पुराणों में भी उसका यही अर्थ है, परन्तु शैली-भेद होने से दोनों में पार्थक्य दीख पड़ता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस वैदिक युग में विकसित होकर अत्यन्त आदरणीय माना जाने लगा। ऐसी अनेक कहानियाँ मिलेंगी जिसका नायक कभी तो पशुयोनि में जन्म लेता है और वही कभी पुण्य के अधिक संचय होने के कारण देवलोक में जाकर विराजने लगता है। साहित्य मानव समाज का प्रतिबिम्ब हुआ करता है—इस सत्य का परिचय लौकिक संस्कृत साहित्य के अध्ययन से भली-भाँति मिलता है। मानव-जीवन से सम्बद्ध तथा उसे सुखद बनाने वाला शायद ही कोई विषय होगा जो

इस साहित्य से अछूता बच गया हो। पूर्वकाल में जहाँ पर नैसर्गिकता का बोल-चाला था, वहाँ अब अलंकृति की अभिरुचि विशेष बढ़ने लगी। अलंकारों की प्रधानता का यही कारण है। इस प्रकार अनेक मौलिक पार्थक्य वैदिक तथा लौकिक साहित्य में विद्यमान हैं।

कतिपय अन्य भिन्नतायें भी दृष्टिगोचर होती हैं—

(१) वैदिक साहित्य तत्कालीन जनभाषा का साहित्य है, संस्कृत भाषा का काव्य साहित्य अभिजातवर्ग की साहित्यिक भाषा का साहित्य है। (२) वैदिक साहित्यिक में प्राकृतिक शक्तियों का कीर्तन है, परन्तु संस्कृत का साहित्य मानव-जीवन का साहित्य है। (३) वैदिक साहित्य ग्राम्यजीवन का साहित्य है, जब आर्य लोग पशुपालन तथा कृषि के द्वारा अपनी जीविका अर्जन करते थे; संस्कृत साहित्य नागरिक जीवन का साहित्य है, जब बड़े-बड़े राजाओं के वैभव से महनीय नगरों की स्थापना की गई और जीविका के साधनों में पर्याप्त विस्तार हो गया। (४) वैदिक साहित्य उस समाज का चित्रण है जिसमें आर्य और दस्यु, विजेता तथा विजित इन दो वर्गों की ही सत्ता थी; संस्कृत का साहित्य चातुर्वर्ण्य का साहित्य है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के अधिकारों का अलग-अलग निर्धारण कर दिया गया था, तथा ये परस्पर सामञ्जस्य के साथ अपना जीवन बिताते थे। (५) वैदिक साहित्य कल्पना तथा भावना के विशुद्ध रूप पर आश्रित होने वाला साहित्य है, जहाँ कल्पना नैसर्गिक रूप में प्रवाहित होकर हृदय के भावों का अनाविल रूप चित्रित करती है; संस्कृत का साहित्य कलात्मक साहित्य है, जिसमें कला और शास्त्र का, प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति का, मौलिक कल्पना और शास्त्र-नैपुण्य का संमिश्रण रचना का मुख्य आधार है (द्रष्टव्य हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृष्ठ १९६–१९७)।

गाथा का विवरण

[गाथा वैदिक साहित्य में प्रयुक्त, एक विशेष अर्थ का सूचक शब्द है। यह केवल वेद तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत अन्य प्राचीन भारतीय तथा भारतेतर वाङ्मय में भी प्रयुक्त किया गया है। ऐतिहासिक विकास को दृष्टि में रखकर उसका यह तुलनात्मक तथा गवेषणात्मक विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।]

वैदिक साहित्य का यह महत्त्वपूर्ण शब्द ऋग्वेद की संहिता में केवल गीता या मन्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (ऋग्वेद ८।३२।१।८।७१।१४)। गै (गाना) धातु से निष्पन्न होने के कारण 'गीत' ही इसका व्युत्पत्तिलभ्य तथा प्राचीन अर्थ

प्रतीत होता है। 'गाथ' शब्द की उपलब्धि होने पर भी आकारान्त शब्द का ही प्रयोग लोकप्रिय है (ऋग्०।१।१९।४)। 'गाथा' शब्द से बने हुए शब्दों की सत्ता इसके बहुत प्रयोग की सूचिका है। 'गाथानी' एक गीत का नायकत्व करनेवाले व्यक्ति के लिये प्रयुक्त है (ऋग्वेद १।४३।४)। 'ऋजुगाथ' शुद्ध रूप से मन्त्रों के गायन करने वाले के लिये (ऋग्वेद ८।९२।२) तथा 'गाथिन्' केवल गायक के अर्थ में व्यवहृत किया गया है (ऋग्० ५।४४।५)। यद्यपि इसका पूर्वोक्त सामान्य अर्थ ही बहुशः अभीष्ट है, तथापि ऋग्वेद के इस मन्त्र में इसका अपेक्षाकृत अधिक विशिष्ट आशय है, क्योंकि यहाँ यह 'नाराशंसी' तथा 'रैभी' के साथ वर्गीकृत किया गया है।

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।
सूर्याया भद्रमिद् वासो गाथयैति परिष्कृतम्॥

(ऋग्वेद १०।८५।६।)

यह सहवर्गीकरण ऋक्-संहिता के बाद अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी बहुशः उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय-संहिता ।७।५।११।२ः काठकसंहिता ५।२; ऐतरेय-ब्राह्मण ६।३२; कौषीतकि-ब्राह्मण ३०।५; शतपथ-ब्राह्मण ११।५।६।८, जहाँ 'रैभी' नहीं आता, तथा गोपथ-ब्राह्मण २।६।१२। इन तीनो शब्दों के अर्थ के विषय में विद्वानों में मतभेद है। भाष्यकार सायण ने इन तीनों शब्दों का अर्थ वेद के कतिपय मन्त्रों के साथ समीकृत किया है। अथर्ववेद के २०वें काण्ड, १२७वें सूक्त का १२वाँ मन्त्र 'गाथा'; इसी सूक्त का १-३ मन्त्र नाराशंसी तथा ४-६ मन्त्र 'रैभी' बतलाया गया है। इस समीकरण को डाक्टर ओल्डेनबर्ग ऋग्वेद की दृष्टि में दोषपूर्ण मानते हैं, परन्तु डाक्टर ब्लूमफील्ड की दृष्टि में यह समीकरण ऋक्-संहिता में स्वीकृत किया गया है। ब्राह्मण साहित्य के अनुशीलन से 'गाथा' के लक्षण और स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ऐतरेय-ब्राह्मण की दृष्टि में (ऐ० ब्रा० ७।१८।) मन्त्रों के विविध प्रकार में 'गाथा' मानव से संबन्ध रखती है, जब 'ऋच्' देव से सम्बन्ध रखता है, अर्थात् गाथा मानवीय होने से और ऋच् देवी होने से परस्पर भिन्न तथा पृथक् मन्त्र हैं। इस तथ्य की पुष्टि शुनःशेप आख्यान के लिये प्रयुक्त 'शतगाथम्' (सौ गाथावों में कहा गया) शब्द से पर्याप्त रूपेण होती है। क्योंकि शुनःशेप अजीगर्त ऋषि का पुत्र होने से मानव था। जिसकी कथा ऋग्वेद (१।२४ः, १।२५ आदि) के अनेकसूक्तों में दी गई है। इन सूक्तों के मन्त्रों की संख्या सौ के आस पास है। इसीलिये ऐतरेय-ब्राह्मण की दृष्टि में 'गाथा' शब्द मनुष्य तथा मनुष्योचित विषयों के द्योतक मन्त्र के

लिये स्पष्टतः प्रयुक्त हुआ है। ऐतरेय आरण्यक (२।३।६) गाथा को ऋच् तथा कुम्भ्या से भिन्न तथा पृथक् मन्त्र का एक प्रकार मानता है, जिससे गाथा के पद्य-बद्ध होने का पर्याप्त संकेत मिलता है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से गाथाएँ यद्यपि धर्म से सम्बद्ध विषयों की अभिव्यक्ति के कारण धार्मिक ही हैं, परन्तु वेदों के सांस्कारिक साहित्य में ऋक्, यजुष् तथा सामन् की तुलना में अवैदिक कही गई हैं, अर्थात् उस युगमें ये मन्त्र नहीं मानी जाती थीं। मैत्रायणी संहिता (३।७।३) का कथन है कि विवाह के समय गाथा आनन्द प्रदान करती है। और गृह्यसूत्रों (आश्वलायन, आपस्तम्ब आदि) में अनेक गाथायें दी गई हैं, जिन्हें विवाह के शुभ अवसर पर वीणा पर गाया जाता था। ऐतरेय-ब्राह्मण के ऐन्द्र महाभिषेक के प्रसङ्ग में (८।२१।२३) यज्ञ में विशाल दान देनेवाले तथा विशिष्ट पुरोहित के द्वारा अभिषिक्त किये जानेवाले प्रसिद्ध राजाओं की स्तुति में अनेक प्राचीन गाथाएँ उद्धृत की गई हैं, जो पुराणों के तत्तत् प्रसङ्ग में भी उपलब्ध होती हैं। शतपथब्राह्मण (१३।५-४) में भी ऐसी दानपरक गाथाएँ सुरक्षित हैं। पिछले युग में गाथा तथा नाराशंसी (किसी राजा की दानस्तुती में प्रयुक्त) ऋचायें प्रायः समानार्थक ही मानी जाने लगीं, परन्तु मूलतः दोनों में पार्थक्य है। गाथा गेय मन्त्रों का सामान्य अभिधान है जिसके अन्तर्गत नाराशंसी का अंतर्भाव मानना सर्वथा न्याय्य है। इस तथ्य की पुष्टि ऐतरेय आरण्यक (२।३।६) के सायण-भाष्य से होती है। सायण ने यहाँ "प्रातः प्रातर् अनृतं ते वदन्ति" (सबेरे-सबेरे वे झूठ बोलते हैं) को गाथा का उदाहरण दिया है, जो स्पष्टतः नाराशंसी नहीं है।

'गाथा' की भाषा वैदिक मन्त्रों की भाषा से भिन्न है। इससे वेद के विषय वैयाकरण रूपों का सर्वथा अभाव है, तथा पदों का सरलीकरण ही स्फुट तथा अभिव्यक्त होता है। गाथाओं के कतिपय उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है। अथर्ववेद (२०।१२७।९)—

कतरत् त आहराणि दधिमन्थां परिश्रुतम्।
जाया पतिं विपृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परीक्षितः॥

यह मन्त्र प्रसिद्ध कुन्ताप-सूक्तों के अन्तर्गत आया है, परन्तु इसकी शैली तथा वर्ण्य विषय का प्रकार इसे गाथा सिद्ध कर रहा है।

ऐतरेय-ब्राह्मण की राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत से सम्बद्ध गाथायें—

हिरण्येन परिवृतान् शुक्लदतो मृगान्।
मष्णारे भरतोऽददाच्छतं बद्वानि सप्त च॥
भरतस्यैष दौष्यन्तेरग्निः साचीगुणे चितः।
यस्मिन् सहस्रं ब्राह्मणा बद्वशो गा विभेजिरे॥ (८।४)

यहाँ ये 'श्लोक' नाम से अभिहित होने पर भी प्राचीन गाथा में हैं, जो परम्परा से प्राप्त होती पुराणों तक चली आती हैं। ऐसी कितनी ही गाथायें ब्राह्मण-ग्रन्थों में उद्धृत की गई हैं।

जैन तथा बौद्ध धर्म में भी महावीर और गौतम बुद्ध के उपदेशों का निष्कर्ष उपस्थित करने वाले पद्य गाथा नाम से विख्यात हैं। जैन गाथाएँ अर्धमागधी में तथा बौद्ध गाथाएँ पाली भाषा में हैं। इनको हम उन महा-पुरुषों के मुखोद्गत साक्षात् वचन होने के गौरव से वंचित नहीं कर सकते। तथागत की ऐसी ही उपदेशमयी गाथाओं का लोकप्रिय संग्रह 'धम्मपद' है, तथा जातकों की कथा का सार प्रस्तुत करने वाली गाथाएँ प्रायः प्रत्येक जातक के अन्त में उपलब्ध होती हैं। संस्कृत की 'आर्या' के समान पालि तथा प्राकृत में गाथा एक विशिष्ट छन्द का द्योतक है।

'थेरगाथा' तथा 'थेरीगाथा' की गाथाओं में हम संसार के भोग-विलास का परित्याग कर संन्यस्त जीवन बिताने वाले थेरों (स्थविर) तथा थेरियों (स्थविरा) के मार्मिक अनुभूतियों का संकलन पाते हैं। 'हाल' की 'गाहा सतसई' प्राकृत में निबद्ध गाथाओं का एक नितान्त मंजुल तथा सरस संग्रह है।

गाथा (अवेस्ता)—गाथा का पारसियों के अवेस्ता ग्रन्थ से भी बड़ा अन्तरंग सम्बन्ध है। अवेस्ता की गाथा का भी वही अर्थ है जो वैदिक गाथा का गेय मन्त्र या गीतिका। ये संख्या में पाँच हैं, जिनके भीतर १७ मन्त्र सम्मिलित माने जाते हैं। ये पाँचों छन्दों की दृष्टि से वर्गीकृत हैं और अपने आदि अक्षर के अनुसार विभिन्न नामों से विख्यात हैं। गाथा अवेस्ता का प्राचीनतम अंश है, जो रचना की दृष्टि से भी अत्यन्त महनीय मानी जाती है। इसके भीतर पारसी धर्म के सुधारक तथा प्रतिष्ठापक जरथुस्त्र मानवीय और ऐतिहासिक रूप में अपनी अभिव्यक्ति पाते हैं। यहाँ उनका काल्पनिक रूप, जो अवेस्ता के अन्य अंशों में प्रचुरता से उपलब्ध होता है, नितान्त सत्ताहीन है। यहाँ वे ठोस जमीन पर चलने वाले मानव हैं, जिनमें जगत् के कार्यों के प्रति आशा-निराशा और हर्ष-विषाद की स्पष्ट छाया प्रतिबिम्बित होती है। एक अद्वितीय ईश्वर के प्रति उनकी आस्था नितान्त दृढ़ है, जो जीवन के गतिशील परिवर्तनों में भी अपनी एकता तथा सत्ता दृढ़ता से बनाये रहती है।

बाह्य रूप—गाथा की भाषा अवेस्ता के अन्य भागों की भाषा से वाक्य-विन्यास, शैली तथा छन्द की दृष्टि से नितान्त भिन्न है। विद्वानों ने अवेस्ता की भाषा को दो स्तरों में विभक्त किया है—(१) गाथा अवेस्तन तथा (२) अर्वाचीन अवेस्तन। इनमें से प्रथम में प्राचीनतम भाषा का परिचय इन गाथाओं के

अनुशीलन से मिलता है, जो अपने वैयाकरण रूपसंपत्ति में आर्ष हैं और इस प्रकार वैदिक संस्कृत से समानता रखती हैं। द्वितीय भाषा अवान्तर काल में विकसित होने वाली भाषा है, जो सामान्य संस्कृत भाषा के समान कही जा सकती है। गाथा की शैली रोचक है। फलतः अवेस्ता के पिछले भागों की पुनरावृत्ति तथा समरसता के कारण उद्वेजक शैली से यह शैली नितान्त भिन्न है। छन्द भी वैदिक छन्दों के समान ही प्राचीन हैं। विषय धर्म-प्रधान होने पर भी पदों के रोचक विन्यास के कारण इन गाथाओं का साहित्यिक सौन्दर्य कम नहीं है। नपे तुले शब्दों में रचित होने के कारण ये गेय प्रतीत होती हैं। पिशल तथा गेल्डनर का मत है कि इन गाथाओं में तार्किक कार्य-कारण के सम्बन्ध का अभाव नहीं है; तथापि फुटकल हैं और जरथुस्त्र के उपदेशों का सार प्रस्तुत करने वाले उनके साक्षात् वचन हैं; जिन्हें उन्होंने अपने शिष्य बाख्त्री (बैक्ट्रिया) के शासक, राजा विश्तास्प से कहा था। पैगम्बर के अपने वचन होने से इनकी पवित्रता तथा महत्ता की कल्पना स्वतः की जा सकती है।

अन्तस्तत्त्व—जरथुस्त्र ने इन गाथाओं में अनेक देवताओं की भावना की बड़ी निन्दा की है, तथा सर्वशक्तिमान् ईश्वर के, जिसे वे अहुरमज्द (असुर महान्) के अभिधान से पुकारते हैं, आदेश पर चलने के लिये पारसी प्रजा को आज्ञा दी है। वे एकेश्वरवादी इतने पक्के थे कि उन्होंने उस सर्वशक्तिमान् के लिये 'अहुरमज्द' नाम के अतिरिक्त अन्य नामों का सर्वथा निषेध किया है। गाथा का स्पष्ट कथन है—

तेम्ने जस्ताईस आमेतो ईस् मिमघ्जो।
ये आन्मेनी यज्दाओ स्नावि अहूरो॥

(गाथा ४५।१०)

अर्थात् हम केवल उसी को पूजते हैं जो अपने धर्म के कार्यों से और अहुरमज्द के नाम से विख्यात है। जरथुस्त्र ने स्पष्ट शब्दों में ईश्वर के ऊपर अपनी दृढ़ आस्था इस गाथा में प्रकट की है।

नो इत् मोई वास्था क्षमत् अन्या।

(गाथा २९।१)

इसका स्पष्ट अर्थ है कि भगवान् के अतिरिक्त मेरा अन्य कोई रक्षक नहीं है। इतना ही नहीं, इस गाथा में आगे चलकर वे कहते हैं—

"मजदाओ सखारे मइरी श्तो" (गाथा २९।४), अर्थात् केवल मज्दा ही एकमात्र उपास्य हैं; इनके अतिरिक्त कोई भी अन्य देवता उपासना के योग्य नहीं है। अहुरमज्द के साथ उनके छः अन्य रूपों की भी कल्पना इन

गाथाओं में की गई है। ये वस्तुतः आरम्भ में गुण ही हैं, जिन षड्गुणों से युक्त अहुरमज्द की कल्पना 'षाड्गुण्य विग्रह' भगवान् विष्णु से विशेष मिलती है। अवेस्ता के अन्य अंशों में वे देवता अथवा फरिश्ता बना दिये गये हैं और **'आमेषा स्पेन्ता'** (पवित्र अमर शक्तियाँ) के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके नाम तथा रूप का परिचय इस प्रकार है—

(१) अस (वैदिक ऋतम्)=संसार की नियामक शक्ति।
(२) वोहुमनो (भला मन)=प्रेम तथा पवित्रता।
(३) स्पेन्त आर्मे इति=धार्मिक एक निष्ठा।
(४) क्षथ्रव इर्ये (क्षत्रवीर्य)=प्रभुत्व का सूचक।
(५) हऊ वर्तात्=संपूर्णता का सूचक।
(६) अमृततात्=अमरता, या अमृतत्व।

जरथुस्त्र ने इन छहों गुणों से युक्त अहुरमज्द की आराधना करने का उपदेश दिया, तथा 'आतश' (अग्नि) को भगवान् का भौतिक रूप मानकर उनकी रक्षा करने की आज्ञा ईरानी जनता को दी। 'गाथा अहुनवैती' में जरथुस्त्र का अन्य दार्शनिक सिद्धान्त भी सुगमता के साथ प्रतिपादित किया गया है। वह है सत् और असत् के परस्पर संघर्ष का तत्त्व, जिसमें सत्-असत् को दबाकर आध्यात्मिक जगत् में अपनी विजय उद्घोषित करता है। सत्-असत् के इस परस्पर विरोधी युगल की संज्ञा है—**अहुरमज्द** तथा **अह्रिमान**। अह्रिमान असत् शक्ति (पाप) का प्रतीक है तथा अहुरमज्द सत्-शक्ति (पुण्य) का प्रतिनिधि है। प्राणी मात्र का कर्तव्य है कि वह अह्रिमान के प्रलोभनों से अपने को बचाकर अहुरमज्द के आदेश का पालन करता हुआ अपना अभिनन्दनीय जीवन बिताए, क्योंकि पाप की हार और पुण्य की विजय अवश्यंभावी है। इस प्रकार रहस्यानुभूतियों से परिपूर्ण ये गाथाएँ विषयी-प्रधान उपदेशों के कारण पारसी धर्म में अपनी उदात्त आदर्शवादिता के लिए सर्वदा से प्रख्यात हैं। इन गाथाओं में चित्रित आदर्श अद्वैतवाद से पृथक् नहीं है। अद्वैतवाद के भारतीय आन्दोलन के पूर्व ही जरथुस्त्र का उस दिशा में आकर्षण मनोरंजक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—मैकडानल तथा कीथ : वैदिक इंडेक्स (हिन्दी अनुवाद काशी (१९६२)। जैक्सन : दी प्राफेट-जरथुष्ट्र (अमेरिका); जे० एम० चैटर्जी : एथिकल कन्शेप्सन आव दि गाथा (कलकत्ता); डाक्टर तारापुर वाला : गाथाज-देयर फिलासफी (बम्बई)।

———

*

दशम परिच्छेद

वेदाङ्ग

'वेदाङ्ग' का अर्थ तथा महत्त्व

'अङ्ग' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'उपकारक'—"अंग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि", अर्थात् जिनके द्वारा किसी वस्तु के स्वरूप को जानने में सहायता प्राप्त होती है उन्हें 'अङ्ग' कहते हैं। वेद स्वयं एक दुरूह विषय ठहरा, भाषा तथा भाव दोनों की दृष्टि से। अत एव वेद का अर्थ जानने में, उसके कर्मकाण्ड के प्रतिपादन में तथा इस प्रकार की सहायता देने में जो उपयोगी शास्त्र हैं उन्हें 'वेदाङ्ग' के नाम से पुकारते हैं। वेद के यथार्थ ज्ञान के लिए छः विषयों को जानने की नितान्त आवश्यकता है। वेद के मन्त्रों का ठीक-ठीक उच्चारण प्रथम आवश्यक वस्तु है। शब्दमय मन्त्रों के यथार्थ उच्चारण को सर्वप्रथम महत्त्व दिया गया है। इस उच्चारण के निमित्त प्रवर्तमान वेदाङ्ग 'शिक्षा' कहलाता है। वेद का मुख्य प्रयोजन वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-याग का यथार्थ अनुष्ठान है। इसके लिए प्रवृत्त होने वाला अङ्ग 'कल्प' कहलाता है। 'कल्प' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—यज्ञ के प्रयोगों का समर्थक शास्त्र, (कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र=अर्थात् जिसमें यज्ञ के प्रयोगों का समर्थन या कल्पना की जाय)। व्याकरण-शास्त्र पदों की प्रकृति तथा प्रत्यय का उपदेश देकर पद के स्वरूप का परिचय कराता है और उसके अर्थ का भी निश्चय कराता है। फलतः पदस्वरूप और पदार्थ निश्चय के निमित्त 'व्याकरण' का उपयोग होने से वह भी 'वेदाङ्ग' है। 'निरुक्त' का काम है पदों की निरुक्ति बतलाना, पदों की व्युत्पत्ति सिखाना। निरुक्ति की भिन्नता से अर्थ की भिन्नता होती है। इसलिए वेद के अर्थ-निर्णय के लिए 'निरुक्त' की वेदाङ्गता सम्पन्न होती है। वेद छन्दोमयी वाणी है। फलतः छन्दों से परिचय पाने पर ही मन्त्रों के उच्चारण और पाठ का ज्ञान हमें हो सकता है। वरुण के विषय में शुनःशेप ऋषि का यह प्रख्यात मन्त्र है—

> **निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।**
> **साम्राज्याय सुक्रतुः ॥**

(१।२५।१०)

यह त्रिपदा गायत्री है जिसके प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। छन्द की यह जानकारी मन्त्र के उच्चारण के लिए नितान्त आवश्यक है। द्वितीय और तृतीय चरण में आपाततः सात ही अक्षर हैं। अत एव इसे अष्टपदा बनाने के लिए 'परस्यास्वा' का उच्चारण चार अक्षरों वाला होना चाहिए—'परस्या-सु-आ' (१ २ ३ ४) 'साम्राज्याय' के चार अक्षरों को पाँच अक्षरों वाला बनाने के लिए 'राज्याय' को विभक्त करना पड़ेगा—'साम्राजि आ य' (१ २ ३ ४ ५)। इसी प्रकार छन्द का ज्ञान मन्त्रों के उच्चारण के लिए बहुत ही आवश्यक होता है। छन्द की वेदाङ्गता इसी हेतु है। ज्योतिष यज्ञ-याग के उचित समय का निर्देश करता है। श्रौत याग का अनुष्ठान विशिष्ट ऋतु में किसी विशिष्ट नक्षत्र में होना चाहिए। विवाह जैसे गृह्य-कर्म के लिए नक्षत्र का ज्ञान ज्योतिष से ही हमें प्राप्त हो सकता है। दीक्षा का विधान कर्मकाण्ड का एक आवश्यक विषय है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है (१।१।२।१) की कृत्तिका में अग्नि का आधान करना चाहिए (कृत्तिकास्वग्निमादधीत)। फाल्गुनी पूर्णमास में दीक्षा का विधान है। वसन्त में ब्राह्मण के लिए अग्नि का आधान विहित है, ग्रीष्म में क्षत्रिय के लिए तथा शरद में वैश्य के लिए। इस प्रकार नक्षत्र, तिथि, मास तथा संवत्सर की जानकारी वैदिक कर्मकाण्ड के लिए आवश्यक है। इसी लिए 'ज्योतिष' की वेदाङ्गता है।

(संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मन्त्रों के उचित उच्चारण के लिए शिक्षा का, कर्मकाण्ड और यज्ञीय अनुष्ठान के लिए कल्प का, शब्दों के रूप ज्ञान के लिए व्याकरण का, अर्थ ज्ञान के लिए शब्दों के निर्वचन के निमित्त निरुक्त का, वैदिक छन्दों की जानकारी के लिए छन्द का तथा अनुष्ठानों के उचित काल-निर्णय के लिए ज्योतिष का उपयोग है और इनकी उपयोगिता के कारण ये छहों 'वेदाङ्ग' माने जाते हैं।)

वेद हमारे भारतीय धर्म का प्रधान पीठ है तथा अतिशय आदर, सम्मान एवं पवित्रता की दृष्टि से देखा जाता है। यह बात उसके उदयकाल के कुछ ही पीछे सम्पन्न हो गई। वेद का अक्षर-अक्षर पवित्र माना जाने लगा तथा उसका परिवर्तन तथा स्वरूपतः च्युति महान् अनर्थ का कारण समझी जाती थी। वेद के स्वरूप तथा अर्थ के संरक्षण के निमित्त ही वेदाङ्ग साहित्य का उदय हुआ। इस सहायक साहित्य का जन्म उपनिषद्-काल में ही हो गया था, क्योंकि छहों वेदाङ्गों के नाम तथा क्रम का वर्णन मुण्डकोपनिषद् (१।१।५) में हमें सबसे पहिले मिलता है। अपरा विद्या के अन्तर्गत वेदचतुष्टय के अनन्तर वेद के षट्

अङ्गों का नामोल्लेख किया गया है। उनके नाम तथा क्रम हैं—(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छन्द, (६) ज्योतिष। इनमें प्रत्येक का अपना निजी वैशिष्ट्य है।

(१) शिक्षा

वेदाङ्गों में शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह वेदरूपी पुरुष का प्राण कही गई है। जिस प्रकार सब अङ्गों के परिपुष्ट तथा सुन्दर होने पर भी प्राण के बिना पुरुष-शरीर नितान्त गर्हणीय तथा अशोभन प्रतीत होता है, उसी प्रकार शिक्षा नामक वेदाङ्ग से विरहित होने पर वेदपुरुष का स्वरूप नितान्त असुन्दर तथा बीभत्स दीख पड़ता है। शिक्षा का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है वह विद्या जो स्वर, वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे[1]। वेद के अध्ययन की प्रणाली यह है कि पहले गुरु किसी मन्त्र का उच्चारण स्वयं करता है और शिष्य इस उच्चारण को सुनकर स्वयं उसका अनुसरण करता है। इसीलिए वेद का एक सार्थक नाम है अनुश्रवः—अनु पश्चात् श्रूयते यः स अनुश्रवः—अर्थात् वह वस्तु जो गुरु के उच्चारण करने के अनन्तर सुनी जाय। इसीलिए लिपिबद्ध ग्रन्थ के आधार पर वेद पढ़नेवाला पाठक निन्दा का पात्र समझा जाता है। जिन पाठकर्ताओं की निन्दा शास्त्र में की गई है उनमें यह 'लिखित पाठक'[2] भी अन्यतम है।

वेद के उच्चारण को ठीक-ठीक करने के लिए स्वर के ज्ञान की नितान्त आवश्यकता रहती है। स्वर तीन प्रकार के होते हैं—(क) उदात्त, (ख) अनुदात्त और (ग) स्वरित। इनमें उदात्त ऊँचे स्वर से उच्चरित होता है। इसीलिये पाणिनि ने इसे 'उच्चैरुदात्तः' कहा है। अनुदात्त का धीमे स्वर से उच्चारण किया जाता है तथा स्वरित उदात्त और अनुदात्त के बीच की अवस्था का प्रतिनिधि है। पाणिनि की शब्दावली में इन दोनों के लक्षण हैं—'नीचैरनुदात्तः; समाहारः स्वरितः'। साधारणतया नियम यह है कि वेद के प्रत्येक शब्द में कोई न कोई

---

१. "स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा" सायण—ऋग्वेदभाष्य-भूमिका, पृ० ४९।

२. गीती शीघ्री शिरः कम्पी तथा लिखित-पाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥

(पाणिनीय शिक्षा, श्लोक ३२)

स्वर उदात्त अवश्य रहेगा और शेष स्वर अनुदात्त रहते हैं[1], तथा इन्हीं अनुदात्तों में से कोई अनुदात्त स्वर विशिष्ट परिस्थितियों में स्वरित के रूप में परिवर्तित हो जाता है। स्वरशास्त्र (फोनोलाजी) का इतना अनुशीलन वेद को छोड़कर अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता।

(वेद में स्वरों की प्रधानता का एक मुख्य कारण भी है और वह है अर्थ-नियामकता।) अर्थात् शब्द के एक होने पर भी स्वर-भेद से उसका अर्थ भेद हो जाया करता है। स्वरों में एक साधारण भी त्रुटि हो जाने पर अर्थ का अनर्थ हो जाया करता है। यज्ञ का यथावत् निर्वाह इसीलिये कठिन व्यापार है। इस विषय में एक अत्यन्त प्राचीन आख्यायिका प्रचलित है। प्रसिद्धि है कि वृत्र ने अपने शत्रु इन्द्र के विनाश के लिये एक बृहद् यज्ञ का आयोजन किया। उसमें ऋत्विग् लोगों की संख्या भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। होम का प्रधान मन्त्र था--"इन्द्र-शत्रुर्वर्धस्व"; जिसका अर्थ है कि इन्द्र का शत्रु, अर्थात् घातक विजय प्राप्त करे। इस प्रकार 'इन्द्रशत्रुः' शब्द मे 'इन्द्रस्य शत्रुः' यह षष्ठी तत्पुरुष समास अभीष्ट था, परन्तु यह अर्थ तभी सिद्ध हो सकता था जब 'इन्द्रशत्रुः' अन्तोदात्त हो। लेकिन ऋत्विजों की असावधानता से अन्तोदात्त के स्थान पर आदि उदात्त (इन्द्र शब्द में 'इ') का उच्चारण किया गया। इस स्वर-परिवर्तन से यह शब्द तत्पुरुष-समास से बहुव्रीहि बन गया और इसका अर्थ हो गया 'इन्द्रः शत्रुः यस्य' अर्थात् इन्द्र जिसका घातक है। इस प्रकार यज्ञ यजमान के लिये ठीक उल्टा ही सिद्ध हुआ। जो यज्ञ यजमान की फलसिद्धि के लिये किया गया था, वही उसके लिये घातक सिद्ध हुआ। इसीलिये (पाणिनीय शिक्षा में यह स्पष्ट घोषित कर दिया गया है कि जो मन्त्र स्वर से या वर्ण से हीन होता है वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता। वह तो वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर देता है, (जिस प्रकार स्वर के अपराध से 'इन्द्रशत्रु' शब्द यजमान का ही विनाशक सिद्ध हुआ—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

(पा० शि०, श्लोक ५२)

---

१. पाणिनि ने इस बात को इस सुप्रसिद्ध सूत्र में निबद्ध किया है—"अनुदात्तं पदमेकवर्जम्।"

इसीलिए प्राचीन वैदिक गुरु-गण वेद के मन्त्रों के ठीक-ठीक उच्चारण के विषय में बड़े ही सतर्क थे, तथा यह परम्परा आज भी उसी प्रकार अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। आज से बाइस सौ वर्ष पहले महाभाष्यकार पतञ्जलि ने उस वैदिक गुरु का उल्लेख बड़े आदर से किया है, जो उदात्त स्वर के स्थान में अनुदात्त स्वर का उच्चारण करने वाले शिष्य के मुँह पर चाँटा मारकर उसके उच्चारण को शुद्ध करता था[1]। (इस प्रसङ्ग से हम वेदों के उच्चारण-विधान के गौरव को भली-भाँति समझ सकते हैं। इसीलिए उच्चारण प्रकार को बतलाने वाला यह अङ्ग वेदाङ्गों में प्रथम माना जाता है।)

उपनिषत्काल में शिक्षा

वैदिक काल में ही इस वेदाङ्ग की ओर वैदिक ऋषियों का ध्यान आकृष्ट हुआ था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाले नियमों का उल्लेख यत्र-तत्र पाया जाता है। तैत्तिरीय-उपनिषद् की प्रथम वल्ली में इस विषय का समस्त मूल सिद्धान्त प्रतिपादित है। (शिक्षा[2] के छः अङ्गों के नाम इस उपनिषद् के अनुसार ये हैं—(१) वर्ण, (२) स्वर, (३) मात्रा, (४) बल, (५) साम और (६) सन्तान।)

(१) (वर्ण से अभिप्राय अक्षरों से है।) वेद के जानने के लिये संस्कृत वर्णमाला का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। पाणिनीय शिक्षा से ज्ञात होता है कि संस्कृत की वर्णमाला में ६३ या ६४ वर्णों की संख्या निर्धारित की गई है। यह केवल संस्कृत में ही नहीं, प्रत्युत वैदिक काल में प्रयुक्त प्राकृतों के लिये भी यही नियम था। (२) (स्वर से अभिप्राय उदात्त, अनुदात्त और स्वरित से है। स्वरों के महत्त्व का प्रतिपादन पहले किया गया है, तथा उनके लक्षण भी वहीं दे दिये गये हैं। (३) (मात्रा से अभिप्राय है स्वरों के उच्चारण करने में लगने वाला समय। मात्रा तीन प्रकार की होती है:—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत।) एक मात्रा के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उसे ह्रस्व, दो मात्रा के उच्चारण करने में लगने वाले समय को दीर्घ और तीन मात्रा के उच्चारण में लगने वाले वर्ण को प्लुत कहते हैं। इन तीनों के उच्चारण के भेद का ज्ञान 'उ'कार के

---

१. उदात्तस्य स्थाने अनुदात्तं ब्रूते खण्डिकोपाध्यायः तस्मै शिष्याय चपेटिकां ददाति—महाभाष्य।

२. शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, सन्तानः इत्युक्तः शीक्षाध्यायः—तैत्तिरीय १।२।

उच्चारण से भली-भाँति लग सकता है। (४) बल से तात्पर्य है स्थान और प्रयत्न से स्वर तथा व्यञ्जन के उच्चारण के समय वायु मुख के जिन स्थानों से टकराता हुआ बाहर निकलता है उन वर्णों के वे स्थान कहे जाते हैं। ऐसे स्थानों की संख्या आठ है। अक्षरों के उच्चारण में जो प्रयास करना पड़ता है उसे 'प्रयत्न' कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—(१) आभ्यन्तर और (२) बाह्य। आभ्यन्तर प्रयत्न चार प्रकार का होता है—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत तथा संवृत। बाह्य प्रयत्न ११ प्रकार का होता है—(१) विवार, (२) संवार, (३) श्वास, (४) नाद, (५) घोष, (६) अघोष, (७) अल्पप्राण, (८) महाप्राण, (९) उदात्त, (१०) अनुदात्त, (११) स्वरित।)

(५) साम—साम का अर्थ है साम्य अर्थात् दोष से रहित तथा माधुर्यादि गुण से युक्त उच्चारण। अक्षरों के उच्चारण करने में जो अनेक दोष एवं गुण उत्पन्न होते हैं इनका शिक्षा-ग्रन्थों में बड़े वैज्ञानिक रूप से वर्णन किया गया है। पाणिनि ने सुन्दर ढंग से पढ़ने वाले पाठक के ये गुण बतलाये हैं[१]—(१) माधुर्य, (२) अक्षर-व्यक्ति=अक्षरों का अलग-अलग स्पष्ट उच्चारण, (३) पदच्छेद=पदों का अलग-अलग प्रतिपादन, (४) सुस्वर=सुन्दर स्वर से पढ़ना, (५) धैर्य=धीरता से पढ़ना, (६) लयसमर्थ=अर्थात् लय से युक्त होकर पढ़ना। इसके विपरित अधम पाठकों में परिगणित प्रकारों का निर्देश इस प्रकार है[२]—(१) गीती=गाकर पढ़ने वाला, (२) शीघ्री=अत्यन्त शीघ्रता से पढ़नेवाला, (३) शिरःकम्पी=सिर हिला-हिलाकार पढ़ने वाला, (४) लिखितपाठक=लिपिबद्ध पुस्तक से पढ़ने वाला, (५) अनर्थज्ञ=विना अर्थ समझे पढ़ने वाला, (६) अल्पकण्ठ=अत्यन्त धीमे स्वर से पढ़ने वाला। इनके अतिरिक्त पाणिनि ने अनेक प्रकार के निन्दनीय पाठकों का निर्देश किया है। वे लिखते हैं कि शंकित, भीत, उत्कृष्ट, अव्यक्त, सानुनासिक, काकस्वर, खींचकर, स्थान रहित, उपांशु (मुहँ से बुदबुदाना), दंष्ट (दाँत से शब्दों को पीसना), त्वरित, निरस्त, विलम्बित,

---

१ माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थञ्च षडेते पाठका गुणाः॥
(पा० शि० ३३)

२ गीती शीघ्री शिरः कम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाऽधमाः॥
(पा० शि० ३२)

गद्गद, प्रगीत, निष्पीडित, अक्षरों को छोड़कर तथा दीन पाठ का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसे पाठ के करने से अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होती[१]।

उपर्युक्त प्रणाली का विधान वैदिक मन्त्रों के पाठ के लिये विशेष रूप से किया जाता है। काव्य के पाठ की पद्धति भी विशिष्ट हुआ करती है। देश-भेद से भी काव्य-पाठ में विभेद हुआ करता है। इस विषय का विशेष वर्णन राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा के सप्तम अध्याय में बड़े रोचक, आकर्षक तथा सरस ढंग से किया है।

(६) सन्तान—इस शब्द का अर्थ है संहिता, अर्थात् पदों की अतिशय सन्निधि। पदों का स्वतन्त्र अस्तित्व रहने पर कभी-कभी दो पदों का आवश्यकतानुसार शीघ्रता से एक के अनन्तर उच्चारण होता है, इसे ही संहिता कहते हैं। संहिता होने पर ही पदों में सन्धि हुआ करती है। उदाहरण के लिये 'वायो आयाहि' में दो स्वतन्त्र वैदिक पद हैं। जब एक ही वाक्य में दोनों का साथ-साथ उच्चारण होता है, तब संधि के कारण इनमें कुछ परिवर्तन हो जाता है। पूर्व उदाहरण का सन्धिजन्य रूप 'वायवायाहि' होगा। इसी प्रकार 'इन्द्राग्नी आगतम्' में प्रकृतिभाव हो जायेगा। मन्त्रों के उच्चारण के लिये उपयोगी होने पर भी व्याकरणशास्त्र में ही इस विषय का विशेष विधान किया गया है। इसीलिये 'शिक्षा-ग्रन्थों' में इस विषय की उपेक्षा की गई है।

प्रत्येक वेद में वर्णों का उच्चारण एक ही प्रकार से नहीं होता। किन्हीं वर्णों के उच्चारण में पार्थक्य भी बना रहता है। उदाहरण के लिये मूर्धन्य 'ष' का शुक्ल यजुर्वेद में रेफ के साथ और उष्मवर्णों के साथ संयुक्त होने पर 'ख' के समान उच्चारण होता है, परन्तु अन्य वेदों में यह विशुद्ध मूर्धन्य 'ष' के रूप में विद्यमान रहता है। जैसे पुरुषसूक्त के प्रख्यात मन्त्र 'सहस्रशीर्षा पुरुषाः' में ऋग्वेदियों का उच्चारण जहाँ 'शीर्षा' का स्पष्टतः मूर्धन्य है, वहीं माध्यन्दिनों का

---

१. शङ्कितं भीतमुत्कृष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
काकस्वरं शिरसि गतं तथा स्थान-विवर्जितम्॥
उपांशु दष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम्।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरञ्च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम्॥
(पाणिनीय शिक्षा ३४, ३५)

'शीरेखा पुरुखः' उच्चारण होता है। इसका विशिष्ट परिचय उन वेदों की शिक्षा में विस्तार के साथ दिया गया है। यही कारण है कि प्रत्येक वेद की अपनी निजी 'शिक्षा' है, जिसमें उस वेद के अनुकूल उच्चारण का विधान किया गया है।

प्रातिशाख्य

प्रातिशाख्य शिक्षानामक अङ्ग के प्राचीनतम उपलब्ध प्रतिनिधि हैं। साधारणतया समझा जाता है कि वैदिक संहिता के प्रत्येक शाखा के लिए अपना स्वतन्त्र प्रातिशाख्य है, परन्तु यह कथन तथ्यवचन नहीं है। प्रातिशाख्यों के अध्ययन से विदित होता है कि उनमें किसी एक शाखा के ही नियमों का निर्देश नहीं है, अपितु उनमें एक-एक चरण की शाखाओं के नियमों का सामान्यरूपेण उल्लेख मिलता है। महर्षि यास्क का यह कथन (निरुक्त १।१७)—"पद-प्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि" पार्षदों का—प्रतिशाख्यों का सम्बन्ध चरणों से सिद्ध करता है 'प्रतिशाखा' शब्द 'चरण' के लिए ही व्यवहृत प्रतीत होता है। जिसे आजकल शाखा कहते हैं, उसके लिए विष्णुपुराण (अंश ३, अ० ४) 'अनुशाखा' शब्द का व्यवहार करता।[१]

उच्चारण, स्वर-विधान, एक पद का दूसरे पद के साथ सन्निहित होने पर सन्धि, स्थान-स्थान पर ह्रस्व का दीर्घविधान—आदि संहिताओं के पाठ से सम्बन्ध रखने वाले समस्त विषयों का इन ग्रन्थों में साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। संहितापाठ के पदपाठ के रूप में परिवर्तित होने पर जिन नियमों की आवश्यकता होती है उन सबका विवरण यहाँ बड़ी ही छानबीन के साथ किया गया है। इन ग्रन्थों की रचना बड़ी ही वैज्ञानिक रीति से की गई है। इनके रचयिताओं ने तत्तत् संहितावों से उन मन्त्रों को उद्धृत किया है जिनमें सकार तथा नकार मूर्धन्य रूप को प्राप्त कर लेता है। दीर्घकरण के समस्त उदाहरण विशेष समीक्षण के साथ प्रस्तुत किये गये हैं। किन्हीं प्रातिशाख्यों में वैदिक छन्दों का भी वर्णन समुचित रीति से किया गया है। इन ग्रन्थों का द्विविध

---

१. द्रष्टव्य युधिष्ठिर मीमांसक—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास (द्वितीय-खण्ड, पृ० २८५-८८)

महत्त्व है। पहला महत्त्व भारत में व्याकरणशास्त्र के इतिहास के सम्बन्ध में है और दूसरा उपलब्ध वैदिक संहिताओं के पाठ तथा स्वरूप के विषय में है। प्राचीन भारत में संस्कृत भाषा का व्याकरण इन्हीं प्रातिशाख्यों से आरम्भ होता है। प्रातिशाख्य स्वयं व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थ नहीं हैं, परन्तु वे व्याकरण समाहृत अनेक विषयों का प्रतिपादन करते हैं और प्राचीन काल के अनेक वैयाकरणों के नाम तथा मत इन ग्रन्थों में निर्दिष्ट किये गये हैं। वैदिक काल में व्याकरण शास्त्र के उदय तथा अभ्युदय का यह पर्याप्त सूचक है। व्याकरण-शास्त्र के समस्त पारिभाषिक शब्द इन ग्रन्थों में स्वीकृत कर लिये गये हैं।

भाषा की इतनी मीमांसा तथा समीक्षा इस सिद्धान्त का उज्ज्वल प्रमाण है कि इसके पहले ब्राह्मण-युग में व्याकरण का आविर्भाव हो चुका था। दूसरी बात जो इससे भी कहीं बढ़कर है वह यह है कि वैदिक संहिताओं का स्वरूप तथा पाठ उसी प्रकार का था जिस प्रकार वह आजकल उपलब्ध हो रहा है। हजारों वर्ष बीत गये परन्तु ये संहितायें अविच्छिन्न रूप से उसी रूप में आज भी चली आ रही हैं जिस प्रकार वे अपने आरम्भिक युग में थीं। शौनक ने ऋक्-प्रातिशाख्य में इतने सूक्ष्म नियम बनाये हैं जिनके आधार पर हम निःसन्देह कह कहते हैं कि ऋग्वेद का मूल पाठ अक्षर-अक्षर, स्वर प्रतिस्वर, उस समय भी उसी प्रकार का था जिस प्रकार आज वह मुद्रित प्रतियों में उपलब्ध होता है।

ऋक्-प्रातिशाख्य

प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में ऋक्-प्रातिशाख्य प्राचीनता तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पार्षद या परिषद् में प्रचारित होने के कारण यह पार्षद या पारिषद सूत्र के भी नाम से प्रख्यात है। विष्णुमित्र ने शौनक को इस 'पार्षद' का रचयिता बतलाया है[1], तथा इस प्रातिशाख्य के रहस्यवेदी अपने आपको 'पारिषद' में श्रेष्ठ कहा है[2]। 'शिक्षा' के विषयों के प्रतिपादक होने के कारण ही इसे 'शिक्षा-शास्त्र' के नाम से पुकारते हैं[3]। इसके

१. शौनकं च विशेषेण येनेदं पार्षदं कृतम्।
(वर्गद्वयवृत्ति, श्लोक ५)

२. स वै पारिषदे श्रेष्ठः सुतस्तस्य महात्मनः।
(वही, श्लोक ६)

३. वही, पृष्ठ १२।

रचयिता आश्वलायन के गुरु महर्षि शौनक हैं। यह प्रातिशाख्य ऐतरेय आरण्यक के 'संहितोपनिषद्' (आरण्यक ३) का अक्षरशः अनुसरण करता है। तथा आरण्यक में (३।१।१) निर्दिष्ट माण्डूकेय, माक्षव्य, आगस्त्य, शूरवीर नामक आचार्यों के संहिता-विषयक नाना मतों का प्रतिपादन करता है (कारिका २ तथा ३)। यह इसकी प्राचीनता का स्पष्ट प्रमाण माना जा सकता है। समग्र ग्रन्थ पद्यबद्ध सूत्र-रूप में ही है।

'ऋग्वेद-प्रातिशाख्य' का विषय-विवेचन यहाँ किया जा रहा है, जिसमें प्रातिशाख्यमात्र के वर्ण्य विषयों से सामान्य परिचय प्राप्त हो सकता है। इस प्रातिशाख्य में १८ पटलों में से प्रथम पटल (संज्ञा-प्रकरण) में इस शास्त्र के नाना पारिभाषिक शब्द—स्वर, व्यञ्जन, स्वरभक्ति, रक्त, नाभि, प्रगृह्य आदि विशिष्ट शब्दों का लक्षण दिया हुआ है। द्वितीय पटल में प्रश्लिष्ट, क्षैप्र, उद्ग्राह, भुग्न आदि नाना प्रकार की सन्धियों का उदाहरण के साथ लक्षण दिया गया है। तृतीय में स्वरों के परिचय के अनन्तर विसर्जनीय सन्धि (विसर्ग की रेफ में परिणति), नकार के नाना विकार, नति सन्धि (स तथा न को मूर्धन्य वर्ण में परिवर्तन; स = ष तथा न = ण), क्रमसन्धि (वर्ण का द्विर्वचन) तथा व्यञ्जन-सन्धि, प्लुतिसन्धि आदि नाना प्रकार की सन्धियों का विस्तृत और वैज्ञानिक परिचय चतुर्थ पटल से लेकर नवम पटल तक दिया गया है। दशम तथा एकादश पटल में क्रम-पाठ का विवरण है, जिसमें वर्णों के तथा उदात्तादि स्वरों के परिवर्तन के नियमों का पूर्ण उल्लेख है। त्रयोदश पटल में व्यञ्जनों के रूप तथा लक्षण की अनेक प्राचीन आचार्यों के मतपुरःसर विशिष्ट विवेचना है। चतुर्दश पटल में वर्णों के उच्चारण में जायमान दोषों का उल्लेख है। पंचदश में वेद-परायण की पद्धति का संक्षिप्त परिचय है। अन्तिम तीन (१६–१८) पटलों में छन्दों—गायत्री, उष्णिक्, बृहती, पंक्ति—आदि का विस्तृत वर्णन छन्दः-शास्त्र के अध्ययन के लिए नितान्त उपादेय है। फलतः स्वर, वर्ण, सन्धि, तथा छन्द की मार्मिक व्याख्या इस प्रातिशाख्य को वेद-समीक्षा के लिए उपयोगी बना रही है।

विष्णु मित्र की वृत्ति केवल आरम्भ के दो वर्गों पर ही मुद्रित हुई है। इस वृत्ति के आरम्भ के अनुसार इनका मूल निवास 'चम्पा' था, ये वत्सकुल में उत्पन्न पार्षदश्रेष्ठ देवमित्र के पुत्र थे। यह वृत्ति केवल आरम्भिक वर्गद्वय पर प्रकाशित है। (ऋक्-प्रातिशाख्य के इंडियन प्रेस वाले संस्करण में), परन्तु और पूरे प्रातिशाख्य के १८ पटलों पर उपलब्ध होती है हस्त लिखित प्रतियों में। डेकन कालेज के हस्त-

लेख में यह पूरी व्याख्या उपलब्ध होती है और इसका नाम 'ऋज्वर्था' दिया गया है। इस हस्तलेख का लिपिकाल शकसं० १५६२ (=१६४० ई०) है। फलतः इनका समय १७वीं शती से प्राचीनतर होना चाहिए।

उव्वट—का भाष्य नितान्त प्रसिद्ध है। ये उव्वट शुक्लयजुर्वेद के भाष्यकर्ता भी हैं। इस भाष्य की रचना इन्होंने अवन्ती (उज्जयिनी) में निवास कर राजा भोज के शासन काल में की। फलतः इस भाष्य का रचनाकाल ११वीं शती का मध्यकाल है। इस प्रकार भाष्य वृत्ति से लगभग चार सौ वर्ष पहिले निर्मित हुआ था।

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य

शुक्लयजुर्वेद का प्रातिशाख्य कात्यायन मुनि की रचना है। ये कात्यायन अष्टाध्यायी के वार्तिककार कात्यायन (वररुचि) से भिन्न हैं या अभिन्न ? इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। हमारा परिनिष्ठित मत है कि ये कात्यायन वार्तिककार से भिन्न हैं, तथा पाणिनि से भी प्राचीनतर हैं। इस प्रातिशाख्य में आठ अध्याय हैं, जिनमें परिभाषा, स्वर तथा संस्कार—इन तीनों विषयों का विस्तृत विवेचन है। कात्यायन के लिए 'स्वर-संस्कार-प्रतिष्ठापयिता' की उपाधि इसी विशिष्टता को लक्ष्य कर दी गई है (८।५४)। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में पारिभाषिक शब्दों का विस्तृत लक्षण दिया गया है। द्वितीय अध्याय में त्रिविध स्वरों के लक्षण तथा वैशिष्ट्य का प्रतिपादन है। तृतीय से लेकर सप्तम तक संस्कार (सन्धि) का विशद विवेचन है, जिनमें नाना प्रकार की सन्धियाँ, पदपाठ बनाने के विशिष्ट नियम (५ अ०), विशेष स्वर-विधान (६ अ०) आदि का वर्णन है। अन्तिम अध्याय की संज्ञा 'वर्ण-समाम्नाय' है, जिसमें वर्णों की गणना तथा स्वरूप का विवेचन बड़ी सुन्दरता के साथ किया गया है। प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख अनेक सूत्रों में किया गया है, जिनमें शाकल्य (३।१०) तथा काश्यप (४।५) की अपेक्षा शाकटायन के मतों का निर्देश विशेष किया गया है (३।९. ३।१२; ४।५; ४।१८९)। निःसन्देह ये समस्त मत उसी प्रसिद्ध आचार्य शाकटायन के हैं जिनका निर्देश पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा निरुक्त आदि प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।

कात्यायन तथा पाणिनि का परस्पर सम्बन्ध क्या है ? दोनों के ग्रन्थों की तुलना से स्पष्ट है कि दोनों में पारिभाषिक ग्रन्थों की एकता है। वार्तिककार कात्यायन के निजी विशिष्ट मतों का यहाँ सर्वथा अभाव ग्रन्थकारों की भिन्नता का

स्पष्ट प्रमाण है। पाणिनि ने ही अपने व्याकरण के लिए पारिभाषिक शब्दों को इस प्रातिशाख्य से ग्रहण किया है। ऐसे पारिभाषिका शब्दों में ये—उपधा (१।३५), उदात्त (उच्चैरुदात्तः १।१०८), अनुदात्त (नीचैरनुदात्तः १।१०९), स्वरित (उभयवान् स्वरितः १।११०=समाहारः स्वरितः १।२।३१) आम्रेडित (१।१४६), लोप (१।१४१), अपृक्त (एकवर्णः पदमपृक्तम् १।१५१=अपृक्त एकाल् प्रत्ययः; १।१।१४१) मुख्य हैं। पाणिनि ने अनेक सूत्रों को अक्षरशः ग्रहण कर लिया है—

वर्णस्यादर्शनं लोपः (१।१४१)=**अदर्शनं लोपः** (१।१।६०), **संख्यातानामनूदेशो यथासंख्यम्** (१।१४३)=**यथासंख्यमनुदेशः समानम्** (१।३।१०); **साम जपन्न्यूंखवर्जम्** (१।१३१)=**यज्ञकर्मण्यजपन्यूंखसामसु** (१।२।३४) इत्यादि।

पाणिनि ने ही इन सूत्रों तथा पारिभाषिक शब्दों को अष्टाध्यायी में ग्रहण किया है। इसका परिचय पाणिनि की रचनाशैली की प्रगाढ़ता, उनकी परिभाषाओं एवं संज्ञाओं की एकरूपता तथा अविसंवादिता के साथ वाजसनेयि प्रातिशाख्य की शैली की अप्रौढ़ता तथा अव्यवस्था के साथ तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है (तुलना करो १।३८ तथा ४०; १।५२; ३।९–१०)। इस प्रातिशाख्य के अनेक शब्द ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य के समान ही प्राचीनतर अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। प्रथम अध्याय के सूत्र १३३ से लेकर १३७ सूत्र तक जिस विषय का प्रतिपादन है वह नितान्त व्यवस्थित तथा समुचित है इन्हीं में से "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (१।१२४); तस्मादित्युत्तरस्यादेः (१।१३५) तथा षष्ठीस्थाने योगाः (१।१३६)" सूत्रों को पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में रख लिया है। फलतः इस अक्षरशः परिशीलन का सामूहिक परिणाम यही है कि यह प्रातिशाख्य पाणिनि से प्राचीनतर है। बहुत सम्भव है कि महर्षि पाणिनि माध्यन्दिनसंहिता के अनुयायी हों और इसीलिए इस प्रातिशाख्य से उन्होंने बहुत सी सामग्री अपने ग्रन्थ के लिए संगृहीत की हो। इस प्रातिशाख्य का रचनाकाल पूर्व-पाणिनि काल है, अर्थात् विक्रम-पूर्व अष्टम शतक में इसकी रचना मानी जा सकती है।[1]

---

1. उव्वट-भाष्य के साथ काशी संस्कृत सीरिज से प्रकाशित युगलकिशोर पाठक द्वारा सम्पादित (काशी, सन् १८८८); यह दुर्लभ संस्करण बहुत ही प्रामाणिक है। इसके साथ कात्यायन-निर्मित 'प्रतिज्ञापरिशिष्टसूत्र

व्याख्यायें

कात्यायन-प्रातिशाख्य की दो व्याख्यायें प्रकाशित हैं। इनमें से एक है उव्वट-कृत भाष्य और दूसरी है अनन्तभट्ट-रचित व्याख्या। इनमें से उव्वट-भाष्य तो अनेक स्थानों से प्रकाशित हुआ है, किन्तु अनन्तभट्ट की व्याख्या केवल मद्रास विश्वविद्यालय की ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुई है। उव्वट के देश-काल का परिचय ऊपर दिया गया है। अनन्तभट्ट ने अपनी व्याख्या के अन्त में अपना परिचय दिया है, जिससे पता चलता है कि उनकी माता का नाम भागीरथी और पिता का नागदेव था। ये काण्वशाखा के अनुयायी थे। इनके दूसरे ग्रन्थ 'काण्व-याजुष-भाष्य' के अनुसार ये काशी-निवासी थे[1]। 'विधानपारिजात' नामक ग्रन्थ के अन्त में काशी में ही उसकी पूर्ति होने का उल्लेख है[2]। यह अनन्तभट्ट का काशी-वासी होना सुनिश्चित है। अनन्तभट्ट के आविर्भावकाल का भी परिचय हमें उपलब्ध होता है। प्रतिज्ञासूत्रपरिशिष्ट (१।३) की व्याख्या में अनन्तदेव महीधर[3] का उल्लेख किया है और महीधर ने मन्त्रमहोदधि का रचनाकाल १६४५ सं० (= १५८८ ई०) स्वयं निर्दिष्ट किया है। फलतः अनन्त का समय इसके पश्चाद्वर्ती है। 'विधानपारिजात' का रचनाकाल १६८२ सं० (=१६२५ ई०) है। इसलिए अनन्तभट्ट का समय षोडश शताब्दी का अन्त तथा सप्तदश का पूर्वार्ध (१५८० ई०–१६४० ई०) मानना उचित प्रतीत होता है। इनके

(तीन कण्डिका) तथा 'भाषिकपरिशिष्टसूत्र' (तीन कण्डिका) सभाष्य प्रकाशित है।

१. काश्यां वासः सदा यस्य चित्तं यस्य रमाप्रिये।

(भाष्य के अन्त में)

२. "तेनायं रचितो विधानदिविषद्वृक्षोऽर्थिसर्वप्रदः, काले द्व्यष्टषडेकलांकक-मिते (?) काश्यामगात् पूर्णताम्"—इण्डिया आफिस पुस्तकालय में उपलब्ध हस्तलेख का अन्त।

३. वाजमन्नं सनिर्दानमस्यास्तीति वाजसनिरिति महीधराचार्या मन्त्रभाष्ये व्याख्यातवन्तः।

(वाज० प्राति०, काशी सं०, पृ० ४०६)

यह कथन महीधर के यजुर्वेद-भाष्य के उपोद्घात में दी गई व्याख्या से पूर्णतः मेल खाता है।

प्रातिशाख्यभाष्य का नाम 'पदार्थप्रकाश' है। इस व्याख्या में काण्वशाखाध्यायी ग्रन्थकार ने काण्वसंहिता से उदाहरण दिये हैं जिसके अनुशीलन से काण्वसंहिता तथा उसके पद-पाठ के ऊपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

इस प्रातिशाख्य से सम्बद्ध दो लघुकाय ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं, जिनके ऊपर टीकायें भी उपलब्ध होती हैं। इनमें से—(१) प्रतिज्ञा-सूत्र तथा (२) भाषिक-सूत्र हैं। इन दोनों को कात्यायन-प्रातिशाख्य का परिशिष्ट समझना चाहिए।

(१) **प्रतिज्ञासूत्र**—में शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध स्वरादि सम्बन्धी नियमों का विवरण दिया गया है। इसके व्याख्याकार अनन्तदेव याज्ञिक हैं, जो सम्भवतः अनन्तदेवभट्ट से भिन्न नहीं हैं। इसकी व्याख्या में उच्चारण तथा वर्णों के सम्बन्ध के विषय में नवीन जानकारी प्राप्त होती है। शुक्लयजुर्वेद में मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण कवर्गीय 'ख' जैसा तथा 'य'कार का उच्चारण चवर्गीय 'ज'कार जैसा होता है, परन्तु दोनों का उच्चारण एकाकार नहीं है, प्रत्युत तत्सदृश ही होता है। यह उच्चारण 'ष' तथा 'ख' के मध्यवर्ती और 'य'–'ज' के मध्यवर्ती विशिष्ट रूप से होता है। अनन्तदेव के इस परिष्कार से इन वर्णों के उच्चारण पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

(२) **भाषिक-सूत्र**—इसमें प्रधानतया शतपथ-ब्राह्मण के स्वर-सञ्चार का विधान किया गया है और साथ ही साथ कतिपय सम्प्रति अनुपलब्ध ब्राह्मणों के भी स्वरसञ्चार का संकेत दिया गया है। वेद के स्वरविधान की पूरी जानकारी के लिए इस ग्रन्थ का विवरण नितान्त उपयोगी तथा प्रामाणिक सिद्ध हो सकता है। इसके ऊपर भी अनन्तदेव की व्याख्या उपलब्ध होती है। ये दोनों परिशिष्ट-सूत्र व्याख्या—सहित शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य के काशी-संस्करण के परिशिष्ट रूप में मुद्रित तथा प्रकाशित हैं।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध यह प्रतिशाख्य दो प्रश्नों अर्थात् खण्डों में विभक्त है तथा प्रत्येक प्रश्न में १२ अध्याय हैं। इस प्रकार पूरा सूत्रात्मक ग्रन्थ २४ अध्यायों में विभक्त है। विषयों का प्रतिपादन सुव्यवस्थित तथा प्रामाणिक है। प्रथम प्रश्न में वर्ण–समाम्नाय, शब्दस्थान तथा शब्द का उत्पत्तिप्रकार, नाना प्रकार की स्वर एवं विसर्ग सन्धियाँ, मूर्धन्य विधान आदि विषयों का विवेचन है। द्वितीय प्रश्न में नकार का णत्व-विधान, अनुस्वार तथा अनुनासिक अनुनासिक-भेद, स्वरित-भेद, संहिता-स्वरूप आदि अनेक उपादेय विषयों का संक्षेप में यहाँ प्रतिपादन है। अपनी संहिता से सम्बद्ध होने के कारण स्वभावतः समग्र उदाहरण तैत्तिरीय संहिता से ही संकलित हैं।

इसकी व्याख्या-सम्पत्ति पर्याप्तरूपेण विशद है। प्रकाशित तीन व्याख्याओं में माहिषेयकृत 'पदक्रम-सदन' नामक भाष्य प्राचीनतम है[1], क्योंकि इसके दूसरे व्याख्याकार सोमयार्य ने अपने 'त्रिभाष्यरत्न' में माहिषेय, आत्रेय तथा वररुचि की प्राचीन व्याख्याओं का उपयोग किया है। उनमें यह माहिषेय भाष्य सर्वप्रथम है। उसमें निर्दिष्ट समस्त उद्धरण यहाँ उपलब्ध भी होते हैं। 'पदक्रमसदन' नाम अन्वर्थक है। वैदिकों के मन्तव्यानुसार वैदिक पाठ दो प्रकार के होते हैं--संहिता, पद तथा क्रम पाठ **प्रकृत-पाठ** कहलाते हैं, तथा शिखा, माला, घन आदि आठों **विकृति-पाठ** कहलाते हैं। इनमें प्रतिशाख्यों का प्रतिपाद्य विषय प्रकृति-पाठ तथा तत्सम्बद्ध स्वर-सन्धि का विवेचन होता है। इस दृष्टि को लक्ष्य में रखकर माहिषेय भाष्य का 'पदक्रमसदन' नाम सार्थक है। यह भाष्य संक्षिप्त, लघुकाय तथा उपादेय है। सोमयार्य का 'त्रिभाष्य-रत्न' इससे अर्वाचीन है। **गोपालयज्वा** विरचित 'वैदिकाभरण' तो इन दोनों की अपेक्षा कालदृष्टि से नवीन है। ये तीनों व्याख्याएँ प्रमाणिक, प्रमेयबहुल तथा व्याकरण के मार्मिक तत्त्व (जैसे वर्णोत्पत्ति आदि) के विशद प्रतिपादक होने से विशेष उपयोगी हैं[2]।

गोपालयज्वा अपने को गोपालमिश्र के नाम से भी अभिहित करते हैं। इन्होंने 'वृत्तरत्नाकर' की ज्ञानदीप नामक व्याख्या लिखी थी, जो आन्ध्रलिपि में मद्रास से मुद्रित है। इसमें इन्होंने अपनी व्याख्या की बड़ी श्लाघा की है। इससे ये वृत्तरत्नाकर के रचयिता केदारभट्ट से अर्वाचीन हैं। केदारभट्ट का समय १३वीं शताब्दी है। अतः गोपालमिश्र इनसे निश्चितरूपेण अर्वाचीन हैं। इन्होंने अपने 'वैदिकाभरण' में सोमयार्य के 'त्रिभाष्यरत्न' के पाठों को उद्धृत कर उनका खण्डन किया है। फलतः सोमयार्य गोपालमिश्र से पूर्वकालीन हैं। सोमयार्य ने अपने 'त्रिभाष्यरत्न' व्याख्या में उन प्राचीन आचार्यों का निर्देश किया है जिनकी व्याख्या के आधार पर उन्होंने अपने भाष्य का निर्माण किया—वररुचि, आत्रेय तथा माहिषेय तैत्तिरीय प्रतिशाख्य के ये ही प्राचीन व्याख्याकार हैं, जिनकी प्राचीनता तथा प्रामाणिकता अक्षुण्ण है।

---

१. संस्करण मद्रास यूनिवर्सिटी संस्कृत सीरिज नं० १; मद्रास विश्वविद्यालय, १९३०।

२. इन दोनों व्याख्याओं के साथ यह ग्रन्थ मैसूर संस्कृत ग्रन्थमाला (संख्या ३३) में प्रकाशित है। अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणी के साथ डा० ह्विट्नी ने भी एक संस्करण अमेरिका से निकाला है।

सामवेदीय प्रातिशाख्य

सामवेद के ऊपर कई प्रातिशाख्य प्रकाशित हुए हैं जिनमें मुख्य ये हैं—

(क) पुष्पसूत्र—पुष्प ऋषि के द्वारा प्रणीत होने से यह प्रातिशाख्य 'पुष्पसूत्र' के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके दश प्रपाठक हैं। इसके ऊपर उपाध्याय अजातशत्रु कृत भाष्य प्रकाशित हुआ है[1]। यह साम-प्रातिशाख्य गान-संहिता से सम्बन्ध रखता है और इसलिए इसमें स्तोभ का विशेष विवेचन है तथा उन स्थलों और मन्त्रों के उल्लेख हैं जिनमें स्तोभ का विधान या अपवाद होता है। गायनोपयोगी अन्य सामग्री के संकलन के कारण यह सूत्र नितान्त उपयोगी है। इसमें प्रधानतया गेयगान तथा अरण्ये गेयगान में प्रयुक्त सामों का ऊहन अन्य मन्त्रों पर कैसे किया जाता है, इस विषय का विशद विवेचन है।

हरदत्त-रचित 'सामवेदीय सर्वानुक्रमणी' के अनुसार पुष्पसूत्र या फुल्लसूत्र का रचयिता सूत्रकार वररुचि है। इस वररुचि के विषय में विशेष जानकारी नहीं है कि यह किस काल का ग्रन्थकार है। पुष्पसूत्र के ऊपर उपाध्याय अजातशत्रु नामक किसी ग्रन्थकार की व्याख्या उपलब्ध होती है, जो इस ग्रन्थ के काशी-संस्करण में प्रकाशित है। इससे पता चलता है कि इस ग्रन्थ के दो पाठ प्रचलित थे। एक तो वही पाठ है जिस पर अजातशत्रु की व्याख्या मिलती है। दूसरा पाठ वह है जिसमें आरम्भ के चार प्रपाठक सम्मिलित हैं, जिन पर अजातशत्रु की व्याख्या नहीं है। काशी सं० में अन्त के चार प्रपाठकों के ऊपर व्याख्या नहीं है। अजातशत्रु की व्याख्या पञ्चम प्रपाठक से आरम्भ होती है। व्याख्या के आरम्भ का मङ्गल श्लोक इसी तथ्य का पोषक माना जा सकता है। फलतः यही कहना चाहिए कि अजातशत्रु को ग्रन्थ के आदिम चार प्रपाठकों का परिचय नहीं था। यदि होता, तो उन पर व्याख्या लिखने से विरत नहीं होते।

(ख) ऋक्तन्त्र—यह ग्रन्थ सामवेद की कौथुम शाखा का प्रातिशाख्य ग्रन्थ है और इसीलिए अन्य प्रातिशाख्यों में वर्ण्य विषयों के साथ इसके विषयों का भी गहरा साम्य है। ग्रन्थ की पुष्पिका में यह 'ऋक्तन्त्र-व्याकरण' के नाम से निर्दिष्ट है। पूरा ग्रन्थ सूत्रों में है जिनकी संख्या दो सौ अस्सी है तथा जो पाँच प्रपाठकों (या अध्याय) में विभक्त है। इसके रचयिता सुप्रसिद्ध शाकटायन हैं,

---

१. सं० चौखम्बा संस्कृत सीरीज नं० २९७; काशी, १९२२। इस ग्रन्थ का संस्करण तथा जर्मन अनुवाद डा० साइमन नामक जर्मन विद्वान् ने (बर्लिन, १९०९) किया है जिसकी डा० कैलेण्ड ने बड़ी प्रशंसा की है।

जिनका निर्देश यास्क तथा पाणिनि ने अपने ग्रन्थों में किया है। इसमें प्रथमतः अक्षर के उदय तथा प्रकार का वर्णन किया गया है। तदनन्तर व्याकरण के विशिष्ट परिभाषिक शब्दों के लक्षण का निर्देश किया गया है। अक्षरों के उच्चारण-स्थान के विवरण के अनन्तर सन्धि का वर्णन विशदता से किया गया है। पदान्त अक्षरों के नाना परिवर्तनों का विवरण सन्धि के प्रसंग में बड़ा ही उपयोगी तथा उपादेय है, जैसे अन्तिम नकार का विसर्जनीय में परिवर्तन (सूत्र ११२–११३) (जैसे ऋतून् + अनु = ऋतूँरनु); रेफित शब्दों के विसर्ग का रेफ में परिवर्तन (सूत्र ११६; जैसे प्रातरग्नि, प्रातर्जुषस्व); अन्य दशा में विसर्ग का यकार में परिवर्तन (सूत्र ११७) आदि। पादान्त स के नाना परिवर्तनों का निर्देश (सूत्र १५६–१६७), समास के प्रथम पद के अन्तिम स्वर का दीर्घीकरण (सूत्र २१४–२५५) तथा उसके अपवाद (२५६–२६०)। जैसे कपि, मोदनी, दर्भ तथा रव शब्दों से पूर्व वृष के अन्तिम स्वर का दीर्घ होता है (सूत्र २१५), जैसे वृषाकपि वृषारव आदि। नर, वसु तथा राट् शब्दों से पूर्व पद के अन्त्य स्वर का दीर्घ होता है (सूत्र २१८), जैसे विश्वानरः, विश्वावसुः आदि। इस प्रकार व्याकरण-सम्बन्धी तथ्यों से यह पूर्ण है[1]।

यह प्रातिशाख्य अपने मूल रूप में निःसन्देह पाणिनि से पूर्ववर्ती है और इसलिए परिभाषा के निर्माण एवं सूत्रों की रचना में यदि अष्टाध्यायी पर इसका विपुल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, तो आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। यास्क ने भी इसके विशिष्ट मतों का निर्देश अपने ग्रन्थ में किया है।

ऋक्तन्त्र-व्याकरण के रचयिता के विषय में आचार्यों का मतभेद दृष्टिगोचर होता है। 'ऋक्तन्त्र' के अन्त में यह शाकटायनोक्त व्याकरण निर्दिष्ट है तथा इसकी वृत्ति के अन्त में भी इसके सूत्रों की संख्या २८० (दो सौ अस्सी) तथा रचयिता का नाम **शाकटायन** दिया गया है। इसके विपरीत भट्टोजि-दीक्षित ने 'शब्दकौस्तुभ' (मुखनासिका सूत्र) में छान्दोग्यलक्षण ऋक्तन्त्र-व्याकरण के प्रणेता 'औदव्रजि' का एक सूत्र उद्धृत किया है, जो मुद्रित ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा की 'पञ्जिका' नाम्नी व्याख्या के अज्ञातनामा लेखक ने 'औदव्रजि' को ऋक्तन्त्र का प्रणेता माना है तथा उनके अनेक सूत्रों को उद्धृत किया है, जिनमें से कुछ मुद्रित

---

१. टीका के साथ डा० सूर्यकान्तशास्त्री द्वारा सम्पादित। लाहौर, १९३४। इस संस्करण के आरम्भ में बड़ी ही सुन्दर प्रमेयबहुल भूमिका है।

प्रति में उपलब्ध होते हैं[1]। फलतः प्राचीन आचार्यों में ऋक्तन्त्र के रचयिता के विषय में ये दो मत प्रचलित प्रतीत होते हैं। इन दोनों का समन्वय किया जा सकता है। एक तो है व्यक्तिगत नाम तथा दूसरा है गोत्रज नाम। 'औदव्रजि' वैयक्तिक तथा 'शाकटायन' गोत्रज नाम है। इस प्रकार दोनों का समन्वय किया जा सकता है।

गोभिल-गृह्यसूत्र के व्याख्याता भट्टनारायण[2] के अनुसार ऋक्तन्त्र का सम्बन्ध 'राणायनीय शाखा' के साथ माना जाता है। अर्थात् राणायनीय शाखा की सामसंहिता के आधार पर यह ग्रन्थ प्रणीत हुआ है। इसी ग्रन्थ का संक्षेप किसी आचार्य ने 'लघु ऋक्तन्त्र' के नाम से किया है, जो प्रकाशित भी हो चुका है।

अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य

अथर्ववेद के दो प्रातिशाख्य प्रख्यात हैं—

(१) **शौनकीया चतुरध्यायिका**—अमेरिकन विद्वान् डा० ह्विट्नी ने इसे सानुवाद प्रकाशित किया है[3] (१८६२)। यह प्रातिशाख्य चार अध्यायों में विभक्त है। ह्विटनी की प्रति में शौनक का नाम निर्दिष्ट होने के कारण उन्होंने ऐसा नामकरण कर दिया और उसी से इस नाम की प्रसिद्धि हो गई। वस्तुतः इसका नाम तथा लेखक दोनों भिन्न हैं। सरस्वतीभवन (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) सुरक्षित हस्तलेख में इसे **कौत्स-व्याकरण** की संज्ञा दी गई है—"इत्यथर्ववेदे कौत्सव्याकरणे चतुरध्यायिकायां····पादः।" इस अभिधान की पुष्टि उज्जयिनी में सुरक्षित हस्तलेख से होती है। फलतः इसके निर्माता 'कौत्स' नामक विद्वान् हैं। इनके व्यक्तित्व का परिचय नहीं मिलता। महाभाष्य ३।२।१०८ में किसी कौत्स को पाणिनि के शिष्य होने का उल्लेख होने पर भी हम दोनों की अभिन्नता सिद्ध नहीं कर सकते। यही सबसे प्राचीन अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य है।

---

१. द्रष्टव्य युधिष्ठिर मीमांसक—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० ३३४-३३५। प्रकाशित भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, सं० २०१९।

२. राणायनीयानाम् ऋक्तन्त्रप्रसिद्धा विसर्जनीयस्याभिनिष्ठानाख्या (पृ० ४२०)।

३. डा० ह्विटनी द्वारा सम्पादित, जर्नल आफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी (खण्ड ७), १८६२।

दूसरा ग्रन्थ है—**अथर्ववेद-प्रातिशाख्य सूत्र**, जो पंजाब विश्वविद्यालय की ग्रन्थमाला में विश्वबन्धु शास्त्री के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ अपेक्षाकृत बहुत ही स्वल्पकाय (लघु पाठ) है तथा अथर्ववेद-सम्बन्धी कतिपय विषयों का ही प्रतिपादन करता है[१]। जो ग्रन्थ अथर्व-प्रातिशाख्य के नाम से प्रसिद्ध तथा लाहौर से भूमिका और टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुआ है[२], वह इसी ग्रन्थ का बृहत् पाठ है। इनमें अन्तिम ग्रन्थ ही अपने विषय का महत्त्वपूर्ण, उपादेय तथा व्यापक ग्रन्थ प्रतीत होता है जिसकी सहायता से अथर्व के मूलपाठ को समझने में भी विशेष सामग्री मिलती है।[३]

———

शिक्षा-ग्रन्थ

पाणिनीय शिक्षा—यह 'शिक्षा' नितान्त प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय है। यह लोक तथा वेद उभय शास्त्रों के लिये उपकारी होने के कारण अत्यधिक महत्त्व-पूर्ण है। इसमें ६० श्लोक हैं जिनमें उच्चारणविधि से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का संक्षेप में बड़ा ही उपादेय विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके रचयिता का पता नहीं चलता। ग्रन्थ के अन्त में पाणिनि का उल्लेख दाक्षीपुत्र[१] के नाम से किया गया है तथा उनकी प्रशंसा में कई श्लोक भी दिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि इसके लेखक नहीं हो सकते। पाणिनि-मतानुयायी किसी वैयाकरण ने इस उपयोगी ग्रन्थ का निर्माण किया है। इसके ऊपर अनेक टीकायें भी उपलब्ध होती हैं। परिमाण में न्यून होने पर भी यह इतनी सारगर्भित है कि केवल इसी के अनुशीलन से संस्कृत भाषा के इस उपयोगी विषय का ज्ञान भली-भाँति हो सकता है।

---

१. विश्वबन्धु शास्त्री द्वारा लाहौर से प्रकाशित, १९२३।

२. डा० सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा लाहौर से प्रकाशित, १९४०।

३. शङ्करः शाङ्करीं प्रादात् दाक्षीपुत्राय धीमते।
वाङ्मयेभ्यः समाहृत्य देवीं वाचमिति स्थितिः॥
(पाणिनीय शिक्षा ५६)

प्रातिशाख्यों के विषय को ग्रहण कर सर्वसाधारण के लिये कारिका के रूप में अनेक ग्रन्थ निबद्ध किये गये हैं, जो शिक्षा—वेदाङ्ग के साथ सम्बद्ध होने से शिक्षा कहे जाते हैं। ऐसे ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। 'शिक्षा संग्रह' नामक ग्रन्थ में एकत्र प्रकाशित छोटी बड़ी ३२ शाखाओं का समुच्चय है[1]। ये शिक्षायें चारों वेदों की भिन्न-भिन्न शाखाओं से सम्बन्ध रखती हैं। इन्हीं का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

(१) **याज्ञवल्क्य-शिक्षा**—यह परिमाण में बड़ी है। इसके श्लोकों की संख्या २३२ है। इसका सम्बन्ध शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता से है। इस शिक्षा में वैदिक स्वरों का उदाहरण के साथ विशिष्ट तथा विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है। लोप, आगम, विकार तथा प्रकृतिभाव—इन चार प्रकार की सन्धियों का विवेचन भी किया गया है। वर्णों के विभेद, स्वरूप, परस्पर साम्य तथा वैषम्य आदि विषय भी सुन्दर रीति से वर्णित हैं।

(२) **वासिष्ठी शिक्षा**—इसका भी सम्बन्ध वाजसनेयी संहिता से है। इस संहिता में आने वाले ऋक्-मन्त्र तथा यजुर्मन्त्र का पार्थक्य इस ग्रन्थ में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इस शिक्षा के अनुसार शुक्लयजुर्वेद की समग्र संहिता में ऋग्वेदीय मन्त्र १४६७ हैं और यजुर्षों की संख्या २८२३ है। यह संख्या-विभाग इस वेद के अध्ययन करने वालों के लिए बड़ा उपादेय है।

(३) **कात्यायनी शिक्षा**—इस शिक्षा में केवल तेरह (१३) श्लोक हैं, जिनके उपर जयन्त स्वामी नामक विद्वान् ने संक्षिप्त टीका लिखी है।

(४) **पाराशरी शिक्षा**—इस शिक्षा में १६० श्लोक हैं। इसमें भी स्वर, वर्ण, सन्धि आदि आवश्यक विषयों का विवेचन है।

(५) **माण्डव्य शिक्षा**—इस शिक्षा का सम्बन्ध शुक्लयजुर्वेद से है। इस शिक्षा में वाजसनेयी संहिता में आने वाले ओष्ठ्य वर्णों का संग्रह किया गया है। बड़े परिश्रम से समस्त संहिता का यध्ययन कर यह उपादेय ग्रन्थ लिखा गया है। साधारण शिक्षा-ग्रन्थों से इसकी विशिष्टता भी स्पष्ट है। स्वर तथा वर्णों का विचार न कर केवल ओष्ठ से उच्चारण किये जाने वाले वर्णों का ही इसमें संग्रह किया गया है।

---

१. यह 'शिक्षा-संग्रह' बनारस संस्कृत सिरीज से युगलकिशोर पाठक के सम्पादकत्व में सन् १८९३ में काशी से प्रकाशित हुआ है।

(६) **अमोघानन्दिनी शिक्षा**—इसमें १३० श्लोक हैं, जिनमें स्वरों का तथा वर्णों का पर्याप्त सूक्ष्म विचार किया गया है। इसका एक संक्षिप्त संस्करण भी है, जिसमें केवल १७ ही श्लोक हैं।

(७) **माध्यान्दिनी शिक्षा**—इसमें केवल द्वित्व के नियमों का विचार है। यह दो प्रकार की है। एक बड़ी और दूसरी छोटी। पहली गद्यात्मक और दूसरी पद्यात्मक है।

(८) **वर्णरत्न-प्रदीपिका**—इसके रचयिता भारद्वाज वंशी कोई अमरेश नामक विद्वान् हैं। इनके समय का कुछ पता नहीं चलता। इस ग्रन्थ के श्लोकों की संख्या २२७ है। नाम के अनुरूप ही इसमें वर्णों स्वरों तथा सन्धियों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है।

(९) **केशवी शिक्षा**—इसके रचयिता आस्तीक मुनि के वंशज गोकुल दैवज्ञ के पुत्र केशव दैवज्ञ हैं। यह शिक्षा दो प्रकार की उपलब्ध होती है। पहिली शिक्षा में माध्यनन्दिनशाखा से संबद्ध परिभाषाओं का विस्तृत विवेचन है। प्रतिज्ञा—सूत्र के समस्त नव सूत्रों की विस्तृत व्याख्या उदाहरणों के साथ यहाँ दी गई है। दूसरी शिक्षा पद्यात्मक है और इसमें २१ पद्यों में स्वर का विस्तृत विचार है।

(१०) **मल्लशर्म-शिक्षा**—इसके रचयिता उपमन्यु-गोत्रीय अग्निहोत्री खगपति के पुत्र मल्लशर्मा नामक कोई कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। इसके पद्यों की संख्या ६५ है। इसकी रचना लेखक के अनुसार १७८१ विक्रमी (१७२४ ई०) में हुई थी।

(११) **स्वराङ्कुश-शिक्षा**—इसके लेखक जयन्तस्वामी ने २५ पद्यों में स्वरों का विवेचन किया है।

(१२) **षोडश-श्लोकी शिक्षा**—इसके रचयिता रामकृष्ण नामक विद्वान् ने १६ पद्यों में वर्ण औत स्वरों का विचार प्रस्तुत किया है।

(१३) **अवसान-निर्णय-शिक्षा**—इसके लेखक अनन्तदेव नामक विद्वान् ने शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध इस शिक्षा का निर्माण किया है।

(१४) **स्वरभक्ति-लक्षण-शिक्षा**—इसके रचयिता महर्षि कात्यायन बतलाये जाते हैं। इसमें स्वर-भक्ति का विचार उदाहरणों के साथ किया गया है।

(१५) **प्रातिशाख्य-प्रदीप-शिक्षा**—इसके लेखक सदाशिव के पुत्र बालकृष्ण नामक कोई विद्वान् हैं। यह शिक्षा परिमाण में बहुत बड़ी है। इसमें प्राचीन ग्रन्थों के मतों का उल्लेख कर स्वर तथा वर्ण आदि शिक्षा के समग्र विषयों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। शिक्षा के यथार्थ ज्ञान के लिये यह ग्रन्थ बड़ा ही उपादेय है।

(१६) **नारदीय शिक्षा**—यह शिक्षा सामवेद से सम्बद्ध है। यह बड़ी विस्तृत तथा उपादेय शिक्षा है। इसके ऊपर शोभाकार भट्ट ने एक विस्तृत व्याख्या भी लिखी है। सामवेद के स्वरों के रहस्य को जानने के लिए यह बड़ी ही उपयोगी है। सामवेद से सम्बद्ध दो छोटी शिक्षायें और भी मिलती हैं—(१७) गौतमी शिक्षा तथा (१८) लोमशी शिक्षा।

(१९) **माण्डूकी शिक्षा**—इसका सम्बन्ध अथर्ववेद से है। इसके श्लोकों की संख्या १७९ है। अथर्ववेद के स्वरों तथा वर्णों को भली-भाँति जानने के लिए यह शिक्षा विशेष महत्त्व रखती है।

इन शिक्षा ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य छोटी शिक्षायें भी मिलती हैं जिनका नाम निर्देश करना ही पर्याप्त होगा :—

(२०) क्रम-सन्धान-शिक्षा, (२१) गलदृक्-शिक्षा, (२२) मनःस्वार-शिक्षा, जिसके रचयिता याज्ञवल्क्य मुनि बतलाये गये हैं।

ऊपर जिन शिक्षा-ग्रन्थों का वर्णन किया गया है वे सभी प्रकाशित हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त भी अभी अनेक ऐसे शिक्षा-ग्रन्थ विद्यमान हैं जिनका प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है और जो हस्तलिखित प्रतियों के रूप में सुरक्षित हैं।

इन शिक्षा-ग्रन्थों से प्राचीन **शिक्षा-सूत्र** भी विद्यमान थे। आपिशलि, पाणिनि तथा चन्द्रगोमी रचित शिक्षा-सूत्र प्रकाशित हैं[1]। आपिशलि-शिक्षा-सूत्र में स्थान, करण, अन्तःप्रयत्न, बाह्यप्रयत्न, स्थानपीडन, वृत्तिकार-प्रकरण, प्रक्रम, नाभितल-प्रकरण नाम से आठ प्रकरण विद्यमान हैं, जिनमें अक्षरों की उत्पत्ति, स्थान तथा प्रयत्नों का विषद वर्णन है। शिक्षा-सूत्रों में से कतिपय सूत्रों को वृषभदेव ने वाक्यपदीय की टीका में, हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण की बृहद्वृत्ति में तथा न्यासकार ने अपने न्यास में उद्धृत किया है। पाणिनि के शिक्षा-सूत्र में भी आपिशलि शिक्षा-सूत्रों के समान क्रम तथा प्रकरणों का निर्देश है। सूत्रों में भी विशेष रूप से समता उपलब्ध होती है। चन्द्रगोमी ने जैसे अष्टाध्यायी के

---

१. द्रष्टव्य—शिक्षासूत्राणि, काशी, सं० २००५।

आधार पर अपने व्याकरण की रचना की है उसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों के आधार पर अपने वर्ण-सूत्रों की रचना की है, जो संख्या में ५० हैं। ये शिक्षा-सूत्र ऊपर उल्लिखित शिक्षा-ग्रन्थों से निःसन्देह प्राचीनतर प्रतीत होते हैं।

इन शिक्षा-ग्रन्थों के अनुशीलन से भली-भाँति सिद्ध होता है कि प्राचीन ऋषियों ने भाषाशास्त्र के इस आवश्यक अङ्ग का कितना वैज्ञानिक अध्ययन किया था। आज कल के पाश्चात्य विद्वान् भी उच्चारण-विद्या (फोनोलाजी) के अन्तर्गत इस विषय का अध्ययन करते हैं। आज कल उच्चारण के स्वरूप को समझने के लिए कई प्रकार के यन्त्र भी बनाये गये हैं। प्राचीन भारत में ये साधन उपलब्ध नहीं थे, तो भी इस विषय का इतना गम्भीर वर्णन तथा अनुशीलन प्राचीन भारतीयों की उच्चारण-सम्बन्धी वैज्ञानिक गवेषणा के द्योतक हैं[1]। आज भी तत्तत् वैदिक संहिताओं के मन्त्रों का उच्चारण उसी प्रकार होता है जिस प्रकार प्राचीनकाल में होता था। वैदिक उच्चारण की परम्परा इतनी विशुद्ध है कि भारतवर्ष के किसी भी प्रान्त का वेदाध्यायी अन्यत्र उस शाखा के अध्येता के साथ समान स्वर में उन मन्त्रों का उच्चारण करता है। उन भिन्न प्रान्तीय वैदिकों के उच्चारण में थोड़ा भी पार्थक्य या वैभिन्न्य लक्षित नहीं होता। यह 'शिक्षा-शाखा' के महत्त्व का पर्याप्त सूचक है।

कल्प

(वेदाङ्ग साहित्य में 'कल्प' का स्थान नितान्त महत्त्वपूर्ण तथा प्राथमिक है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ-यागादि का विधान इतनी प्रौढ़ि तथा विस्तृति पर पहुँच गया था कि कालान्तर में उनको क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने का कार्य नितान्त आवश्यक प्रतीत हुआ। उस युग की प्रचलित शैली के अनुरूप इन ग्रन्थों की रचना 'सूत्र-शैली' में की गई। ('कल्प' का अर्थ है वेद में विहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र (**कल्पो वेद-विहितानां कर्मणा-मानुपूर्व्येण कल्पना-शास्त्रम्**[2]) फलतः जिन यज्ञ-यगादि तथा विवाहोपन-

---

१. इन शिक्षा-ग्रन्थों का वैज्ञानिक अध्ययन कर डाक्टर सिद्धेश्वर वर्मा ने 'फानेटिक आवजरवेशन आफ एन्शेण्ट हिन्दूज' नामक बड़ी ही उपादेय पुस्तक लिखी है।

२. विष्णुमित्र—ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति, पृ० १३।

यनादि कर्मों का विशिष्ट प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थों में किया गया है। उन्हीं का क्रमबद्ध वर्णन करने वाले सूत्र-ग्रन्थों का सामान्य अभिधान 'कल्प' है। ये सूत्र प्राचीनतम इसलिए माने जाते हैं कि ये अपने विषय-प्रतिपादन में ब्राह्मण तथा आरण्यकों के साथ साक्षात् सम्बद्ध हैं। ऐतरेय आरण्यक में अनेक वचनों का अस्तित्व है, जो वस्तुतः सूत्र ही हैं और जो सम्प्रदायानुसार आश्वलायन तथा शौनक के द्वारा रचित माने जाते हैं। ब्राह्मण-युग के प्रभावनुसार यज्ञ ही वैदिक आर्यों का प्रधान धार्मिक कृत्य था, परन्तु उसके बहुत ही विस्तृत होने से याग-विधान के नियमों को संक्षेप तथा व्यवस्थित रूप में ऋत्विजों के व्यावहारिक उपयोग के लिए प्रतिपादक ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और इसी की पूर्ति के लिए 'कल्पसूत्रों' का निर्माण प्रत्येक शाखा में सम्पन्न हुआ।

कल्पसूत्र मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं—

(१) **श्रौतसूत्र**—जिनमें ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित और अग्नि में सम्पाद्यमान यज्ञ यगादि अनुष्ठानों का वर्णन है।

(२) **गृह्यसूत्र**—जिनमें गृहाग्नि में होने वाले यागों का तथा उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि संस्कारों का विस्तृत विवरण है।

(३) **धर्मसूत्र**—जिनमें चतुर्वर्ण तथा चारों आश्रमों के कर्तव्यों, विशेषतः राजा के कर्तव्यों का विशिष्ट प्रतिपादन है। ये ही कल्पसूत्र में प्रधानतया परिगणित होते हैं।

चतुर्थ प्रकार (४) **शुल्वसूत्र** के नाम से अभिहित किया जाता है, जिसमें वेदि के निर्माण की रीति का विशिष्टरूपेण प्रतिपादन है और जो इसलिए आर्यों के प्राचीन ज्यामिति-सम्बन्धी कल्पनाओं तथा गणनाओं के प्रतिपादक होने से वैज्ञानिक महत्त्व रखता है।

श्रौतसूत्र का मुख्य विषय श्रुती-प्रतिपादित महत्त्वपूर्ण यज्ञों का क्रम-बद्ध वर्णन है। इन यागों के नाम हैं—दर्श, पूर्णमास, पिण्डपितृयाग, आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्य, निरूढ-पशु, सोमयाग, सत्र (द्वादश दिनों में समाप्य द्वादशसुत्या-युक्त यागविशेष), गवामयन (पूरे एक वर्ष तक चलने वाला याग), वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेध, पुरुषमेध, एकाहयाग, अहीन (दो दिनों से लेकर एकादश दिनों तक चलने वाला यागविशेष)। अग्नि-स्थापना के अनन्तर ही यागविधान विहीत है। फलतः अग्नि-चयन का और किन्हीं अवस्थाओं में पुनराधान का वर्णन भी श्रौतसूत्रों में आवश्यक होता है। यागों के पूर्वोल्लिखित नामों को देखकर ही अनुमान लगाया जा सकता है कि श्रौतसूत्र का विषय बड़ा

पेचीदा है तथा साधारण मनुष्यों के लिए उनमें किसी प्रकार का अकर्षण नहीं है, परन्तु धार्मिक दृष्टि से ये अपने विषय के अद्वितीय ग्रन्थ हैं । आज कल श्रौत-यागों का विधान विरल हो गया है, फलतः इन सूत्रों के अनुशीलन से ही हम उस युग की धार्मिक रूढ़ियों विधानों तथा धारणाओं के समझने मे कृतकार्य हो सकते हैं ।

ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र हैं—(१) आश्वलायन[1] तथा (२) शाङ्खायन[2]; जिनमें होता के द्वारा प्रतिपाद्य विषयों की ओर विशेष लक्ष्य रखते हुए यागों का अनुष्ठान है । इनमें पुरोऽनुवाक्या, याज्या तथा तत्तत् शस्त्रों के अनुष्ठान प्रकार; उनके देश, काल तथा कर्ता का विधान; स्वर-प्रतिगर-न्यूंख-प्रायश्चित्त आदि का विधान विशेष रूप से वर्णित हैं । आश्वलायन श्रौतसूत्र में १२ अध्याय हैं । प्रसिद्धि है कि आश्वलायन ऋषि शौनक ऋषि के शिष्य थे तथा ऐतरेय आरण्यक के अन्तिम दो अध्यायों (आरण्यकों) को गुरु और शिष्य ने मिलकर बनाया था । शाङ्खायन श्रौतसूत्र १८ अध्यायों में विभक्त है तथा नाना यज्ञ-यागों का प्रतिपादक है । शाङ्खायन ब्राह्मण से सम्बद्ध यह श्रौतसूत्र विषय तथा शैली की दृष्टि से प्राचीनतर प्रतीत होता है तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ किन्हीं अंशों में साम्य रखता है । इसके १८ अध्यायों मे से अन्तिम दो अध्याय पीछे के जोड़े गए बतलाये जाते हैं तथा कौषीतकि आरण्यक के आरम्भिक दो अध्यायों के समान हैं ।

ऋग्वेद के गृह्यसूत्रों में दो ही गृह्यसूत्र सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, जो पूर्वोक्त श्रौत-सूत्रों के साथ सम्बद्ध हैं । इनके नाम हैं—**आश्वलायन-गृह्यसूत्र** तथा **शांखायन-गृह्यसूत्र** ।

आश्वलायन-गृह्यसूत्र में ४ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में अनेक खण्ड हैं । यहाँ गृह्यकर्म तथा संस्कारों का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है । स्थान-स्थान पर महत्त्व की बातें हैं, जैसे ३।३ में ऋषितर्पण के प्रसंग में प्राचीन आचार्यों के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं, जो अन्यत्र नहीं मिलता । तृतीय अध्याय के द्वितीय खण्ड में वेदाध्ययन के विशेष नियमों का वर्णन उल्लेखनीय है तथा चतुर्थ खण्ड में 'उपाकरण' (श्रावणी) का वर्णन भी महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से मण्डित है[3] ।

---

१. सं० बिब्लोथिका इंडिका, कलकत्ते से ।

२. शाङ्खायन-श्रौतसूत्र का संस्करण हिलेब्रान्त के द्वारा, बिब्लो० इंडिका १८८८ ई० ।

३. सं० अनन्तशयन ग्रन्थमाला में हरदत्त की व्याख्या के साथ, ग्रन्थांक ७८; १९२३ ।

(शाङ्खायन-गृह्यसूत्र में ६ अध्याय हैं[1] । विषय वही है संस्कारों का वर्णन तथा तत्सम्बद्ध अन्य बातों का, जैसे गृह-निर्माण; गृह-प्रवेश आदि का भी स्थान-स्थान पर वर्णन है । ऋग्वेद की तीसरी शाखा—कौषीतकि के कल्पसूत्रों का भी परिचय अभी विद्वानों को मिला है । यह धारणा प्रायः प्रचलित है कि शाङ्खायन तथा कौषीतक दोनों एक ही शाखा के भिन्न-भिन्न अभिधान हैं, परन्तु कौषीतकि शाखा शाङ्खायन से सर्वथा भिन्न है तथा इसके विशिष्ट ग्रन्थ प्रकाशित होने लगे हैं । कौषीतक-श्रौतसूत्र अभी तक अप्रकाशित है, परन्तु **कौषीतक-गृह्यसूत्र** हाल में मद्रास से प्रकाशित हुआ है ।) शाङ्खायन गृह्य की रचना सुयज्ञ ने की थी तथा कौषीतक-गृह्यसूत्र की शाम्बव्य (अथवा शाम्भव्य ने) । इसीलिए यह शाम्भव्य-गृह्यसूत्र के नाम से भी प्रख्यात है । शाम्बव्य महाभारत के अनुसार कुरुदेश के निवासी बतलाये गये हैं । (इस गृह्यसूत्र में ५ अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में अनेक सूत्र हैं । ग्रन्थ का आरम्भ विवाह-संस्कार के वर्णन से होता है तथा जात शिशु के आरम्भिक संस्कारों के किंचित् परिचय के अनन्तर उपनयन का विवरण पर्याप्तरूपेण विस्तृत है । वैश्वदेव, कृषिकर्म के बाद श्राद्ध के वर्णन से यह समाप्त होता है ।\कौषीतक तथा शाङ्खायन के गृह्य सूत्रों में बहुशः साम्य है, वैषम्य भी कम नहीं है । कौषीतक-गृह्यसूत्र में केवल ५ अध्याय हैं, जब कि दूसरे गृह्य में ६ अध्याय हैं । प्रथम चार अध्यायों का विषय-क्रम तथा प्रतिपादन प्रकार प्रायः दोनों में एक समान ही है, परन्तु कौषीतक के अन्तिम अध्याय के विषय की तुलना शांखायन के अन्तिम दो अध्यायों के साथ कथमपि नहीं हो सकती । कौषीतक के अन्त में पितृमेध का वर्णन है, जो शांखायन-गृह्य में न होकर शांखायन-श्रौतसूत्र का एक अंश है (चौथे अध्याय का १४, १५, १६ खण्ड) । यहाँ कौषीतक का क्रम उचित तथा न्यायपूर्ण है, क्योंकि श्राद्ध गृह्य का ही अंग है, श्रौत का नहीं[2] ।

यजुर्वेदीय कल्पसूत्र

(शुक्लयजुर्वेद का एकमात्र श्रौतसूत्र है **कात्यायन-श्रौतसूत्र**, जो परिमाण में पर्याप्त बड़ा है । इसमें २६ अध्याय हैं जिनमें शतपथ-ब्राह्मण के द्वारा निर्दिष्ट

---

१. सं० काशी संस्कृत सीरीज में इन ऋग्वेदीय दोनों गृह्यों का अंग्रेजी अनुवाद डा० ओल्डनवर्ग ने किया है 'पवित्र प्राच्य ग्रन्थमाला' भाग २९ में ।

२. भवत्रात की व्याख्या के साथ मूल ग्रन्थ का संस्करण मद्रास विश्वविद्यालयीय संस्कृत ग्रन्थावली में (नं० १५) मद्रास से प्रकाशित हुआ है, १९४४ ।

यागक्रम का अनुवर्तन किया गया है ।) कर्काचार्य का विस्तृत भाष्य इसके गूढ़ रहस्यों की व्याख्या के लिए महत्त्वशाली ग्रन्थ माना जाता है ।[1] (शुक्ल-यजुर्वेद का एकमात्र गृह्यसूत्र 'पारस्कर-गृह्यसूत्र' के नाम से विख्यात है । इसके तीन काण्डों में से प्रथम काण्ड में आवसथ्य अग्नि का आधान, विवाह तथा गर्भधारण से आरम्भ कर अन्नप्राशन तक वर्णित है । द्वितीय काण्ड में चूडाकरण, उपनयन, समावर्तन, पञ्चमहायज्ञ, श्रवणाकर्म, सीता-यज्ञ का विवरण है तथा अन्तिम काण्ड में श्राद्ध के अनन्तर अवकीर्णि- प्रायश्चित्त आदि विविध विधियों का प्रतिपादन है ।) इसकी व्याख्यासम्पत्ति इसकी लोक-प्रसिद्धि का पर्याप्त परिचायक है । इसके पाँच भाष्यकारों की व्याख्यायें गृह्य के अर्थगौरव को प्रदर्शित कर रही हैं ।[2] इनके नाम हैं—(१) कर्क (कात्यायन-श्रौतसूत्र के व्याख्याता), (२) जयराम, (३) हरिहर, (४) गदाधर तथा (५) विश्वनाथ । हरिहर की पद्धति भी यजुर्वेदियों के कर्मकाण्ड की विशद प्रतिपादिका होने के कारण महत्त्वपूर्ण मानी जाती है । **कात्यायन-श्राद्धसूत्र** श्राद्ध-विषय का वर्णन विस्तार के साथ करता है । इसमें ९ कण्डिकायें हैं और प्रति कण्डिका में सूत्र हैं । इसके ऊपर तीन टीकायें प्रकाशित हैं—कर्काचार्य की, गदाधर की तथा कृष्ण मिश्र की श्राद्धकाशिका (रचनाकाल १५०५ संवत् = १४४८ ईस्वी) । हलायुध की व्याख्या का उल्लेख श्राद्धकाशिका के आरम्भिक दूसरे श्लोक में मिलता है । कात्यायन की रचना होने से ये **'कातीय श्राद्धसूत्र'** के नाम से विख्यात हैं । कात्यायन रचित **शुल्बसूत्र** काशी से प्रकाशित हुआ है । इसमें सात कण्किायें हैं, जिनमें प्रथम में परिभाषा का प्रकरण है । वेदि-निर्माण, चतुरस्रादि क्षेत्र, तथा चिति आदि का निरूपण यहाँ किया गया है । ज्यामिति का वैदिक युगीय प्रतिपादन नितान्त महत्त्वपूर्ण है ।

पारस्कर के टीकाकार

(१) **कर्क**—बड़े प्राचीन तथा मान्य टीकाकार हैं । इन्होंने कात्यायन के श्रौतसूत्र और पारस्कर के गृह्यसूत्र दोनों ग्रन्थों पर टीकायें लिखी हैं । हेमाद्रि ने

---

१. कर्क-भाष्य के साथ संस्करण चौखम्भा संस्कृत सीरीज (काशी) में तथा महामहोपाध्याय विद्याधर गौड़ की सरलावृत्ति तथा विस्तृत भूमिका के साथ अच्युत ग्रन्थमाला काशी से प्रकाशित; सं० १९८७ ।

२. पाँचो भाष्यों से संवलित पारस्कर-गृह्यसूत्र का विषद संस्करण गुजराती प्रेस बम्बई से प्रकाशित है, १९१७ । कातीय श्राद्धसूत्र का श्राद्धकाशिका के साथ

पने 'कालनिर्णय' में (१३ शती का अन्तिम चरण) त्रिकाण्डमण्डन को द्धृत किया है और इन्होंने अपने ग्रन्थ 'आपस्तम्बध्वनितार्थकारिका' में दो तीन थलों पर कर्काचार्य को उद्धृत किया है। हेमाद्रि ने श्राद्धनिर्णय में कर्क के त का खण्डन किया है, इस प्रकार ये हेमाद्रि से (१२५० ई०) तथा त्रिकाण्ड-ण्डन (१२ शती का मध्य भाग) से प्राचीनतर हैं। कर्क ने 'सिंही' नामक ओषधि का पर्याय 'रिंगणिका' दिया है, जो भोजपुरी में 'रेंगनी' का मूल प है। इनकी व्याख्या का नाम 'गृह्यसूत्र-भाष्य' है। प्राचीन भाष्य-ारों की जैसी पद्धति होती है वैसी ही स्वल्पाक्षर में आवश्यक पदों की याख्या यहाँ की गई है, परन्तु कोई अभीष्ट वस्तु छोड़ी नहीं गई है।

(२) जयराम—ये मेवाड़ के निवासी थे। भारद्वाज गोत्री आचार्य अपरनामक दामोदर के ये पौत्र थे तथा इनके पिता का नाम 'बलभद्र' था। भाष्य का नाम 'सज्जन-वल्लभ' है। मन्त्रों की व्याख्या इस भाष्य की विशेषता है। ग्रन्थकार ने पाठ के संशोधन में बड़ा परिश्रम किया है। तत्तद्वेदों के पाठ वैदिकों के मुख से सुनकर इन्होंने मन्त्रों का पाठ निर्धारण किया है। अन्य टीकाकारों ने पद्धति तथा अर्थ पर आग्रह दिखलाया है, परन्तु जयराम ने गृह्यसूत्र में उद्धृत मन्त्रों की व्याख्या बड़ी प्रामाणिकता से की है। यही इसका वैशिष्ट्य है।

(३) हरिहर ने अपनी टीका में (पृ० ३७०) विज्ञानेश्वर के मत को उद्धृत किया है। इसलिए इनका समय ११५० ई० के पीछे सिद्ध होता है। श्री दत्त ने अपने 'आचारादर्श' में (१६वीं शती) तथा हेमाद्रि (१२५० ई०) ने श्राद्ध-प्रकरण में इनके मत को निर्दिष्ट किया है। फलतः इनका समय १२०० ई० ये आस-पास होना चाहिए। ये उत्तरी भारत, विशेषतः कन्नौज प्रान्त के निवासी प्रतीत होते हैं। हरिहर की व्याख्या टीका होने की अपेक्षा पद्धति होने से विशेष महत्त्व रखती है। हरिहर ने इस पद्धति में गृह्य कर्मकाण्ड का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है। पारस्कर-गृह्यसूत्र की सर्वापेक्षा लोकप्रिय व्याख्या यही है। हरिहर धर्मशास्त्र से विशेष परिचय रखते हैं। इन्होंने प्राचीन धर्म-शास्त्रीय ग्रन्थकारों में मनु, वृद्धशातापत, याज्ञवल्क्य, यम, अङ्गिरा, हारीत, सुमन्तु, लौगाक्षि (चूडाकरण-विधि, पृ० १८७) के मत उद्धृत किये हैं।

· संस्करण काशी से १९५० संवत् में निकला था। गृह्य के साथ इसकी तीनों व्याख्यायें भी प्रकाशित हैं, बम्बई १९१७।

टीका के आरम्भ में किसी वासुदेव नामक आचार्य का आदर पूर्वक स्मरण किया गया है जिसके मतानुसार पद्धति की गई है। इस व्याख्या का नाम है—गृह्यसूत्र-व्याख्यान। ग्रन्थकार अपने को अग्निहोत्री बतलाता है।

(४) गदाधर ने अपनी व्याख्या में प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख विस्तार के साथ किया है। ऐसे आचार्यों में भर्तृयज्ञ, वासुदेव, गङ्गाधर, रेणुदीक्षित तथा हरिहर मुख्य हैं। हरिहर की व्याख्या का खण्डन भी कहीं-कहीं किया गया है (अत्र हरिहरमिश्रैरबुद्ध्वैव पाण्डित्यं कृतमस्ति, पृ० ८४)। 'दृढ-पुरुष' (१।८।१०) के अर्थ की व्याख्या में अनेक आचार्यों का मत दिया गया है। 'दृढपुरुष' के अर्थ हैं—कोई बलशाली पुरुष (हरिहर); जितेन्द्रिय (भर्तृ यज्ञ); जामाता (रेणुक तथा गङ्गाधर)। इनमें गदाधर ने अन्तिम अर्थ को स्वीकृत किया है। अन्यत्र (पृ० १२४) कर्क, जयराम, भर्तृयज्ञ के मतों का निर्देश कर हरिहर के मत को मान्य ठहराया है। इसमें भाष्य में उद्धृत ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार ये हैं—मनु, याज्ञवल्क्य, हारीत, आपस्तम्ब, व्यास, मिताक्षरा, पराशर, मदनरत्न, वृद्धशातातप, स्मृत्यर्थसार, मदनपारिजात, वसिष्ठ, प्रयोग-पारिजात तथा हेमाद्रि (१२५० ई०)। गदाधर की अभिरुचि ज्योतिष-सम्बन्धी विषयों की ओर अधिक है। इसलिए उन्होंने संस्कारों के उचित काल का निर्णय करने के लिए अनेक ज्योतिष-ग्रन्थों से आवश्यक श्लोक उद्धृत किये हैं। 'रत्न-कोश' इसी प्रकार का एक प्रख्यात ग्रन्थ प्रतीत होता है (पृ० १४५)। कभी-कभी मूल ग्रन्थ में अनुल्लिखित विषयों का भी विवरण दिया गया है। रजस्वला के कर्तव्यों का वर्णन ऐसा ही एक प्रसङ्ग है (पृ० १२३)। गदाधर के भाष्य 'गृह्य-भाष्य' पर भर्तृयज्ञ तथा जयराम के भाष्यों का विशेष प्रभाव पड़ा है। गदाधर किसी संस्कार की व्याख्या में उसके विषय में नाना मतों का संग्रह बड़े विस्तार के साथ करते हैं। यही इसका वैशिष्ट्य है। इनके पिता का नाम वामन दीक्षित था। जिन्हें ये 'त्रिरग्निचित् सम्राड् स्थपति महायाज्ञिक' की उपधि से विभूषित करते हैं। हेमाद्रि के उद्धरण से इनका समय १२५० ईस्वी के अनन्तर सम्भवतः १४वीं शती में रखा जा सकता है।

(५) विश्वनाथ—ये नन्दपुर के काश्यप गोत्री नागर ब्राह्मण थे। पिता का नाम था नरसिंह और माता का नाम गंगादेवी; जिनका स्मरण टीका के आदि में किया गया है। इनकी टीका का नाम 'गृह्यसूत्र-प्रकाशिका' है, जो अन्त में खण्डित थी। अन्त के पाँच खण्डों की टीका ग्रन्थकार के पितृव्य अनन्त के प्रपौत्र लक्ष्मीधर ने १६९२ संवत् (=१६३५ ईस्वी) में लिखी। ये

स्तम्भ-तीर्थ (खम्भात, गुजरात) से आकर काशी में रहने लगे थे और यहीं काशी में इस व्याख्या की पूर्ति हुई। इस प्रकार विश्वनाथ का समय १६वीं शती का उत्तरार्ध है। व्याख्या परिमाण में पर्याप्तरूपेण विस्तृत है।

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध इन श्रौतसूत्रों की उपलब्धि होती है—(१) बौधायन-श्रौतसूत्र, (२) आपस्तम्ब, (३) हिरण्यकेशी या सत्याषाढ, (४) वैखानस, (५) भारद्वाज तथा (६) मानव-श्रौतसूत्र। इनमें से प्रथम पाँच तो तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्ध रखते हैं तथा अन्तिम मैत्रायणी शाखा से। इनमें बौधायन तथा आपस्तम्ब शाखा ने कल्प के चारों सूत्र-ग्रन्थों—श्रौत, गृह्य, धर्म तथा शुल्ब को पूर्ण तथा समग्र रखा है। ये परस्पर में इतने सम्बद्ध हैं कि हम इन्हें एक ही ग्रन्थ के चार खण्ड मान सकते हैं। एक ही आचार्य बौधायन तथा आपस्तम्ब ने तत्तत् कल्पसूत्रों का प्रणयन किया है, इस सिद्धान्त के मानने में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं दीखती। ग्रन्थकार की एकता न भी मानी जाय, परन्तु इतना तो सन्देह-रहित तथ्य है कि ये समग्र ग्रन्थ एक ही समान शैली पर निर्मित हैं तथा इनमें प्रतिपादन की एकता स्पष्ट है। इन कल्पसूत्रों में बौधायन तथा मानव निःसन्देह प्राचीनतर हैं, क्योंकि इनका उल्लेख आपस्तम्ब श्रौत में उपलब्ध होता।

(१) बौधायन-श्रौतसूत्र को डा० कैलेण्ड ने सम्पादित किया है तथा गोविन्द स्वामी के भाष्य के साथ यह मैसूर से भी प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार **बौधायन-गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र** तथा **शुल्वसूत्र** भी सम्पादित होकर प्रकाशित हैं। **बौधायन-धर्मसूत्र** में चार प्रश्न या खण्ड हैं, जिनमें ब्रह्मचर्य, शुद्धाशुद्ध विचार, राजकीय विधि तथा अष्टविध विवाह का वर्णन है (प्रथम प्रश्न); प्रायश्चित्त, उत्तराधिकार, चार आश्रम, गृहस्थ धर्म तथा श्राद्ध (द्वितीय प्रश्न); वैखानस आदि के कर्तव्य तथा चान्द्रायणादि व्रत (तृतीय प्रश्न) तथा काम्य सिद्धियाँ (चतुर्थ प्रश्न) क्रमशः वर्णित तथा व्याख्यात हैं।[१]

---

१. बौधायन-श्रौत का सं० डा० कैलेण्ड द्वारा बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता १९०४–२४ तथा गोविन्द स्वामी के भाष्य के साथ मैसूर से। गृह्य तथा धर्म का प्रकाशन 'गवर्नमेंण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी' मैसूर में तथा शुल्बसूत्र का संस्करण तथा अंग्रेजी अनुवाद डा० थीबो द्वारा 'पण्डितपत्र' के नवम भाग, में काशी से।

(२) **आपस्तम्ब का कल्पसूत्र**—तीन प्रश्नों या अध्यायों में विभक्त है। जिनमें से प्रथम तेइस प्रश्न श्रौतसूत्र है, २४ प्रश्न परिभाषा है; २५ तथा २६ प्रश्नों में गृह्यकर्म के उपयोगी मन्त्रों का एकत्र संकलन है तथा सत्ताइसवाँ प्रश्न गृह्यसूत्र है। २८ तथा २९ प्रश्न धर्मसूत्र है तथा अन्तिम ३० प्रश्न शुल्ब-सूत्र है। और इस प्रकार यह कल्पसूत्र पूर्णतया सुरक्षित तथा सर्वतः परिपूर्ण है। **आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र** का मुख्य सम्बन्ध तैत्तिरीय-ब्राह्मण से है और इसीलिए ब्राह्मणस्थ याग-विधानों का विशिष्ट वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। **आपस्तम्ब गृह्यसूत्र** में २३ खण्ड हैं जिसमें विवाह, उपनयन, उपाकर्मोत्सर्जन, समावर्तन, मधुपर्क, सीमन्तोन्नयन आदि तेइस विषयों का मुख्यतया प्रतिपादन है। **आपस्तम्ब-धर्मसूत्र** में ब्रह्मचर्य, भोजन, विचार, प्रायश्चित्त आदि उपयोगी विषयों का वर्णन है। **आपस्तम्ब-परिभाषासूत्र** कपर्दिस्वामी के भाष्य तथा हरदत्त की व्याख्या के साथ प्रकाशित है[1]।

(३) **हिरण्यकेशी-श्रौतसूत्र**—आपस्तम्ब की आपेक्षा अर्वाचीन माना जाता है। इसीलिए इसकी रचना आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र के आधार पर विशेषतः प्रतीत होती है। इसका दूसरा नाम **सत्याषाढ** है। इनका गृह्यसूत्र भी प्रकाशित है[2]।

(४) भारद्वाज-श्रौतसूत्र की हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। भारद्वाज-गृह्यसूत्र लाइडन से १९१३ में प्रकाशित हुआ है।

---

१. आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र का सम्पादन डा० गार्बे ने किया है बिब्लि० इं० कलकत्ता १८८२–१९०३ तथा प्रथम सात प्रश्नों का जर्मन अनुवाद किया है डा० कैलेण्ड ने, जर्मनी १९२१ में। गृह्य का सं० डा० विन्टरनित्स द्वारा, वियना १८८७ तथा हरदत्त की अनाकुला वृत्ति और सुदर्शनाचार्य कृत तात्पर्यदर्शन टीका के साथ चौखम्भा, काशी से १९२८ में तथा इसका अंग्रेजी अनुवाद ओल्डनबर्ग द्वारा प्राच्य ग्रन्थमाला के खण्ड ३० में शुल्ब-सूत्र का जर्मन अनुवाद १९०१–२। धर्मसूत्र का सं० मैसूर से गवर्नमेण्ट संस्कृत ग्रन्थमाला में।

२. सत्याषाढ-श्रौतसूत्र अनेक टीकाओं के साथ आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला (संख्या ५३), पूना तथा गृह्य का सं० टीका के साथ डा० क्रिस्ते ने वीयना से १८८९ तथा अंग्रेजी अनुवाद प्राच्य ग्रन्थमाला खण्ड ३० में।

(५) मानव-श्रौतसूत्र[1] का सम्बन्ध मैत्रायणी शाखा से है। मानव-गृह्यसूत्र अष्टावक्र-भाष्य के साथ गायकवाड ओ० सीरीज में सुसम्पादित होकर प्रकाशित है। इसका शुल्बसूत्र भी उपलब्ध है।

काठक-गृह्यसूत्र भी मानव-गृह्यसूत्र से मिलता जुलता है तथा कठशाखा से स्पष्टतः अपना सम्बन्ध रखता है। काठक-गृह्यसूत्र का ही नाम 'लौगाक्षिगृह्य-सूत्र' है और इसी नाम से हेमाद्रि तथा अन्य निबन्धकारों ने इसका उद्धरण अपने ग्रन्थों में दिया है। इसके दो प्रकार के विभाग मिलते हैं—एक विभाग के अनुसार इसमें आरम्भ से लेकर अन्त तक ७३ कण्डिकायें हैं; दूसरे प्रकार में इसमें पाँच बड़े-बड़े खण्ड या अध्याय हैं। इसी पंचाध्यायी विभाग के कारण इसका लोकप्रिय नाम 'गृह्य-पञ्चिका' है। इसके तीन टीकाकारों में आदित्य-दर्शन प्राचीनतम तथा सर्वश्रेष्ठ हैं। माधवार्य के पुत्र ब्राह्मणबल की व्याख्या टीका न होकर अधिकांश में पद्धति ही है। हरिपाल के पुत्र देवपाल की टीका भाष्य के नाम से प्रख्यात है। इन तीनों व्याख्याओं के सारांश के साथ डा० कालेण्ड ने इसका सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया है (लाहौर, वि० सं० १९८१)।

वाराह-श्रौतसूत्र का सम्बन्ध भी कृष्णयजुर्वेद से ही है[2]। इस लघुकाय ग्रन्थ में श्रौत यागों का सामान्य परिचय है।

सामवेदीय कल्पसूत्र

सामवेद के कल्पसूत्रों में सर्वप्राचीन माना जाता है आर्षेय कल्पसूत्र[3], जो अपने रचयिता के नाम पर मशक-कल्पसूत्र के नाम से भी पुकारा जाता है। इसमें साम गानों का तत्तत् विशिष्ट अनुष्ठानों में विनियोग का विवरण है। यह पञ्चविंश-ब्राह्मण के यागक्रम का अनुसरण करता है तथा इससे स्पष्टतः सम्बद्ध है। यह लाट्यायन-श्रौतसूत्र से निःसन्देह प्राचीनतर है, क्योंकि लाट्यायन ने इसका निर्देश किया है। सामवेद की तीनों शाखाओं के कल्पसूत्र आज सुरक्षित तथा

---

१. मानव-श्रौतसूत्र के आदिम पाँच अध्यायों का सम्पादन डा० कनाउएर ने किया है, सेन्टपीटर्सबर्ग (रूस) १९०० और इन्हीं ने मानव-गृह्य को वहीं से सम्पादित किया है। इधर बड़ोदा से भाष्य सहित सं० निकला है।

२. सं० डा० कैलेण्ड तथा रघुवीर द्वारा, लाहौर १९३३।

३. सं० डा० कैलेण्ड द्वारा, लाइपजिग (जर्मनी) १९०८।

उपलब्ध हैं, जिनमें लाट्यायन-श्रौतसूत्र[1] का सम्बन्ध है कौथुमशाखा से, द्राह्यायण-श्रौतसूत्र[2] का (जो लाट्यायन से बहुत ही भिन्नता रखता है), राणायनीय से तथा जैमिनीय श्रौतसूत्र का जैमिनि शाखा से[3]। सामवेद का मुख्य गृह्यसूत्र कौथुम-शाखीय गोभिल-गृह्यसूत्र है, जो इस श्रेणी के ग्रन्थों में पूर्णतम, प्राचीनतम तथा अनेक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सामवेद की संहिता के अतिरिक्त 'मन्त्र-ब्राह्मण' के मन्त्रों को भी उद्‌धृत करता है। खादिर-गृह्यसूत्र गोभिल से यत्किञ्चित् परिवर्तित तथा संक्षिप्त है जिसे राणायनीय शाखा वाले प्रयोग में लाते हैं। जैमिनीय गृह्यसूत्र भी सुन्दर तथा उपादेय है[4]। गोभिल-गृह्यसूत्र चार प्रपाठकों में विभक्त है।

जैमिनीय गृह्यसूत्र दो खण्डों में विभक्त है—प्रथम खण्ड में २४ कण्डिकायें और दूसरे खण्ड में ९ कण्डिकायें हैं। इसकी टीका (सुबोधिनी) श्री निवासाध्वरी के द्वारा निर्मित है। इस टीका के कतिपय महत्त्वपूर्ण उद्धरण ही मूलग्रन्थ के साथ डा० कैलेण्ड ने प्रकाशित किये हैं (पंजाब संस्कृत सीरीज ग्रन्थसंख्या २, लाहौर)। जैमिनीय शाखा के साथ इसके सम्पर्क के अनेक तथ्य उपलब्ध हैं। पुरुषसूक्त की सात ऋचायें का यहाँ निर्दिष्ट है, जो इसी सामशाखा के अनुसार हैं।

अथर्ववेदीय कल्पसूत्र

अथर्ववेद का कल्पसूत्र विभिन्न ऋषियों के द्वारा प्रणीत है। इस वेद के श्रौतसूत्र का नाम है वैतान-श्रौतसूत्र[5]। यह न तो प्राचीन और न मौलिक ही माना जाता है। वैतान नाम से भी यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है। 'वैतान' का अर्थ है त्रिविधि अग्नि-सम्बन्धी ग्रन्थ। यह गोपथ-ब्राह्मण का अनुसरण अनेक अंशो में

---

१. सं० बिब्लिओ० ई०, कलकत्ता।

२. सं० डा० रायटर द्वारा (केवल प्रथम भाग) लण्डन, १९०४।

३. सं० कतिपय भाग का ही डा० गाष्ट्रा द्वारा, लीडन १९०६।

४. इनमें गोभिल का सं० कलकत्ते से तथा जैमिनीय का लाहौर से, १९२२। इनमें से गोभिल का अंग्रेजी अनुवाद प्राच्य ग्रन्थमाला भाग ३० में तथा खादिर का भाग २९ में प्रकाशित है। खादिर-गृह्यसूत्र रुद्रस्कन्ध की टीका के साथ मैसूर से प्रकाशित है।

५. सं० डा० गार्बे द्वारा लण्डन से १८७८ में प्रकाशित तथा जर्मन में अनुवादित। इस अनुवाद से विशुद्धतर जर्मन अनुवाद है डा० कैलेण्ड का, १९१०।

करता है। यद्यपि कात्यायन-श्रौतसूत्र का भी प्रस्ताव इसके ऊपर विशेष है (कौशिक-गृह्यसूत्र[1] अथर्ववेद का एकमात्र गृह्यसूत्र है। यह १४ अध्यायों में विभक्त है तथा इसके ऊपर हारिल एवं केशव की संक्षिप्त व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं। (यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय यातुविद्या (जादू की विद्या) की जानकारी के लिए अनुपम सामग्री प्रस्तुत करता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।) इस ग्रन्थ की सहायता से हम अथर्ववेद के नाना अनुष्ठानों का विधिविधान पूर्णरूपेण जान सकते हैं। अतः इसके अनुशीलन के अभाव में अथर्व का रहस्य उन्मीलित नहीं होता है। यही इसकी उपादेयता का बीज है। (वैद्यक शास्त्र के औषधों के लिए तो यह एक अक्षय निधि है।)

धर्म-सूत्र

धर्मसूत्र कल्प के अविभाज्य अंग हैं। नियमतः प्रत्येक शाखा का अपना विशिष्ट धर्मसूत्र होना चाहिए, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। आश्वलायन, शांखायन तथा मानव शाखा के श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र दोनों उपलब्ध हैं, परन्तु उनका धर्मसूत्रात्मक अंश उपलब्ध नहीं है। आश्वलायन-धर्मसूत्र तथा शाङ्खायन-धर्मसूत्र की नितरां उपलब्धि नहीं होती। मानव-धर्मसूत्र भी, जिसके आधार पर कालान्तर में मनुस्मृति का निर्माण हुआ, अभी तक उपलब्ध नहीं है। केवल बौधायन, आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशी के कल्पसूत्रों की ही उपलब्धि पूर्णरूपेण होती है और इसीलिए इनके धर्मसूत्र भी मिलते हैं। कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक (मीमांसा-सूत्र १।३।११) में भिन्न-भिन्न वेदों के धर्मसूत्रों का प्रामाणिक निर्देश किया है। गृह्यसूत्र पाक, यज्ञ तथा संस्कारों का, विशेषतः उपनयन, विवाह तथा श्राद्ध का विशेष वर्णन करते हैं। धर्मसूत्र भी इन विषयों का वर्णन निश्चय ही करते हैं, परन्तु दृष्टिभेद से। गृह्य में अनुष्ठानों के आकार-प्रकार तथा विधान पर ही

---

१. सं० डा० ब्लूमफील्ड द्वारा न्यूहावेन (अमेरिका) १८९० में तथा हिन्दी अनुवाद के साथ उदयनारायण सिंह द्वारा इसी का पुनर्मुद्रण, मुजफ्फरपुर (बिहार) से १९४२। ब्लूमफील्ड ने अथर्व मन्त्र के अनुवाद की टिप्पणियों में भी इसका विशेष उपयोग किया है तथा डा० कैलेण्ड ने कतिपय महत्वशाली अंश का जर्मन अनुवाद किया है।

विशेष आग्रह है; धर्मसूत्र में इससे भिन्न आचार, कर्तव्य कर्म, व्यवहार को महत्त्व दिया गया है। धर्मसूत्र में चतुर्वर्णों के कर्तव्य कर्म तथा वर्तनप्रकार के साथ-साथ राजधर्म का वर्णन मुख्य है। राजा के कर्तव्य, प्रजा के साथ सम्बन्ध, व्यवहार के नियम, अवस्थाविशेष में प्रायश्चित्त का विधान धर्मसूत्र को महत्त्व प्रदान करता है। विवाह के नाना प्रकारों का उभयत्र वर्णन है, परन्तु गृह्यसूत्र का मुख्य उद्देश्य केवल उसकी धार्मिक पद्धति तथा अनुष्ठान के प्रकार के विवरण से है। धर्मसूत्र में विवाह से उत्पन्न पुत्रों के बीच सम्पत्ति के विभाजन का प्रश्न मुख्य है। दाय भाग से वञ्चना, स्त्रियों का पारतन्त्र्य, व्यभिचार के लिए प्रायश्चित्त, नियोग के नियम; गृहस्थ के नित्य तथा नैमित्तिक कर्तव्यों का वर्णन सब धर्मसूत्रों में नियमतः थोड़ी या अधिक मात्रा में आता है। इन्हीं धर्म-सूत्रों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

धर्मसूत्रों में प्राचीनतम ग्रन्थ **गौतम-धर्मसूत्र** माना जाता है जिसका सम्बन्ध कुमारिल के प्रामाण्य पर सामवेद से है। चरणव्यूह में निर्दिष्ट राणायनीय शाखा की ९ अवान्तर शाखाओं में गौतम अन्यतम है। गोभिल ने गृह्यसूत्र से गौतम को उद्धृत किया है। प्राचीन धर्मकारों में केवल मनु का उल्लेख यहाँ मिलता है। बौधायन-धर्मसूत्र में केवल उल्लेख ही नहीं है, प्रत्युत तीसरे प्रश्न के दशम अध्याय में गौतम-धर्मसूत्र के १९वें अध्याय से प्रायश्चित्त-विषयक सब सामग्री ली गई है। इसी प्रकार वसिष्ठ-धर्मसूत्र का १२ वाँ अध्याय गौतम के १९वें अध्याय से लिया गया है। इस ग्रन्थ में २८ अध्याय हैं जिनमें वर्णधर्म, राजधर्म, नित्यकर्म तथा प्रायश्चित्त का विशेष प्रतिपादन है। गौतम-धर्मसूत्र का निर्देश याज्ञवल्क्य, कुमारिल, शंकराचार्य तथा मेधातिथि ने किया है। इसका ६०० वि० पू० और ४०० वि० पू० के बीच में अविर्भाव माना जा सकता है। हरदत्त ने व्याख्या से तथा आचार्य मस्करी ने भाष्य से इसके अर्थ को सरल तथा बोधगम्य बनाया है[1]।

कृष्णयजुर्वेदीय कल्पकारों में प्राचीनतम आचार्य **बौधायन** ने **धर्मसूत्र** भी लिखा है, जो उनके कल्पसूत्र का एक अंशमात्र है। बौधायन-गृह्य बौधायन-धर्मसूत्र का अस्तित्व मानता है। इनका ग्रन्थ ४ प्रश्नों (या खण्डों) में विभक्त है, जिनमें अन्तिम प्रश्न सम्भवतः परिशिष्ट तथा अर्वाचीन-कालीन माना

---

१. सं० हरदत्त की व्याख्या के साथ आनन्दाश्रम, पूना तथा मस्करिभाष्य के साथ मैसूर से प्रकाशित।

जाता है। बौधायन की प्राचीनता का यह एक निदर्शन यह भी है कि उनकी भाषा पाणनीय संस्कृत से भिन्नता रखती है। अनेक प्राचीन धर्माचार्यों के नाम तथा मतों का उल्लेख ग्रन्थ में पाया जाता है। बौधायन के अनेक सूत्र आपस्तम्ब तथा वसिष्ठ से अक्षरशः मिलते हैं। यह धर्मसूत्र गौतम की अपेक्षा अर्वाचीन, परन्तु आपस्तम्ब से प्राचीन माना जाता है। अतः इनका समय वि० पू० ५००–२०० वि० पू० तक माना जाता है[1]।

आपस्तम्ब-कल्पसूत्र के दो प्रश्न (२८ तथा २९) आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के नाम से विख्यात हैं। बौधायन की अपेक्षा इसकी भाषा अधिक प्राचीन तथा अपाणिनीय प्रयोगों से युक्त है और अनेक अप्रचलित तथा विरल शब्दों की भी यहाँ उपलब्धि होती है जिससे इसकी प्राचीनता स्वतः सिद्ध होती है। संहिता के अनन्तर ब्राह्मणों के अनेक उद्धरण दिये गये हैं। उन्होंने प्राचीन धर्म के ऊपर दस ग्रन्थकर्ताओं के नाम तथा मतों का उल्लेख किया है, जिनमे काण्व, कुणिक, कुत्स कौत्स, पुष्करसादि, वार्ष्यायणि, श्वेतकेतु, हारीत आदि मुख्य हैं। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में मीमांसा के पारिभाषिक शब्दों तथा मीमांसा के सिद्धान्त का बहुत अधिक निर्देश मिलता है तथा अनेक विषयों में इनका निर्णय जैमिनी से मिलता है। आपस्तम्ब के ग्रन्थ में धर्मशास्त्र के अनेक माननीय विषयों तथा सिद्धान्तों का विवेचन इसकी व्यापक दृष्टि का परिचायक है। गौतम (४।१४–१७) तथा बौधायन (१।८।७–१२) ने वर्णशंकर जातियों का वर्णन किया है, परन्तु आपस्तम्ब इस विषय में मौन हैं। ये नियोग की निन्दा करते हैं तथा प्राजापत्य विवाह को उचित विवाह मानने के पक्ष में नहीं हैं। इनका समय ६०० वि० पू०—३०० वि० पू० स्वीकृत किया जाता है।

आपस्तम्ब के निवास स्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। डा० बूलर ने इन्हें दक्षिण भारत का ग्रन्थकार माना है। आपस्तम्ब ने अपने धर्मसूत्र (१।१७।१७) में आसन पर उपविष्ट पुरुषों के हाथ में जल देने की श्राद्धीय प्रथा को उदीच्यों का सम्प्रदाय बतलाया है (उदीच्यवृत्तिश्चेदासनगतेषूदपात्रानयनम्)। इसी के प्रमाण पर बूलर ने उन्हें दक्षिणदेशीय सिद्ध किया है, परन्तु वस्तुस्थिति ठीक इसके विपरीत है। एक प्रमाण से वे उत्तरदेशीय प्रतीत होते हैं। सीमन्त-प्रकरण (आप० गृह्य १४।३) में वीणा गाने वालों को इस मन्त्रद्वय के गाने का विधान किया गया है—

---

१. गोविन्द स्वामी के भाष्य के साथ काशी संस्कृत सीरिज में प्रकाशित।

और महनीय है। कुमारिल तन्त्रवार्तिक में वसिष्ठ धर्मशास्त्र का सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ बतलाते हैं, परन्तु यह प्रायोवाद है। ऋग्वेदियों के पास अपना स्वतन्त्र धर्मसूत्र नहीं था। फलतः स्वतन्त्ररूपेण निर्मित इस धर्मसूत्र को स्वायत्त कर इन्होंने इसके ऊपर अपने वेद की छाप लगा दी। इस ग्रन्थ के प्रायश्चित्त-प्रकरण (२८वें अध्याय) में जिस प्रकार ऋग्वेद के अस्यवामीय (१।१६४), हविष्पान्तीय (१०।८८) और अघमर्षण (१०।१९०) सूक्त के मन्त्रों का उल्लेख किया गया है उसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता के भी अनेक मन्त्रों का निःसन्दिग्ध उद्धरण विद्यमान है। फलतः इसे ऋग्वेद के साथ सम्बद्ध मानने के लिये नियामक प्रमाण नहीं हैं, परन्तु मनुस्मृति के साथ इसके घनिष्ठ सम्बन्ध के प्रमाण अवश्यमेव उपलब्ध होते हैं। वसिष्ठ का मूल धर्मशास्त्र कालान्तर में परिबृंहित, परिवर्धित और परिवर्तित होता आया है, क्योंकि हस्तलेखों में अध्यायों की संख्या एक समान नहीं है। कहीं ६, कहीं २१ और कहीं ३० अध्यायों का मिलना इस परिबृंहण का परिचायक है। तीस अध्यायों वाला ही ग्रन्थ आज प्रमाणभूत सर्वत्र उपलब्ध होता है[1]।

प्राचीन ग्रन्थों से सम्बन्ध

गौतम धर्मशास्त्र के साथ इस ग्रन्थ का विशेष सम्बन्ध लक्षित होता है। वसिष्ठ-धर्मसूत्र के २२वें अध्याय और गौतम-धर्मसूत्र के १९वें अध्याय में अक्षरशः साम्य है। अन्यत्र भी अर्थतः तथा शब्दतः समानता का अभाव नहीं है। प्रमाणों के अभाव में यह निर्णय कठिन है कि कौन किससे उद्धृत कर रहा है वसिष्ठ गौतम से, अथवा गौतम वसिष्ठ से, बहुत सम्भव है कि ये दोनों श्रद्धेय धर्मशास्त्र उस युग की रचनाएँ हों, जिसमें परस्पर में आदान-प्रदान न्याय माना जाता था। वर्तमान मनुस्मृति तथा वसिष्ठ-धर्मशास्त्र में लगभग ४० श्लोक अक्षरशः एक ही हैं। मनुस्मृति के श्लोक यहाँ गद्यात्मक सूत्रों में परिणत दृष्टिगोचर होते हैं। अतः विद्वानों की दृढ़ धारणा है कि वसिष्ठ का धर्मशास्त्र ही वर्तमान मनुस्मृति से अथवा इसके विशुद्ध प्राचीन मूलरूप से इन श्लोको को उद्धृत करता है।

---

१. कलकत्ता से जीवानन्द विद्यासागर ने तथा बाम्बे संस्कृत सीरीज में डा० फ्यूरेर ने १९३० ई० में इसके मूल का संस्करण निकाला है। काशी से विद्वन्मोदनी टीका के साथ यह कभी प्रकाशित हुआ था, परन्तु आज यह संस्करण नितान्त दुर्लभ है।

स्मृतिकार वसिष्ठ की ख्याति प्राचीन स्मृति ग्रन्थों में बहुशः मिलती है। याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में (१।४) प्राचीन स्मृतिकारों में वसिष्ठ का उल्लेख किया है। कुमारिल ने भी इनका सादर निर्देश तन्त्रवार्तिक में किया है। विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य-स्मृति की टीका में तथा मेधातिथि ने मनुभाष्य में वसिष्ठ-धर्मशास्त्र के मतों का उद्धरण सम्मानपूर्वक बहुशः किया है। इससे स्पष्ट है कि इस स्मृति का आदर धर्मशास्त्र के इतिहास में प्रामाण्य तथा उपयोग की दृष्टि से बहुत ही किया जाता था। एक बात ध्यान में रखने की यह है कि 'वसिष्ठ' तथा 'वृद्ध वसिष्ठ' नामक दो स्वतन्त्र स्मृतिकार हो गये हैं। वृद्ध वसिष्ठ का कोई स्ववतन्त्र ग्रन्थ यद्यपि आज उपलब्ध नहीं है, तथापि अवान्तरकालीन भाष्य तथा निबन्धकर्ताओं के साक्ष्य पर वृद्ध वसिष्ठ के ग्रन्थ की सत्ता निःसन्देह प्रमाणित होती है। विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य के एक श्लोक (१।१९) की टीका में वृद्ध वसिष्ठ के मत का उल्लेख किया है। मिताक्षरा (२।१९) में 'जयपत्र' (अर्थात् फैसला) का लक्षण इनके ग्रन्थ से उद्धृत किया है। स्मृतिचन्द्रिका में लगभग २० श्लोक आह्निक तथा श्राद्ध के विषय में उद्धृत हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वृद्ध वसिष्ठ की स्मृति भी प्राचीन है, जो याज्ञवल्क्य स्मृति के समान ही आचार के साथ अन्य सभी व्यवहारों का भी विशेष वर्णन करती है। ग्रन्थ के अभाव में हम वसिष्ठ तथा वृद्ध वसिष्ठ के परस्पर सम्बन्ध का पता नहीं लगा सकते हैं।

वसिष्ठ की श्लोकबद्ध स्मृति अभी तक प्रकाश में नहीं आई है, परन्तु इसके हस्तलेख अवश्य विद्यमान हैं। यह स्मृति परिमाण में काफी बड़ी है। इसके १० अध्यायों में १,१०० श्लोक हैं, जिसमें स्मृति से सम्बद्ध नाना विषयों—जैसे स्त्रीधर्म, श्राद्ध, आशौच, विष्णुमूर्ति-प्रतिष्ठा, विष्णु पूजन आदि का विस्तृत विवेचन है।

वसिष्ठ का मत

स्मृतिकार वसिष्ठ के सिद्धान्त तथा मत की जानकारी का आज एकमात्र साधन उनका 'धर्मशास्त्र' ही है, जो ३० अध्यायों में विभक्त है तथा मुख्यतया सूत्रों में रचित है। कहीं-कहीं श्लोक भी दिये गये हैं। आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त—स्मृति के तीनों विषयों का वर्णन इसे पूर्ण पुष्ट और प्रमाणिक सिद्ध कर रहा है। आरम्भ के १४ अध्यायों में आचार का बीच के ५ अध्यायों (१५-१९ अ०) में व्यवहार का तथा अन्त के ११ अध्यायों (२० अ०-३० अ०) में प्रायश्चित्त का सुचारु वर्णन ग्रन्थ की उपादेयता का स्पष्ट प्रमाण है। वसिष्ठ ने

अपने मतों का प्रतिपादन थोड़े में, परन्तु बड़ी ही स्पष्ट भाषा में किया है। मौलिक विचार और प्रौढ़ विवेचना की छाप ग्रन्थ के प्रति पृष्ठ पर वर्तमान है। अन्य स्मृतिकारों के समान वसिष्ठ का भी पूरा आग्रह 'आचार' पर है। आचार ही व्यक्ति तथा समाज को मान्यता, दीर्घ जीवन और सत्कार प्राप्त कराता है। शास्त्र का अभ्यास, विद्या का अर्जन तथा विज्ञान का उपार्जन अवश्य ही काम्य तथा उपादेय वस्तु है, परन्तु व्यवहार में विना लाये, अर्थात् आचार के रूप में परिणत किये विना यह सब केवल भारमात्र है—उपयोग से हीन होने के कारण केवल बोझा ही बोझा है। इसलिए वसिष्ठ का कथन है—

आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह च नश्यति॥

(६।१)

आचार से हीन व्यक्ति के लिए लोक भी नष्ट है और परलोक भी असिद्ध ही है। आचार-रहित व्यक्ति के हेतु समस्त यज्ञयाग तथा षडङ्गों से युक्त वेद भी उसी प्रकार प्रीति उत्पन्न नहीं करता जिस प्रकार अन्धे के हृदय में सुन्दरी भार्या :—

आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य वेदाः षडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः॥

(६।४)

इसी प्रसङ्ग में चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के, स्नातक तथा गृहस्थ के नियमों का सांग विवेचन बड़ी ही सरलता से किया गया है। गृहस्थों के लिये निर्दिष्ट अनेक नियम आज के बाबुओं को विचित्र भले ही मालूम पड़ें, परन्तु उनके भीतर कुछ मान्य तथ्य अवश्यमेव निहित हैं। १३वें अध्याय में श्रावणी कर्म, अर्थात् वेदाध्ययन के आरम्भ और अनध्याय का विषय भी सुन्दरता से निबद्ध है। १४वें अध्याय में भक्ष्य और अभक्ष्य का निर्णय भी तत्कालीन समाज की रूप-रेखा जानने में नितान्त सहायक सिद्ध होती है।

भारतवर्ष का समाजशास्त्री आर्यसमाज की अविच्छिन्नता का सर्वदा अभिलाषुक था। वैदिक आर्यगण देवता की भव्य स्तुति करने के अनन्तर उससे योग्य पुत्रों के लिये प्रार्थना करते थे—सुवीरासः स्याम। लातीनी भाषा के 'विरुस' शब्द से सम्बद्ध 'वीरस' शब्द मुख्यतया पुरुष का द्योतक है। पुरुष के साथ 'पौरुष' की कल्पना संवलित होने से इसका 'पराक्रमी' अर्थ मुख्य न होकर

गौण है। 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः', 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'—आदि श्रुतिवाक्य इसी तथ्य के द्योतक हैं। अन्य स्मृतिकारों के समान वसिष्ठ भी प्रजातन्तु के छेदन का निषेध करते हुये कह रहे हैं—

ऋणमस्मिन् संनयत्यमृतत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेद् जीवतो मुखम्॥

(१७।१)

नाना पुत्रों के लक्षण और तुलनात्मक महत्त्व की दृष्टि से १७वाँ अध्याय बड़े काम का है, जिससे दायभाग के निर्णय के लिये बड़ी सहायता मिलती है। वसिष्ठ के कतिपय स्वतन्त्र मत हैं जो प्राचीनतर स्मृतियों—जैसे गौतम और आपस्तम्ब आदि में उपलब्ध नहीं होते। ऐसे स्वतन्त्र मतों में शूद्रा से ब्राह्मण के विवाह का निषेध, दत्तक का विधान (१५ अ०) तथा व्यवहार के प्रसङ्ग मे 'लेख' का भी साक्ष्य में उपयोग—ये तीनों महत्त्वपूर्ण माने गये हैं। राजा तथा पुरोहित के धर्म भी वसिष्ठ की दृष्टि में अन्य स्मृतिकारों के समान ही विशेष गौरव रखते हैं (अध्याय १९)। राजा तथा पुरोहित का आनुकूल्य एवं ऐकमत्य राष्ट्र की समृद्धि का मुख्य कारण बतलाया गया है। भारतीय राजनीति का मूल सिद्धान्त रहा है कि राष्ट्र के परिचालन मे क्षात्र तेज के साथ ब्रह्मवर्चस का पूर्ण सहयोग होने पर ही देश तथा राष्ट्र की समृद्धि निश्चित रहती है। वसिष्ठ ने इस विषय में ब्राह्मण-ग्रन्थों से एक बहुमूल्य उद्धरण दिया है—"ब्रह्म पुरोहितं राष्ट्र-मृध्नोनीति" (१९।४)। महाकवि कालिदास ने अनेक शताब्दियों के अनन्तर इस राष्ट्र भावना को पवन तथा अग्नि का परिचित दृष्टान्त देकर परिपुष्ट किया है—

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा॥

(रघु० ८।४)

राजा का यह प्रधान कार्य है—देश का रक्षण और अपराधियों का दण्डन। दण्ड से दण्डित अपराधी अपने पापों से मुक्त होकर निर्मल बन जाता है तथा पुण्यात्माओं के समान स्वर्ग जाता है। यदि राजा अपराधी को दण्ड नहीं देता, तो वह पाप उस राजा को पकड़ लेता है। अतः अपने कल्याण, समाज के कल्याण और अपराधी के कल्याण के लिए भी अपराधी को दण्ड देना राजा का मुख्य कर्तव्य होता है:—

राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥

(१९।४५)

अन्तिम आठ अध्यायों में प्रायश्चित्त के अवसर पर अनेक वैदिक मन्त्रों के जपने तथा तद्द्वारा हवन करने का विशेष विधान भी मिलता है (२८ अ०) । अन्तिम अध्याय समग्र धर्मशास्त्र की कुञ्जी है—धर्ममहिमा की प्रशस्ति है । भारतीय स्मृतिकारों के स्वर में स्वर मिलाकर वसिष्ठ यह उच्च घोषणा करते हैं :—

धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत माऽनृतम् ।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम् ॥ (३०।१)

धर्म का आचरण करो, अधर्म का आचरण मत करो; सत्य बोलो, झूठ मत बोलो; दीर्घ देखो, ह्रस्व मत देखो—अर्थात् किसी वस्तु के विषय में दूरदर्शी बनो । छोटी वस्तु को देखकर अपने विचारों को छोटा, हीन तथा क्षुद्र मत बनाओ । सदा श्रेष्ठ वस्तु को देखो । जीवन का लक्ष्य सदा ऊँचा से ऊँचा बनाये रखो । वसिष्ठ की यह शिक्षा सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है ।

ये आर्य-सभ्यता के उन्नायक महर्षियों में अन्यतम हैं । अत एव यूनानी सभ्यता से सम्भवतः परिचित होकर भी यह महर्षि हमें आर्य-भाषा संस्कृत के पठन-पाठन का उपदेश देते हैं और म्लेच्छ भाषा के शिक्षण का निषेध करते हैं—"न म्लेच्छभाषां शिक्षेत" (६।४१) ।

इस प्रकार अन्तरंग तथा बहिरंग प्रमाणों के आधार पर वसिष्ठ के इस धर्मशास्त्र का समय विक्रम पूर्व तृतीय शतक माना जा सकता है, जिस समय भारतीय लोग यूनानी लोगों की सभ्यता, भाषा तथा रीतिरिवाज से प्रथम परिचित हुए ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वसिष्ठ का 'जीवन-दर्शन' नितान्त उदात्त, एकान्त कर्मनिष्ठ तथा पूर्णतः आध्यात्मिक है । वह हमें स्वस्थ, शिष्ट तथा संस्कृत भारतीय बनकर जीवन-यापन का उपदेश देते हैं, तथा उस तृष्णा के परिहार की शिक्षा देते हैं जिसे दुर्बुद्धि कठिनता से छोड़ सकता है, जो व्यक्ति के जीर्ण होने पर भी स्वयं जीर्ण नहीं होती और जो प्राणान्तिक व्याधि है :—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
याऽसौ प्राणान्तिको व्याधिस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥

वसिष्ठ की दृष्टि में 'दैव' नितान्त निरर्थक है । उनका कथन है कि संसार में मृत शरीर के सिवाय सभी में क्रिया दिखाई पड़ती है और उचित क्रिया के द्वारा ही फल की प्राप्ति होती है । अत एव 'दैव' की कल्पना ही निरर्थक है—

न च निःस्पन्दता लोके दृष्टेह शवतां विना ।
स्पन्दाच्च फलसंप्राप्तिस्तस्माद् दैवं निरर्थकम् ॥ (योगवासिष्ठ)

———

(३) व्याकरण

व्याकरण भी प्रकृति और प्रत्यय का उपदेश देकर पद के स्वरूप, तथा उसके अर्थ के निर्णय के लिये प्रयुक्त होता है। व्याकरण का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र—**व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।** व्याकरण वेद पुरुष का मुख माना जाता है—**मुखं व्याकरणं स्मृतम्।** मुख होने से ही वेदाङ्गों में व्याकरण की मुख्यता है। जिस प्रकार मुख के विना भोजनादि के न करने से शरीर की पुष्टि असम्भव है, उसी प्रकार व्याकरण के विना वेदरूपी पुरुष के शरीर की रक्षा तथा स्थिति असम्भाव्य है। इसीलिये हमारे प्राचीन ऋषियों ने व्याकरण की महत्ता का प्रतिपादन बड़े ही गम्भीर शब्दों में किया है।

स्वयं ऋक्-संहिता में ही इस व्याकरण-शास्त्र की प्रशंसा में अनेक मन्त्र भिन्न-भिन्न स्थानों में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद के एक सुप्रसिद्ध मन्त्र में शब्द-शास्त्र (व्याकरण) का वृषभ से रूपक बाँधा गया है, जिसमें व्याकरण ही कामों (इच्छाओं) की पूर्ति (वर्णन) करने के कारण वृषभ नाम से उल्लिखित किया गया है। इसके चार सींग हैं—(१) नाम, (२) आख्यात (क्रिया) (३) उपसर्ग और (४) निपात। वर्तमान, भूत और भविष्य—ये तीन काल इसके तीन पाद हैं। इसके दो सिर हैं—सुप् और तिङ्। इसके सात हाथ सात विभक्ति—प्रथमा, द्वितीया आदि के रूप में है। यह उर, कण्ठ और सिर इन तीनों स्थानों में बाँधा गया है। यह महान् देव है जो मनुष्यों में प्रवेश किये हुए है:—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

(ऋ० वे० ४।५८।६)

ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र में व्याकरण-शास्त्र के विशेषज्ञ तथा अनभिज्ञ व्यक्तियों की तुलना बड़ी ही मार्मिक रीति से की गई है। व्याकरण से अनभिज्ञ व्यक्ति एक ऐसा जीव है जो वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता

हुआ भी नहीं सुनता, परन्तु व्याकरण के विद्वान् के लिए वाणी अपने रूप को उसी प्रकार से अभिव्यक्त करती है जिस प्रकार शोभन वस्त्रों से सुसज्जित कामिनी अपने पति के सामने अपने आप को समर्पण करती है।[1]

इसी प्रकार आचार्य वररुचि ने व्याकरण-शास्त्र के महत्त्व को बतलाते हुए इसके अध्ययन के पाँच प्रधान प्रयोजन बतलाये हैं। महर्षि पतञ्जलि ने इसके अतिरिक्त व्याकरण के तेरह प्रयोजनों का वर्णन महाभाष्य के आरम्भ (पस्पशाह्निक) में बड़ी ही सुन्दर भाषा में किया है। यहाँ हम कतिपय प्रयोजनों का ही उल्लेख करेंगे। वररुचि के अनुसार व्याकरण के मुख्य पाँच प्रयोजन निम्नलिखित हैं[2] :—(१) रक्षा (२) ऊह (३) आगम (४) लघु तथा (५) असन्देह।

(१) रक्षा—व्याकरण के अध्ययन का प्रधान लक्ष्य वेद की रक्षा है। वेद का उपयोग यज्ञ-याग के विधान में है। इन्हीं प्रयोगों में उपयुक्त होने वाले मन्त्रों का समुच्चय वेद की संहिताओं में किया गया है। किस मन्त्र का उपयोग किस यज्ञ में किया जाय? किस मन्त्र का विनियोग कहाँ सम्पन्न हो? इन प्रश्नों का उत्तर वही विद्वान् दे सकता है जो इन मन्त्रों में आये हुए पदों के स्वरूप को पहचानता है तथा उनके अर्थ से परिचय रखता है। इसीलिए वेद की रक्षा का प्रधान भार वैयाकरण के ऊपर है।

(२) ऊह—ऊह का अर्थ नये पदों की कल्पना से है। वेद में मन्त्र न तो सब लिङ्गों मे दिये गये हैं और न सब विभक्तियों में; यज्ञ की आवश्यकता के अनुसार इन मन्त्रों के शब्दों का भिन्न-भिन्न विभक्तियों तथा भिन्न लिङ्गों में परिणाम अनिवार्य होता है। इस विपरिणाम का सम्पादन वही पुरुष कर सकता है जो व्याकरण-सम्मत शब्द के रूपों से परिचित हो।

(३) आगम—स्वयं श्रुति ही व्याकरण के अध्ययन के लिए प्रमाणभूत है। वह कहती है कि ब्राह्मण का यह कर्तव्य है कि वह निष्कारण धर्म तथा अङ्ग सहित वेद का अध्ययन एवं ज्ञान प्राप्त करे। ऊपर अभी प्रतिपादित किया गया है कि

---

१. उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्
उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्ये उशती सुवासाः॥
(ऋ० १०।७१।४)

२. रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयजनम्।
(महाभाष्य—पस्पशाह्निक)

षडङ्गों में व्याकरण ही मुख्य है। मुख्य विषय में किया गया यत्न विशेष फलवान् होता है। इसलिए श्रुति के प्रामाण्य को स्वीकार कर व्याकरण का अध्ययन करना प्रत्येक द्विज का कर्तव्य है।

(४) लघु—लघुता के लिये भी व्याकरण का पठन-पाठन आवश्यक है। संस्कृत भाषा के प्रत्येक शुद्ध शब्द का यदि हम अध्ययन करना चाहें तो इस लघु जीवन की तो बात ही क्या, अनेक जीवन व्यतीत हो जाय, परन्तु इस शब्द-वारिधि के अन्त तक नहीं पहुँच सकते। व्याकरण ही वह लघु उपाय है जिसका आश्रय लेकर हम अपने मनोरथ को पूरा कर सकते हैं। व्याकरण का अध्ययन सकल शास्त्रों की वह कुञ्जी है जिससे सरलता से उनके रहस्य का उद्घाटन हो सकता है।

(५) असन्देह—वैदिक शब्दों के विषय में उत्पन्न सन्देह का निराकरण व्याकरण ही कर सकता है। ऐसे अनेक समासयुक्त पदों का प्रयोग मिलता है जिनमें अनेक प्रकार के समासों की सम्भावना बनी रहती है। वह बहुव्रीहि भी हो सकता है और तत्पुरुष भी। अब इस सन्देह का निराकरण करे तो कौन करे? स्वर की सहायता से ही इसका निर्णय किया जा सकता है। यदि यह पद अन्तोदात्त हो तो कर्मधारय होगा और यदि वह पूर्वपद प्रकृति-स्वर हो तो बहुव्रीहि होगा। स्वर की इन सूक्ष्म बातों का पता वैयाकरण को ही रहता है। इसीलिए वैदिक अध्ययन के निमित्त व्याकरण-शास्त्र की भूयसी प्रतियोगिता है।

इन उपर्युक्त पाँच प्रयोजनों के अतिरिक्त पतञ्जलि ने अन्य १३ प्रयोजनों का भी उल्लेख बड़े विस्तार के साथ किया है, जिनमें कतिपय नीचे दिये जाते हैं :—

(१) अपभाषण—शब्दों के अशुद्ध उच्चारण के दूर हटाने का मार्ग व्याकरण ही हमें बतलाता है। सुना जाता है कि असुर लोग 'हेलयः, हेलयः' ऐसा उच्चारण करते हुए पराजय को प्राप्त हुए। वर्णों तथा शब्दों का अशुद्ध उच्चारण करना ही म्लेच्छ और शुद्ध उच्चारण करना आर्य है। अतः हम म्लेच्छ न हो जायँ; इसलिए व्याकरण का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

(२) दुष्ट शब्द—शब्दों की शुद्धि तथा अशुद्धि का ज्ञान व्याकरण के अधीन है। अशुद्ध शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न होने वाले अनर्थों से हम भली-भाँति परिचित हैं। अतः दुष्ट शब्दों के प्रयोग से अपने को बचाने के लिये व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है।

(३) **अर्थज्ञान**—वेद के अर्थ को जानने के लिये व्याकरण का जानना आवश्यक है। विना अर्थ को जाने हुए शास्त्र का अध्ययन उसी प्रकार फल नहीं देता जिस प्रकार आग में न रखी गई सूखी लकड़ी। सूखी लकड़ी में जलने की योग्यता अवश्य है, पर उसका आग के साथ संयोग होना भी आवश्यक है। इसी प्रकार अर्थ-ज्ञान के सम्पन्न होने पर ही शब्द-ज्ञान सफलता प्राप्त करता है।

(४) **धर्म-लाभ**—जो कुशल व्यक्ति व्यवहार के समय शुद्ध शब्दों का प्रयोग करता है, वह स्वर्ग लोक में अनन्त फल प्राप्त करता है, परन्तु जो केवल अपशब्दों का ही प्रयोग करता है, वह अनेक पाप का भाजन बनता है। शुद्ध शब्द एक ही होता है, पर उसी के अनेक अपभ्रंश उपलब्ध होते हैं। 'गौ' शब्द व्याकरण से शुद्ध है, पर उसी के स्थान पर गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रंश मिलते हैं। धर्म-लाभ के लिए शुद्ध पदों का प्रयोग न्याय्य है, अपभ्रंश का नहीं।

(५) **नामकरण**—गृह्यकारों का कहना है कि उत्पन्न हुए जातक का नामकरण दशम दिन में करना चाहिए। इस नामकरण के विशिष्ट नियम हैं, जिनमें एक यह है कि वह कृदन्त होना चाहिए, तद्धितान्त नहीं। इन सूक्ष्म बातों का परिचय वही पा सकता है जिसने व्याकरण का अनुशीलन किया हो।

इन कतिपय सिद्धान्तों से ही व्याकरण की महती आवश्यकता का पर्याप्त परिचय हमें प्राप्त हो सकता है।

प्राचीन व्याकरण के विषय का निर्देश 'गोपथ-ब्राह्मण' (१।२४) में स्पष्टतया किया गया है। धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात, लिङ्ग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय, स्वर, उपसर्ग, निपात, मात्रा, वर्ण, अक्षर, पद-संयोग, स्थानानुप्रदान—आदि पारिभाषिक शब्द उस समय के व्याकरणशास्त्र के मान्य शब्द थे। इस उद्धरण का 'शिक्षिकाः' शब्द भी पारिभाषिक है। इस शब्द का प्रयोग शुद्ध उच्चारण की शिक्षा देने वाले व्यक्ति के लिए किया गया है। 'व्याकरण' शब्द का प्रयोग भी इस बात का स्पष्ट प्रतिपादक है कि गोपथ-ब्राह्मण की रचना से बहुत पूर्वकाल में ही इस शास्त्र की उत्पत्ति हो चुकी थी।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि वेद के इस अंग का प्रतिनिधि ग्रन्थ कौन सा है? आज कल प्रचलित व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण ही प्राचीनतम है; यह निःसन्देह बात है और प्राचीनतम होने की दृष्टि से यही व्याकरणनामक इस अंग का प्रतिनिधि माना जाता है, परन्तु पाणिनि से भी पूर्वकाल में 'ऐन्द्र

व्याकरण' की सत्ता थी जिसके प्रबल तथा पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। बहुत पहिले से ही यह व्याकरण कालकवलित हो गया है, परन्तु उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कथन अनुचित न होगा कि वैदिक काल में इन्द्र के प्रथम वैयाकारण होने की घटना का स्पष्ट निर्देश है। पिछले वैयाकरणों ने भी इसकी आवृत्ति की है। अतः इसकी सत्ता में सन्देह करने का कोई स्थान नहीं है।

महर्षि शाकटायन ने ऋक्-तन्त्र (पृ० ३) में लिखा है कि व्याकरण का कथन ब्रह्मा ने बृहस्पति से किया, बृहस्पति ने इन्द्र से, इन्द्र ने भरद्वाज मे, भरद्वाज ने ऋषियों से और ऋषियों ने ब्राह्मणों से। इस शास्त्र को 'अक्षर-समाम्नाय' कहते हैं। तैत्तिरीयसंहिता में इस विषय का सर्वप्रथम तथा प्राचीनतम उल्लेख मिलता है[1]। पूर्वकाल में वाक् 'अव्याकृत' थी—इसमें पद-प्रकृति की कथमपि व्याख्या न थी–उसका व्याकरण नहीं था और इस व्याकरण का नियमन भगवान् इन्द्र ने ही किया। इसी निर्देश को स्पष्ट कर पतञ्जलि ने महाभाष्य में लिखा है[2] कि बृहस्पति ने इन्द्र को प्रत्येक पद का उल्लेख कर दिव्य सहस्र वर्षों तक शब्द-पारायण किया, परन्तु अन्त को न प्राप्त हो सके—इतना अगाध तथा अनन्त है यह शब्दरूपी महार्णव। इसीलिए पण्डित समाज में एक प्राचीन गाथा प्रख्यात है—

> **समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे**
> **तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ।**
> **तद्भागभागाच्च शतं पुरन्दरे**
> **कुशाग्रबिन्दूत्पतितं हि पाणिनौ॥**

माहेश्वर व्याकरण समुद्र के समान विस्तृत था, बृहस्पति का व्याकरण आधे घड़े में जल रखने के समान था। इसके टुकड़े का भी शतांश इन्द्र व्याकरण में

---

१. वाग् वै पराच्यव्याकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्–'इमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोऽब्रवीत्'–वरं वृणे, मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति। तस्माद् ऐन्द्रवायवः सह गृह्यते। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुच्यते॥

(तै० सं० ६।४।७।३)

२. बृहस्पतिश्च वक्ता। इन्द्रश्च अध्येता। दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः। अन्तं च न जगाम।

(महाभाष्य-पस्पशाह्निके)

विद्यमान था और पाणिनि में तो कुश के अग्रभाग से गिरने वाले जल का बिन्दु ही वर्तमान है। इन चारों व्याकरणों के परस्पर परिमाण का यह सापेक्षिक वर्णन ध्यान देने योग है।

ऐन्द्र व्याकरण

इन निर्देशों से इन्द्र के द्वारा व्याकरण की रचना किये जाने का वर्णन स्फुट प्रतीत होता है। यह व्याकरण ग्रन्थरूप में था, इसका भी परिचय हमें इन प्रमाणों से चलता है—

(१) नन्दकेश्वर स्मृत 'काशिका' वृत्ति की तत्त्वविमर्शिनी व्याख्या में उपमन्यु ने स्पष्ट लिखा है—तथा चोक्तम् इन्द्रेण 'अन्तर्वर्णसमुद्भूता धातवः परिकीर्तिताः' इति।

(२) वररुचि ने 'ऐन्द्र निघण्टु' के आरम्भ में ही इसका निर्देश किया है-

पूर्वं पद्मभुवा प्रोक्तं श्रुत्वेन्द्रेण प्रकाशितम्।
तद् बुधेभ्यो वररुचिः कृतवानिन्द्रनामकम्॥

(३) वोपदेव ने संस्कृत के मान्य व्याकरण सम्प्रदायों में प्रथम स्थान इन्द्र को दिया है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिसली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

(४) सारस्वत-प्रक्रिया के कर्ता अनुभूति-स्वरूपाचार्य ने भी इन्द्र को ही शब्दसागर के पार करने के उद्योगी पुरुषों में प्रथम बतलाया है—

इन्द्रादयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्दवारिधेः।
प्रक्रियां तस्य कृत्स्नस्य क्षमो वक्तुं नरः कथम्॥

डाक्टर बर्नल का कथन है कि तमिल भाषा के आद्य व्याकरण 'तोलकप्पियं' में ऐन्द्र व्याकरण से विशेष सहायता ली गई है। हरप्रसाद शास्त्री का कहना है कि कातन्त्र या कलाप व्याकरण का निर्माण इसी सम्प्रदाय के अनुसार किया गया है। वररुचि ने 'भवन्ती, अद्यतनी, ह्यस्तनी' आदि जिन पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया है वे पाणिनि के 'लट्, लुङ्, लिट्' आदि शब्दों से प्राचीन हैं और इनका प्रयोग ऐन्द्र व्याकरण में किया गया था, ऐसा पण्डितों का अनुमान है[1]।

१. वर्तमाने लट् (३।२।१२३)। वार्तिक—प्रवृत्तस्य विरामे शिष्या भवन्त्या-वर्तमानत्वात्। 'भवन्तीति लटः पूर्वाचार्य-संज्ञा'—कैयट।

पाणिनि-व्याकरण

आजकल व्याकरणरूपी वेदाङ्ग का प्रतिनिधित्व करनेवाला एक ही व्याकरण है, और वह है 'पाणिनीय व्याकरण'। महर्षि पाणिनि ने लगभग ४०० अल्पाक्षर-सूत्रों के द्वारा संस्कृत भाषा का नितान्त वैज्ञानिक व्याकरण प्रस्तुत कर विद्वानों को आश्चर्य में डाल दिया है। वैज्ञानिक दृष्टि से देवभाषा का जितना सुन्दर शास्त्रीय विवेचन पाणिनि ने किया है वैसा विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। हम डंके की चोट कह सकते हैं कि पाणिनि जैसा भाषा-मर्मज्ञ वैयाकरण संसार में अन्यत्र कहीं नहीं हुआ। पाणिनि का ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है, इसीलिए इसे 'अष्टाध्यायी' कहते हैं। इसका समय ईसा-पूर्व षष्ठ शतक है। पाणिनि के अनन्तर संस्कृत में प्रयुक्त होने वाले नवीन शब्दों की व्याख्या करने के उद्देश्य से कात्यायन ने ई० पूर्व चतुर्थ शतक में वार्तिकों की रचना की। तदनन्तर ई० पूर्व द्वितीय शतक में पतञ्जलि ने महाभाष्य का निर्माण किया। सूत्रों पर भाष्य अनेक हैं, परन्तु विषय की व्यापकता, विचार की गम्भीरता के कारण यही भाष्य 'महाभाष्य' के गौरवपूर्ण अभिधान को प्राप्त कर सका है। इसे व्याकरण का ही ग्रन्थ मानना अनुचित होगा; व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा सर्व-प्रथम हमें यहीं उपलब्ध होती है। इसका गद्य नितान्त प्राञ्जल तथा साहित्यिक है। ग्रन्थकार ने कथनोपकथन की शैली में समग्र ग्रन्थ की रचना नितान्त मनोरञ्जक रूप में की है। व्याकरण के ये ही मुनित्रय हैं—पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि।

विक्रम-सम्वत् के आरम्भ से ही इन ग्रन्थों का विशेष मनन तथा समीक्षण पण्डित-समाज में होने लगा। व्याकरण का साहित्य विशाल तथा प्रतिभा-सम्पन्न है। इसके कुछ ग्रन्थ तो सदा के लिए लुप्त हो गये हैं। ऐसे ग्रन्थों में व्याडि महर्षि रचित 'संग्रह' का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। इसका ग्रन्थ-परिमाण एक लाख श्लोक बतलाया जाता है। वामन तथा जयादित्य ने अष्टाध्यायी के ऊपर सम्मिलित रूप से एक बड़ी सुन्दर व्याख्या लिखी है। इसका नाम है—काशिका-वृत्ति। ये दोनों ग्रन्थकार कश्मीर के रहने वाले थे और षष्ठ शतक के आरम्भ में विद्यमान थे। इस काशिका-वृत्ति के ऊपर पिछली शताब्दी में व्याख्याओं की परम्परा निबद्ध की गई। एक प्रकार की व्याख्या को 'न्यास' कहते हैं। न्यास अनेक थे, परन्तु वे धीरे-धीरे लुप्त हो गए। आज कल जिनेन्द्र-बुद्धि (७०० ई०) का न्यास ही न्यास-ग्रन्थों का एकमात्र निदर्शन है। हरदत्त की पदमञ्जरी भी काशिका-वृत्ति की एक सर्वमान्य टीका है। ये हरदत्त दक्षिण भारत के निवासी थे और १२ वीं शताब्दी में विद्यमान थे।

महाभाष्य के अनन्तर व्याकरण दर्शन का सबसे प्रधान ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' है। इसके रचयिता आचार्य भर्तृहरि थे (षष्ठ शतक)। वाक्यपदीय में व्याकरण-शास्त्र का दार्शनिक रूप स्फुट रूप से अभिव्यक्त होता है। व्याकरण शैवागम के अन्तर्गत है और उसकी अपनी विशिष्ट साधन-प्रक्रिया है। इसका पूर्ण परिचय विद्वानों को वाक्यपदीय के अनुशीलन से होता है। भर्तृहरि शब्दाद्वैत के संस्थापक थे। उनकी दृष्टि में स्फोट ही एकमात्र परम तत्त्व है और यह जगत् उसीका विवर्त रूप है। उन्होंने महाभाष्य के ऊपर एक व्याख्या लिखी थी, परन्तु वह आजकल उपलब्ध नहीं है। कश्मीर के निवासी कैयट द्वारा विरचित भाष्य-प्रदीप ही महाभाष्य के सिद्धान्तों को प्रदीप के समान प्रकाशित करने वाला एकमात्र ग्रन्थ रत्न है। प्रदीप के ऊपर नागेश भट्ट ने उद्योत की रचना कर प्रदीप के सिद्धान्तों को नितान्त स्पष्ट बनाने का श्लाघनीय उद्योग किया है।

अब तक जो टीकायें लिखी गई हैं वे अष्टाध्यायी के क्रम को मान कर प्रवृत्त हुई, परन्तु रामचन्द्राचार्य ने पञ्चदश शतक में अष्टाध्यायी के सूत्रों को प्रक्रिया के अनुसार एक नये क्रम से निबद्ध किया। इस क्रम में पदों की ही सिद्धि प्रधान लक्ष्य रक्खी गई है। इसी क्रम को अग्रसर करने वाले विख्यात वैयाकरण हुए भट्टोजिदीक्षित। ये काशी के ही रहने वाले थे। इनके गुरु थे 'आचार्य शेष श्रीकृष्ण।' शेष जी अपने समय के बड़े ही मर्मज्ञ वैयाकरण थे। भट्टोजिदीक्षित ने उन्हीं से शिक्षा ग्रहण कर व्याकरण के इतिहास में एक नवीन युग उपस्थित कर दिया। इनके तीन ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं—(१) सिद्धान्तकौमुदी, (२) शब्दकौस्तुभ तथा (३) मनोरमा। नव्य व्याकरण इन्हीं ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन, मीमांसा तथा समीक्षा में व्यस्त रहा है। दीक्षित की ही परम्परा में नागेश भट्ट उद्भट वैयाकरण हुए। इनकी प्रतिभा बहुमुखी है। इनका परिभाषेन्दुशेखर पाणिनि-व्याकरण की उपयोगी परिभाषाओं का निदर्शन करने वाला सर्वमान्य ग्रन्थ है। इनका शब्देन्दुशेखर मनोरमा की विस्तृत व्याख्या है। इनकी 'लघु-मंजूषा' शब्द और अर्थ के सिद्धान्तों की विस्तृत मीमांसा करने वाला सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। नागेश काशी के ही निवासी थे और अष्टादश शतक के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। आज भी काशी पाणिनि-व्याकरण का महान् दुर्ग है। काशी के वैयाकरणों ने पाणिनि के सूत्रों, तथ्यों तथा सिद्धान्तों के उन्मीलन करने का जितना श्लाघनीय प्रयत्न किया है उतना किसी अन्य प्रान्त के वैयाकरणों ने नहीं।

संस्कृत भाषा

पाणिनि के समय में संस्कृत बोल-चाल की भाषा थी, जिसमें शिष्ट लोग अपने मनोभावों का प्रकटीकरण अनायास विना किसी प्रकार की शिक्षा-दीक्षा के किया करते थे। इस विषय की पुष्टि में अनेक प्रमाण अन्यत्र दिये गये हैं[1]। पाणिनि ने उस युग की संस्कृत को 'भाषा' शब्द के द्वारा व्यवहृत किया है। उसके विरोध में प्राचीन वैदिक भाषा के लिए मन्त्र, छन्दसि तथा निगम इन तीन शब्दों का प्रयोग किया है, जिनमें मन्त्र से तात्पर्य संहिता-विषयक मन्त्र से, तथा छन्दसि का तात्पर्य मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों से है (द्रष्टव्य—शीर्ष छन्दसि ६।१।१५०, जिसका उदाहरण '**शीर्ष्णा हि सोमं क्रीतं हरन्ति**' ब्राह्मण का उद्धरण है) 'निगम' का प्रयोग यास्क ने सामान्यतः वेद के लिए किया है और पाणिनि ने भी इसी अर्थ में इसे प्रयुक्त किया है (६।३।११३)। पाणिनि के द्वारा व्याकृत भाषा मध्यदेश में प्रयुक्त संस्कृत भाषा थी। उन्होंने 'प्राचां' तथा 'उदीचां' शब्दों के द्वारा पूरबी भारत तथा उत्तरी भारत में होने वाली प्रयोग-भिन्नता को प्रदर्शित किया है। यथा–'**कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च**' १।३।९० सूत्र के अनुसार कर्मकतरि प्रयोग में 'कुष्यति' बनता है पूरब देश में, अन्यत्र आत्मनेपद प्रयुक्त होता है। कहीं 'प्राचां' तथा 'उदीचां' के परस्पर प्रयोग-विरोध का प्रदर्शन है (मिलाइए ३।४।१८ तथा ३।४।१९)। इस प्रकार पाणिनि के समय में भारत के तीन विभिन्न खण्ड प्रतीत होते हैं—पूरबी देश, उत्तर देश तथा मध्य देश। 'प्राचां' तथा 'उदीचां' की भेदिका नदी, काशिका के अनुसार,[2] शरावती थी, जो कुरुक्षेत्र की नदी है तथा जो दृषद्वती (वर्तमान नाम चौतंग या चितंग) से अभिन्न प्रतीत होती है। इस प्रकार शरावती भारत को दो भागों में विभक्त करती है—पूरबी तथा उत्तरी। **अमहन्नवं नगरेऽनुदीचाम्** (६।२।८९) में 'अनुदीचाम्' के द्वारा मध्य देश की ओर संकेत है। पाणिनि स्वयं उदीच्य थे। अतः उत्तर भारत के नगरों, ग्रामों, नदियों तथा जातियों से उनका घनिष्ठ परिचय होना स्वभाविक है। कभी उदीच्य देश की भाषा का प्रभुत्व विशेष रूप से था; वहाँ की ही भाषा नितान्त विशुद्ध मानी जाती थी। कौषीतिकि-ब्राह्मण में इस

---

१. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १२-१६।

२. प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती॥
(१।१।७५ पर काशिका में उद्धृत)

तथ्य का संकेत पूर्णरूपेण उपलब्ध होता है। मध्य देश ही आर्य संस्कृति क निरूपक तथा प्रतिष्ठापक था और इसीलिए उस देश की भाषा भी समस्त आर्यावर्त की मान्य भाषा हुई; यही न्याय-संगत स्थिति प्रतीत होती है।

———

(४) निरुक्त

'निरुक्त' निघण्टु की टीका है। निघण्टु में वेद के कठिन शब्दों का समुच्चय किया गया है। 'निघण्टु' की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। आजकल उपलब्ध निघण्टु एक ही है और इसी के ऊपर महर्षि यास्क-रचित 'निरुक्त' है। कतिपय विद्वान् यास्क को ही 'निघण्टु' का भी रचयिता मानते हैं[1], परन्तु प्राचीन परम्परा के अनुशीलन से यह बात प्रमाणित नहीं होती। निरुक्त के आरम्भ में 'निघण्टु' को 'समाम्नाय' कहा गया है और इस शब्द की जो व्याख्या दुर्गाचार्य ने की है उसमे तो इसका प्राचीनत्व ही सिद्ध होता है[2]। महाभारत (मोक्ष धर्म पर्व, अ० ३४२, श्लोक ८६–८७) के अनुसार प्रजापति कश्यप इस 'निघण्टु' के रचयिता हैं—

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
निघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्॥
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः॥

वर्तमान निघण्टु में 'वृषाकपि' शब्द संगृहीत किया गया है। अतः पूर्वोक्त कथन के अनुसार यही प्रतीत होता है कि महाभारत-काल में प्रजापति कश्यप इसके निर्माता माने जाते थे। 'निघण्टु' में पाँच अध्याय वर्तमान हैं। आदिम तीन अध्यायों को 'नैघण्टुक काण्ड' कहते हैं। चतुर्थ अध्याय 'नैगम काण्ड' और पञ्चम अध्याय 'दैवत काण्ड' कहलाता है। प्रथम तीन अध्याय में तो पृथ्वी आदि के बोधक अनेक पदों का एकत्र संग्रह है। द्वितीय काण्ड को 'ऐकपदिक' भी

---

१. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, खण्ड २, पृ० १६२।
२. दुर्गवृत्ति, पृ० ३।

कहते हैं। 'नैगम' का तात्पर्य यह है कि इनके प्रकृति-प्रत्यय का यथार्थ अवगमन नहीं होता—'अनवगतसंस्कारांश्च निगमान्।' दैवत काण्ड में देवताओं के रूप तथा स्थान का निर्देश है।

निघण्टु के व्याख्याकार

आजकल निघण्टु की एक ही व्याख्या उपलब्ध होती है और इसके कर्ता का नाम है—देवराज यज्वा। इनके पितामह का भी नाम था—देवराज यज्वा और पिता का नाम था—यज्ञेश्वर। ये रंगेशपुरी के पास ही किसी ग्राम के निवासी थे। नाम से प्रतीत होता है कि ये सुदूर दक्षिण के निवासी थे। इनके समय के विषय में दो मत प्रचलित हैं—कुछ लोग इन्हें सायण से भी अर्वाचीन मानते हैं, परन्तु इन्हें सायण से प्राचीन मानना ही न्यायसंगत है। आचार्य सायण ने ऋग्वेद (१।६२।३) के भाष्य में 'निघण्टु-भाष्य' के वचनों का निर्देश किया है, जो देवराज के भाष्य में थोड़े पाठान्तर से उपलब्ध होता है। सिवाय इस भाष्य के और कोई 'निघण्टु-भाष्य' विद्यमान ही नहीं है। देवराज ने अपने भाष्य के उपोद्घात में क्षीरस्वामी तथा अनन्ताचार्य की 'निघुण्ट-व्याख्याओं' का उल्लेख किया है—'इदं च····क्षीरस्वामि-अनन्ताचार्यादिकृतां निघण्टुव्याख्यां···निरीक्ष्य क्रियते'। अनन्ताचार्य का निर्देश तो यहाँ प्रथम बार ही हमें मिलता है। क्षीरस्वामी के मत का निर्देश यहाँ बहुलता से किया गया है। क्षीरस्वामी 'अमरकोश' के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। देवराज के उद्धरण अमरकोष टीका (अमरकोशोद्घाटन) में ज्यों के त्यों उपलब्ध होते हैं। अतः 'निघण्टु-व्याख्या' से देवराज का अभिप्राय इसी अमर-व्याख्या से प्रतीत होता है। इस भाष्य का नाम है—निघण्टु-निर्वचन। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार देवराज ने 'नैघण्टुक' काण्ड का ही निर्वचन अधिक विस्तार के साथ किया है (विरचयति देवराजो नैघण्टुक-काण्डनिर्वचनम्—श्लोक ६)। अन्य काण्डों की व्याख्या बहुत ही अल्पाकार है। इस भाष्य का उपोद्घात वैदिक भाष्यकारों के इतिवृत्त जानने के लिए नितान्त उपयोगी है। व्याख्या बड़ी ही प्रामाणिक और उपादेय है। इसमें आचार्य स्कन्दस्वामी के ऋग्भाष्य तथा स्कन्द महेश्वर की निरुक्त-भाष्य-टीका से विशेष सहायता ली गई है, प्राचीन प्रमाणों का भी उद्धरण बड़ा ही सुन्दर है। सायणपूर्व होने से देवराज की व्याख्या तथा निरुक्ति का विशेष महत्त्व है।

प्रसिद्ध तान्त्रिक भास्करराय-रचित एक छोटा ग्रन्थ उपलब्ध होता है जिससे निघण्टु के शब्द अमर की शैली पर श्लोकबद्ध कर दिये गये हैं। इससे इन्हें याद करने में बड़ी सुवीधा होती है।

निरुक्त-काल

निरुक्त युग—निघण्टु काल के अनन्तर निरुक्तों का समय आरम्भ होता है। दुर्गाचार्य के अनुसार निरुक्त संख्या में १४ थे—'निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्' (दुर्गवृत्ति १।१३)। यास्क के उपलब्ध निरुक्त में बारह निरुक्तकारों के नाम तथा मत निर्दिष्ट किये गये हैं। इनके नाम अक्षरक्रम से इस प्रकार हैं—(१) अग्रायण, (२) औपमन्यव, (३) औदुम्बरायण, (४) और्णवाभ, (५) कात्थक्य, (६) क्रौष्टुकि, (७) गार्ग्य, (८) गालव, (९) तैटीकि, (१०) वार्ष्यायणि, (११) शाकपूणि, (१२) स्थौलाष्ठीवि; तेरहवें निरुक्तकार स्वयं यास्क हैं। इनसे अतिरिक्त १४वाँ निरुक्तकार कौन था? इसका ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलता। ऊपर निर्दिष्ट निरुक्तकारों के विशिष्ट मत की जानकारी निरुक्त के अनुशीलन से भली-भाँति लग सकती है[1]। इन ग्रन्थकारों में 'शाकपूणि' का मत अधिकता से उद्धृत किया गया है। बृहद्देवता में भी इनका मत निर्दिष्ट किया है। बृहद्देवता में तथा पुराणों में साकपूणि का 'रथीतर शाकपूणि' नाम से स्मरण है तथा यास्क से इन्हें विरुद्ध मत मानने वाला कहा गया है।

यास्क का निरुक्त

'निरुक्त' वेद के षडङ्गों में अन्यतम है। आजकल यही यास्करचित निरुक्त इस वेदाङ्ग का प्रतिनिधि-ग्रन्थ है। निरुक्त में बारह अध्याय हैं, अन्त में दो अध्याय परिशिष्ट रूप में दिये गये हैं। इस प्रकार समग्र ग्रन्थ चौदह अध्यायों में विभक्त है। परिशिष्ट वाले अध्याय भी अर्वाचीन नहीं माने जा सकते, क्योंकि सायण तथा उव्वट इन अध्यायों से भली-भाँति परिचय रखते हैं। उव्वट ने यजुर्वेद-भाष्य (१८।७७) में निरुक्त १३।१३ में उपलब्ध वाक्य को निर्दिष्ट किया है। अतः इस अंश का भोजराज से प्राचीन होना स्वतः सिद्ध है।

निघण्टु तथा निरुक्त का परस्पर सम्बन्ध-बोधक विवरण

निघण्टु			निरुक्त
			१ अध्याय (भूमिका)
(१) नैघण्टुक काण्ड[2]	१ अध्याय	पद १३४१	२ अध्याय
(गौः—अपारे)	२ ,,		३ अध्याय
	३ ,,		

---

१. वैदिक वाङ्मय का इतिहास (१।२) पृ० १६१–१८०।

२. इस काण्ड में सब मिलाकर १३४१ पद हैं, जिनमें से केवल साढ़े तीन सौ

(२) नैगम काण्ड ४ अध्याय

(जहा-ऋषीसम्)	(क)	१ खण्ड—६२ पद	४ अध्याय
	(ख)	२ खण्ड—८४ पद	५ अध्याय
	(ग)	३ खण्ड—१३२ पद	६ अध्याय
			पूर्व षट्क

(३) दैवत काण्ड ५ अध्याय

(अग्नि-देवपत्नी)

स्थान		खण्ड	पद	अध्याय
पृथ्वी स्थान	(क)	१ खण्ड—	३ पद	७ अध्याय (देवता-विषयक विशिष्ट भूमिका के साथ)
	(ख)	२ ,,	१३ ,,	८ ,,
	(ग)	३ ,,	३६ ,,	९ ,,
अंतरिक्ष	(घ)	४ ,,	३२ ,,	१० ,,
	(ङ)	५ ,,	३६ ,,	११ ,,
आकाश	(च)	६ ,,	३१ ,,	१२ ,,
				उत्तर षट्क

यास्क की प्राचीनता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता। ये पाणिनि से भी प्राचीन हैं। संस्कृत भाषा का जो विकास इनके निरुक्त में मिलता है वह पाणिनीय अष्टाध्यायी में व्याख्यात रूप से प्राचीनतर है। महाभारत के शान्तिपर्व में (अ० ३४२) यास्क के निरुक्तकार होने का स्पष्ट निर्देश है—

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम्॥ ७२॥
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः।
यत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान्॥ ७३॥

इस उल्लेख के आधार पर भी हम यास्क को विक्रम से सात-आठ सौ वर्ष पूर्व मानने के लिए बाध्य होते हैं। यास्क के इस ग्रन्थ की महत्ता बहुत ही अधिक है। ग्रन्थ के आरम्भ में यास्क ने निरुक्त के सिद्धान्त का वैज्ञानिक प्रदर्शन किया है। इनके समय में वेदार्थ के अनुशीलन के लिए अनेक पक्ष थे, जिनका

पदों की निरुक्ति यास्क ने यत्र-तत्र की है। स्कन्दस्वामी ने इनसे भिन्न दो सौ पदों की व्याख्या की है—ऐसा देवराज का कथन है, पृ० ३।

नाम इस प्रकार दिया गया है—(१) अधिदैवत, (२) अध्यात्म, (३) आख्यान-समय, (४) ऐतिहासिकाः, (५) नैदानाः, (६) नैरुक्ताः, (७) परिव्राजकाः, (८) याज्ञिकाः । इस मत-निर्देश से वेदार्थानुशीलन के इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ता है । यास्क का प्रभाव अवान्तरकालीन वेदभाष्यकारों पर बहुत ही अधिक पड़ा है । सायण ने इसी पद्धति का अनुसरण कर वेदभाष्यों की रचना में कृतकार्यता प्राप्त की है । यास्क की प्रक्रिया आधुनिक भाषावेत्ताओं को भी प्रधानतः मान्य है । निरुक्त का एकमात्र प्रतिनिधि होने के कारण इसका महत्त्व सर्वातिशायी है ।

निरुक्त स्वयं भाष्यरूप है फिर भी वह स्थान-स्थान पर इतना दुरूह है कि विद्वान् टीकाकारों को भी उसके अर्थ समझने के लिए माथापच्ची करनी पड़ती है। तिस पर उसका पाठ यथार्थ रूप में परम्परया प्राप्त भी नहीं होता । भाषा की दुरूहता के साथ-साथ उसके पाठ भी स्थान स्थान पर इतने भ्रष्ट हैं कि दुर्ग जैसे विद्वान् टीकाकार को भी कठिनता का अनुभव करना पड़ा है । निरुक्त की व्याख्या करने की ओर विक्रम से बहुत पूर्व विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ था । इसका पता हमें पतञ्जलि के महाभाष्य से ही चलता है । अष्टाध्यायी ४।३।३६ के भाष्य में वे लिखते हैं—"**शब्दग्रन्थेषु चैषा प्रसूततरा गतिर्भवति । निरुक्तं व्याख्यायते । न कश्चिदाह पाटलिपुत्रं व्याख्यायत इति ।**" परन्तु पतञ्जलि का संकेत किस व्याख्यान की ओर है ? इसका पता नहीं चलता ।

सबसे विस्तृत तथा सम्पूर्ण टीका जो आजकल निरुक्त के ऊपर उपलब्ध हुई है, वह है दुर्गाचार्यवृत्ति, परन्तु यह इस विषय का आदिम ग्रन्थ नहीं है, इतना तो निश्चित ही है । दुर्गवृत्ति में चार स्थलों[1] पर किसी वार्तिककार के श्लोक उद्धृत किये गये हैं, प्रसङ्ग से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि वह वार्तिक इसी निरुक्त पर ही था । निरुक्त स्वयं भाष्यरूप है, अत एव उसके ऊपर वार्तिक की रचना अयुक्त नहीं । **निरुक्त वार्तिक** की सत्ता एक अन्य ग्रन्थ से भी प्रमाणित होती है । मण्डन मिश्र रचित 'स्फोटसिद्धि' नामक ग्रन्थ की 'गोपालिका टीका' में निरुक्त वार्तिक से छः श्लोक उद्धृत किये गये हैं और ये सब श्लोक निरुक्त १।२० के व्याख्यारूप हैं । अतः इन दोनों प्रमाणों को एकत्र करने से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि **निरुक्त-वार्तिक** ग्रन्थ अवश्य था और अत्यन्त प्राचीन भी था, परन्तु अभी तक इस ग्रन्थ का पता नहीं चलता । यदि इसका उद्धार हो जाय तो

---

१. निरुक्त-वृत्ति १।१, ६।३१, ८।४१।११।१३ ।

वेदार्थानुशीलन के इतिहास में एक अत्यन्त प्रामाणिक वस्तु प्राप्त हो जाय। बर्बर स्वामी की टीका की भी यही दशा है। स्कन्दस्वामी ने इन्हें पूर्व के टीकाकारों में उल्लिखित किया है[1] तथा इन्हें दुर्गाचार्य से भी प्राचीनतर माना जाता है। जब तक इस ग्रन्थ की उपलब्धि नहीं होती तब तक हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि बर्बर स्वामी पूर्व निर्दिष्ट वार्तिककार से भिन्न हैं या अभिन्न?

दुर्गाचार्य

(१) निरुक्त के प्राचीन उपलब्ध टीकाकार दुर्गाचार्य ही हैं, परन्तु ये आद्य टीकाकार नहीं हैं। इन्होंने अपनी वृत्ति में प्राचीन टीकाकारों की व्याख्या की ओर अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है। वेदों के ये कितने बड़े मर्मज्ञ थे? इसका परिचय तो दुर्गवृत्ति के साधारण पाठक को भी लग सकता है। इस वृत्ति में निरुक्त की तथा उसमें उल्लिखित मन्त्रों की बड़े विस्तार के साथ व्याख्या प्रस्तुत की गई है। निरुक्त का प्रति-शब्द उद्धृत किया गया है। इस वृत्ति के आधार पर समग्र निरुक्त का शाब्दिकरूप खड़ा किया जा सकता है। विद्वत्ता तो इतनी अधिक है, साथ ही साथ इनकी नम्रता भी श्लाघनीय है। निरुक्त के दुरूह अंशों की व्याख्या करने के अवसर पर इन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि ऐसे कठिन मन्त्रों के व्याख्यान में विद्वान् की भी मति रुद्ध हो जाती है। हम तो इसके विषय में इतना ही जानते हैं—

> "ईदृशेषु शब्दार्थन्यायसंकटेषु मन्त्रार्थघटनेषु दुरवबोधेषु मतिमतां मतयो न प्रतिहन्यन्ते, वयं त्वेतावदत्रावबुध्यामह इति"—७।३१।

कहीं-कहीं इन्होंने स्वयं नवीन पाठ की योजना की है। इससे स्पष्ट है कि इन्होंने निरुक्त के अर्थ में बड़ी छानबीन से काम लिया है। यदि हमें यह वृत्ति आज उपलब्ध नहीं होती तो निरुक्त का समझना एक दुरूह ही व्यापार होता, परन्तु दुःख की बात है कि दुर्गाचार्य के विषय में हमारा ऐतिहासिक ज्ञान बहुत ही स्वल्प है। ४।१४ निरुक्त में इन्होंने अपने को कापिष्ठल शाखाध्यायी वसिष्ठगोत्री लिखा है। प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर वृत्ति की पुष्पिका इस प्रकार है—

> "इति जम्बूमार्गाश्रमवासिन आचार्यभगवद्दुर्गस्य कृतौ ऋज्वर्थायां निरुक्तवृतौ ...अध्यायः समाप्तः।"

---

१. तस्य पूर्वटीकाकारैर्बर्बरस्वामिभगवद्दुर्गप्रभृतिभिर्विस्तरेण व्याख्यातस्य।

इससे ज्ञात होता है कि ये जम्बू-मार्ग आश्रम के निवासी थे, परन्तु यह स्थान कहाँ है ? इसका ठीक-ठीक उत्तर देना आजकल कठिन है। डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप इसे कश्मीर राज्य का प्रसिद्ध नगर जम्बू मानते हैं, परन्तु भगवद्दत्त जी का यह अनुमान है कि ये गुजरात प्रान्त के निवासी थे। उन्होंने मैत्रायणी संहिता से अधिक उद्धरण अपनी वृत्ति में दिया है। प्राचीन काल में यह संहिता गुजरात प्रान्त में विशेष रूप से प्रसिद्ध थी। इस अनुमान के लिए यही आधार है।

दुर्गाचार्य का समय-निरूपण अभी यथार्थ रीति से नहीं हुआ है। इस वृत्ति की सब से प्राचीन हस्तलिखित प्रति १४४४ संवत् की है। अतः दुर्गाचार्य को इस समय से प्राचीन मानना पड़ेगा। ऋग्वेद के भाष्यकार उद्गीथ दुर्गाचार्य की वृत्ति से परिचित मालूम पड़ते हैं। आचार्य उद्गीथ का समय विक्रम की सप्तम शताब्दी है। अतः दुर्गाचार्य को सप्तम शताब्दी से अर्वाचीन नहीं माना जा सकता।

(२) निरुक्त के अन्य टीकाकारों में स्कन्द-महेश्वर की टीका लाहौर से प्रकाशित हुई है। यह टीका प्राचीन, प्रामाणिक और पांडित्यपूर्ण है। ये स्कन्द स्वामी वही व्यक्ति हैं जिन्होंने ऋग्वेद के ऊपर भाष्य लिखा है। ये गुजरात की प्रख्यात नगरी वलभी के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम भर्तृध्रुव था। इनका समय सप्तम शतक विक्रमी का उत्तरार्ध है। इनका ऋग्वेद का भाष्य प्रामाणिक है तथा अल्पाक्षर होने पर भी सारगर्भित है। ऐसे विशिष्ट विद्वान् के द्वारा विरचित होने से यह निरुक्त-टीका भी अपनी विशिष्टता रखती है।

(३) **निरुक्त-निचय**—इस ग्रन्थ के रचयिता कोई वररुचि हैं। यह निरुक्त की साक्षात् व्याख्या नहीं है, अपितु निरुक्त के सिद्धान्तों के प्रतिपादक लगभग एक सौ श्लोकों की स्वतन्त्र व्याख्या है। निरुक्त की इन टीकाओं के अनुशीलन करने से हम भाषाशास्त्र-सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य विषयों पर पहुँचते हैं। निरुक्त तथा उसकी वृत्तियों में दिये गये संकेतों को ग्रहण कर मध्ययुग के विद्वानों ने वेद के भाष्य निबद्ध करने में सफलता प्राप्त की है। मध्यकालीन भाष्यकारों को अपने सिद्धान्तों के निर्माण करने में इन्हीं ग्रन्थों से स्फूर्ति तथा प्रेरणा मिली है, इस विषय में सन्देह के लिये स्थान नहीं है। इस प्रकार इन ग्रन्थों का ऐतिहासिक महत्त्व वेद के अर्थानुचिन्तन के विषय में बहुत ही अधिक है। सायणाचार्य तो यास्क एवं दुर्गाचार्य के तथा अन्य व्याख्याकारों के विशेष ऋणी हैं; इस तथ्य को उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है।

निरुक्त का महत्त्व

'निरुक्त' शब्द की व्याख्या सायणाचार्य के अनुसार यह है—"अर्थाऽवबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्र उक्तं तद् निरुक्तम्"—अर्थात् अर्थ की जानकारी के लिये स्वतन्त्र रूप से जो पदों का संग्रह है वही निरुक्त कहलाता है। दुर्गाचार्य[1] का कहना है कि अर्थ का परिज्ञान कराने के कारण यह अंग इतर वेदाङ्गों तथा शास्त्रों से प्रधान है। अर्थ प्रधान होता है और शब्द गौण होता है। व्याकरण में इस शब्द का ही विचार है। कल्प में मन्त्रों के विनियोग का चिन्तन होता है। जो मन्त्र जिस अर्थ को शब्दतः संस्कार करने में समर्थ होता है वहीं उसका प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार कल्प भी मन्त्रों के अर्थानुसन्धान के ऊपर विनियोग का विधान करता है। अतः निरुक्त कल्प से भी अधिक महत्त्व का है। सारांश यह है कि शब्द का लक्षण तो व्याकरण के अनुसार जाना जाता है, परन्तु शब्द और अर्थ के निर्वचन का ज्ञान निरुक्त के द्वारा ही जाना जा सकता है। इस प्रकार निरुक्त वेद के अर्थ को जानने के लिये नितान्त आवश्यक है। यह व्याकरण-शास्त्र का पूरक है।

निरुक्त में वैदिक शब्दों की निरुक्ति दी गई है। 'निरुक्ति' शब्द का अर्थ है—व्युत्पत्ति। निरुक्त का यह सर्वमान्य मत है कि प्रत्येक शब्द किसी न किसी धातु के साथ अवश्य सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये निरुक्तकार शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाते हुए धातु के साथ विभिन्न प्रत्ययों का निर्देश बतलाते हैं। निरुक्त के अनुसार सब शब्द व्युत्पन्न हैं, अर्थात् किसी न किसी धातु से बने हुए हैं (धातुज)। वैयाकरणों में प्राचीन वैयाकरण शाकटायन का यह मत था। इसका उल्लेख यास्क तथा पतञ्जलि ने अपने ग्रन्थों में किया है[2]। शब्दों की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है। 'दुहिता' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में

---

१. प्रधानं चेदमितरेभ्योऽङ्गेभ्यः सर्वशास्त्रेभ्यश्च अर्थपरिज्ञानाभिनिवेशात्। अर्थो हि प्रधानं तद्गुणः शब्दः, स च इतरेषु व्याकरणादिषु चिन्त्यते। यथा शब्द-लक्षण-परिज्ञानं सर्वशास्त्रेषु व्याकरणात्। एवं शब्दार्थनिर्वचन-परिज्ञानं निरुक्तात्।

(दुर्गाचार्य वृत्ति, पृष्ठ ३)

२. तत्र नामानि आख्यातजानीति शाकटायनो निरुक्तसमयश्च।

(निरुक्त १।१२।२)

नाम च धातुजमाह निरुक्ते, व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।

(महाभाष्य)

यास्क लिखते हैं कि वह पिता से दूर रक्खे जाने पर ही उसका हित करती है (दूरे हिता) अथवा वह पिता से सदा द्रव्य को दुहा करती है अथवा वह स्वयं गाय दुहती है।

निरुक्त जिस अधार पर प्रवृत्त होता है—अर्थात् प्रत्येक संज्ञा पद धातु से व्युत्पन्न हुआ है—वह आधार नितान्त वैज्ञानिक है। इसी का आजकल नाम है भाषा-विज्ञान है। इसकी उन्नति पाश्चात्त्य जगत् में १०० वर्ष के भीतर ही हुई है और वह भी संस्कृत भाषा के यूरोप में प्रचार होने पर ही। परन्तु आज से ३००० वर्ष पहले वैदिक ऋषियों ने इस शास्त्र के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक रीति से निरूपण किया था। भाषाशास्त्र के इतिहास में भारतवर्ष ही इसका मूल उद्गम स्थान है; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। निरुक्त के आरम्भ में इस विषय के जिन नियमों का प्रतिपादन उपलब्ध होता है वह विशेष महत्त्व रखता है[1]।

निरुक्ति की शैली

निरुक्त भाषाशास्त्र की दृष्टि से एक अनुपम रत्न है। निरुक्त का मान्य सिद्धान्त है कि सब नामधातु से उत्पन्न होने वाले हैं। वैयाकरणों में केवल शाक-

---

१. निरुक्त के अनेक संस्करण भारत में प्रकाशित हुए हैं :—

(क) सत्यव्रत सामश्रमी (एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, १८८०) ने दुर्गवृत्ति के साथ इसका एक संस्करण निकाला है।

(ख) पं० शिवदत्त शर्मा के सम्पादकत्व में वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई सं० १९६९ वि० में प्रकाशित।

(ग) डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप ने पंजाब विश्वविद्यालय से इस ग्रन्थ का मूल पाठ, अंग्रेजी अनुवाद, स्कन्द महेश्वरी की टीका टिप्पणियों के साथ प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक संस्करण अनेक भागों में सम्पादित किया है।

(घ) पूना के प्रोफेसर राजवाड़े ने दुर्गवृत्ति के साथ निरुक्त का संस्करण सम्पादित किया है। यह संस्करण बड़े वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। भाष्य बड़ा ही मौलिक रहस्योद्घाटक है। उन्होंने विस्तृत टिप्पणियों के साथ इसका मराठी भाषा में अनुवाद भी किया है, जो विषय की दृष्टि से तथा निरुक्त के बोध के लिए विशेष उपादेय है।

(ङ) पण्डित भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित तथा भाषार्थ और भाषा-भाष्य-संयुक्त निरुक्तशास्त्रम् (अमृतसर, सं० २०२१)।

टायन का ही यह मत था। इस मत की परीक्षा गार्ग्य नामक किसी प्राचीन आचार्य ने बड़ी युक्तियों के बल पर की है, जिनका खण्डन यास्क ने प्रबलतर युक्तियों से किया है। भाषा का मूल धातु ही होता है; इस तथ्य का उद्घाटन यास्क ने आज से तीन हजार वर्ष पहिले किया था। यह तथ्य आधुनिक तुलनात्मक भाषाशास्त्र का मेरुदण्ड है। यास्क ने अपने वैज्ञानिक मत की प्रस्थापना के लिए अनेक सबल युक्तियाँ दी हैं जिनसे परिचय आवश्यक है।

गार्ग्य की पहली आपत्ति "वस्तु का क्रियानुसार नाम रखने से अनेक वस्तुओं की एक क्रिया होने से अनेक का एक नाम हो सकता है" असंगत है। तुल्यकर्म करने वाले लोगों में भी उसी कर्म द्वारा उनमें से व्यक्ति-विशेष या श्रेणी-विशेष का ही नाम हुआ करता है, सब का नहीं। लोक व्यवहार की यही शैली है। 'तक्षण' (काटना) और 'परिव्रजन' (चारों ओर फिरना) क्रियाओं के अनेक व्यक्तिओं के करने पर भी बढ़ई का नाम 'तक्षा' तथा संन्यासी का नाम 'परिव्राजक' है, अन्य का नहीं। शब्द का स्वभाव ही ऐसा है कि किसी क्रिया द्वारा किसी एक ही वस्तु का प्रतिपादन करता है, सब वस्तुओं का नहीं। एक वस्तु के साथ अनेक क्रियाओं का योग रहने पर भी किसी क्रिया के अनुसार उसका नाम हुआ करता है—यह शब्द का स्वभाव तथा लोकप्रसिद्ध व्यवहार है। 'तक्ष' तथा 'परिव्राजक' अन्य क्रियाओं को भी करते हैं, परन्तु क्रिया की विशिष्टता के कारण तक्षण तथा परिव्रजन क्रियाओं के अनुसार ही उनका नामकरण हुआ है। निष्पन्न नाम के सहारे वस्तु की क्रिया की परीक्षा या विचार करना असंगत नहीं होता। कारण, नाम की निष्पत्ति होने पर ही उसके योगार्थ की परीक्षा हो सकती है (**भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः**-निरुक्त १।१४) नाम के निष्पन्न न होने पर किसका अर्थ परीक्षित होगा ? "प्रथनात् पृथिवी"—विस्तृत किये जाने के कारण पृथिवी का यह नाम है। शाकटायन की इस व्याख्या पर गार्ग्य का यह कथन नितान्त अयुक्तिक है कि इसे किसने विस्तृत बनाया ? या किस आधार पर स्थित होकर व्यक्ति ने इसे विस्तृत किया ? ये बातें तर्कहीन हैं, क्योंकि पृथिवी का पृथुत्व तो प्रत्यक्षदृष्ट है। इसके प्रथन के विषय में प्रश्न ही व्यर्थ है। अतः गार्ग्य की यह भी आपत्ति सुसङ्गत नहीं है।

शाकटायन ने पदों की निरुक्ति के लिए एक अभिन्न पद की व्याख्या अनेक धातुओं के योग से निष्पन्न की है। 'सत्य' शब्द को शाकटायन ने दो भागों में विभक्त किया है—सत्+य; जिनमें प्रथम अंश अस्ति से निष्पन्न है तथा द्वितीय

अंश इण् धातु के 'आययति' रूप से गृहीत है। सन्तमेव अर्थम् आययति गमयतीति सत्यम्—अर्थात् जो विद्यमान अर्थ (यथार्थ अर्थ) का ज्ञान करावे वह 'सत्य' है। गार्ग्य को इस पर महती आपत्ति है। यास्क का उत्तर है कि शब्दों को तोड़-मरोड़ करने पर भी शाकटायन की निरुक्ति अनुगतार्थ है और इसीलिए अमान्य नहीं है। अनन्वित अर्थ में शब्द का संस्कार करने वाला पुरुष निन्दनीय होता है, शास्त्र नहीं (**सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा**)। निरुक्ति तथा पद का अन्वय होना ही न्याय्य है। उसके लिए पदों को विभक्त करना अनुचित नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह निरुक्ति-प्रकरण ग्राह्य माना गया है, गर्हणीय नहीं। शतपथ ब्राह्मण (१४।८।४।१) ने 'हृदय' शब्द को तीन भागों में विभक्त कर उनकी निरुक्ति क्रमशः हृ, दा तथा इण् (आययति रूप से) धातुओं से प्रदर्शित की है। फलतः शाकटायन का मत यथार्थ है।

परभाविनी क्रिया के द्वारा पूर्वजात वस्तु का नामकरण होना उचित नहीं है, गार्ग्य की यह आपत्ति भी अकिञ्चित्कर है। लोक में परभाविनी क्रिया के द्वारा पूर्वजात वस्तु की संज्ञा या व्यपदेश अनेक स्थानों पर देखा जाता है। भविष्यत् योग या सम्बन्ध के सहारे किसी व्यक्ति का 'बिल्वाद' तथा 'लम्बचूडक' नामकरण लोक में होता है। मीमांसा दर्शन का भी यही सिद्धान्त है। रूढ़ शब्दों की भी व्युत्पत्ति अनावश्यक है—यह कथन भी ठीक नहीं है; वेद में रूढ़ शब्दों की व्युत्पत्ति अनेकत्र दृष्टिगोचर होती है—यदसर्पत् तत् सर्पिः। सर्पिष् (घी) की व्युत्पत्ति गमनार्थक सृप् धातु से निष्पन्न होती है।

यास्क ने इस प्रकार के युक्ति-व्यूह से स्पष्टतः प्रतिपादित किया है कि समस्त नाम धातुज हैं और वर्तमान भाषाशास्त्र का यही मान्य सिद्धान्त है (निरुक्त १।१४)।

---

(५)

छन्द

छन्द वेद का पाँचवा अङ्ग है। वेद के मन्त्रों के उच्चारण के निमित्त छन्दों का ज्ञान बड़ा ही आवश्यक है। छन्दों का विना ज्ञान हुए मन्त्रों का उच्चारण तथा पाठ ठीक ढंग से नहीं हो सकता। प्रत्येक सूक्त में देवता, ऋषि तथा छन्द का ज्ञान आवश्यक माना जाता है। कात्यायन का यह स्पष्ट कथन है

कि जो व्यक्ति छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन होकर मन्त्र का अध्ययन, अध्यापन; यजन तथा याजन करता है उसका यह प्रत्येक कार्य निष्फल ही होता है।[1]

प्रधान छन्दों के नाम संहिता तथा ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं जिससे प्रतीत होता है कि इस अङ्ग की उत्पत्ति वैदिक युग में हो गई थी। इस वेदाङ्ग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है पिंगलाचार्य कृत छन्दःसूत्र। इस ग्रन्थ के रचयिता पिङ्गल कब हुए? इसका पर्याप्त परिचय नहीं मिलता। यह ग्रन्थ सूत्ररूप में है और आठ अध्यायों में विभक्त है। आरम्भ से चौथे अध्याय के ७वें सूत्र तक वैदिक छन्दों के लक्षण दिये गये हैं, तदन्तर लौकिक छन्दों का वर्णन है। इसके ऊपर भट्ट हलायुध कृत 'मृतसंजीवनी' नामक व्याख्या प्रसिद्ध है। इसका प्रकाशन अनेक स्थानों से हुआ है।[2]

वैदिक संहिताओं का अधिकांश भाग छन्दोमय है। कृष्ण यजुर्वेद तथा अर्थवेद के कतिपय भाग में गद्य का प्रयोग किया गया उपलब्ध होता है। इन अंशों को छोड़ देने पर समग्र वैदिक संहिताएँ छन्दोमयी वाक् के रूप में मिलती हैं। ऋग्वेद तथा सामवेद के समस्त मन्त्र छन्दोबद्ध ऋचाएँ हैं। हृदय के कोमल भावों की अभिव्यक्ति का नैसर्गिक माध्यम छन्द ही है। अन्तस्तल के मर्मस्पर्शी भाव प्रकट करने के लिए कविजन छन्दों का कमनीय कलेवर ही खोजा करते हैं। मन्त्रों का प्रधान उद्देश्य यज्ञों मे उपास्य देवता के प्रसादन कार्य में ही है और यह भी निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि देवताओं की प्रसन्नता उत्पन्न करने का मुख्य साधन मन्त्रों का गायन ही हो सकता है। इस दृष्टि से भी छन्दों की महत्ता विशेष है। किसी मन्त्र की फलवत्ता तभी हो सकती है जब उसके द्रष्टा ऋषि तथा वर्णित देवता के साथ-साथ हम उसके छन्द से भी परिचित हों। अतः मन्त्रों के छन्दों से परिचय प्राप्त करना एक विशेष आवश्यक कार्य है। पाणिनीय शिक्षा (श्लोक ४) का कहना है—छन्दः पादौ तु वेदस्य—छन्द वेद के पाद हैं। जिस प्रकार बिना पैरों के सहारे न तो मनुष्य खड़ा हो

---

१. यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो-दैवत-ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान् भवति। (सर्वानुक्रमणी १।१।)

२. बंगला अनुवाद के साथ पं० सीतानाथ भट्टाचार्य ने इसे कलकत्ता से प्रकाशित किया है (शक १८३५)। यह संस्करण विशुद्ध तथा छात्रोपयोगी है।

सकता है और न चल सकता है, उसी प्रकार छन्द के आधार के बिना वेद लंगड़ाने लगता है—चलने में असमर्थ रहता है।

यास्क ने 'छन्दः' की व्युत्पत्ति छद् धातु (ढकना) से बतलाई है। छन्दों को छन्द कहे जाने का रहस्य यही है कि ये वेदों के आवरण हैं—ढकने वाले साधन हैं (छन्दांसि छादनात्—नि० ७।१९)। इसी अर्थ की पुष्टि में दुर्गाचार्य ने यह सारगर्भित वाक्य उद्धृत किया है—**यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतः, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्**।[1] पीछे वेद के लिए 'छन्द' का प्रयोग उपचारवशात् होने लगा। वेदों का बाह्यरूप छन्दोबद्ध होने से यह गौण प्रयोग अवान्तर काल में होने लगा। पाणिनि ने बोल-चाल की भाषा के लिए जहाँ 'भाषा' शब्द का प्रयोग है, वहीं सूत्रों में वैदिक भाषा के लिये 'छन्दस्' का प्रयोग किया है।[2] लौकिक संस्कृत की दृष्टि से वैदिक संस्कृत के शब्दरूपों तथा छन्दों में नियम का सामान्य अभाव है। इसीलिए 'छान्दस' शब्द का अर्थ हो गया अनिश्चित, अनियमित और इसी अर्थ में यह शब्द आजकल बहुधा प्रयुक्त किया जाता है।

वैदिक छन्दों की विशेषता यही है कि ये अक्षर-गणना पर नियत रहते हैं, अर्थात् उनमें अक्षरों के गुरु लघु के क्रम का कोई विशेष नियम नहीं है। इसीलिये कात्यायन ने 'सर्वानुक्रमणी' में इसका लक्षण 'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः' किया है, परन्तु लौकिक संस्कृत के छन्दों में यह बात नहीं है। वहाँ तो वृत्तस्थ अक्षरों की गुरुता और लघुता नियत कर दी गई है। यह भी याद करने की बात है कि अनेक शताब्दियों के अनन्तर वैदिक छन्दों से ही लौकिक छन्दों का आविर्भाव हुआ है। लौकिक छन्दों में चार ही चरण होते हैं, परन्तु वैदिक छन्दों में यह नियम नहीं है। यों तो वेदों में एक तथा दो पाद वाले छन्द भी मिलते हैं, परन्तु तीन पाद वाले छन्दों का विशेष प्राचुर्य है। गायत्री तथा उष्णिक् तीन पाद के ही होते हैं। पंक्ति छन्द पाँच पादों का होता है। इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन करने से अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का पता लगाया जा सकता है। 'वैदिक छन्द' के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन की अभी बड़ी कमी है। यह विषय भी अन्य वैदिक विषयों के समान अत्यन्त गम्भीर है।

---

१. यह वाक्य छान्दोग्य उपनिषद् (०१।४।२) में भी पाया जाता है, परन्तु दोनों में कुछ पाठभेद है; सारांश सामान ही है।

२. यथा 'बहुलं छन्दसि' पाणिनि ७।१।८, ७।१।१०, ७।१।२६, ७।१।३८ आदि।

प्रधान वैदिक छन्द

नाम	पाद १	पाद २	पाद ३	पाद ४	पाद ५
गायत्री	८ अक्षर	८	८		
उष्णिक्	८	८	१२		
पुरउष्णिक्	१२	८	८		
ककुप्	८	१२	८		
अनुष्टुप्	८	८	८	८	
बृहती	८	८	१२	८	
सतोबृहती	१२	८	१२	८	
पङ्क्ति	८	८	८	८	८
प्रस्तारपंक्ति	१२	१२	८	८	
त्रिष्टुभ्	११	११	११	११	
जगती	१२	१२	१२	१२	

इन्हीं छन्दों के अनेक अवान्तर भेद भी संहिताओं में मिलते हैं। प्रत्येक संहिता के छन्दों का वर्णन अनुक्रमणियों में बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया गया है। कात्यायन ने ऋग्वेद के प्रत्येक मन्त्र के छन्दों का निर्देश 'सर्वानुक्रमणी' में बड़ी प्रामणिकता से किया है। प्रातिशाख्यों में, विशेषतः ऋक्प्रातिशाख्य (पटल १६—पटल १८) में, छन्द का विस्तृत विवेचन है। पिङ्गल के ग्रन्थ में वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का विशेष वर्णन है। ये ग्रन्थ छन्दों की जानकारी के लिये विशेष माननीय हैं।

पहले बताया गया है कि वैदिक छन्दों में अक्षरों के गौरव-लाघव पर ध्यान न देकर उनकी संख्या का ही विचार किया जाता है। कभी-कभी अन्य पादों के अक्षरों के समसंख्यक होने पर भी एक पाद में कभी संख्या कम हो जाती है और कभी अधिक। यह मनमानी अनियमित नहीं है, अपितु नियम से ही किया जाता है। यदि किसी पाद के अक्षर एक कम हो तो उसे 'निचृत्' और एक अधिक हो, तो उसे 'भुरिक्' कहते हैं। नियमतः त्रिपदा अष्टाक्षरा गायत्री के अक्षरों की संख्या (८ × ३) २४ ही है, परन्तु २३ अक्षरों की गायत्री 'निचृद्-गायत्री' और २५ अक्षरों की 'भुरिग्-गायत्री' कही जाती है। इसी प्रकार दो

अक्षरों की हीनता वाले छन्दों को 'विराट्' तथा दो अक्षरों की अधिकता होने पर छन्द को 'स्वराट्' कहते हैं। कहना न होगा कि 'विराट् गायत्री' (२४–२) २२ अक्षरों की और 'स्वराट् गायत्री' (२४+२) २६ अक्षरों की होती है[1]।

कभी-कभी देखने में आता है कि छन्द एक अक्षर के अभाव में लँगड़ा जान पड़ता है। ऐसी दशाओं में छन्द को नियमबद्ध बनाने के अभिप्राय से एक अक्षर को दो अक्षर बना देने की अवस्था 'सर्वानुक्रमणी' में स्पष्टतः दी गई है—

पादपूर्णार्थे क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत् (सर्वा० ३।६), अर्थात् पाद-पूरण के लिए क्षैप्रसंयोग (यकार तथा वकार के संयोग) तथा सन्धिजन्य एका-क्षरों को पृथक् कर देना चाहिए। कुछ उदाहरण के द्वारा इस नियम को स्पष्ट करना उचित होगा :—

(१) जहाँ यण् सन्धि के द्वारा वकार तथा बकार हो, उसे पृथक् कर मूल दोनों स्वक्षरों का उच्चारण करना चाहिए, यथा—त्रिपदा उष्णिक् के उदाहरण में दिए गये मन्त्र के दूसरे चरण—पिबाति सौम्यं मधु—में ८ अक्षरों में एक अक्षर की कमी है। अतः पादपूरण के लिए सोम्यं=सोमिअं। जगती के अन्तिम चरण में द्युमद्=दिउमद्। 'तत् सवितुर्वरेण्यं' में वरेण्यं=वरेणिअं।

(२) वकार का पृथक्करण—अधिकांश मन्त्रों में त्वं का उच्चारण तुअम् होता है। 'दिवं गच्छ स्वः पते' में स्वः = सुअः।

(३) रेफ का पृथक्करण—अनेक मन्त्रों में 'इन्द्र' का उच्चारण 'इन्दर' होता है, यथा ऋ० ७।१९।२ त्वं ह त्यदिन्द्रः का उच्चारण होगा—तुअं ह त्यदिन्दरः।

(४) ए या ओ (गुण) अथवा ऐ तथा औ (वृद्धिस्वर) का दो स्वरों में पृथक्-करण होता है—ज्येष्ठ=ज्ययिष्ठ (ऋ० ७।६५।१), धेष्ठ=धयिष्ठ (ऋ० ७।९३।१) प्र ब्रह्मैत्विति (ऋ० ७।३६।१) में होता है—ब्रह्म एतु इति।

(५) एकार तथा ओकार के अनन्तर लुप्त अकार को (एङः पदान्तादति—पाणिनि ६।१।१०९) पुनः स्थापन कर उच्चारण करना चाहिए—इन्द्रं वाजेषु नोऽव (ऋ० १।७।४) में नोऽव=नो अव। इन्द्रं सखायोऽनु संरभध्वम् (ऋ० १०।१०३।६) में 'अनु' का उच्चारण पूरा होना चाहिए।

---

१. ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ। द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ—सर्वानुक्रमणी पृ० २। एकद्व्यूनाधिका सैव निचृद् ऊनाधिका भुरिक् (ऋक्प्राति-शाख्य १७।२)।

(६) दीर्घ सन्धि से उत्पन्न आकार को दो अक्षरों के रूप में परिवर्तन करना चाहिए[1], यथा—वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् (ऋ० १०।११७।७) में होता है—ब्रह्म अवदतो। आग्राग्रा श्वः श्वः (ऋ० ८।६१।१७) में आग्राग्रा= अग्र अग्रा। ऋ० ७।४०।६ में वात=व अत।

कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के समस्त मन्त्रों के छन्दों का निर्देश किया है। उनके अनुसार ऋग्वेद में छन्दों की संख्या :—

गायत्री	२४६७
उष्णिक्	३४१
अनुष्टुप्	८५५
बृहती	१८१
पंक्ति	३१२
त्रिष्टुप्	४२५३
जगती	१३५८
	९७६७

लगभग ३०० मन्त्र अति-जगती (१३×४), शक्वरी (१४×४) अति-शक्वरी (१५×४) अष्टि (१६×४) अत्यष्टि (१७×४) आदि विविध छन्दों में निबद्ध हैं। एकपदा ऋचायें केवल ६ तथा नित्य द्विपदा १७ हैं। इस सूची पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि ऋग्वेद में सर्वाधिक लोकप्रिय छन्द 'त्रिष्टुप्' है जिसमें ऋचाओं का द्वितीय पंचमांश निबद्ध है। इससे उतर कर गायत्री का नम्बर है। गायत्री में ऋग्वेद का लगभग चतुर्थ अंश लिखित है। जगती इसके भी पीछे आती है। अतः त्रिष्टुप्, गायत्री, जगती—ये ही तीन वैदिक संहिताओं के महत्त्वपूर्ण जनप्रिय छन्द हैं।

लौकिक संस्कृत के छन्दों का विकास इन्हीं वैदिक छन्दों से हुआ है। संस्कृत के कवियों ने श्रुति-माधुर्य तथा संगीतमय आरोह-अवरोह को ध्यान में रखकर इन्हीं छन्दों में अक्षरों के गौरव तथा लाघव को नियम-बद्ध कर दिया है। अन्य लौकिक छन्दों के आविष्कर्ताओं का नाम लुप्त हो गया है, परन्तु अनुष्टुप् के आविष्कारक महर्षि बाल्मीकि की कहानी प्रसिद्ध है। व्याध के बाणों से विद्ध क्रौञ्च को देखकर किस प्रकार महर्षि का हृदयगत शोक श्लोकरूप में परिणत हो गया! इसे यहाँ याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है। वैदिक त्रिष्टुप् से ही

---

१. द्रष्टव्य—षड्गुरुशिष्य की पूर्वोक्त सूत्र की वृत्ति, पृ० ६३।

एकादशाक्षर छन्दों का, विशेषतः इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का उदय हुआ है। जगती से द्वादशाक्षर छन्द वंशस्थ आदि की तथा सामगों की अत्यन्त प्यारी शक्करी से वसन्ततिलका की उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार अन्य लौकिक छन्दों का भी उदय समझ लेना चाहिए।

---

(६)

ज्योतिष

वेदाङ्गों में ज्योतिष अन्तिम वेदाङ्ग है। वेद की प्रवृत्ति यज्ञ के सम्पादन के लिए है। और यज्ञ का विधान विशिष्ट समयों की अपेक्षा रखता है। यज्ञ-याग के लिए समय-शुद्धि की बड़ी आवश्यकता रहती है। कुछ विधान ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध संवत्सर से है और किसी का ऋतु से। तैत्तरीय ब्राह्मण[1] का कथन है कि ब्राह्मण वसन्त में अग्नि का आधान (स्थापन) करे, क्षत्रिय ग्रीष्म में, वैश्य शरद् ऋतु में आधान करें। कुछ यज्ञ विशिष्ट मासों तथा विशिष्ट पक्षों में किये जाते हैं। विशेष तिथि—अष्टका, फाल्गुनी पूर्णमासी में दीक्षा का विधान पाया जाता है।[2] प्रातःकाल तथा सायंकाल में प्रत्येक अग्निहोत्री को अग्नि में दुग्ध या घृत से हवन करने का नियम है।[3] कहने का तात्पर्य यह है कि नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु तथा सम्वत्सर—काल के समस्त खण्डों—के साथ यज्ञ-याग का विधान वेदों मे पाया जाता है। इन नियमों के यथार्थ निर्वाह के लिए ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान नितान्त आवश्यक तथा उपादेय है। इसीलिए वेदाङ्ग ज्योतिष का तो यह आग्रह है कि जो व्यक्ति ज्योतिष को भली-भाँति जानता है वही यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता है।

---

१. वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत। शरदि वैश्य आदधीत।

(तै० ब्रा० १।१)

२. एकाष्टकायां दीक्षेरन् फाल्गुनी पूर्णमासे दीक्षेरन्।

(ताण्ड्य-ब्राह्मण ५।९।१७)

३. "प्रातर्जुहोति सायं जुहोति।—तै० ब्रा० २।१।२।

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः
कालानि पूर्वा विहिताश्च यज्ञाः ।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं
यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम् ॥

(वेदाङ्ग-ज्योतिष, श्लोक ३)

यज्ञ की सफलता केवल उचित विधान में ही नहीं है, प्रत्युत उचित नक्षत्र तथा उचित समय में ही करने से ही होती है। इसीलिए असुरों की परिभाषा देते हुए श्रुति का वचन है[1] कि वे असुर यज्ञ से हीन होते हैं, दक्षिणा से विरहित होते हैं, नक्षत्र से रहित होते हैं, जो कुछ वे करते हैं वे कृत्या को ही समर्पित करते हैं। इसके ठीक विपरीत देवताओं की स्थिति है। वे उचित समय में दक्षिणा के साथ यज्ञ का सम्पादन करते हैं।

यज्ञ-विधान के लिए ज्योतिष के इस महत्त्व को भास्कराचार्य ने भी स्पष्टतः स्वीकार किया है[2]। वेदाङ्ग-ज्योतिष की सम्मति में ज्योतिष समग्र वेदाङ्गों में मूर्धस्थानीय है। जिस प्रकार मयूर की शिखा उसके सिर पर ही रहती है, सर्पों का मणि उनके मस्तक पर निवास करता है उसी प्रकार षडङ्ग वेद में ज्योतिष को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है[3]। ज्योतिष वेद-पुरुष का चक्षु है। जिस प्रकार चक्षुर्विहीन पुरुष अपने कार्य सम्पादन में असमर्थ रहता है उसी प्रकार ज्योतिष-ज्ञान से रहित पुरुष वैदिक कार्यों में सर्वथा अन्धा होता है।

वेदाङ्ग-ज्योतिष का प्रतिनिधि ग्रन्थ दो वेदों से सम्बन्ध रखनेवाला उपलब्ध होता है—(१) यजुर्वेद से, (२) ऋग्वेद से, याजुष ज्योतिष तथा आर्च ज्योतिष। पहले में ४३ श्लोक हैं और दूसरे में ३६। बहुत से श्लोक दोनों ग्रन्थों में एक समान ही हैं। ये वेदकालीन प्राचीन ज्योतिष शास्त्र का वर्णन

---

१. ते असुरा अयज्ञा अदक्षिणा अनक्षत्राः ।
यच्च किञ्चाकुर्वत तां कृत्यामेवाकुर्वत ॥

२. वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञा प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण ।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्यात्, वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात् ॥

(सिद्धान्तशिरोमणि)

३. यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा ।
तद्वद् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम् ॥

(वे० ज्यो० ४)

करते हैं। उस युग की बातें इतनी अज्ञात हैं कि वेदाङ्ग-ज्योतिष के श्लोकों का रहस्य बतलाना आज भी विद्वानों के लिए एक विषम समस्या है। अनेक वर्षों से पश्चिमीय तथा भारतीय विद्वान् इन श्लोकों के रहस्यों को समझने का प्रयत्न करते आ रहे हैं, परन्तु आज भी वेदाङ्ग-ज्योतिष के कुछ पद्य ऐसे हैं जिनके अर्थ का उद्‌घाटन अभी तक ठीक-ठीक नहीं हो सका है। डा० थीबो, शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित, लोकमान्य तिलक तथा सुधाकर द्विवेदी आदि विद्वानों ने इसके श्लोकों की समय-समय पर व्याख्या लिखी है। डा० थीबो ने एशियाटिक सोसाइटी बंगाल की पत्रिका में (१८७७ ई०), शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने 'भारतीय ज्योतिषशास्त्र' नामक मराठी ग्रन्थ में, लोकमान्य तिलक ने अपनी 'वेदाङ्ग ज्योतिष' नामक अंग्रेजी पुस्तक में तथा सुधाकर द्विवेदी ने वेदाङ्ग ज्योतिष के स्वनिर्मित संस्कृत भाष्य में इन श्लोकों की विषद व्याख्या की है। वेदाङ्ग ज्योतिष के ऊपर एक प्राचीन भाष्य भी प्रकाशित है जिसकी रचना शेषकुल में उत्पन्न, काशी निवासी सोमाकर नामक किसी दाक्षिणात्य पण्डित ने की थी। सोमाकर ज्योतिष-शास्त्र के परम मर्मज्ञ थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, परन्तु दुःख है कि उनके जीवन-चरित तथा समय का पता नहीं चलता[1]।

वेदाङ्ग-ज्योतिष के कर्ता का नाम लगध था।[2] ये कौन थे तथा किस काल में पैदा हुए थे? इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। गणना के लिए इस ग्रन्थ में पाँच वर्ष का युग माना गया है। इन वर्षों के नाम हैं सम्वत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्‌वत्सर। ये नाम तैत्तिरीय ब्राह्मण में दिये गये हैं। उस समय वर्ष माघ मास से आरम्भ होता था। ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थों में १२ राशियों से गणना की जाती है, परन्तु इस ज्योतिष में राशियों का कहीं नाम निर्देश नहीं है, प्रत्युत गणना के आधार २७ नक्षत्र ही हैं।

---

१. याजुष-ज्योतिष 'सोमाकर' तथा सुधाकर-भाष्य के साथ तथा आर्च ज्योतिष सुधाकरभाष्य तथा लघुविवरण के साथ मेडिकल हाल—काशी से एक जिल्द में प्रकाशित हुआ है (काशी १९०८ ई०) वेदाङ्ग-ज्योतिष के ये दोनों ग्रन्थ प्रतिनिधि हैं।

२. प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम्।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः॥
(आर्चज्योतिष, श्लोक २)

शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि इस वेदाङ्ग-ज्योतिष की रचना ई० पू० १४०० वर्ष में ही की गई होगी। सुदूर प्राचीन काल से सम्बद्ध होने से ही यह ग्रन्थ इतना दुरूह तथा दुर्बोध हो गया है।

अनुक्रमणी

वेदों की रक्षा के लिए कालान्तर में एक नवीन शैली के ग्रन्थों की रचना आचार्यों ने की जिसमें तत्तद् वेद के ऋषि, देवता, छन्द आदि की सूची प्रस्तुत की गई है। ये ग्रन्थ **'अनुक्रमणी'** (=सूची) के नाम से प्रख्यात हैं। अनुक्रमणी प्रत्येक वेद की उपलब्ध होती है जिसमें अनेक ग्रन्थ प्रकाशित भी हो गये हैं। अनुक्रमणी के रचयिताओं में **शौनक और कात्यायन** नितान्त प्रख्यात आचार्य हैं। शौनक ने ऋग्वेद के और कात्यायन ने शुक्लयजुर्वेद के प्रतिशाख्यों की रचना क्रमशः की थी। इनकी अनुक्रमणियाँ वेदाङ्ग न होने पर भी वेद की रक्षा तथा तद्गत अवान्तर विषयों के विवेचन के निमित्त महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' की वृत्ति की भूमिका में वृत्तिकार 'षड्गुरुशिष्य' ने शौनक के ऋग्वेद की रक्षा के निमित्त निर्मित जिन दस ग्रन्थों का उल्लेख किया है वे ये हैं—(१) आर्षानुक्रमणी, (२) छन्दोऽनुक्रमणी, (३) देवतानुक्रमणी, (४) अनुवाक्-अनुक्रमणी, (५) सूक्तानुक्रमणी, (६) ऋग्विधान, (७) पादविधान, (८) बृहद्देवता, (९) प्रातिशाख्य तथा (१०) शौनक स्मृति।

इन ग्रन्थों से आरम्भ की पाँच अनुक्रमणियाँ क्रमशः ऋग्वेद के दशों मण्डलों के ऋषियों की, छन्दों की, देवताओं की, अनुवाकों की तथा सूक्तों की संख्या, नाम तथा तद्विषयक महनीय बातों का क्रमबद्ध विवरण अनुष्टुप् पद्यों में प्रस्तुत करती हैं। **ऋग्विधान** में ऋग्वेदीय मन्त्रों का प्रयोग विशेष कार्य की सिद्धि के लिये बतलाया गया है। इस प्रकार के विधान-ग्रन्थ अन्य वेदों में भी प्रायः उपलब्ध होते हैं। सामवेद में ठीक इसी पद्धति का ग्रन्थ है 'सामविधान', जो वस्तुतः अनुक्रमणी होने पर भी ब्राह्मणों में परिगणित किया गया है और जिसमें साम का प्रयोग विविध अनुष्ठान में विशेष फल की कामना के लिये बतलाया गया है। शौनकीय प्रातिशाख्य ऋग्वेद से ही सम्बन्ध रखता है और इसका वर्णन प्रातिशाख्य वाले अंश में पहिले ही किया जा चुका है।

बृहद्देवता

बृहद्देवता अनुक्रमणी-साहित्य का एक प्रभावान् रत्न है जिसके आलोक में ऋग्वेद के देवता के रहस्य स्पष्टतः आलोकित होते हैं। बारह सौ पद्यों में निर्मित

यह ग्रन्थ ऋग्वेद के देवताओं के विषय में प्रामाणिक, प्राचीन तथा पर्याप्तरूपेण विस्तृत है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है तथा प्रत्येक अध्यायों में लगभग पाँच पद्यों का एक वर्ग होता है, परन्तु इस विभाजन का सम्बन्ध ऋग्वेद के अष्टकों के साथ किसी भी प्रकार से नहीं है। वर्गों के विभाजन भी बिल्कुल अव्यावहारिक तथा यथेच्छ कल्पित हैं। इसीलिए कभी-कभी आख्यान के बीच में ही वर्ग समाप्त हो जाता है। बृहद्देवता का प्रथम अध्याय तथा द्वितीय अध्याय के आदिम २५ वर्ग (= १२५ श्लोक) ग्रन्थ की उपादेय भूमिका है जिसमें देवता के स्वरूप का, स्थान का तथा वैलक्षण्य का विवरण विस्तार के साथ दिया गया है। भूमिका के अन्तिम सात वर्गों का पूर्णतया व्याकरण से सम्बद्ध विषय निरुक्त से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है और निपात, अव्यय, सर्वनाम, संज्ञा, समास का वर्णन शब्द-विभाजन में यास्क की अशुद्धियों की आलोचना के साथ किया गया है। द्वितीय अध्याय के २६वें वर्ग से लेकर अन्त तक यह ग्रन्थ ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के लिए (और कभी-कभी सूक्तान्तर्गत ऋचाओं के लिए) देवता का निर्देश क्रमशः बतलाता है, परन्तु यह केवल देवता की नीरस सूची नहीं है, इसमें सूक्तों के विषय में उपलब्ध आख्यानों का भी निर्देश बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है और इस कार्य में इसका लगभग चतुर्थांश (३०० श्लोकों के आस-पास) व्यय हुआ है। ये आख्यान बृहद्देवता के प्राण हैं। काव्यशैली में निबद्ध ये आख्यान ऐतिहासिक रीति से महाभारत में निर्दिष्ट अनेक आख्यानों के साथ सम्पर्क रखते हैं। इस दृष्टि से बृहद्देवता कथासाहित्य का आदिग्रन्थ माना जा सकता है। महाभारतीय आख्यानों तथा बृहद्देवता-गत आख्यानों का पारस्परिक तुलनात्मक सम्बन्ध अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है, परन्तु अधिकांश विद्वानों की दृष्टि में प्राचीनतर बृहद्देवता का ही अनुकरण अवान्तर-कालीन महाभारत ने तत्तत् भाग में किया है। द्याद्विवेद की 'नीतिमञ्जरी' (रचनाकाल १५ शतक) तो बृहद्देवता के ही अनुशीलन का परिणत फल है। सर्वानुक्रमणी में कात्यायन ने तथा वेदभाष्य में सायण ने इन आख्यानों को यहीं से उद्धृत किया है। इस प्रकार आख्यानों के प्राचीनतम संग्रह होने के कारण बृहद्देवता साहित्य की सार्वभौम दृष्टि से भी नितान्त रोचक तथा हृदयावर्जक ग्रन्थ है।

यह ग्रन्थ यास्क के निरुक्त तथा कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के मध्यकाल की महनीय कृति है। शौनक ने यहाँ निरुक्त की देवताविषयक कल्पना को ही विशेषतः अंगीकृत नहीं किया है, प्रत्युत उसके अनेक वाक्यों को भी उद्धृत

किया है। कात्यायन ने भी बृहद्देवता का उपयोग अपनी रचना 'सर्वानुक्रमणी' में बहुत ही अधिक किया है। सूत्ररूप में होने पर भी सर्वानुक्रमणी में बृहद्देवता के लगभग ३० श्लोक ज्यों के त्यों अल्प परिवर्तन के साथ स्वीकृत तथा उद्धृत किये गये हैं। अपाणिनीय पदों की बहुल सत्ता के हेतु सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन वार्तिककार वैयाकरण कात्यायन से सर्वथा भिन्न माने जाते हैं। 'सर्वानुक्रमणी' का मूल स्रोत होने के कारण कात्यायन का समय तो पाणिनि से बहुत ही प्राचीन होगा तथा निरुक्त से कुछ ही हटकर होगा। अतः बृहद्देवता पूर्व-पाणिनीय युग की मान्य रचना होने से कम से कम वि० पू० अष्टम शतक में प्रणीत हुआ।

बृहद्देवता ने अपने कथन की पुष्टि में अनेक प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख दिया है। ऐसे मान्य आचार्यों में यास्क का उल्लेख १८ बार, शौनक का १५ बार, शाकटायन का ८ बार, ऐतरेय ब्राह्मण का ८ बार, शाकपूणि का ७ बार तथा गालव का ५ बार है। शौनक का उल्लेख 'आचार्य शौनक' के रूप में कई स्थानों पर अकेले (२।१३६) तथा कहीं अन्य आचार्यों के साथ (५।३९; ७।३८) किया गया है। इससे इस ग्रन्थ के सम्पादक डा० मैक्डानल की सम्मति है कि बृहद्देवता का रचयिता स्वयं आचार्य शौनक नहीं है, प्रत्युत उसके सम्प्रदाय का कोई आचार्य है जो काल-दृष्टि से उनसे बहुत दूर नहीं था। षड्गुरुशिष्य ने तो निश्चय रूप से शौनक को ही इसका प्रणेता बतलाया है[1]।

सर्वानुक्रमणी

ऋग्वेद के समस्त आवश्यक विषयों के ज्ञान के लिए कात्यायन रचित 'सर्वानुक्रमणी' नितान्त प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक है[2]। यह सूत्ररूप में निबद्ध है तथा प्रत्येक सूक्त के आद्य पद, अनन्तर ऋचों की संख्या, सूक्त के ऋषि का नाम तथा गोत्र, सूक्तों तथा तदनन्तर्गत मन्त्रों के देवता का निर्देश तथा मन्त्रों के छन्दों का क्रमबद्ध उल्लेख किया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद के विषय में आवश्यक सामग्री के संकलन के कारण यह विशेष उपादेय है। माधव भट्ट की भी एक ऋग्वेदानुक्रमणी है जिसके दो खण्डों में स्वर, आख्यात, निपात, शब्द, ऋषि,

---

१. संस्करण डा० मैक्डानल द्वारा दो भागों में 'हारवर्ड ओरियण्टल सीरीज' (ग्रन्थ संख्या ५ और ६), १९०४। प्रथम भाग में भूमिका तथा मूल ग्रन्थ है तथा दूसरे भाग में ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद है। यह संस्करण बहुत ही विशुद्ध तथा उपादेय है।

२. डा० मैक्डानल के द्वारा सम्पादित, आक्सफोर्ड, १८८६।

छन्द, देवता तथा मन्त्रार्थ-विषयक आठ अनुक्रमणियों का एकत्र संग्रह है[1]। यह स्वतन्त्र न होकर माधव भट्ट के भाष्य के अन्तर्गत तत्तत् विषयों के प्रतिपादक श्लोकों का संग्रह है। सर्वानुक्रमणी की दशा इससे भिन्न है। इसमें बृहद्देवता के श्लोकात्मक उद्धरण भी सूत्ररूप में परिणत कर निबद्ध कर दिये गये हैं। सर्वानुक्रमणी ऋग्वेदीय देवता के वर्णन में बृहद्देवता को ही अपना आधार मानती है और इसीलिए एक सौ के आस-पास उद्धरणों का यहाँ समावेश किया गया है।

सर्वानुक्रमणी के रचयिता कात्यायन मुनि हैं, जो शुक्ल यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र के कर्ता से भिन्न नहीं प्रतीत होते। कात्यायन द्वारा प्रणीत 'शुक्ल यजुर्वेदीय अनुक्रमणिका' भी इसी कात्यायन की रचना प्रतीत होती है, क्योंकि इसका समस्त भूमिकाभाग सर्वानुक्रमणी की भूमिका से पूर्णतः साम्य रखता है। कात्यायन के इन ग्रन्थों के पदों में अनेक वैदिक विशिष्टता मिलती है तथा अनेक अपाणिनीय पदों का भी प्रयोग यहाँ मिलता है। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनुक्रमणी के रचयिता कात्यायन वैयाकरण वार्तिककार कात्यायन से भिन्न व्यक्ति हैं। सर्वानुक्रमणी को पूर्व-पाणिनि युग की रचना मानना निःसन्देह युक्तियुक्त है।

याजुष अनुक्रमणी

शुक्लयजुः-सर्वानुक्रमसूत्र—के भी रचयिता कात्यायन ही माने जाते हैं। इसमें पाँच अध्याय हैं। सूत्रों के ऊपर अर्थ को ठीक-ठीक समझाने के लिए भाष्य भी प्रकाशित है जिसके रचयिता महायाज्ञिक प्रजापति के पुत्र महायाज्ञिक श्री देव हैं। इसका परिचय प्रति अध्याय में दी गई पुष्पिका से मिलता है। इसमें माध्यन्दिनसंहिता के देवता, ऋषि तथा छन्दों का विस्तृत विवरण दिया गया है। ग्रन्थ के आरम्भ में ऋषि तथा छन्द के ज्ञान की महिमा प्रतिपादित है। विना इसके ज्ञान के वेद का पढ़ने वाला या तो मृत्यु को प्राप्त करता है या पापीयान् होता है (**अथान्तराश्वगर्तं वाऽऽपद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति**—पृ० १०)। इसमे याग-विधान के नियम तथा अनुष्ठानों का भी वर्णन विशेष रूप से मिलता है। छन्दों का विस्तृत विवेचन इस अनुक्रमणी की भूयसी विशेषता है।

---

१. **संस्करण मद्रास विश्वविद्यालय की संस्कृत ग्रन्थमाला में, मद्रास, १९३२।**

(७) **लघु ऋक्तन्त्र संग्रह**–यह ऋक्तन्त्र का संक्षेप न होकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें संहिता पाठ को पदपाठ के रूप में परिणत करने पर जो विशिष्टतायें लक्षित होती हैं उनका एक विपुल संग्रह यहाँ प्रस्तुत किया गया है। यहाँ ऐसे मन्त्रों का निर्देश है जहाँ संहिता में 'प' है, परन्तु पदपाठ में स (श्लोक २५–३९), संहिता में 'ष्ट' है, परन्तु पद में 'स्त' (श्लोक ४०–४३)। इसी प्रकार गुण, वृद्धि, पूर्वरूप, प्रकृतिभाव वाले स्थलों का निर्देश किया गया है। मन्त्रों के स्वरूप की जानकारी के लिए यह नितान्त उपादेय है (प्रकाशित)[1]।

(८) **साम-सप्तलक्षण**–इस पद्यबद्ध छोटे ग्रन्थ में साम सम्बन्धी ज्ञातव्य तथ्यों का संकलन है। (प्रकाशित)[2]।

अथर्ववेदीय ग्रन्थ

अथर्ववेद से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ हैं जिनके द्वारा अथर्व के विभाजन, मन्त्र, उच्चारण तथा विनियोग आदि की आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की गई है। अथर्ववेदीय परिशिष्ट के अन्तर्गत ४९वाँ परिशिष्ट 'चरणव्यूह' है जिसके अनुसार इस वेद के पाँच लक्षण ग्रन्थ हैं—(१) चतुरध्यायी, (२) प्रातिशाख्य, (३) पञ्चपटलिका, (४) दन्त्योष्ठविधि तथा (५) बृहत्सर्वानुक्रमणी। इन पञ्चलक्षण ग्रन्थों के आरम्भिक दोनों ग्रन्थों का विवरण शिक्षा के प्रसंग में पूर्व ही दिया जा चुका है। (३) **पञ्चपटलिका** में पाँच पटल या अध्याय हैं जिनमें अथर्व के काण्डों तथा तद्गत मन्त्रों की संख्या का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अथर्व की मन्त्र संख्या के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। पाश्चात्त्य विद्वानों (जैसे ब्लूमफील्ड, ह्विटनी आदि) ने अथर्व का मूल भाग १८ काण्डों में माना है और अन्तिम दो काण्डों (१९ तथा २० काण्ड) को अवान्तरकालीन मानते हैं, परन्तु इस लक्षणग्रन्थ में बीसवें काण्ड की सूक्त संख्या, ऋषिदेवता आदि का निर्देश किया गया है। यह आश्वलायन के क्रमानुसार है। इसका कारण यह सम्मत है कि इस काण्ड के समस्त मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं और इसीलिए पञ्चपटलिका इस काण्ड के ऋष्यादि विवेचन में ऋग्वेदीय आश्वलायन के क्रम का आश्रय लेती है। (४) **दन्त्योष्ठविधि** छोटा होने पर भी अथर्ववेदीय उच्चारण के निमित्त विशेष

---

१. डा० सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित, लाहौर, १९४०।

२. महीदास की विवृत्ति के साथ मूल का सं० संस्कृत सीरीज में, काशी १९३८।

महत्त्व रखता है। पवर्गीय बकार ओष्ठ्य है, परन्तु वकार दन्त तथा ओष्ठ की सहायता से उच्चरित होने से दन्त्योष्ठ्य है। इस लक्षण ग्रन्थ में शब्दों का निर्देश कर इनके स्वरूप का विवेचन है। इस प्रकार निर्णीत पदों की संख्या ११६ है। शब्दस्वरूप के निर्णय में तथा अर्थनिर्णय के निमित्त इस स्वल्पकाय पुस्तिका की महनीय गरिमा को हम भलीभाँति आँक सकते हैं। अथर्व ४।२४।५ में (एष यज्ञानां विततो बहिष्ठो) में 'बहिष्ठः' पद को सायण, राथ, ह्विटनी आदि विद्वानों ने बकारादि माना है, परन्तु इस लक्षण ग्रन्थ के अनुसार (२।२) यह ओष्ठ्य बकारादि है और यही शुद्ध पाठ शंकरपाण्डुरंग पण्डित के द्वारा सम्पादित अथर्व संहिता में अन्य हस्तलेखों के आधार पर निर्णीत तथा स्वीकृत किया गया है। इसी प्रकार 'यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः' (अ० ८।९।५) में भी 'विबबाधे' के द्वितीय वर्ण के स्वरूप का निर्णय यहाँ किया गया है कि यह स्पर्श्य वर्ण है (१।११)। इसका भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी मूल्य कम नहीं है। इसमें दो अध्याय हैं जिनमें प्रथम अध्याय में १२ श्लोक तथा दूसरे में ११ श्लोक हैं।

(५) **बृहत्सर्वानुक्रमणी**[1]—इस उपयोगी ग्रन्थ में प्रत्येक काण्ड के सूक्तों के मन्त्र, ऋषि, देवता तथा छन्दों का पूर्ण विवेचन दिया गया है। 'सर्वानुक्रमणी' का जो स्थान ऋग्वेदीय साहित्य में है, इस ग्रन्थ का भी वही महत्त्व अथर्ववेदीय साहित्य में है। ग्रन्थ विस्तृत है तथा संहिता के अनुसार ही २०काण्डों में विभक्त है।

सायणाचार्य ने अथर्ववेदीय भाष्य के उपोद्घात में पाँच विशिष्ट उपयोगी ग्रन्थों का विषय निर्देश किया है जिनमें कौशिक तथा वैतानसूत्र का परिचय पूर्व ही दिया गया है। तीसरा ग्रन्थ **नक्षत्रकल्प** है जिसमें तीस महाशान्तियों का निमित्तभेद से वर्णन है जिसमें अमृत शान्ति आदिम है और अभया महाशान्ति अन्तिम है। चतुर्थ ग्रन्थ **'आङ्गिरसकल्प'** में अभिचार के काल-स्थानादि का निर्देश, कर्ता, कारयिता और सदस्यों की आत्मरक्षा तथा शत्रुकृत अभिचारों के निवारण के भी उपाय बतलाये गये हैं। पञ्चम ग्रन्थ **शान्तिकल्प** में विनायक ग्रह से गृहीत व्यक्ति का लक्षण, तथा वैनायकी शान्ति के लिए उपयुक्त होमादि का वर्णन है। **अथर्व परिशिष्ट** में अन्य अथर्ववेदीय विषयों का विवरण दिया गया है। अथर्व का यह साहित्य भी अन्य वेदों के साहित्य के समान उपयोगी और उपादेय है।

---

१. इन तीनों ग्रन्थों का प्रकाशन दयानन्द महाविद्यालय की ग्रन्थमाला में लाहौर से हुआ है।

इसी विभाग से सम्बद्ध दो ग्रन्थ ऐसे हैं जो पिछले युग की रचना होने पर भी महत्त्वशाली हैं। इसमें प्रथम है महर्षि शौनक-प्रणीत **चरणव्यूहसूत्र** तथा दूसरा है द्याद्विवेद-विरचित **नीतिमञ्जरी**। चरणव्यूह में ५ खण्ड हैं जिनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम तथा अथर्व की शाखाओं का क्रमशः प्रतिखण्ड विवरण तथा अंतिम खण्ड में फलश्रुति है। इसके ऊपर महिदास ने १६१३ संवत् में (= १५५६ ई० में) काशी में रहते हुए एक प्रमेयबहुल विवृत्ति (व्याख्या) लिखी है जिसमें मूल अर्थ की पुष्टि पुराणों के विशिष्ट उद्धरणों की सहायता से की गई है। **नीतिमञ्जरी** का वैशिष्ट्य यह है कि ऋग्वेद में उपलब्ध समस्त आख्यानों का और तज्जन्य उपदेशों का श्लाघ्य संकलन इस ग्रन्थ में किया गया है। ऋग्वेद के आख्यानों का निर्देश बृहद्देवता में तथा तदनुसार सायण-भाष्य में तत्तत् प्रसंग में विशेष रूप से किया गया है। इस ग्रन्थ के रचयिता द्याद्विवेद ने अष्टक क्रम से समग्र ऋग्वेद को आख्यान-संकलन की दृष्टि से छान डाला है तथा जिस किसी घटना से किसी मनोरम व्यावहारिक शिक्षा की प्राप्ति होती है उसे एक श्लोक में निबद्ध कर दिया है। ऋग्वेदीय आख्यान तथा तदुपदेश का संग्रह एक ही श्लोक में किया गया है। प्रति-श्लोक में निर्दिष्ट मन्त्रों की व्याख्या ग्रन्थकार ने प्रामाणिक वैदिक ग्रन्थों के उल्लेख के साथ बड़ी मार्मिकता तथा गाढ़ विद्वत्ता के साथ स्वयं की है। द्याद्विवेद गुजरात के निवासी थे तथा जैसा ग्रन्थ की पुष्पिका से पता चलता है कि उन्होंने नीतिमञ्जरी की समाप्ति १५५० संवत् (= १४९४ ईस्वी) में की थी। इस ग्रन्थ के भाष्य में सायण के वेदभाष्य (१४ शतक) तथा षड्गुरुशिष्य की वेदार्थदीपिका (रचनाकाल ११८४ ई०) से बड़ी सहायता ली गई है। इस प्रकार ऋग्वेदीय आख्यानों के अनुशीलन के निमित्त नीतिमञ्जरी एक अद्वितीय ग्रन्थ है[1]। (मन्त्रों के भाष्य में द्याद्विवेद ने अपनी गाढ़ विद्वता और वैदिक अनुशीलन का विशेष परिचय दिया है। वे सायण के भक्त होने पर भी उनका अन्धाधुन्ध अनुसरण नहीं करते। ऋग्वेद की व्याख्या के निमित्त भी नीतिमञ्जरी उपयोगी सिद्ध हो सकेगी)।

---
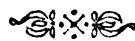
1. इस ग्रन्थ का अनेक परिशिष्टों तथा उपयोगी भूमिका के साथ संस्करण पंडित सीताराम जयराम जोशी ने काशी से प्रकाशित किया है, १९३३।

वैदिक साहित्य

[३]

संस्कृति खण्ड

असंबाधं बध्यता मानवानां
यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति
पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ।
यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो
यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्
सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥

(अथर्ववेद १२।१।२-३)

एकादश परिच्छेद

वैदिक भूगोल तथा आर्य निवास

संहिता और ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् में उपलब्ध होने वाली भौगोलिक सामग्री का उपयोग करने से वैदिक युग की भौगोलिक स्थिति के विषय में हम बहुत कुछ जान सकते हैं। इस जगत् का वेद में प्रथमतः विभाग तीन लोकों में किया गया है—पृथ्वी, अन्तरिक्ष या वायु लोक, द्युलोक अथवा स्वर्ग। अग्नि, वृक्षादि की स्थिति पृथ्वी पर, मेघ, विद्युत् तथा वायु की अन्तरिक्ष में और सूर्य की स्वर्ग लोक में है। वेद में एक ही 'स्वः' शब्द सूर्य तथा स्वर्ग दोनों के लिए प्रयुक्त किया गया है। ब्राह्मणों में इन्हीं के वास्ते 'भू' 'भुवः' तथा 'स्वः' (तीन महाव्याहृतियां) के नाम भी आये हैं। निघण्टु में इसी कल्पना के अनुसार कुछ देवता पृथिवी में रहने वाले, कतिपय अन्तरिक्ष में रहने वाले और कुछ द्युस्थान में रहने वाले बतलाये गये हैं। तात्पर्य यह है कि सर्वत्र वेद में लोकत्रय की यही कल्पना—पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गमान्य मानी गई है। लोकत्रय के भीतर पृथ्वी, आकाश तथा पाताल की कल्पना पौराणिक है और वेद में स्वीकृत नहीं की गई है।

ऋग्वेद से पता चलता है कि कभी प्राचीन समय मे पृथ्वी तथा पर्वत बिल्कुल हिलते-डुलते थे और इन्द्र ने पृथ्वी तथा द्युलोक को दृढ़ बनाया (ऋ० २।१२।१), पृथ्वी चक्र की तरह वृत्ताकार है। सूर्य के उदय तथा अस्त को लेकर विलक्षण कल्पना को प्रश्रय दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (३।४४) सूर्य के विषय में कहता है कि वह न कभी उदित होता है और न कभी अस्त होता है। लोग जो समझते हैं कि सूर्य अस्त होता है, वह बात इस प्रकार है—दिन के अन्त में पहुँच कर सूर्य अपने को पलट देता है और रात्रि को नीचे करके तथा दिन को ऊपर करके लौट जाता है। प्रातःकाल में उदय लेने की जो बात है उसका मतलब यह है कि सूर्य रात्रि के अन्त को पाकर अपने को घुमा देता है और दिन को नीचे तथा रात्रि को ऊपर करके पश्चिम की ओर जाता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य के एक भाग में रहता है दिन या प्रकाश तथा दूसरे भाग मे रहती है रात्रि या अन्धकार। जब वह पूरब से पश्चिम की ओर प्रस्थान करता है,

तब उसका प्रकाशमय भाग हमारे सामने और अन्धकारमय भाग ऊपर रहता है, यही हमारा दिन है। पश्चिम आकाश के अन्त को पाकर वह लौटता है, तब अन्धकार वाला भाग हमारे सामने और प्रकाश वाला भाग हमारे ऊपर रहता है। इसीलिए उस काल में अन्धकार का राज्य रहता है और उसे रात्रि के नाम से पुकारते हैं। दिन-रात की यह कल्पना ऋग्वेद को भी अमान्य प्रतीत नहीं होती (ऋ० १।११५।४, ५।८१।४ आदि):—

तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं
मध्या कर्तोर्विततं संजभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्था—
दाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥

(ऋ० १।११५।४)

वैदिक भौगोलिक स्थिति के विषय में चर्चा करते समय इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि आधुनिक तथा वैदिक नदियों के नामों में साम्य होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनका प्रवाह-मार्ग प्राचीन काल में भी उसी स्थान पर था जिस स्थान पर वह आजकल विद्यमान है। यह तो प्रसिद्ध बात है कि नदियों की घाटियों की स्थिति बदला करती है। भवभूति ने इसी कारण किसी स्थान की पहचान के वास्ते नदियों से बढ़कर पर्वतों का प्रमाण माना है। वैदिक आर्य पर्वतों से परिचित थे। काण्व-संहिता तथा मैत्रायणी संहिता में पुराणों में विख्यात कथानक का उल्लेख मिलता है कि प्राचीन काल में पर्वतों के पंख थे; वे जहाँ चाहते थे उड़कर जाया करते थे। इससे उत्पन्न जन-धन को हानि से बचाने के लिए इन्द्र ने पर्वतों के पंखों को काट डाला और पृथ्वी को सुरक्षित बनाया। यह किसी वास्तविक घटना का वर्णन न होकर किसी काल्पनिक घटना की ओर संकेतमात्र है। पर्वत विशेष के नामों में 'हिमवन्त' (हिमालय) का नाम आता है, परन्तु इसके विस्तार के विषयों में किसी प्रकार का निर्देश नहीं मिलता। ऋग्वेद में 'मूजवत्' नामक एक विशिष्ट पर्वत का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद (१०।३४।१ सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः) से पता चलता है कि सोमलता मूजवत् के ऊपर उगती थी। यह मूजवत् निरुक्त (९।८) की व्याख्या के अनुसार पर्वत का नाम था जिसकी स्थिति की जानकारी के विषय में अथर्व-संहिता हमारी सहायता करती है। अथर्व के ५वें काण्ड के २२वें सूक्त के

कथनानुसार[1] मूजवत् पर्वत बहुत दूर उत्तर पश्चिम में गन्धार या बाल्हीक देश के पास कहीं पर था। यही पर्वत सोमलता का मूल स्थान था, जहाँ से सोम लाकर यज्ञ में प्रस्तुत किया जाता था। आर्यों के पूरब की ओर बढ़ने पर यह स्थान इतना दूर हो गया कि इसका व्यापार होने लगा। सोमयाग में 'सोम-परिक्रमण' का यही ऐतिहासिक रहस्य है। शतपथ-ब्राह्मण ने (१।८।१।६) जल के ओघ (बाढ़) के समाप्त होने पर मनु की नाव के उतरने के स्थान को 'मनोरवसर्पण' नाम दिया है, परन्तु उत्तर गिरि (हिमालय) में यह स्थान कहाँ था ? इसका पता नहीं चलता। तैत्तिरीय आरण्यक में (१।३१) क्रौञ्च, मैनाग, सुदर्शन पर्वतों के नाम पाए जाते हैं। इसी आरण्यक (१।७) में 'महामेरु' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिसे कश्यप नाम का अष्टम सूर्य कभी नहीं छोड़ता, बल्कि सदा उसकी परिक्रमा किया करता है। इस वर्णन से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि 'महामेरु' से यहाँ अभिप्राय 'उत्तरी ध्रुव' से ही है।

समुद्र

समुद्र के विषय में ऋग्वेदकालीन वैदिक आर्य परिचय रखते थे या नहीं ? इस प्रश्न को लेकर पश्चिम के विद्वानों में बड़ी चर्चा चला करती थी। अधिकांश विद्वानों की सम्मति में आर्यगण समुद्र से कथमपि परिचय नहीं रखते थे, परन्तु वेद के गाढ अनुशीलन ने स्थिति बदल दी है। अब निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि आर्य लोग समुद्र से ही नहीं, प्रत्युत समुद्रजात मुक्ता आदि पदार्थों को भी जानते थे। ऋक्संहिता के अनेक स्थलों पर (१।७१।७, १।१९०।७, आदि) नदियों के समुद्र में गिरने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इतना ही नहीं; बल्कि जहाँ आजकल राजपुताने की मरुभूमि में बालुकाएँ लहर मार रही हैं, वहाँ उस समय एक लम्बा चौड़ा समुद्र था। आजकल के पूरबी भाग गंगा-यमुना की घाटी का स्थान भी, जहाँ आज उत्तरप्रदेश तथा बिहार के प्रदेश अपनी जनसमृद्धि से शोभायमान हैं, उस समय वह समुद्र के नीचे था। इस विषय का विस्तृत विवेचन पिछले परिच्छेद में किया गया है। ऋक् (१।४७।६) तथा अथर्व (१९।३८।२) में समुद्रजात वस्तुओं का और विशेषतः समुद्र से उत्पन्न 'मुक्ता' का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया गया है। तुग्र के पुत्र 'भुज्यु' की

---

१. तक्मन् मूजवतो गच्छ बल्हिकान् वा परस्तराम्। ७
गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परिदद्मसि ॥ १४

आख्यायिका का निर्देश अनेक स्थलों पर किया गया मिलता है। इस विख्यात कथा के अनुसार भुज्यु ने बहुत लम्बी समुद्र-यात्रा की थी जिसमें एक सौ डाँड़ों के जहाजों का उपयोग किया गया था। इतने सुसज्जित जहाज के डूबने की आशंका ने 'भुज्यु' को उस समुद्र में बेचैन कर डाला और अपनी रक्षा के निमित्त उसने अश्विनीकुमारों को पुकारना आरम्भ किया। इन्हीं दयालु देवताओं ने उस जहाज को किनारे लगाया और अपने भक्तों के प्राण बचाये। इस कथानक से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य लम्बी समुद्र यात्रा करने से कभी मुँह नहीं मोड़ते थे तथा लम्बे-लम्बे सौ डाँड़ों वाले जहाज बनाने और खेने की विद्या से भी वे भलीभाँति परिचित थे[1]।

नदियाँ

ऋग्वेद में नदियों के नाम अधिकता से पाये जाते हैं। वैदिक-साहित्य में अन्य भौगोलिक नामों की अपेक्षा नदियों के नाम कहीं अधिक बहुलता से उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में 'सप्त सिन्धवः' शब्द अनेक बार उल्लिखित हुआ है, परन्तु ये सात नदियाँ कौन सी हैं? इसका पता लगाना बड़ा कठिन है। एक तो स्वयं नदियों की संख्या सात से कहीं अधिक है, यदि प्रधान नदियों की ओर इस शब्द में संकेत माने तो भी किन नदियों को हम प्रधान नदियों के अन्तर्गत गणना मानें? सायण ने गंगादि सप्त नदियों का उल्लेख किया है, परन्तु गोदावरी, कावेरी आदि दाक्षिणात्य नदियों की गणना इस शब्द के भीतर नहीं की जा सकती, क्योंकि इनका निर्देश वैदिक साहित्य में कहीं नहीं मिलता। बहुत सम्भव है कि पंजाब की पाँचों नदियाँ—शुतुद्रि, विपाश, परुष्णी, वितस्ता, असिक्नी—सिन्धु तथा सरस्वती के साथ इस शब्द में परिगणित की गई हों। जो कुछ भी हो, इतना तो नितरां स्पष्ट है कि ऋग्वेदकालीन आर्यों के निवास के लिए इस शब्द का प्रयोग होता था। 'सिन्धु' आर्य निवास का एक नितान्त विख्यात नद था जिसकी कीर्ति अनेक मन्त्रों में गाई ही नहीं गई है, प्रत्युत जिसके नाम पर समग्र प्रवहणशील जलस्रोत 'सिन्धु' के नाम से पुकारे जाते हैं। समुद्र के लिए भी 'सिन्धु' का प्रयोग मिलता है।

---

१. अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमा तस्थिवांसम्॥

(ऋ० १।११६।५)

ऋग्वेद के १०म मण्डल में एक पूरा सूक्त ही नदियों की स्तुति में प्रयुक्त हुआ है। १०।७५ सूक्त 'नदीसूक्त' कहलाता है जिसमें सिन्धु-तीरस्थ किसी प्रैयमेध नामक ऋषि ने अपनी सहायक नदियों से संवलित सिन्धु से प्रार्थना की है। इस सूक्त में बहुत सी नदियों के नाम एक साथ आ गये हैं। सूक्त के पञ्चम मन्त्र में सिन्धु की पूरबी सहायक नदियों के नाम क्रम से दिये गये हैं। पूरा मन्त्र यह है :—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति
शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽ-
र्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥

इन नदियों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है :—

(१) **गंगा**—ऋग्वेद में इसी एक जगह गंगा का नाम स्पष्टतः आया है। 'उरुकक्षो न गाङ्ग्यः' (ऋ० ६।४५।३१) में गङ्गातीरोत्पन्न व्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त गाङ्ग्य शब्द से नदी का संकेत माना जा सकता है, पर यह स्पष्ट नहीं है। गङ्गा से आर्यों का परिचय पीछे चलकर हुआ। इसी कारण उल्लेखों की कमी है। शतपथ (१३।५।४।११), जैमिनीय ब्रा० ३।१८३, तैत्ति० आर० २।१० में गङ्गा का नाम मिलता है।

(२) **यमुना**—इस नदी का नाम ऋग्वेद, ऐतेरेय तथा शतपथ के अनेक स्थलों पर आता है।

(३) **सरस्वती**—वैदिक आर्यों की पुण्यतमा तथा ख्याततमा नदी है जिसके किनारे वैदिक याग-विधान का बहुशः उल्लेख है। कुछ विद्वानों की सम्मति में 'सिन्धु' के लिए 'सरस्वती' शब्द का प्रयोग किया जाता था, परन्तु पीछे कुरुक्षेत्र वाली नदी के लिए इसका प्रयोग सीमित कर दिया गया। यह यमुना तथा शुतुद्री (सतलज) के बीच में बहती थी। तथा समुद्र में अपना जल गिराती थी। पिछले काल में मरुभूमि में यह नदी बिल्कुल सूख गई। यह आजकल पटियाला रियासत में सुरसुति के नाम से प्रसिद्ध छोटी नदी है। इसी नदी के विषय में पौराणिकों का कहना है कि अदृश्य रूप से आकर यह प्रयाग में गङ्गा-यमुना से मिल गई है, परन्तु वेद में इसकी पुष्टि नहीं दीख पड़ती। ऋग्वेद काल में यह पश्चिम समुद्र तक बहती थी। ब्राह्मणयुग में इसका सूखना आरम्भ हुआ। ताण्ड्य-ब्राह्मण (२५।१०।१६) में सरस्वती के

लुप्त होने के स्थान का तथा जैमिनीय ब्राह्मण (४।२६।१२) में पुनः निकलने के स्थान का उल्लेख किया गया है। सरस्वती के लुप्त हो जाने का स्थान 'विनशन' तथा पुनः उत्पन्न होने का स्थान 'प्लक्ष प्रास्रवण' नाम से निर्दिष्ट है, जो 'विनशन' से घोड़े की गति से चौआलीस दिनों की दूरी पर स्थित था। आश्वलायन श्रौतसूत्र (१२।६।१) में इसका नाम 'प्लाक्ष प्रश्रवण' दिया गया है।

(४) **शुतुद्री**—वर्तमान सतलज। रामायण में यह 'शतद्रू' के नाम से विख्यात है।

(५) **परुष्णी**—यह 'इरावती' के नाम से भी प्रसिद्ध थी। वर्तमान नाम 'रावी'। इसीके किनारे वैदिक युग का विख्यात दाशराज्ञ-युद्ध हुआ था जिसमें महाराज सुदास ने अपने विरोध में सम्मिलित होनेवाले दश पराक्रमी नरपतियों की सेनायें छिन्न-भिन्न कर डाली थीं।

(६) **असिक्नी**—काली होने के कारण इस नदी का नाम "असिक्नी" पड़ा था। इसीका वर्तमान नाम 'चन्द्रभागा' या 'चेनाब' है। ग्रीक लोग वर्ण-विपर्यास कर इसे 'एकेसिनीज' के रूप में जानते थे।

(७) **मरुद्वृधा**—यह कोई बड़ी नदी है। डा० स्टाईन के कथनानुसार इसका आधुनिक नाम मरुवर्दवान् है। यह चेनाब की एक पश्चिमी सहायक नदी है।

(८) **वितस्ता**—'झेलम' नाम से प्रसिद्ध है। अभी तक कश्मीर में वितस्ता 'बेथ के नाम से विख्यात है। जिससे इसके प्राचीन नाम की स्मृति आज भी जाग्रत है।

(९) **आर्जीकीया**—निरुक्त (९।२६) के अनुसार 'ऋजीक' पर्वत से उत्पन्न होने के कारण या ऋजुगामिनी होने से इस नदी का यह नामकरण किया गया। यास्क इसे 'विपाश्' (व्यास) का नामान्तर बतलाते हैं, परन्तु इस एकीकरण के मान लेने पर नदियों के क्रमिक उल्लेख की परम्परा त्रुटित हो जाती है। अतः यह झेलम तथा सिंधु के बीच में बहने वाली कोई सामान्य नदी प्रतीत होती है।

(४) **सुषोमा**—अटक जिले में बहने वाली 'सोहन' नदी। निरुक्तकार इसका तात्पर्य सिंधु नदी से ही लगाते हैं।

नदीसूक्त के षष्ठ मन्त्र में सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदियों का नामोल्लेख मिलता है :—

> तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः
> सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या ।
> त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं
> मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे ॥
>
> (ऋ० वे० १०।७५।६)

(१) **तृष्टामा**—वस्तुतः यह सिन्धु की पहली सहायक नदी है । ऋग्वेद के मन्त्र से भी यही ध्वनि निकलती है । आजकल यह 'जासकार' नाम से प्रसिद्ध है और कश्मीर के लद्दाख प्रान्त में है । आधुनिक नक्शे में यह दिखाई गई है ।

(२) **सुसर्तु**—वस्तुतः यह सिन्धु की सहायक दूसरी नदी है । आजकल 'सुरु' नाम से प्रसिद्ध है । यह दक्षिण से उत्तर जाती है । इसकी पश्चिमी सहायक नदी 'द्रास' और पूर्वी सहायक नदी 'पश्चुम' कही जाती है । "यह नदी जासकार नामक नदी के बाद उसी दिशा मे सिन्धु से मिलती है ।" वेद धरातल (पृ० ७७५) के लेखक का यह समीकरण कश्मीर देश के अधिकारियों की सूचना पर आधारित है । अत एव प्रामाणिक और मान्य है ।

(३) **रसा**—इस नदी का उल्लेख ऋग्वेद में कई बार आता है । इस नदी को पार कर सरमा के पणियों के पास पहुँचने की घटना का उल्लेख ऋग्वेद (१०।१०८।१–२) में किया गया है (**कथं रसाया अतरः पयांसि**) । 'रन्हा' नामक नदी से इसका समीकरण अनेक विद्वान् करते हैं । वस्तुतः यह सिन्धु की तीसरी सहायक नदी है । वर्तमान नाम '**शेबक**' है और काश्मीर की नदी है ।

(४) **श्वेती**—सिन्धु की सहायक चतुर्थ नदी । कश्मीर में बहनेवाली गिलगित नदी से इसकी एकता मानी गई है ।

(५) **कुभा**—सिन्धु की महत्त्वपूर्ण सहायक नदी है जिसका उल्लेख ऊपर के नदीसूक्त वाले मन्त्र में तथा ऋग्वेद ५।५३।९ मन्त्र में किया गया है । वह मन्त्र यह है :—

> **मा वो रसानितभा कुभा क्रुमु र्मा वः सिन्धुर्नि रीरमत् ।**
> **मा वः परिष्ठात् सरयुः पुरीषिण्य स्मे इत् सुम्नमस्तु वः ॥**

[भावार्थ—हे मरुतों, आपको रसा, अनितभा, कुभा, क्रुमु और सिन्धु निकृष्ट रमण न करावें और पुरीषिणी (जलवाली) सरयू भी मत रोकें ।]

कुभा की वर्तमान पहिचान 'काबुल' नदी से है। यह सिन्धु की सहायक नदी हिन्दुकुश से दक्षिण है, कुनार तथा पंजकोरा आदि इसकी सहायक नदियाँ हैं।

(६) **मेहत्नू**—उक्त मन्त्र में यह नदी सिन्धु की सहायक नदी मानी गई है तथा इसकी संख्या छठी है। गोमती तथा क्रुमु से पहिले ही सिन्धु में मिलने की घटना का वर्णन है। अतः आजकल 'सवान' नदी से इसकी पहिचान की जा सकती है।

(७) **गोमती**–सिन्धु की सहायक नदी के रूप में उल्लिखित इस गोमती की पहिचान वर्तमान 'गोमाल' से की जाती है। यह अफगानिस्तान की नदी है जो सिन्धु नदी में डेरा इस्माइल खाँ तथा पहाड़पुर के बीच में गिरती है।

(८) **क्रुमु**—वर्तमान नाम 'कुर्रम' जो सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदी है।

इनके अतिरिक्त अन्य नदियों के नाम इस प्रकार हैं :—

सुवास्तु—ऋ० ८।१९।३७ तथा निरुक्त ४।१५ में उल्लिखित है। यह सिन्धु की सहायिका कुभा (काबुल) की सहायक नदी है। आजकल यह 'स्वात्' नाम से अफगानिस्तान में प्रसिद्ध है।

सरयू—(ऋ० ५।५३।९; १०।६४।९)—कुभा, क्रुमु, सिन्धु आदि पश्चिमी नदियों के साथ उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह भी पश्चिमी नदी है। अतः इसे अयोध्याजी के पास बहने वाली सरयू मानना नितान्त भ्रान्त है। अवेस्ता में यही 'हरोयू' के नाम से विख्यात है। आजकल इसे 'हरिरुद' कहते हैं।

विपाश्—(ऋ० ३।३३।१,३ ; ,, ४।३०।११) = व्यास नदी।

आपया—(ऋ० ३।२३।४) कुरुक्षेत्र की नदी है, जो सरस्वती की सहायक नदी थी। मानुषतीर्थ से पूर्व एक कोस पर है और बरसाती नदी है, जो अस्थिपुर के पास महेश्वरदेव के समीप है।

दृषद्वती—बड़ी महत्त्वशालिनी नदी है। यह सरस्वती की सहायक नदी है। यह आजकल 'घग्घर' या चितंग नदी हो सकती है। ऋग्वेद (३।२३।४) में इसका उल्लेख भरतों की यज्ञस्थली के रूप में आपया तथा सरस्वती के साथ

आया है। इसके उत्पत्ति-स्थान का नाम **दृषद्वती प्रभव्य** (या अर्म) है (लाट्यायन श्रौत सूत्र १०।१९।९), जो हिमालय के प्रत्यन्त पर्वत पर है। यह नदी सरस्वती के साथ जहाँ संगम करती थी उसका नाम 'दृषद्वत्यप्यय' (कात्यायन-श्रौतसूत्र २४।१९८) या 'दृषद्वत्या अप्यय' है। संगम के स्थल पर यज्ञों के अनुष्ठान का वर्णन मिलता है। लाट्या० १०।१,२ से पता चलता है कि यह नदी कभी सोदका होती थी और कभी-कभी अनुदका भी। फलतः यह वर्षावहा नदी थी। मनु० (२।१७) ने दृषद्वती तथा सरस्वती को देव-नदी कहा है तथा इनके बीच वाले प्रदेश को 'ब्रह्मावर्त' पुण्यभूमि बतलाया है।

सदानीरा—(शतपथ १।४।१।१४) यह नदी कोशल और विदेह राज्यों की सीमा थी। सम्भवतः वर्तमान गण्डकी नदी से इनका एकीकरण किया जा सकता है। इस नदी के पश्चिम ओर था कोशल देश तथा पूरब ओर था विदेह (**सैषाप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा**—शत० १।४।१।१७)

इन सुस्पष्ट उल्लेखों के अतिरिक्त कुछ नदियों के अस्पष्ट नाम भी मिलते हैं—**अनितभा** (ऋ० ५।५३।९)—सिन्धु की कोई पश्चिमी सहायक नदी; **यव्यावती** (ऋ० ६।२७।६) पंजाब की कोई नदी; **रथस्या** (जैमिनि ब्रा० २।२३५)—पता नहीं। **वरणावती** (अथर्व ४।७।१)—सायण के मत में कोई ओषधि का नाम। कुछ लोग इसे काशी के पास 'बरुणा' बतलाते हैं। **विबाली** (ऋ० ४।३०।१२)—अज्ञात नदी; **शिफा** (ऋ० १।१०४।३)—असुर कुयव की दोनों पत्नियों के शिफा की धारा में मारे जाने की प्रार्थना पूर्वोक्त मन्त्र में है। अतः यह नदी प्रतीत होती है। **हरियूपीया** (ऋ० ६।२७।५) में कहा गया है कि इन्द्र ने इस नदी पर अभ्यावर्ती चायमान के लिए वृचीवतों को मार डाला था और अगले मन्त्र में इस युद्ध का स्थान यव्यावती बतलाया गया है। अतः सम्भवतः हरियूपीया तथा यव्यावती एक ही अभिन्न नदी के नाम हों।

देश

नदियों के विवरण के अनन्तर वैदिक काल के प्रदेशों के वर्णन की ओर ध्यान देना समुचित प्रतीत होता है। प्राचीन साहित्य में किसी जातिविषयक तथा उनके निवास स्थान के लिए एक ही अभिन्न शब्द प्रयुक्त किया जाता है जिसे जनपद-वाची शब्द कहते हैं, जैसे 'काशि'। यह शब्द काशि नामक देश तथा जाति के लिए भी प्रयुक्त किया जाता था। वेद में ऐसे जनपद-वाची शब्द प्रचुरता से मिलते हैं। इन नामों के देखने से यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि

इन जातियों का निवास स्थल उन्हीं स्थानों पर था जहाँ ये स्थान आजकल मिलते हैं। जातियाँ एक स्थान से दूसरे स्थानों पर कालान्तर में हटती चलती जाती थीं और अपना नाम भी साथ लेती जाती थीं। ऐसी दशा में इन स्थानों की मौलिक स्थिति का ठीक-ठीक निर्णय करना एक विषम पहेली है।

ऐतरेय ब्राह्मण (८।३) ने राजा के महाभिषेक के प्रसङ्ग में इस आर्य-मण्डल को पाँच भागों में विभक्त किया है—प्राच्य (पूरब के लोग तथा देश), दक्षिण, पश्चिम में नीच्य तथा अपाच्य (पश्चिम के रहनेवाले लोग), उत्तर हिमालय से उस पार उत्तर कुरु और उत्तर मद्र नामक जनपदों की स्थिति थी और सबों के बीच था 'ध्रुवा मध्यमा प्रतिष्ठा' अर्थात् प्रतिष्ठित ध्रुव मध्यम देश जिसमें कुरु-पञ्चालों का निवास था। मनु आदि स्मृतिकारों के द्वारा वर्णित 'मध्य-देश'[1] की कल्पना का मूल ऐतरेय के इसी वर्णन में है। वैदिक ग्रन्थों में अनेक देशों के नाम उपलब्ध होते हैं, जो इन्हीं भिन्न-भिन्न दिङ्मण्डलों में विभक्त थे।

आर्यनिवास के बीच में कुरु पञ्चाल जनपदों का नाम आता है। कुरु तथा पञ्चाल का नाम सदा सम्मिलित रूप से मिलता है। अतः ये एक सम्मिलित राष्ट्र प्रतीत होते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इनकी प्रकृष्ट प्रशंसा का कारण यह है कि यह आर्यसभ्यता का केन्द्र माना जाता था, इसी देश में सरस्वती का गृह था, कुरु पाञ्चालों की याग-पद्धति सबसे श्रेष्ठ बतलाई गई है (श० ब्रा० १।७।२।८), इस देश के राजा लोग राजसूय यज्ञ किया करते थे (श० ब्रा० ५।५।२।३) तथा शीतकाल में दिग्विजय के लिए यात्रा करते और ग्रीष्म ऋतु में घर लौट आते थे (तै० ब्रा० १।८।४।१–२)। उपनिषदों में इस देश के ब्राह्मणों की विद्या-बुद्धि की भूयसी प्रशंसा उपलब्ध होती है। कुरु तथा पञ्चाल दो भिन्न-भिन्न जातियाँ थीं। ऐतरेय ब्रा० के अनुसार कुछ कुरु लोग हिमालय के उत्तर ओर भी रहते थे, जिन्हें 'उत्तर कुरु' कहा गया है (ऐत० ८।१४) ब्राह्मण ग्रन्थों के अवलोकन से पता चलता है कि औदीच्य—उत्तर के निवासियों—की बोली बड़ी

---

१. हिमवद् विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग् विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥
(मनुस्मृति २।२१)

अर्थात् हिमालय तथा विन्ध्याचल के बीच का, विनशने (सरस्वती नदी के लुप्त हो जाने के स्थान) से पूरब तथा प्रयाग से पश्चिम का स्थान 'मध्यदेश' कहलाता है। इसके भीतर कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल तथा शूरसेन प्रान्तों का अन्तर्भाव माना जाता था (म० स्मृ० २।१९)।

विशुद्ध थी। शतपथ (३।२।३।१५) का कथन[1] है कि उत्तर की बोली कुरु-पाञ्चाल की बोली के समान है तथा—'पथ्या और 'स्वस्ति'—विशुद्ध है। गोपथ-ब्राह्मण (१।३।६) में भी औदीच्य ब्राह्मणों की प्रशंसा की गई है। कुरुपञ्चाल के महात्मय का कारण निःसन्देह यह है कि इसी प्रदेश में महत्त्वशाली ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना की गई। इसी देश के वैदिक ब्राह्मणों ने पूरब तथा दक्षिण जा जाकर वैदिक संस्कृति का प्रचुर प्रचार किया तथा अन्यत्र अपने उपनिवेश बनाये। इस प्रकार आर्य धर्म तथा संस्कृति का मूल स्रोत यहीं से प्रवाहित होकर अन्य देशों को धार्मिक तथा सदाचारी बनाता रहा। अतः स्मृति-ग्रन्थों में सर्वत्र यह देश 'ब्रह्मावर्त' के महनीय नाम से अभिहित किया गया है।

उत्तर-पश्चिम के देशों तथा जातियों में गान्धारि, कम्बोज, कीकट, बह्लिक तथा वाहीक के नाम मिलते हैं। कम्बोजों का विशेष वृत्त नहीं मिलता। **कीकट**—ऋक्० स० ३।५३।१४ से ज्ञात होता है कि विपाश् तथा शुतुद्री के पास कोई अनार्यों का निवास था जहाँ गायों की बहुलता थी। वहीं कीकट देश था। पिछले कोषकारों ने कीकट देश को मगध का ही पर्याय माना है, परन्तु ऋग्वेद में ऐसी स्थिति न थी। **गन्धारि** (ऋ० १।१२६।८)—प्रसिद्ध गन्धार देश का नाम। अथर्व (५।२२।१४) में ज्वर से प्रार्थना की गई है कि वह गन्धारि जातियों में चला जाय[2]। छान्दोग्य (६।१४।१) से पता लगता है कि उपनिषद् काल में गन्धार देश आर्य निवास से बहुत ही दूर पड़ गया था। पूरब की ओर आर्यों के बढ़ाव के कारण गन्धार का दूर पड़ जाना स्वाभाविक ही है। 'गान्धारीणा-मिवाविका' से पता चलता है कि गन्धार देश सुन्दर रोंया वाली भेड़ों के लिए ऋग्वेद के समय में प्रसिद्ध था। **बल्हिक** देश में ज्वर के चले जाने के लिए अथर्व में प्रार्थना की गई है[3]। इसी नाम का पिछले ग्रन्थों में 'वाह्लीक' नाम से उल्लेख है। वाहीक का नाम शतपथ (१।७।३।८) में मिलता है। यह उत्तर-पश्चिम की कोई विशिष्ट जाति थी जो महाभारत काल में पंजाब में आकर रहने लगी होगी। महाभारत में वाहीक पंजाब का ही नाम बतलाया गया है, जो आर्यों से दूर होने के कारण आर्यों के निवास योग्य भी नहीं माना गया है। मद्र (बृह० ३।३।१) तथा महावृष (अ० ५।२२।४, जैमिनीय ब्रा० १।२३४, छान्दोग्य ४।२।५) उत्तर की ओर देश थे।

---

१. पथ्यया स्वस्त्या प्राजानन् तस्मादत्रोत्तराहि वाग् वदति कुरुपञ्चालत्रा वाग्घ्येषा—श० ब्रा० ३।२।३।१५'।

२. गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः।

३. यावज्जातस्तक्मं स्तावानसि बह्लिकेषु न्योचरः (५-२२-५)

मद्र—मद्र देश वर्तमान पंजाब का ही एक छोटा भाग था। इनकी राजधानी शाकल थी जो आजकल का 'स्यालकोट' है। इसी मण्डल में यह देश था। शाकल के वैभव का वर्णन बौद्ध ग्रन्थों में, विशेषतः 'मिलिन्द प्रश्न' में मिलता है। हिमालय के उत्तर में (परेण हिमवन्तम्) उत्तरमद्र नामक जनपद का उल्लेख 'उत्तर कुरु' के साथ ऐतरेय ब्राह्मण (८।३।१४) में किया गया है।

महावृष—देश-विदेष, परन्तु भौगोलिक स्थिति का पता ठीक-ठीक नहीं चलता। अथर्ववेद में मूजवन्तों के साथ उल्लेख है जहाँ ज्वर को चले आने के लिए आग्रह है। छान्दोग्य (४।२।५) में लिखा है कि राजा जानश्रुति पौत्रायण ने महावृष देश में ब्रह्मज्ञानी सयुग्वा रैक्व को 'रक्वपर्ण' नामक ग्राम दिया था। क्या यह तराई का कोई स्थान है? जहाँ ज्वर की अधिकता आज भी उपलब्ध होती है।

कुरुपञ्चाल से पूरब ओर के अनेक देशों के नाम वैदिक साहित्य में उल्लिखित हैं जिनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है:—

काशि या काश्य—अथर्व ५।२२।१४ (पैप्पलाद शाखा के अनुसार) शतपथ १३।५।४।१९, जैमिनीय २।३।१९, बृहदारण्यक २।१।१ में उल्लिखित काशी वर्तमान काशी ही है। ब्राह्मण युग में भी इसकी प्रख्याति कम न थी। 'काशि' काशी के निवासियों के लिए तथा 'काश्य' यहाँ के राजा के लिए प्रयुक्त मिलते हैं। शतपथ का कथन है कि काशी-नरेश धृतराष्ट्र को शतानीक सात्राजीत ने युद्ध में हराया था। बृहदारण्यक में अजातशत्रु काशी के राजा बतलाये गये हैं। काशी तथा विदेह कभी एक साथ सम्मिलित थे, क्योंकि कौषीतकि उपनिषद् में 'काशी-विदेह' नाम समस्त रूप में मिलता है तथा बृहदारण्यक में गार्गी ने अजातशत्रु को काश्य या वैदेह बतलाया है (काश्यो वा वैदेहो वा उग्रपुत्रः—बृह० ३।८।२)।

कोसल—इस देश का नाम शतपथ (१।४।१।१७), तथा जैमिनीय ब्रा० में मिलता है। कोसलों का नाम विदेहों के साथ मिलता है जिससे जान पड़ता है कि पीछे के समय के अनुसार वैदिक काल में भी ये आसपास ही निवास करते थे।

विदेह—शतपथ (१।४।१०) में 'विदेघ' नाम से भी इसी देश का निर्देश किया गया है। यह वही देश है जो आजकल तिरहुत के नाम से बिहार में विख्यात है। शतपथ के कथनानुसार स्पष्ट प्रतीत होता है कि आर्य संस्कृति का

इस देश में प्रचार कुरुपञ्चाल से ही पीछे चल कर हुआ, परन्तु उपनिषद् काल में अपने ब्रह्मवादी तथा विद्वान् राजा जनक के कारण इसने विपुल ख्याति अर्जन की थी। बृहदारण्यक में ब्रह्मवादियों की जिस सभा का मनोरम वर्णन है वह जनक के ही दरबार में हुई थी। विदेह लोग काशियों के साथ एक सम्मिलित राष्ट्र माने जाते थे। कोशल तथा विदेह की सीमा पर 'सदानीरा' थी, जो सम्भवतः वर्तमान गण्डकी होगी।

मगध—ऋग्वेद में मगध का नाम नहीं मिलता, परन्तु अथर्व में अङ्ग के साथ मगध में ज्वर के चले जाने की प्रार्थना की गई है (५।२२।१४)। अङ्ग के साथ सम्बद्ध होने से इसे पूरबी देश मानने में कोई आपत्ति नहीं है। यजुर्वेद के पुरुषमेध के अवसर पर मागध की बलि अतिकुष्ट के लिए बतलाई गई है (यजु० ३०।२२), तथा अथर्व संहिता (१५।२।५) में मागध व्रात्य का मित्र, मन्त्री तथा उसका हास्य बतलाया गया है। (**मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषम्**)। लाट्यायन श्रौतसूत्र (८।६।२८) में व्रात्य मगधदेशीय ब्रह्मबन्धु के रूप में स्वीकृत किया गया है। इन सब उल्लेखों से प्रतीत होता है कि वैदिक काल में मगध के निवासी सभ्यता तथा धर्म की दृष्टि में नितान्त हेय और हीन समझते थे। इसका कारण यही था कि ये लोग ब्राह्मणधर्म में बहुत पीछे सन्निविष्ट किये गये। पिछले समय में यहाँ की भूमि वैदिक याग के तिरस्कार करनेवाले बौद्धधर्म के उदय के लिए नितान्त उर्वरा सिद्ध हुई। जान पड़ता है कि यहाँ के निवासियों ने कला-कौशल, विशेषतः संगीत के सीखने के प्रति विशेष आदर दिखाया। इसीलिए राज-दरबार में मागध का समादार कालान्तर में होने लगा।

अङ्ग—इस देश का नाम ऋग्वेद में नहीं मिलता, परन्तु अथर्ववेद में मगध के साथ इसका नामोल्लेख है (५।२२।१४) गोपथ-ब्राह्मण में 'अङ्ग-मगधाः' समस्त पद की उपलब्धि से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में अङ्ग और मगध सम्मिलित राष्ट्र माने जाते थे। भागलपुर के आसपास का प्रदेश आधुनिक काल में 'अंग' देश का सूचक है।

दक्षिण के कतिपय देशों के भी नाम मिलते हैं। चेदिराज कशु के दान की महिमा ऋ० ८।५।३७ में गाई गई है, 'चेदि' कि स्थिति बुन्देलखण्ड में थी। शतपथ (१।३।२।१) में दक्षिण के राजा नड़ 'नैषिध' कहे गये हैं। जैमिनीय ब्रा० (२।४४२) में विदर्भ नाम आया है, परन्तु इसकी निःसन्दिग्ध स्थिति विचारणीय है। मत्स्यों का नाम शतपथ (१३।५।४।९) तथा गोपथ (१।२।९) में आता है। ऋग्वेद ७।१८।६ में इनका उल्लेख किन्हीं लोगों की

राय में माना जाता है, परन्तु इनका निवास कहाँ था ? यह ठीक-ठीक नहीं बतलाया जा सकता। आर्यों की सीमा पर रहनेवाली कतिपय जातियों का भी उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में किया गया है। इस ब्राह्मण (७।१८) से पता चलता है कि जब विश्वामित्र ने शुनःशेप को अपना ज्येष्ठ पुत्र माना, तब उनके पुत्रों ने घोर विरोध किया। इस पर क्रुद्ध होकर ऋषिवर्य ने पुत्रों को शाप दे दिया, जिसके कारण ये लोग आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द तथा मूतिब नामक उपान्तवासी दस्यु जातियों में परिणत हो गये। पिछले ऐतिहासिक काल में हम इन जातियों के आवासस्थान से भलीभाँति परिचित हैं, परन्तु ब्राह्मण युग में इन दस्युजातियों की स्थिति किस ओर थी और कहाँ थी ? इसका ठीक-ठीक पता बताना बहुत ही कठिन कार्य है। आन्ध्र—जो इस समय मद्रास प्रान्त के उत्तर में स्थित है—कभी दक्षिणापथ के उत्तरी भाग में रहते थे। इसी प्रकार 'पुण्ड्र' लोग बिहार के दक्षिण भाग में आगे चलकर रहते थे, परन्तु ऐतरेयकाल में इनकी भौगोलिक स्थिति का यथार्थ परिचय नहीं चलता।

देशों के नाम के अतिरिक्त कतिपय स्थानों के भी नाम वैदिक ग्रन्थों में आते हैं जिनमें कतिपय प्रसिद्ध स्थान नीचे दिये जाते हैं:—काम्पिल (तै० सं० ७।४।१९।१)—पञ्चाल की राजधानी, कुरुक्षेत्र—पुण्यभूमि रूप से उल्लेख किया गया है, तूर्घ्न—कुरुक्षेत्र का उत्तरी भाग (तै० आ० ५।१।१), त्रिप्लक्ष-दृषद्वती के अन्तर्धान का स्थान यमुना के पास था (ताण्ड्य २५।१३।४), नैमिश (काठक सं० १०।६, छान्दोग्य १।२।१३)—प्रसिद्ध नैमिषवन, वर्तमान निमिसार। परीह्—कुरुक्षेत्र में पश्चिम में कोई स्थान (ताण्ड्य २५।१३।१) अन्य अनेक छोटे-मोटे स्थानों का उल्लेख यत्र-तत्र किया गया है जिसका वर्णन अनावश्यक समझकर नहीं किया जाता।

———

(२)

आर्यों का निवास-स्थल

ऋग्वेद के अनुशीलन करने से हम वैदिक आर्यों के निवास-स्थल का पर्याप्त परिचय पाते हैं। ऋग्वेद में आर्य-निवास के लिए सर्वत्र 'सप्तसिन्धवः' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'वैदिक भूगोल' प्रकरण में हमने दिखलाया है कि आर्य-निवास की सात विख्यात नदियों के विषय में प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, परन्तु इतना तो निश्चित सा है कि जिसे आजकल

पंजाब के नाम से पुकारते हैं उसी के लिए उससे कुछ विस्तृत भूखण्ड के लिए 'सप्तसिन्धवः' शब्द व्यवहृत होता था। आजकल के अफगानिस्तान—पंजाब कश्मीर से प्राचीन आर्यजन परिचित थे। अफगानिस्तान में बहनेवाली कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात्), क्रमु (कुर्रम) तथा गोमती (गोमाल) नदियों से वे लोग परिचय रखते थे। 'सिन्धु' की जानकारी के विषय में कहना ही व्यर्थ है। ऋग्वेदी मन्त्रों में 'सिन्धु' की भूयसी प्रशंसा उपलब्ध होती है। ऋग्वेद के नदी-सूक्त (१०–७५) में सिन्धु का इतनी ओजस्विनी भाषा में वर्णन किया गया है कि नदी के तुमुल तरङ्गों का दृश्य नेत्र के सामने झलकने लगता है। प्रियमेधा का कहना है—सिन्धु का शब्द पृथ्वी से उठकर आकाश तक को आच्छादित कर देता है, महान् वेग से उज्ज्वल बनकर यह चलती है। इसके शब्द को सुनकर मन में ऐसा भान होता है कि मेघ घोर गर्जन के साथ वृष्टि कर रहा हो। सिन्धु वैसी ही आती है जैसे वृष गर्जन करता हुआ आता हो :—

दिवि स्वनो यतते भूम्योप-
यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना ॥
अभ्रादिव प्रस्तनयन्ति वृष्टयः
सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत् ॥

(ऋक् १०।७५।३)

एक दूसरे मन्त्र में सिन्धु का अपनी सहायक नदियों के संगम का दृश्य बड़ी रोचक भाषा में अभिराम उपमाओं के सहारे प्रस्तुत किया गया है—

अभि त्वा सिन्धो शिशुमिन्न मातरो
वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः।
राजेव युध्वा नयसि त्वमित् सिचौ
यदासामग्रं प्रवतामिनक्षसि ॥

(ऋक् १०।७५।४)

[हे सिन्धो! जैसे कोमल बछड़े के पास रँभाती गायें दूध लेकर दौड़कर जाती हैं, उसी तरह ये नदियाँ आवाज करती हुई तुम्हारे मिलने के लिए दौड़ी आती हैं। युद्ध के समय लड़ाकू राजा जिस प्रकार अपनी सेना को लेकर आगे बढ़ता है, उसी प्रकार तुम भी इन सहायक नदियों को अपने साथ लेकर आगे बढ़ती चली जाती हो।]

अतः निश्चय है कि आर्यों के हृदय पर प्रबल तरङ्गमयी वेगवती सिन्धु के प्रवाह ने अपना प्रभाव जमा रखा था। वे लोग प्राकृतिक दृश्य से ही प्रभावित नहीं हुए थे, प्रत्युत यहाँ अपने सुख के साधनों को पाकर वे अत्यधिक

आनन्दित हुए थे। सिन्धु प्रदेश ऊन की उपज के लिए प्रख्यात था, तथा यहाँ के उत्पन्न सुन्दर घोड़ों को आर्य लोग युद्ध के लिए उपयोग में लाते थे। यहाँ सुन्दर रथ होते थे, तथा कपड़ों के लिए यह प्रदेश नितान्त प्रसिद्ध था। इसीलिए 'सिन्धु' की ऋषिगण 'स्वश्वा', 'सुरथा', 'सुवासा', 'वाजिनीवती', 'ऊर्णावती' आदि विशेषणों के द्वारा प्रशंसा करते नहीं थकते थे (ऋ० १०।७५।८)। आर्यों का निवास 'सिन्धु' के उभय किनारों पर फैला हुआ था। इसीलिए 'आर्यों' का नामकरण इसी नदी के अभिधान पर कालान्तर में सम्पन्न हुआ। ईरानी लोग 'सिन्धु' को, 'स' को 'ह' में परिवर्तित कर 'हिन्दू' नाम से तथा ग्रीक लोग 'सिन्धुस्' शब्द में सकार का लोप कर 'इन्दुस्' के नाम से पुकारते थे। इसी 'इन्दुस्' से पूरे देश का नाम 'इण्डिया' पड़ गया; इस सुप्रसिद्ध बात को यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं।

ऋग्वेद में 'सरस्वती' नदी का भी बड़ा माहात्म्य है। आर्य-निवास की यह भी एक भूरिप्रशंसित नदी थी। कालान्तर में प्रसिद्धि-लाभ करनेवाली गंगा तथा यमुना का उल्लेख ऋग्वेद में बहुत ही स्वल्प है, परन्तु सरस्वती की प्रशंसा करते ऋषि लोग कभी नहीं अघाते थे। सरस्वती की प्रशंसा में अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। इसी के किनारे वैदिक ऋषिलोग सामगायन करते हुए यज्ञयागों के अनुष्ठानों में दत्तचित्त रहा करते थे। गृत्समद ऋषि विनयावनत हृदय से सरस्वती को लक्ष्य कर प्रार्थना कर रहे हैं कि हे नदियों में सर्वश्रेष्ठ, देवियों में अग्रगण्य, पूजनीया माता, हमलोग अप्रशस्त हैं; ऐसी कृपा कीजिये जिससे हमलोग भाग्यशाली बन जायँ—

> **अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।**
> **अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि॥**
>
> (ऋ० २।४१।१६)

सिन्धु नदी के पूरब ओर जिस प्रकार भिन्न-भिन्न आर्य जातियाँ अपने जीवन के सुख-साधनों के सम्पादन में लगी हुई कालयापन कर रही थीं, उसी प्रकार सिन्धु के पश्चिमी भाग में भी आर्य-नरेश अपनी प्रजाओं का कल्याण-साधन करते हुए इधर से आने वाले शत्रुओं से अपने पवित्र आर्य-निवास की रक्षा करने के लिए दूर-दूर तक फैले हुए थे। इस विषय में ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल के ६१वें सूक्त का परिशीलन नितान्त महत्त्वशाली है। उसके अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गोमती नदी (वर्तमान गोमल) के आस-पास के पार्वत्य प्रदेशों में

आर्यों की सभ्यता जीती जागती थी। इसी नदी के तीर पर पर्वतमय प्रदेश में राजा रथवीति दार्भ्य (दर्भपुत्र) का राज्य था[1]। अत्रिवंशी अर्चनाना ऋषि इनके सोमयाग में प्रधान होता का काम किया करते थे। इसी ऋषि के पुत्र का नाम 'श्यावाश्व' था, जिन्होंने मरुतों के अनुग्रह से ऋषित्व लाभ करके रथवीति की कन्या से विवाह किया (ऋ० ५।६४।७)। राजा रथवीति के राज्य से कुछ ही दूर पर राजा तरन्त का राज्य था, जिनकी दानशीला महिषी का नाम 'शशीयसी' था (ऋ० ५।६१।६)। तरन्त के राज्य के पास ही पुरुमील राज्य करते थे, जो 'विददश्व' के पुत्र होने से 'वैददश्वि' के नाम से प्रख्यात थे (ऋ० ५।६१।९)। बहुत सम्भव है कि विदेशी आक्रमणों से आर्यों की रक्षा करने के अभिप्राय से प्रेरित होकर इन राजाओं ने इस पश्चिमोत्तर भूभाग को अपने वीरमय कृत्यों का भाजन बनाया था, तथा इधर ही निवास कर ये लोग प्रजा का कल्याण साधन करते थे।

इस आर्य-निवास की चतुःसीमा का उल्लेख ऋग्वेद के मन्त्रों में स्पष्टाक्षरों में प्रतिपादित किया गया है। ऋग्वेद १० वें मण्डल १३६ वें सूक्त के ५वे मन्त्र में पूर्व समुद्र तथा अपर समुद्र का निर्देश मिलता।[2] यह पूर्व समुद्र आज कल की बंगाल की खाड़ी को संकेतित नहीं करता, प्रत्युत उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बंगाल आदि पूरबी प्रान्तों की भूमि पर उस समय लहराता था। 'सप्तसिन्धव' के पूरब ओर वर्तमान रहने से यह 'पूर्व सागर' के नाम से अभिहित किया जाता था। उस युग में यह समुद्र समग्र गाङ्गेय प्रदेश, पञ्चाल, कोसल, मगध, विदेह, अङ्ग तथा वङ्ग देश को समाच्छन्न करके विद्यमान था। ऋग्वेद में इन पूर्वी प्रदेशों का नाम कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, इसका प्रधान हेतु यही है कि यह समस्त भूखण्ड अभी समुद्र गर्भ में विलीन था, उससे बाहर नहीं निकला था। पिछले युगों में ख्याति तथा पवित्रता लाभ करने वाली गङ्गा और यमुना के ऋग्वेद में स्वल्प निर्देशों को देखकर हमें विस्मय न करना चाहिये, क्योंकि उस समय ये दूर तक बहने वाली लम्बी नदियाँ न होंगी, बल्कि थोड़ी दूर तक ही प्रवाहित होने वाली स्वल्पकाया सरिता मात्र थीं। यह पूरब सागर सप्तसिन्धव की पूर्वी सीमा से अत्यधिक सन्निकट रहा होगा, जिससे गङ्गा-यमुना के दूर तक बहने का ही अवकाश न रहा होगा। 'अपर समुद्र' वर्तमान अरब सागर का ही कोई भाग

---

१. एष क्षेति रथवीतिर्मघवा गोमतीरनु।
पर्वतेष्वपश्रितः। (ऋ० ५।६१।१९)

२. वातस्याश्वो वायोः सखाथ देवेषितो मुनिः।
उभा समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥ (ऋ० १०।१३६।५)

होगा, जो सिन्धु प्रदेश के ऊपर तक प्रवाहित होता था। इतना ही नहीं, पंजाब के दक्षिण में जो विशाल बालुका राशि आज राजपूताना के रेगिस्तान के नाम से विख्यात है, वहाँ ऋग्वेदीय युग में एक विपुलकाय समुद्र की स्थिति का पता चलता है जिसमें दृषद्वती के साथ मिलकर सरस्वती[1], विपाश् (विआस) तथा शुतुद्री[2] (सतलज) नदियाँ गिरती थीं। उस काल में ये तीनों नदियाँ इसी समुद्र में जाकर गिरती थीं, परन्तु भौगोलिक स्थिति की उथल-पुथल के कारण इस दशा में परिवर्तन हो गया। ब्राह्मण-युग में ही सरस्वती नदी बालुका के बीच अपना अस्तित्व खो बैठी। जिस स्थान पर वह अन्तर्धान हो गई उसका नाम 'विनशन' था। कहीं-कहीं वह मरुभूमि में कुछ दूर तक अन्तर्हित होकर भी पुनः बाहर आकर समुद्र तक प्रवाहित होने लगी थी। सरस्वती की उत्पत्ति 'प्लक्ष-प्रस्रवण' नामक स्थान से हुई थी; ब्राह्मणों में यह स्थान विख्यात है। सुरसुति आज भी है, परन्तु एक छोटी धारामात्र है। व्यास तथा सतलज की भी भौगोलिक स्थिति में विशेष परिवर्तन हो गया है। जब ये नदियाँ बालुका पुञ्ज को भेदकर अग्रसर होने में असमर्थ हो गईं, तब इन्होंने अपना मार्ग बदल दिया और पश्चिम की तरफ एक नूतन खात तैयार कर ये सीधे सिन्धु नदी में मिल गईं। उस प्राचीन-काल में प्रतीत होता है कि यह राजपूताना का समुद्र 'पूर्व सागर' के साथ मिलकर सप्तसिन्धव के दक्षिण तथा पूरबी भाग को सदा प्रक्षालित किया करता था।

ऋग्वेद के अनुशीलन से आर्य निवास की उत्तर दिशा में लहराने वाले एक अन्य समुद्र का भी पता चलता है। ऋग्वेद में 'चतुःसमुद्रः'—चार समुद्रों का सुस्पष्ट निर्देश है। सप्तगु ऋषि इन्द्र से प्रार्थना कर रहे हैं कि चारों समुद्रों की सम्पत्ति लाकर उन्हें भाग्यशाली बनावें। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

स्वायुधं स्ववसं सुनीथं
　　चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्।
चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवार-
　　मस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥
　　　　　　　　(ऋ० १०।४७।२)

---

१. एका चेतत् सरस्वती नदीनां
　　शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्। (ऋ० ७।९५।२)

२. इन्द्रेषिते प्रसवं भिक्षमाणे
　　अच्छा समुद्रं रथ्येव याथः। (ऋ० ३।३३।२)

उत्तरी समुद्र

तीन तरफ बहनेवाले समुद्रों का संक्षिप्त संकेत ऊपर किया गया है। पूर्वोक्त मन्त्र में सूचित चौथा समुद्र आर्यों के निवासस्थल की उत्तर दिशा में प्रवाहित होता था। भूतत्त्ववेत्ताओं का कहना है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में (जिसके वर्षों की गणना पाँच अङ्कोवाली संख्या के रूप में ही किया जा सकता है) वाह्लीक (बल्ख) तथा पारसीक (फारस) देश के उत्तरी भाग वर्तमान तुर्किस्तान के पश्चिमी भाग में भूमध्य सागर विद्यमान था। यह समग्र भू-प्रदेश समुद्र के तल में विलीन था। कालान्तर में यह पूरा समुद्र सूखकर ठोस जमीन के रूप में परिणित हो गया, परन्तु इन प्रदेशों में आज भी विद्यमान रहनेवाले समुद्र तथा झीलों की स्थिति से उस प्राचीन दीर्घ समुद्र की स्मृति जाग्रत है—उसकी याद हरी भरी बनी हुई है। वह समुद्र किसी नैसर्गिक कारण से सूख गया और आज भी काला सागर, काश्यप समुद्र (कैस्पियन सी), अराल सागर (सी आफ अराल) तथा बाल्कल ह्रद के रूप में वह विद्यमान है। ये जलाशय अलग-अलग अपनी स्वतन्त्र सत्ता आजकल बनाये हुए हैं, परन्तु जिस समुद्र की चर्चा हम यह यहाँ कर रहे हैं, उसी विशाल भूमध्यसागर के एक विराट् आकार में ये सब उस समय सम्मिलित थे। यही आर्य-निवास के उत्तर में विस्तृत विस्तीर्ण सागर ऋग्वेदोक्त चतुर्थ समुद्र था। इन चारों समुद्रों में व्यापार की दृष्टि से आदान-प्रदान भी जारी था। समुद्र-वणिक् लोग नावों तथा जहाजों की सहायता से इन विभिन्न समुद्रों में जाकर व्यापार किया कते थे तथा प्रभूत धन उपार्जन किया करते थे। तभी तो त्रित ऋषि सोम देव से इन चारों समुद्रों की विपुल सम्पत्ति के आनयन के लिए प्रार्थना कर रहे हैं :—

रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम
विश्वतः आ पवस्व सहस्रिणः।

(ऋ० ७।३३।६)

इन्हीं चतुःसमुद्रों से आवृत भूमण्डल पर आर्यों का प्राचीन निवास था। यहीं से आर्यों ने वैदिक धर्म तथा संस्कृति की ध्वजा फहराते हुए अनेक नूतन प्रदेशों में अपने उपनिवेश स्थापित किये, तथा उन्हें वैदिक धर्म में दीक्षित बनाया। महर्षि मनु का यह कथन है कि इसी देश के अग्रजन्मा विद्वज्जनों से पृथ्वीतल के मानवों ने अपनी सभ्यता तथा चरित्र की शिक्षा पाई, ऐतिहासिक दृष्टि से भी यथार्थ तथ्य पूर्ण तथा सम्पूर्णरूपेण सत्य प्रतीत होता है।

पूर्वोक्त मीमांसा से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सरस्वती तथा दृषद्वती नदी के अञ्चल में ही आर्य-सभ्यता ऋग्वेदीय काल में पनपी; यद्यपि पंजाब तथा गांधार में आर्यों का निवासस्थान कभी प्राचीन काल में अवश्य था जिसकी स्मृति ऋग्वेद के मन्त्रों में पद-पद पर जागरूक है। कभी माना जाता था कि ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना पंजाब में हुई, परन्तु वस्तुतः यह घटना सिद्ध नहीं होती। जिन मन्त्रों में सुवर्णरथ पर आरूढ़ होकर कमनीयकलेवरा उषा के उदय होने की घटना का वर्णन किया गया है, वे मन्त्र पंजाब में भले ही निर्मित माने जायँ, परन्तु जिन मन्त्रों में प्रचण्ड गर्जन करनेवाले पर्जन्य की स्तुति है, तथा घनघोर वेग से तुमुल वर्षा के मेघों से फूटकर पृथ्वी पर गिरने का वर्णन है वे मन्त्र निःसन्देह सरस्वती के देश में ही ऋषिजनों के द्वारा दृष्ट हुए हैं, यही मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि पञ्जाब स्वयं स्वल्प वर्षा का का देश है। वहाँ वर्षा इतने जोर से नहीं होती कि उसका चित्र भावुक हृदयों पर सदा के लिए अंकित हो जाता, परन्तु सारस्वत प्रदेश ऐसा ही उपयुक्त प्रान्त है जहाँ प्रकृत-नटी इन विषम तथा विचित्र लीलाओं को दिखलाती हुई रंगमंच पर सतत क्रीडा किया करती है, और जहाँ मनुष्यों के हृदय पर इन लीलाओं की गहरी छाप सदा के लिए पड़ जाती है। इसी कारण इस सारस्वत प्रदेश की इतनी महिमा गाई गई है, तथा मनु महाराज ने 'देव-निर्मित देश' मानकर इसकी ख्याति और पवित्रता पर अपनी मुहर लगा दी है—

तं देव-निर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते—मनु० २।१९।

यह सरस्वतीक्षेत्र ही वैदिक आर्यों की आदिम भूमि है जहाँ से उन्होंने उत्तरी ध्रुव में भी जाकर अपना उपनिवेश बनाया। इसीलिए ऋग्वेद के मन्त्रों में ऐसी अनेक भौगोलिक बातों का वर्णन मिलता है। जो उत्तरी ध्रुव में ही यथार्थतः उपलब्ध होती हैं। लोकमान्य तिलक उत्तरी ध्रुव को ही आर्यों का मूलस्थान मानते थे,[१] परन्तु भारतीय परम्परा के अनुसार भारत ही आर्यों की आदिभूमि है।[२]

पिछली संहिता तथा ब्राह्मणयुग में वैदिक सभ्यता का प्रसार पूरब के देशों की ओर होने लगा, जब भौगोलिक स्थिति में परिवर्तन होने से पूर्वसागर सूख गया तथा उसके स्थान पर गाङ्गेय प्रदेशों की ठोस जमीन ऊपर निकलकर विभिन्न प्रान्तों का रूप धारण करने लग गई। इस प्रसार के विषय में एक प्राचीन सुन्दर

---

१. द्रष्टव्य तिलक—आर्कटिक होम इन वेदज, पूना, १८९३।

२. दास ने 'ऋग्वेदिक इण्डिया' से इसका विशेष प्रतिपादन किया है। द्रष्टव्य सम्पूर्णानन्द—आर्यों का आदिदेश, प्रयाग।

आख्यायिका शतपथ-ब्राह्मण (१।४।१।१०) में दी गई है जिसका सारांश यहाँ दिया जाता है—'**विदेघ माथव**' ने वैश्वानर अग्नि को मुख में धारण किया था। घृत का नाम लेते ही वह अग्नि माथव के मुँह से निकल कर पृथ्वी पर आ पहुँचा। उस समय विदेघ माथव सरस्वती के तट पर निवास करते थे (**तर्हि विदेघो माथव आस सरस्वत्याम्**)। वह अग्नि पूरब की ओर जलाता हुआ आगे बढ़ा और उसके पीछे-पीछे विदेघ माथव तथा उनके पुरोहित **गौतम रहूगण** चले। वह नदियों को जलाता चला गया, अकस्मात् वह '**सदानीरा**' नदी को नहीं जला पाया, जो उत्तर गिरि (हिमालय) से बहती है (**सदानीरे-त्युत्तराद् गिरेर्निधावति**)। अग्नि के द्वारा दग्ध न होने के कारण ब्राह्मण लोग पुराने जमाने में उसके पार नहीं जाते थे, परन्तु आजकल उसके पूरब ओर ब्राह्मणों का निवास है। विदेघ माथव ने अग्नि से पूछा कि अब मैं कहाँ निवास करूँ ? अग्नि ने उत्तर दिया—इस नदी के पूरब ओर। सदानीरा ही कोसल तथा विदेह देशों की आज भी मर्यादा बनी हुई है।" यह कथानक बड़े ही ऐतिहासिक महत्त्व का है। वैश्वानर अग्नि वैदिक यागानुष्ठान या वैदिक धर्म का प्रतिनिधि है। उसका प्रथम स्थान था सरस्वती-मण्डल और वहीं से उसने पूरब के देशों में प्रस्थान किया। इस आर्य-सभ्यता के विस्तार मे विदेघ माथव तथा उनके पुरोहित गोतम रहूगण का विशेष हाथ दीख पड़ता है। ये गोतम रहूगण कोई सामान्य ऋषि न थे। शतपथ में (१।८।१।१०) स्पष्टतः ये माथव के पुरोहित बतलाये गये हैं (**तस्य गोतमो रहूगण ऋषिः पुरोहित आस**), परन्तु ऋग्वेद में इनके द्वारा दृष्ट अनेक सूक्त (१।७५, ७६, ७७, ७८, ७९ आदि) उपलब्ध होते हैं जिनमें विशेषतः अग्नि से प्रार्थना की गई है। एक मन्त्र में इन्होंने अग्नि की स्तुति के प्रसङ्ग में अपने नाम का भी उल्लेख किया है :—

अवोचाम रहूगणा अग्नये मधुमद् वचः।
द्युम्नैरभि प्रणो नुमः।

(ऋ० १।७८।६)

शतपथ ने इन्हें विदेह के महाराज जनक तथा ऋषि याज्ञवल्क्य का भी समकालीन बतलाया है (शत० ११।४।३।२०), तथा अथर्वसंहिता में भी इनके नाम का उल्लेख दो बार किया गया है (अथर्व० ४।२९।६; १८।३।१६)। अतः इन निर्देशों के आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि पूरबी प्रान्तों में आर्यधर्म का विस्तार करने वाले रहूगण गोतम ऋषि उस काल के एक पूजनीय तथा माननीय महर्षि प्रतीत होते हैं।

आर्य सभ्यता का विस्तार

ऋग्वेदकाल के अनन्तर वाले काल में जिसे ब्राह्मणयुग के नाम से यथार्थ रूप से पुकारते हैं, आर्य-सभ्यता का क्रमशः विस्तार सम्पन्न होने लगा, इसका परिचय तत्कालीन भूगोल के परिशीलन से भली-भाँति लग सकता है। कुरु-प्रदेश ने इस युग में वैदिक धर्म का झंडा ऊँचा किया है। कुरु-प्रदेश की सीमा का भी स्पष्ट निर्देश है। इस देश के दक्षिण ओर खाण्डव, उत्तर में तूर्घ्न तथा पश्चिम में परीह्र था। पश्चिम और पश्चिमीय जातियों के प्रति शतपथ तथा ऐतरेय में अनादर की भावना जाग्रत हो गई जिससे पञ्जाब का माहात्म्य धीरे-धीरे कम हो गया और मध्यदेश ने विशिष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। पूरबी प्रदेशों का महत्त्व आर्य सभ्यता के विस्तार के साथ ब्राह्मण युग में बढ़ने लगा। कुरु-पञ्चाल के सङ्ग में विदेह, कोसल, मगध तथा अङ्ग देशों का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में होने लगा। सम्भवतः दक्षिण भारत में आन्ध्र, शबर, पुण्ड्र, पुलिन्द तथा मूतिब नामक दस्यु जातियों की सत्ता बनी हुई थी, जिन्होंने अभी तक आर्य-धर्म तथा वैदिक-सभ्यता को ग्रहण नहीं किया। विदर्भ (बरार) का नाम जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में मिलता है। इन जातियों में आर्य-धर्म का प्रसार ब्राह्मण-युग के अनन्तर हुआ। विन्ध्य की भी दशा ऐसी ही थी। वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित न होने से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि विन्ध्य-प्रदेश में आर्य लोग अभी तक नहीं फैले थे, यद्यपि कौषीतकि-उपनिषद् में उत्तर तथा दक्षिण पर्वत का नामोल्लेख मिलता है। 'दक्षिण पर्वत' से तात्पर्य विन्ध्य पर्वत से ही हो सकता है। उत्तर भारत की भौगोलिक स्थिति का भरपूर ज्ञान इस युग में होने लगा था। अथर्ववेद केवल गन्धारि तथा मूजवन्तों से ही परिचित नहीं है, प्रत्युत **'महावृष'** नामक सुदूर उत्तर में स्थित जनपद को भी भलीभाँति जानता है जिसमें छान्दोग्य (४।२।५) के उल्लेखानुसार **'रैक्वपर्ण'** नामक कोई विशिष्ट स्थान था। यास्क (२।२) के कथन से पता चलता है कि कम्बोज देश के निवासियों की भाषा आर्यों की भाषा से कुछ पृथक् हो गई थी। जहाँ आर्य लोग 'शव' का प्रयोग मृतक के अर्थ में किया करते थे, वहाँ कम्बोज-निवासी गति के अर्थ में 'शवति' क्रिया-पद का प्रयोग करते थे।[1] पीछे चलकर कम्बोज लोग सिन्धु के पश्चिमोत्तर आकर बस गये थे। 'वंश-ब्राह्मण' में मद्रगार के शिष्य काम्बोज औपमन्यव नामक आचार्य का नाम उपलब्ध होता है।

---

१. शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। विकारमस्य आर्येषु भाषन्ते शव इति।—निरुक्त २।२।८।

इस प्रकार इस युग में नवीन देशों का ही ज्ञान नहीं था, प्रत्युत विशिष्ट तथा विख्यात नगरों और अन्य स्थानों का भी पूरा परिचय हो चला था। कुरुओं की राजधानी 'आसन्दीवन्त' का, मध्यदेश में पाञ्चालों की राजधानी काम्पील का (वर्तमान नाम कंपिल), कौशाम्बी का तथा वरणावती (वरुणा) के तीरस्थ काशियों की राजधानी काशी का उल्लेख ब्राह्मणों में अनेक बार पाया जाता है। आसन्दीवन्त तो उस जमाने का एक बड़ा विख्यात नगर प्रतीत होता है जहाँ जनमेजय परीक्षित का अश्वमेध सम्पन्न हुआ था, तथा जहाँ इनका अभिषेक किया गया था। (ऐत० ३९।७, शत० १३।५।४।२; सांखा० सूत्र १६।९।१) शतपथ (१३।५।४।२) में इन्द्रोत दैवाप शौनक अश्वमेध का पुरोहित माना गया है तथा ऐतरेय में (८।२१) तुर कावषेय इस प्रसिद्ध राजा का अभिषेक करनेवाला बतलाया गया है। इस तरह भौगोलिक ज्ञान का विस्तार इस युग की अपनी विशेषता है। (आर्यों के मूल निवास के विषय में अनेक भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ लोग मध्य एशिया, उत्तरी ध्रुव तथा अन्य यूराल नदी के आस-पास भी मानते हैं। यह अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है)।

द्वादश परिच्छेद

आर्य और दस्यु

जब तक मनुष्य अपनी जीविका के लिए शिकार पर अवलम्बित रहता है तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने सामान को अपने साथ लेकर घूमा करता है, तब तक उसमें न सभ्यता का उदय हो सकता है, न संस्कृति का उत्थान। यह मानव दशा मनुष्य के मानसिक विकास को सर्वथा रोक रखती है, परन्तु जब मनुष्य खेती कर अपना जीवन निर्वाह करने लगता है तथा एक जगह पर अपना घर बना कर नियमित जीवन बिताने लगता है, तब उसकी वास्तविक भौतिक उन्नति होने लगती है। यही अवस्था सभ्यता की उत्पादिका है। वैदिक आर्यगण इसी दशा में थे। हमने ऊपर दिखलाया है कि वे सप्तसिन्धु प्रदेश में स्थान स्थान पर अपनी टोलीयाँ बना कर सुख से नियमित जीवन बिता रहे थे। उनके भौतिक जीवन की विशिष्ट बातों का वर्णन आगे चल कर किया जायगा। इस परिच्छेद में आर्यों की विभिन्न जातियाँ या जनोंके विषय में महत्त्वपूर्ण बातों का वर्णन किया जायेगा।

पञ्च जनाः

ऋग्वेद के अध्ययन से पता लगता है कि सप्तसिन्धु प्रदेश के वैदिक आर्य छोटी-छोटी टोलियाँ बना कर, विशेषतः नदियों की घाटियों में निवास करते थे, परन्तु उनकी सभ्यता एक समान ही थी; क्योंकि वे सब लोग समान देवताओं की पूजा अर्चा किया करते थे, अग्नि में हवन किया करते थे तथा समान प्रकार का सामाजिक जीवन बिताया करते थे। ऋग्वेद इन टोलियों या जातियों की संख्या पाँच बतलाता है। इन्हीं जातियों के द्योतनार्थ ऋग्वेद में—पञ्चजनाः (३।३७।९), पञ्चमानुषाः (८।९।२), पञ्चकृष्टयः (२।२।१०; ३।५३।१६), पञ्चक्षितयः (१।७९) पञ्चचर्षणयः (५।८६।२; ९।१०१।९) शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्रायः प्रत्येक मण्डल में इन पञ्च जातियों के उल्लेख का अवसर आया है, परन्तु 'पञ्चजनाः' का यथार्थ अर्थ अनिश्चित सा है। ऐतरेय ब्राह्मण (३।३१) ने देवता, मनुष्य, गन्धर्व और अप्सरा, सर्प तथा पितृगण का समावेश 'पञ्चजनाः' के भीतर बतलाया है। औपमन्यव आचार्य की सम्मति में चार वर्ण तथा निषाद मिल

कर पञ्च जातियाँ हैं (निरुक्त ३।८) तथा इस आचार्य की सम्मति को सायण भी मानते हैं। यास्क का मत ऐतरेय से मिलता-जुलता सा है, क्योंकि उन्होंने इस शब्द के अन्तर्गत गन्धर्व, देवता, पितर, असुर तथा राक्षस का सामवेश स्वीकृत किया है, परन्तु इन व्याख्याओं में त्रुटि प्रतीत होती है। 'पञ्चमानुषाः' के भीतर मनुष्यों की ही परिगणना यथार्थ होगी, मानुषेतर राक्षस तथा असुरों को घसीट लाना उचित नहीं प्रतीत होता। पाश्चात्य विद्वानों में भी इस शब्द की व्याख्या को लेकर गहरा मतभेद है। यह कहना कि इस शब्द का प्रयोग समस्त मानवमात्र अथवा प्राणिमात्र के लिए किया गया है, ठीक नहीं जँचता, क्योंकि ऋग्वेद (६।६१।१२) ने स्पष्ट ही इन पञ्च मानवों को सरस्वती के तट पर अवस्थित बतलाया है। इन जातियों से सोम का सम्बन्ध तथा इन्द्र के लिए 'पाञ्चजन्य' (पञ्च जनों से सम्बद्ध शब्दों) का प्रयोग (ऋ० ५।३२।११) यही दर्शाता है कि 'पञ्चक्षितयः' के भीतर आर्यों का ही समावेश ऋग्वेद के ऋषियों को माननीय तथा अभीष्ट है। अतः ऋग्वेद के एक मन्त्र में एक साथ निर्दिष्ट यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु तथा पुरु ही मुख्यतया इस शब्द के द्वारा संकेतित माने जाते हैं[1]।

यदु और तुर्वश—यदु तथा तुर्वश का परस्पर सम्बन्ध नितान्त घनिष्ठ था। ये दोनों जातियाँ अनेक स्थलों पर एक साथ उल्लिखित की गई हैं। इनका तृत्सु जाति के राजाओं से बड़ा विरोध था। इनका प्रधान कार्य राजा सुदास के विरोध में युद्ध में शामिल होना बतलाया गया है, परन्तु इस विरोध का फल कुछ अच्छा नहीं हुआ, क्योंकि इन्हें सुदास के सामने हार माननी पड़ी। इसके पहले भी इनकी सुदास के पिता या पितामह दिवोदास के साथ लड़ाई हुई थी (९।६।१।२)। अतः पुराना वैर साधने के मतलब से इनका सुदास विरोधी दल में सम्मिलित होना उचित ही था।

अनु और द्रुह्यु—इन दोनों जातियों में भी परस्पर सम्बन्ध था। अनु लोग परुष्णी (रावी) के तीर पर रहते थे तथा द्रुह्यु लोग पश्चिमोत्तर प्रदेश के रहनेवाले थे, क्योंकि पौराणिक अनुश्रुति द्रुह्यु लोगों का सम्बन्ध गान्धार के साथ बतलाती है। अनु लोगों के साथ द्रुह्यु के नरेश ने दाशराज्ञ युद्ध में भाग लिया था, परन्तु वह युद्ध में हार गया और उसे परुष्णी के जल में डूब कर प्राण छोड़ना पड़ा (७।१८)।

---

१. यदीन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः।
अतः परि वृषणा वा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य ॥
(१।१०८।८)

पूरु—पञ्चजनों में यही जाति अधिक प्रभावशालिनी जान पड़ती है। यद्यपि दाशराज्ञ युद्ध में इसे भी पराजय स्वीकार करना पड़ा था, तथापि उस समय इसका लोहा सब जातियाँ मानती थीं। कुछ लोग इनका निवास-स्थान सिन्धु नदी के प्रदेश में मानते हैं, परन्तु सरस्वती के पास इनका वास मानना ठीक जँचता है। इनकी प्रभुता तथा महत्ता का पता इसी बात से चल सकता है कि पूरुवंशीय अनेक राजाओं के नाम तथा काम वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। इस जाति में प्राचीन काल में दुर्गह नामक राजा था जिसका पुत्र था गिरिक्षित। इन दोनों राजाओं के विषय में किसी भी घटना का वर्णन नहीं मिलता। गिरिक्षित के पुत्र थे प्रतापी पुरुकुत्स जो राजा सुदास के समकालीन थे। इनकी राजमहिषी के एक बड़ी विपत्ति में पड़ने का उल्लेख मिलता है जिससे उसका उद्धार पुत्र के उत्पन्न होने से हुआ (८।१९।३६)। वह विषम विपत्ति कौन सी थी? इसका स्पष्ट पता नहीं चलता, परन्तु सम्भवतः वह पुरुकुत्स की मृत्यु ही होगी। पुरुकुत्स ने भी सुदास का विरोध किया था जिसमें वे स्वयं मारे गये। माता को विपत्ति के मुख से निकालने वाले इस पुत्र का नाम त्रसदस्यु था, जिसके नाम से ही पता चलता है कि वह दस्युओं के लिए एक भीषण विभीषिका था। आर्यजनों के साथ उसके युद्ध का हाल हमें मालूम नहीं, परन्तु यह निश्चय है कि उसने अपना अधिकांश जीवन आर्यों को संकट पहुँचानेवाले दस्युओं के उच्छेद करने में बिताया। त्रसदस्यु ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण राजाओं में से एक है। इसके बाद इसके पुत्र तृक्षि ने शासन किया था (ऋ० ८।२२।७), जिसके अनन्तर इस वंश के दो राजाओं का नाम ऋग्वेद की दानस्तुतियों में उल्लिखित है। एक राजा का नाम त्र्यरुण जो त्रिवृष्ण् का पुत्र था। इसी कारण इसका पूरा नाम त्र्यरुण त्रैवृष्ण था इसका उल्लेख त्रसदस्यु तथा अश्वमेध के साथ किया गया है (५।२७)। इस वंश की दूसरी सन्तान थी कुरुश्रवण (ऋ० १०।३३।४), इसी सूक्त से यह भी पता चलता है कि उपमश्रवस् इसी कुरुश्रवण का पुत्र तथा मित्रातिथि का पौत्र था। इन नामोल्लेखों से हम ऋग्वेदीय काल में पुरुवंशीयों की महनीयता तथा प्रभुता का यत्किञ्चित् परिचय पा सकते हैं।

तृत्सु—इन पाँचों जातियों के अतिरिक्त अनेक जातियाँ आर्यमण्डल में निवास किया करती थीं। इनमें 'तृत्सु' बड़े पराक्रमी, वीर तथा पुरुषार्थी थे। रहते थे ये लोग परुष्णी के पूरब ओर, परन्तु इनका प्रभाव सप्तसिन्धु प्रदेश के प्रत्येक जाति पर था। इसी जाति के वीररत्न थे राजा सुदास जिनके विजय की कहानी

कहते इनके पुरोहित वसिष्ठ लोग कभी नहीं अघाते थे। सुदास के पिता या पितामह **दिवोदास** भी अपने समय के नामी राजा थे। ये अतिथियों के नितान्त पूजक थे जिसके कारण उनका दूसरा नाम 'अतिथिग्व' भी था। पहले ही कहा गया है कि तृत्सुओं की बढ़ती देखकर पञ्चजातियाँ इनसे बुरा मानती थीं। तुर्वश, यदु तथा पूरु जातियों के राजाओं के साथ इनका झगड़ा चला करता था, परन्तु इनका जानी दुश्मन था दासों का सबसे पराक्रमी वीर शम्बर। इतना ही नहीं, पणि, पारावत तथा बृषय (६।६।३) लोगों के साथ दिवोदास युद्ध किया करते थे। भारद्वाजों के ये राजा सहायक तथा पृष्ठपोषक थे। इनका भी राज्य सुदास के समान ही विस्तृत था। सप्तसिन्धु का मध्यभाग दिवोदास की छत्रछाया में था, ऐसा अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि इन्हें पंजाब की पश्चिमी जातियों के साथ युद्ध करने के अतिरिक्त पारावतों के साथ भी लड़ाई लड़नी पड़ी थी, जो यमुना के तीर पर निवास करते थे।

सृञ्जय—तृत्सु के सहायक सृञ्जय जाति का विशेष वर्णन ऋग्वेद में नहीं मिलता। इनके राजा **दैववात** ने वृचीवन्त तथा तुर्वश को एक साथ एक बड़े युद्ध में हराया था। जिस विजय के लिए एक मन्त्र में उनका उल्लेख भी किया गया है (६।२७।७)। इस सृञ्जय राजा के साथ **सोमक साहदेव्य** राजा का भी वर्णन किया गया है (ऋ० ४।१५।७) जिससे ये दैववात के मदद देनेवाले मालूम पड़ते हैं। ऐतरेय (७।३४।९) में सोमक साहदेव्य तथा इनके पिता सहदेव का नारद तथा पर्वत ऋषि के द्वारा अभिषिक्त किये जानेका उल्लेख मिलता है। इन्हें तृत्सुओं के सहायक मानने का कारण यह है कि सृञ्जय नरेश **प्रस्तोक** तृत्सुवंशीय दिवोदास के साथ अपनी दानशीलता के लिए प्रशंसित किये गये हैं, तथा तुर्वश लोगों के साथ दोनों का विरोधभाव समान रूप से था। ब्राह्मणयुग में सृञ्जयों ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखा था। अपनी न्याय-परायणता के लिए सर्वत्र प्रसिद्धि प्राप्त की थी। शतपथ ब्राह्मण (१२।९।३।११) ने इनकी उदार चित्तवृत्ति के विषय में इस घटना का उल्लेख किया है कि इन्होंने अपने एक राजा को जिनका नाम **दुष्टरीतु पौंसायन** था और जो दश पीढ़ियों से इनके ऊपर शासन करता था, मन्त्री के साथ राज्य से निकाल बाहर किया। ये लोग भरतों के पड़ोसी थे तथा सरस्वती नदी के आसपास रहते थे। आगे चलकर ये लोग कुरु लोगों के साथ सम्मिलित होकर एक प्रबल जाति के रूप में परिणत हो गये।

क्रिवि—यह जाति सिन्धु तथा चेनाब के प्रान्त में निवास करती थी (ऋ० ८।२०।२४)। शतपथ (१३।५।४।७) के अनुसार क्रिवि पाञ्चाल का प्राचीन नाम था और वहाँ उल्लिखित राजा क्रैव्य पाञ्चाल के नाम से भी इस कथन की पर्याप्त पुष्टि होती है। ऋग्वेद (७।१८।११) में एक स्थल पर वैकर्ण नामक दो विशिष्ट जातियों का उल्लेख पाया जाता है, जिनके इक्कीस जनों को सुदास ने अपने पराक्रम से मार भगाया था।[1] बहुत सम्भव है कि क्रिवि तथा कुरु का सम्मिलन ही वैकर्ण के रूप में ऊपर निर्दिष्ट किया गया हो।

वृचीवन्त—इस जाति का निर्देश ऋग्वेद के दो मन्त्रों में किया गया मिलता है, परन्तु इन दोनों स्थलों पर इनके पराजय की दुःखद वार्ता का ही वर्णन है। तुर्वशों की सहायता पाने पर भी ये लोग एक बार सृञ्जय राजा दैववात के द्वारा पराजित किये गये थे (६।२७।५)। कतिपय विद्वानों का यह कथन कि वृचीवन्त तथा तुर्वश एक ही अभिन्न जाति के दो पृथक् नाम थे—अनावश्यक तथा अनुपादेय प्रतीत होता है। ये लोग सृञ्जयों के विरोध में तुर्वशों के सहायकमात्र थे। अभ्यावर्ती चायमान के साथ हरियूपीया के पास इनका तुमुल संग्राम हुआ था जिसमें इन्हें हार जाना पड़ा था। अतः यह जाति साधारण सी मालूम पड़ती है।

नहुष—आर्यों में एक प्राचीन जाति 'नहुष' नामसे विख्यात थी जिसके प्रधान पुरुष का भी नाम नहुष था। दान-स्तुतियों में राजा नहुष की दानशीलता का वर्णन किया गया है। ऋ० १।१२२।८ में पञ्च ऋषियों का राजा नहुष कहा गया है। इसी नहुष ने या नहुष जाति के किसी पुरुष ने पाँच वार्षगिरों (वृषगिर के पुत्रों को) पुरस्कृत किया था (ऋ० १।१००।१६)। राजा मशशारि तथा आयवस नहुष जाति के राजा प्रतीत होते हैं (१।१२२।१५)। इन्होंने राजा नहुष के साथ मिलकर एक महान् यज्ञ का अनुष्ठान किया था। अतः ये उसके सम्बन्धी या घनिष्ठ मित्र तो जरूर थे। यह जाति सिन्धु नदी या सरस्वती के प्रदेश में निवास करती थी। इसी जाति के एक व्यक्ति का नाम अर्द्धअक्ष था जिसने अनेक शोभन कार्यों का सम्पादन किया था। ब्राह्मणयुग में यह किसी अन्य जाति के साथ सम्मिलित हो गई।

भरत—यह जाति ऋग्वेदकाल में विशेष प्रख्यात थी। इसका निवास स्थान सरस्वती के किनारे था जो देश स्मृतियों में ब्रह्मावर्त के नाम से पीछे चलकर विख्यात हुआ। ऋग्वेद में भरत जाति के दो सरदार सरस्वती, दृषद्वती तथा

---

1. एक च यो विंशतिं च श्रवस्या
वैकर्णयोर्जनान् राजा न्यस्तः। (७।१८।११)

आपया के किनारे स्थित बतलाये गये हैं। ये लोग वैदिक यज्ञों के बड़े भारी उन्नायक थे। इसी कारण अग्नि कई जगह 'भारत' नाम से निर्दिष्ट किया गया है। भौतिक स्थिति की गड़बड़ी के कारण भरतों को तृत्सुओं से अभिन्न मानना ठीक नहीं जँचता। भरतों का निवास था सारस्वत मण्डल में और तृत्सुओं की बस्ती थी परुष्णी के तट पर। एक मन्त्र में भरत को स्पष्ट शब्दों में तृत्सुओं का शत्रु बतलाया गया है। ऐसी दशा में दोनों को स्वतन्त्र जातियाँ मानना ही ठीक है। अवान्तर काल में भरतों की ख्याति खूब बढ़ी-चढ़ी दीख पड़ती है, क्योंकि इस जाति के अनेक राजाओं के नाम तथा काम का उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों में किया गया है। शतपथ में (१३।५।४) भरतवंश के दो राजाओं को हम अश्वमेध यज्ञ करते हुए पाते हैं। इनमें एक था दुष्यन्त का भरत (भरत दौष्यन्ति), तथा दूसरा था शतानीक सात्राजित। ऐतरेय में (८।४।२३) इन दोनों के अभिषेक की सूचना मिलती है। भरत दौष्यन्ति का अभिषेक किया था दीर्घतना मामतेय ने तथा शतानीक का अभिषेक किया था सोमशुमन् वाजरत्नायन ने। इन्होंने काशियों पर विजय पाई थी तथा गङ्गा और यमुना के किनारे यज्ञों का विधिवत् अनुष्ठान किया था। इस घटना से इनके ब्रह्मावर्त में प्रतिष्ठित होने के सिद्धान्त को पर्याप्त पुष्टि मिलती है।

अन्य जातियाँ—ऋग्वेद के युग में और भी छोटी-छोटी जातियाँ सप्तसिन्धु में निवासी करती थीं। इनमें से कुछ जातियों का नामोल्लेख दाशराज्ञ युद्ध के प्रसङ्ग में आगे चलकर किया जायगा। यहाँ अन्य जातियों का संक्षिप्त वर्णन दिया जाता है। कीकट का नाम ऋग्वेद में केवल एक बार (३।५३।१४) ही आता है[1] जिससे पता चलता है कि यागानुष्ठान की ओर इनकी विशेष रुचि न थी। अनेक पश्चिमी विद्वान् इससे जाति विशेष का अर्थ लेते हैं, परन्तु वस्तुतः यह देश का ही नाम है, जहाँ अनार्य लोगों का निवास था (**कीकटो नाम देशोऽनार्य-निवासः**—यास्क ६।३२)। इनके राजा का नाम **प्रमगन्द** था

---

१. **किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो**
नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम् ।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो
नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः ॥
(ऋ० ३।५३।१४)

जिसके लिए 'नैचाशाख' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। इस शब्द के ठीक अर्थ के विषय में पर्याप्त मतभेद है। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि वह नीच जाति या शाखा का था, इसीलिए इस विशेषण का उपयोग उसके लिए किया गया है, परन्तु सायण की माननीय सम्मति में यह किसी स्थान-विशेष का अभिधान बतलाया गया है। कीकट लोग उत्तर में किसी पार्वत्य प्रदेश में रहते थे, जहाँ सोमलता प्रचुरता से मिलती थी। ब्राह्मण-युग में ये दक्षिणी विहार में आ गये जैसा यास्क ने बतलाया है (निरुक्त ६।३२)। दूसरी चेदि जाति का भी उल्लेख मिलता है। एक दान स्तुति में (ऋ० ८।५।३७) चेदियों के राजा कशु की दानशीलता की भूरि प्रशंसा है। इस राजा ने ब्रह्मातिथि नामक ब्राह्मण को एक सौ ऊँट तथा दस हजार गायों को भेंट दिया था। ऊँटों की अधिकता से अनुमान किया जा सकता है कि यह जाति राजपूताने के मरुभूमि के पास ही रहती थी। मत्स्य लोग इनके पड़ोसी जान पड़ते हैं।

ऋग्वेद-कालीन कतिपय विख्यात राजा

अब तक हमने आर्य-मण्डल में निवास करने वाली जातियों तथा उनके राजाओं को संक्षिप्त परिचय दिया है, परन्तु राजाओं की संख्या इससे कहीं अधिक थी। ऋग्वेद के मन्त्रों में कतिपय मन्त्र ऐसे हैं जिनमें राजाओं की दानशीलता की स्तुति की गई है। दान के द्वारा सत्कृत ऋषियों ने अपने आश्रयदाता नरेशों की प्रशंसा कर अपनी कृतज्ञता दिखलाई है। इन मन्त्रों को **'दानस्तुति'** कहते हैं। इनके अध्ययन से ऋग्वेदीय अनेक राजाओं के नाम, धाम तथा काम को हम भली-भाँति जान सकते हैं। इन्हीं दानस्तुतियों में निर्दिष्ट कतिपय प्रख्यात नरपतियों का सामान्य वर्णन यहाँ दिया जाता है:—

(१) **पुरुमीढ**—यह उस समय का एक प्रभावशाली राजा प्रतीत होता है। ऋ० ५।६१।९-१० ऋचाओं के भाष्य में बृहद्देवता, षड्गुरुशिष्य तथा सायणाचार्य ने इस राजा से सम्बद्ध एक मनोरम आख्यान का उल्लेख किया है, जिसका सारांश यह है—ऋषि आत्रेय **अर्चनाना** ने राजा रथवीति दार्भ्य के लिए एक यज्ञानुष्ठान किया था। ऋषि के पुत्र का नाम **श्यावाश्व** था। यज्ञ के अवसर पर अर्चनाना को राजा की सुन्दरी कन्या को देख कर उसे अपनी पुत्रवधू बनाने की इच्छा जाग उठी। उन्होंने राजा से यह प्रस्ताव कर डाला। राजा ने अपने महिषी की सम्मति से इस प्रस्ताव का तिरस्कार कर दिया। कारण यह था कि श्यावाश्व शास्त्रों में पाण्डित्य रखने पर भी अभी तक मन्त्रद्रष्टा ऋषि न था और महिषी का ऋषि को ही कन्या देने का संकल्प था। अवहेलना होने

पर भी श्यावाश्व ने आशा न छोड़ी। बड़ी उग्र तपस्या की। ब्रह्मवर्चसी ऋषि ने राजा तरन्त की महिषी शशीयसी से भेंट की जिस पर रानी ने प्रसन्न होकर नाना प्रकार के पदार्थ दान में दिये। तरन्त ने भी इनका उचित आदर-सत्कार किया तथा अपने अनुज पुरुमीढ के पास उन्हें भेजा[1]। राह में जाते समय श्यावाश्व ने दीप्यमान शरीर वाले मरुद्गणों को देखा और उनकी प्रशस्त स्तुति की। देवता प्रसन्न हुए और श्यावाश्व को ऋषित्व की प्राप्ति हो गई। इस समाचार से प्रसन्न होकर अपने संकल्पानुसार रथवीति ने अपनी कन्या का शुभ विवाह ऋषि श्यावाश्व के साथ स्वयं कर दिया। इस कथानक के अनुसार पुरुमीढ एक उदार राजा ही नहीं, प्रत्युत ऋ० १।१५१।२ के अनुसार वह राजर्षि प्रतीत होता है। ताण्ड्य ब्रा० (१३।७।१२) तथा जैमीनीय ब्रा० (१।१५१) के प्रामाण्य पर पुरुमीढ तरन्त का अनुज था। ये दोनों 'वितदश्व' गोत्र में उत्पन्न होने के कारण **'वैतदश्वि'** कहे गये हैं।

(२) **अभ्यावर्ती**—यह चयमान का पुत्र था (ऋ० ६।२७।४-८) इसने वृचीवतों को, जिनका राजा वरशिख था, जीता था। सृञ्जय ने इसकी सहायता की थी। यह तुमुल युद्ध हरियूपीया तथा यव्यावती नदी के किनारे हुआ था। भूगोल प्रकरण में हमने दिखलाया है कि यह दोनों नदियाँ सिन्धु नदी के पश्चिम ओर कहीं पर थीं। ऋ० ६।२७।८ में अभ्यावर्ती के लिए 'प्रार्थव' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द की यथार्थ व्याख्या अभी तक एक पहेली है। पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति में यह राजा उत्तर-पश्चिम की ओर रहने वाले पारसीकों के साथ सम्बद्ध था।

(३) **मनुसावर्णि (या सावर्ण्य)**—ऋग्वेद में इनके दानों की बड़ी स्तुति है। इन्होंने हजारों अष्टकर्णी गायों तथा घोड़ों को दक्षिणा में दिया था (ऋ० १०।६२।७-८)। इस दानस्तुति से स्पष्ट है कि ये यदु तथा तुर्वश के समकालिक थे (ऋचा १०)। ये विवस्वत् या वैवस्वत भी कहे गये हैं (८।५१।१)। जान पड़ता है कि 'वैवस्वत' नाम पितृवंशसूचक तथा सावर्णि (सवर्णा की सन्तान) मातृवंश सूचक है। दानस्तुति में वर्णित होने से इनकी ऐतिहासिकता में सन्देह करने की गुंजायश नहीं है। अन्य स्थानों पर ये मनुष्य

---

१. दत्वा च पुरुमीढस्य स्वनुजस्यान्तिकं प्रति
प्रेषयामास तमृषिं सोऽपि त्वां मानयिष्यति।

(बृहद्देवता)

भृगु कुल के प्रसिद्ध ऋत्विग् लोग थे। द्रुह्यु इन्हीं के साथ सम्बद्ध थे। तुर्वश तथा यदु भी इसी प्रकार सम्बद्ध जातियाँ थीं। पाँचवीं जाति पुरु थी, जो सरस्वती के उभय किनारों पर बसती थी। इस प्रकार यह जाति भरतों के पड़ोस में रहती थी। परुष्णी के युद्ध में विजय प्राप्ति के बाद सुदास को आगे बढ़ने तथा शत्रुओं के प्रान्तों को अपने राज्य में मिलाने का अवसर सम्भवतः मिल न सका, क्योंकि इसी समय अज, शिग्रु तथा यक्षु नामक तीन जातियों के सेनानायक बनकर भेद नामक राजा ने सुदास पर पूरब से धावा बोल दिया। सुदास ने लौटकर इन जातियों को यमुना नदी के किनारे पर बड़ी वीरता के साथ ध्वस्त कर दिया। इस युद्ध के दृश्य का वर्णन वसिष्ठ ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में ऋग्वेद के एक सूक्त (७।८३) में किया है जिससे प्रतीत होता है वसिष्ठ इस युद्ध-स्थल में अपने यजमान के रक्षणार्थ स्वयं उपस्थित थे तथा इन्द्रावरुण से श्लाघनीय प्रार्थना करते थे। सुदास का विजय इस दैवी शक्ति के विपुल साहाय्य का परिणत फल था। इस विजय के अनन्तर सुदास की प्रभुता अधिक बढ़ गई और अन्य किसी भी जाति को उनसे छेड़-छाड़ का साहस नहीं हुआ। अन्य जातियों में पुरु का प्रभाव आगे चलकर विशेष हुआ और महाभारत काल में तो पुरु और भरत का परस्पर मेल कुरु के रूप में हो गया।

---

(२)

दस्यु और दास

आर्यों को दस्युओं के साथ भी युद्ध कर अपनी रक्षा करनी पड़ती थी। दस्यु तथा दास के विषय में विद्वानों में एक मत नहीं है। कतिपय विद्वान् इन्हें देवताओं का प्रतिद्वन्द्वी दैत्य ही मानते हैं, मनुष्य नहीं। कई मन्त्रों से तो ऐसा जान पड़ता है कि ये देवताओं के विरोध करने वाले अतिप्राकृत जगत् के जीव थे, परन्तु अन्य मन्त्रों में ये आर्य लोगों के मानव शत्रु के रूप में चित्रित किये गये हैं जिनके ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए देवताओं से सन्तत प्रार्थना की गई है। ये वस्तुतः कौन थे? और आर्यों के साथ इनका सम्बन्ध किस प्रकार का था? इस प्रश्न के उत्तर में विद्वानों में गहरा मतभेद दीख पड़ता है। पाश्चात्य विद्वानों की यह दृढ़ धारणा है कि ये अनार्य जातियाँ इस भूभाग की आदिम निवासी थीं, जिन्होंने विजयी आर्यों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए जी तोड़कर प्रयत्न किया। इनके घोरतर विरोध तथा अदम्य उत्साह ने आर्यों को अनेक

अवसरों पर पंगु बना डाला। इनके लड़ाकू जोश के सामने आर्यों को विचलित होने का अवसर आया और उन समयों पर आर्यों ने भक्तिपूरित हृदय से अपने प्रतापशाली देवताओं का आह्वान किया तथा उनकी दैवी सहायता से ही वे दस्युओं के उत्साह तथा दासों के किलों को तोड़ने में कृतकार्य हो सके। भारत में भी इस मत के अनुयायी विद्वानों की कमी नहीं है, परन्तु ऋग्वेद के अनुशीलन से इस धारणा को बदलने की जरूरत जान पड़ती है।

निरुक्त में यास्क ने दास तथा दस्यु शब्दों का निर्वचन प्रस्तुत किया है। इन दोनों शब्दों का सम्बन्ध दस् (उपक्षये) धातु से है जिसका अर्थ होता है—नुकसान पहुँचाना, या नाश करना। 'दस्यु' की व्याख्या में निरुक्त का कहना है—"**दस्यतेः क्षयार्थात् उपदस्यन्ति अस्मिन् रसा, उपदासयति कर्माणि वा**" (नि० ७।२३), अर्थात् जिसके कारण रस को नुकसान पहुँचाता है या जो कृषि आदि कर्मों को हानि पहुँचाता है। 'दास' की निरुक्ति भी इसी प्रकार है—"**दासो दस्यतेरुपदासयति कर्माणि**" जिसको विशद करते हुए दुर्गाचार्य ने लिखा है—**उपदासयति उपक्षयति कृष्यादीनि कर्माणि**। अतः इस प्राचीन व्याख्या के अनुसार दास तथा दस्यु का प्रयोग खेती आदि कामों में हानि पहुँचानेवाले शत्रु के लिए उचित प्रतीत होता है। इन शब्दों का यही मौलिक व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।

दास

ऋग्वेद के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि आर्यों तथा दासों के बीच में धार्मिक मतभेद की एक चौड़ी दीवाल खड़ी थी। आर्य देवों की उपासना में दत्तचित्त रहते थे। इसके विपरीत दास लोग न अग्नि में हविर्दान करते थे और न इन्द्र-वरुण की अर्चा के ही पक्षपाती थे। इसी कारण धार्मिक भावना से विहित व्यक्ति के लिए, उसके पक्का आर्य होने पर भी 'दास' शब्द का प्रयोग न्याय्य माना जाता था। यदु तथा तुर्वश जाति निःसन्देह आर्य पञ्च मानुषों में परिगणित की जाती थी, तथापि वैदिक धर्म के प्रति किसी प्रकार की अनास्था तथा अश्रद्धा रखने के हेतु इन्हें 'दास' कहा गया है (ऋ० १०।६२।१०)। अयाजक मात्र के लिए 'दास' का प्रयोग ऋग्वेद में किया गया है (ऋ० ५।३४।६) ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र[1] में आर्य तथा दास में विवेचन

---

१. अयमेमि विचाकशद् विचिन्वन् दासमार्यम्।
पिबामि पाकसुत्वनोऽभिधीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥
(ऋ० १०।८६।१९।)

करते हुए इन्द्र के आने की सूचना दी गई है जिससे प्रतीत होता है कि आर्यों तथा दासों में इतना रूपसाम्य था कि इन्द्र को उनकी पूजा पद्धति के विभेद से ही उनमें पार्थक्य करने का अवसर मिला था। इस प्रकार दास लोग धार्मिक विभिन्नता के बल पर आर्यों से पृथक् स्वतन्त्र जाति के रूप में अङ्कित किये गये हैं। ये लोग बड़े पराक्रमी, उत्साही तथा पुरुषार्थी थे। इनके पास बहुत से किले थे (पुरः २।२०।८) तथा कई भिन्न भिन्न उपजातियों में (विशः) भी वे विभक्त थे (२।११।४ अस्मे दासीर्विशः सूर्येण सह्याः)। इनके परकोटों से घिरे किलों के लिए 'शारदीः' शब्द का प्रयोग मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि ये लोग शरद्काल में अपनी रक्षा के लिए इन पुरों का आश्रय किया करते थे। वे निर्धन न थे, प्रत्युत अतुल सम्पत्ति के मालिक थे (ऋ० ४।३०।१३)। अतः धर्म तथा वर्ण की भिन्नता के रहने पर भी अनेक दास लोग आर्यों के समान प्रतापी तथा सम्पत्तिशाली थे। इन बातों पर ध्यान देने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आर्यों में जो लोग वैदिक धर्म में विश्वास न करते थे, सभ्यता की दौड़ में आगे न जाकर बहुत पिछड़े हुए थे, असभ्य होने के कारण सभ्यता के जाग्रत केन्द्र बड़े-बड़े नगरों से दूर हट कर जंगलों और पहाड़ी प्रदेशों में निवास किया करते थे तथा जीवन-निर्वाह के लिए दूर-दूर जंगलों में भटकने के कारण शीत और ग्रीष्म, जाड़ा और गरमी को सहने से जिनका रंग काला पड़ गया था, वे ही 'दास' के नाम से पुकारे जाते थे।

उनका रंग आर्यों के वर्ण से अवश्य भिन्न था। दास वर्ण आर्य वर्ण से भिन्न बतलाया गया है (१।१०४।२) आर्यों के चेहरे का रंग चमकीला था, परन्तु दासों का रंग काला था। एक मन्त्र में गृत्समद ऋषि ने इन्द्र के वीरोचित कार्यों की गणना करते हुए कहा है कि आपने 'दास वर्ण' को गुहा में भगा दिया है अर्थात् दास जाति के लोग दैवी प्रेरणा से ही नगरों को छोड़कर पर्वतों की गुफाओं में जाकर छिप गये हैं (दासं वर्णमधरं गुहाकः—ऋ० २।१२।४)। इस जाति के अनेक वीर पुरुषों के नाम ऋग्वेद के पढ़ने से ज्ञात होते हैं। दासों के नेताओं में शम्बर, शुष्ण, वेतसु, तुग्र, चुमुरि, अर्बुद—आदि नितान्त प्रसिद्ध थे। भाषाशास्त्र की दृष्टि से ये नाम अनार्य नहीं प्रतीत होते। आर्यों के साथ दासों का संघर्ष सदा बना रहता था। इन युद्धों में कुछ दास तो मार डाले जाते थे और जो बाकी रह जाते थे वे आर्यों के द्वारा चाकर बनाकर सेवाकार्य के लिए रख लिये जाते थे। इसीलिए दास का अर्थ संस्कृत में सेवक, चाकर या गुलाम भी होने लगा। विजित दासों की पत्नियों की दयनीय दशा का

अनुमान किया जा सकता है। सम्भवतः उनमें से कुछ आर्यों के घरों में उप-पत्नियाँ बनाकर रख ली जाती होंगी, इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण में कवष को 'दास्याः पुत्रः' कह कर हँसी उड़ाई गई है। इन दास-जातीय सरदारों के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातों का उल्लेख किया गया मिलता है।

शम्बर—की प्रभुता सर्वातिशायिनी थी। उसके सहायकों में शुष्ण, पिप्रु तथा वर्चिन प्रधान थे। उसकी शक्ति इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि वह न केवल इन्द्र का बड़ा भारी शत्रु था, प्रत्युत वह अपने को स्वयं एक देवता (देवक) समझता था (७।१८।२०)। उसके पास नब्बे, निन्यानबे, तथा सौ दुर्गों के होने की बात मन्त्रों में कही गई है (२।१४।६)। आर्यों में उसका प्रधान शत्रु राजा दिवोदास अतिथिग्व था जिसने अपने बाहुबल से तो नहीं, परन्तु इन्द्र की दैवी सहायता से उसके ऊपर अनेक बार विजय प्राप्त की (ऋ० १।५१।६)।

चुमुरि—भी दासों का एक बलशाली नेता था। अपने मित्र 'धुनि' के साथ उसे इन्द्र के हाथों पराजित होना पड़ा था। चुमुरि का राजा दभीति के साथ तुमुल संग्राम हुआ था जिसमें उसके साठ हजार अनुयायियों को इन्द्र ने मार कर दभीति को विजय से मण्डित किया था। इतने अनुयायियों के साथ लड़ाई के मैदान में उतरने से हम समझ सकते हैं कि यह वीर किस कँड़े का योद्धा था (६।२६।६)

दस्यु

दास के समान दस्यु लोग किन्हीं-किन्हीं मन्त्रों में देवताओं के शत्रु बतलाये गये हैं, जिनसे उनके आधिदैविक जगत् के जीव होने की प्रतीति होती है, परन्तु अन्य मन्त्रों में आर्यों का दस्युओं से विरोध की वार्ता इतने स्पष्ट शब्दों में अंकित है कि इन्हें मानव प्राणी होने में किसी प्रकार सन्देह करने का अवकाश नहीं रह जाता। आर्य तथा दस्यु-जनों में विरोध की मूल भित्ति है धर्म-सम्बन्धी मतभेद। ऋग्वेदीय वर्णन के झीने आवरण से दस्युओं का आर्यत्व फूट निकलता है। दासों के अलग-अलग जनों के होने की बात कही गई है जिससे उनके आर्यों से पृथक् एक स्वतन्त्र जाति होने का आभास मिलता भी है, परन्तु दस्युओं के विषय में तो यह भी बात चरितार्थ नहीं होती। आर्यों से विपरीत दस्यु लोग थे—अदेवयु, देवताओं में श्रद्धा न रखनेवाले (ऋ० ८।७०।११), अब्रह्मन् , वेदों को न माननेवाले (४।१६।९), अयज्वन् (यज्ञ न करनेवाले—ऋ० ८।७०।११), अव्रत (व्रत या नियम के पालन न करनेवाले, १।५१।८,

६।१४।३; ६।४१।२) तथा अन्यव्रत (विचित्र व्रतों का अनुसरण करनेवाले ८।७०।११)। ऋग्वेद के मन्त्रों में दस्युओं के विषय में एक-दो विशेषण ऐसे पाये जाते हैं जिनको लेकर वैदिक विद्वानों में गहरा मतभेद दृष्टिगोचर होता है। ऐसा एक विचित्र विशेषण है—**अनासः**, जो ऋग्वेद में एक ही बार उपलब्ध होता है (ऋ० ५।२९।१०)[1]। पश्चिमी विद्वान् ने इसका एक स्वर से अर्थ किया है नासिका रहित, अर्थात् चपटी नाकवाले। इस अर्थ के सहारे वे लोग दस्युओं को चपटी नाकवाले द्रविड़ जातीय मानते हैं, परन्तु यह अर्थ भारतीय परम्परा से परिचित सायण के ही भाष्य से विरुद्ध नहीं है, बल्कि अतिप्राचीन तथा नितान्त प्रामाणिक शाकल्य-कृत पद-पाठ से भी मेल नहीं खाता। 'अनासः' का पदपाठ है अन् + आसः, जिसका सायण ने अर्थ किया है मुख से रहित, अर्थात् शोभन बोली न बोलने वाले। सभ्यता की दृष्टि से अतिहीन दशा में जीवन बितानेवाले दस्युओं की बोली सभ्य तथा शिष्ट आर्यों की बोली के समान विशुद्ध तथा शोभन न थी, इसमें अचरज करने की कोई जगह नहीं है। उन्हीं मन्त्रों में एक पेंचीदा शब्द है—**मृध्रवाचः**, जिसका प्रयोग दस्युओं के समान पणियों के लिए भी होता था (ऋ० ७।६।३)। साथ ही साथ आर्य पूरु के लिए प्रयुक्त किया गया है[2] (ऋ० ७।१८।१३)। इस शब्द की व्याख्या यास्क के अनुसार 'मृदुवाचः' है (नि० ६।३१) अतः इस शब्द का अर्थ 'मीठा वचन बोलनेवाला' ही उपयुक्त जान पड़ता है। भिन्न-भिन्न स्थानों की बोली में उच्चारण का भेद होना नैसर्गिक है। यही कारण था कि दस्युओं की बोली का उच्चारण-प्रकार किसी अंश में अन्य आर्यों की बोली से भिन्न ठहरता था।

दास तथा दस्यु के वर्णन की तुलना करने पर दास लोग दस्युओं से कुछ अधिक सभ्य जान पड़ते हैं। दस्यु लोगों की एकमात्र जीविका राहचलतों को लूटना, डाका मारना जान पड़ता है। इसीलिए ये लोग नगरों से दूर भीषण जंगलों तथा विकट पार्वत्य प्रदेशों में रहने के अभ्यस्त बन गये थे। इन्हीं कारणों से आर्यों के हृदय इनके प्रति भय तथा घृणा के भाव से सदा आप्लुत रहते थे। एक स्थल में एक ऋषि ने इनके लिए 'अमानुषः' का प्रयोग किया है। (१०।२२।८) 'अमानुष' से तात्पर्य मनुष्य से उच्च कोटि का न होकर हीन कोटि का मानना ही प्रकरण संगत है। अपने बुरे कर्मों के कारण दस्युओं की गणना नितान्त नीच,

---

१. अनासो दस्यूँरमृणो वधेन नि दुर्योण आवृणङ् मृध्रवाचः ॥

२. अध्यावत्य तृत्सवे गयं भाग् जेष्म पूरुं विदथे मृध्रवाचम् ॥

(ऋ० ७।१८।१३)

ओछी बुद्धिवाले मनुष्यों में की जाती थी। ब्राह्मणयुग में 'दस्यु' शब्द का प्रयोग असभ्य लोगों के लिए ही होता रहा। ऐतरेय में (७।१८) इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। हमारे स्मृतिकार दस्युओं के स्वरूप से भली-भाँति परिचित थे। मनु ने स्पष्ट ही लिखा है[1] कि जो लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णों से बहिर्भूत थे वे ही 'दस्यु' कहलाते थे, चाहे वे आर्य-भाषा बोलते हों अथवा म्लेच्छ भाषा। जान पड़ता है कि कुछ दस्यु लोग तो आर्य-भाषा बोलते थे, परन्तु कुछ लोग आर्य मण्डल से दूर हटाये जाने के कारण अपने पड़ोसियों की बोली ग्रहण कर म्लेच्छ भाषा बोलने लग गये थे। अतः दास या दस्युओं के स्वरूप की जानकारी के वास्ते इन प्राचीन ग्रन्थकारों के मन्तव्यों को भुलाया नहीं जा सकता। ऊपर उपन्यस्त प्रमाणों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दास लोग आर्यों के अपने ही बन्धु-बान्धव थे। दोनों में अन्तर इतना ही था कि दास लोग आर्यधर्म के अनुयायी नहीं थे, सभ्यता की दौड़ में पिछड़े हुए थे, नगरों से दूर जंगलों तथा पर्वतों में रहने लगे थे, तथा आर्यों की ही बोली को मृदु तथा अव्यक्त स्वर में बोला करते थे जिससे वे सभ्य तथा शिष्ट आर्यों के अनादर और घृणा के भाजन बन गये थे।

पणि कौन थे ?

ऋग्वेद काल में दस्युओं से अनेक बातों में समता रखनेवाले पणि लोगों की सत्ता मन्त्रों के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होती है। पणि लोग कौन थे? इस प्रश्न के उत्तर में, इनके स्वरूप से परिचित होने के लिए, इस शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देना जरूरी है। 'पणि' शब्द व्यवहारार्थक पण् धातु (पण् व्यवहारे स्तुतौ च) से निष्पन्न हुआ है जिससे इसका निरुक्तिगम्य अर्थ है—व्यवहार करनेवाला, व्यापार से जीविका चलनेवाला। इस धातु से निष्पन्न अनेक शब्द आजकल भी व्यहृत होते हैं। विविध लोग जिस जगह खरीद फरोख्त, क्रय-विक्रय किया करते हैं उसे कहते हैं 'विपणि' या 'आपण'=बाजार। पणि शब्द ही अक्षर परिवर्तन से आज वणिक् (बनिया) के रूप में दिखाई पड़ता है। अतः आज कल के वणिक् जन वैदिक पणियों के भाई-बन्धु ही नहीं, बल्कि साक्षात् उत्तराधिकारी हैं, इसे मानने में भाषाशास्त्र किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति उपस्थित नहीं

---

१. मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥

(मनु० १०।४५)

करता। इस प्रकार ये ऋग्वेद काल में जमीन तथा समुद्र के रास्ते व्यापार करनेवाले लोग थे। व्यापार से धन-प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य माननेवाले लोभी बनियों में जितने सद्‌गुण तथा दुर्गुण विद्यमान रहते हैं, वे सब इन पणियों में भी वर्तमान थे। वे धनसम्पन्न थे, परन्तु न तो देवताओं के लिए होम का दान किया करते थे और न मेधावी विप्रों को दक्षिणा दिया करते थे। इसलिए वे वैदिक ऋषियों के समधिक घृणा तथा अनादर के भाजन थे[1]।

पणि लोग नितान्त स्वार्थी थे—अपने ही सुख के लिए धन खर्च करना जानते थे, किसी सत्कार्य में धन व्यय करने से सदैव विमुख रहते थे। ऋ० ८।६४।२ मन्त्र में इनके लिए 'अराधसः' का प्रयोग मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि धनसम्पन्न होने पर भी वे इसका उपयोग यज्ञानुष्ठान के लिए कभी नहीं करते थे। इसीलिये वे यज्ञकर्ता की दृष्टि में अत्यन्त कृपण थे। भेड़िया से उनकी तुलना की गई है, जो शत्रुत्व का प्रतीक माना जाता है। ये आर्यों के देवताओं के प्रति भी श्रद्धा नहीं रखते थे। जब इन्द्र ने 'सरमा' नामक देवशुनी को छिपाकर रखी हुई गायों के उद्धार के लिए पणियों के पास भेजा था (ऋ० १०।१०८), तब पणियों ने स्पष्ट शब्दों में इन्द्र के अस्तित्व में अपना अविश्वास प्रकट किया। वे पूछने लगे कि सरमा, जिसकी दूती बनकर हमारे पास आई हो, वह इन्द्र कैसा है ? उनका रूप कैसा है ? यदि वे हमलोगों में आ जायँ, तो हम उन्हें अपना मित्र बना लेंगे और हमारी गायों के वे स्वामी बन जायँगे।' इस कथन से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि आर्यों के प्रधानतम देव इन्द्र को वे बिल्कुल मानते-जानते न थे। इसीलिए एक ऋषि पूषन् से प्रार्थना कर रहा है कि वे पणियों के निर्दय मन को मृदु बनावें। एक दूसरे मन्त्र में अग्नि के अनुग्रह से मेधावी ब्राह्मण के पणि के धन को ग्रहण करने का उल्लेख किया गया है (६।१३।३)। इस प्रकार ऋषियों की दृष्टि में पणि लोग थे अक्रतु (शोभन कर्मों से विहीन), ग्रथिन् (बकवादी) मृध्रवाक् (मीठबोला), अश्रद्ध (यागादिकों में श्रद्धाहीन), अवृध (देवताओं को स्तुतियों के द्वारा वर्धन न करनेवाले) तथा अयज्ञ (यज्ञों का अनुष्ठान न करनेवाले)। इसी मन्त्र में वे 'दस्यु' भी कहे गये हैं। इनके व्यापक

---

१. पणि का अर्थ यास्क ने वणिक् किया है—पणिर्वणिग् भवति (नि० २।१७)। व्याकरणानुसार 'वणिक्' शब्द पण् धातु से इज् प्रत्यय तथा पकार को वकार में परिवर्तन से निष्पन्न माना जाता है। पणेरिजादेश्च वः— उणादि सूत्र।

सामाजिक तिरस्कार का यह भी एक प्रधान कारण था कि ये लोग बड़े सूदखोर थे। अधिक सूद पर कम रूपया देकर उसे द्विगुणित करने की स्पृहा इनके चित्त में सदा जागती रहती थी। इस भाव को सूचित करने के लिए इनके वास्ते एक बार 'बेकनाट' शब्द का प्रयोग किया गया है[1] जिसकी यास्ककृत व्याख्या है—सूद खाने वाला व्यक्ति[2]। पणियों के व्यापारजीवी होने की बात पहले ही कही गई है। व्यापार के सामान तथा गायों को भी साथ लेकर पणियों के सार्थ (काफिले) एक स्थान से दूसरे स्थान पर आया जाया करते थे तथा कभी-कभी जिस देश से होकर ये जाते थे, उस देश के निवासियों की गायें चुरा कर अपनी गायों में मिला लिया करते थे। इस कारण पणियों तथा आर्यों में प्रायः लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। जिनमें इन्द्र की सहायता से आर्य लोग विजय पाते थे।

पणियों के सरदार कभी-कभी बड़े भलेमानुष हुआ करते थे। ऐसे सद्‌गुण-मण्डित एक पणि-सरदार की प्रशस्त प्रशंसा ऋग्वेद में एक स्थान पर की गई है (६।४५।३१-३३)। इसका नाम था बृबु, जो निश्चय ही पणियों में मूर्धन्य था तथा अपनी महती कीर्ति के कारण गङ्गा के तीर पर उगने वाले विशाल वृक्ष के समान बतलाया गया है। शाङ्खायन श्रौत-सूत्र (१६।११।११) के अनुसार भरद्वाज ऋषि ने बृबु से दक्षिणा में विशेष दान प्राप्त किया था। इस कारण यह सूरि (विद्वान्) तथा सहस्रदातम (सहस्रसंख्यक धन का देनेवाला) माना गया है (ऋ० ६-४५।३३)। नीतिमञ्जरी (पृष्ठ २१०–२१२) में द्या द्विवेद ने बृबु के विषय में एक रोचक आख्यान का उल्लेख कर उससे सुन्दर उपदेश ग्रहण किया है[3]। एक बार भूख-प्यास से व्याकुल भरद्वाज ऋषि ने जंगल में तक्षण-कर्म (बढ़ई का काम) करते हुए बृबु को देखा। ऋषि को अतिथि देखकर बृबु ने उनका सत्कार करना चाहा, परन्तु अपनी हीन जाति का

---

१. इन्द्रो विश्वान् बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणींरभि।

(ऋ० ८।६६।१०)

२. बेकनाटा खलु कुसीदिनो भवन्ति, द्विगुण-कारिणो वा द्विगुणादायिनो वा द्विगुणं कामयन्ते इति वा—निरुक्त ६.२६।

३. असाधोरपि गृह्णीयात् सीदन् प्रतिग्रहं द्विजः।
भरद्वाजो हि तक्षणः क्षुत्पीडितो जगृहे बृबोः॥

(नीतिमञ्जरी, श्लोक ६४)

खयाल कर चित्त में ग्लानि करने लगा, परन्तु ऋषि के आश्वासन देने पर कि वह उसके दान का प्रत्याख्यान न करेंगे, हजार गायें दान में दे दीं। इस पर प्रसन्न होकर भरद्वाज ने अपने पुत्र तथा भाई शंयु से इस विषय की चर्चा की, तब शंयु ने पूर्वोक्त तृच (ऋ० ६।४५।३१, ३२, ३३) के द्वारा बृबु की दान-स्तुति की। इस आख्यान में 'बृबु' बढ़ई का काम करनेवाला बतलाया गया है जिससे जान पड़ता है कि पणि लोग जहाज बनाने के काम में निपुण थे। समुद्र में व्यापार करनेवाले के लिए जहाज का काम भी बहुत जरूरी होता है। पणियों में इन दोनों कलाओं का संयोग अवश्य ही आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। पणियों के सरदार बृबु की शिक्षाप्रद कहानी वेदों से बहुत काल पीछे भी भारतीयों का मनोरञ्जन करती रही। प्राण-संकट आने पर हीन जाति के अन्न खाने पर भी पुरुष पाप से लिप्त नहीं होता (१०।१०४), इस सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए मानव धर्मशास्त्र में भी मनु ने इस कथानक का उल्लेख अच्छे शब्दों में किया है[1]।

पणि तथा फीनिशिया

ऋग्वेद के अनन्तर पणियों की दशा क्या हुई? वे किस जाति में मिल गये जिससे उनका नाम लुप्त सा हो गया? इन प्रश्नों का उत्तर प्रामाणिक साधनों के अभाव में ठीक-ठीक नहीं दिया जा सकता, परन्तु वैदिक विद्वानों ने अपनी कल्पना खूब दौड़ाई है। डा० वेबर ने पणियों का सम्बन्ध बाबुल के साथ बतलाया था, परन्तु विद्वानों को यह मान्य न हो सका[2]। इधर डा० अविनाशचन्द्र दास ने इस विषय की बड़ी छानबीन की है[3]। वे इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि पणि आर्यों के द्वारा तिरस्कृत किये जाने के कारण सप्तसिन्धु प्रदेश को छोड़कर जहाजों से गुजरात के पास पहुँचे, जहाँ से ये किनारे-किनारे मालाबार किनारे पर आये और यहीं से लोग बाबुल होकर सीरिया (साम) के पास जा बसे और कालान्तर में फीनिशियन जाति के नाम से विख्यात हुए। ये फीनिशियन लोग यूरोप में सबसे प्रथम नाविक, समुद्र व्यवहार-जीवी पुरुषार्थी, व्यापार के लिए नये उपनिवेश बसाने वाले प्रसिद्ध हैं। यूरो-

---

१. भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने।
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह बृबोस्तक्ष्णो महातपः॥
(मनु० १०।१०७)

२. वैदिक इंडेक्स भाग २, पृष्ठ ३९-७०।

३. ऋग्वेदिक इण्डिया परिच्छेद ११, पृ० १८०-१९७।

पियन लिपियाँ इन्हीं लोगों की लिपि से निकली हुई मानी जाती हैं। डा० दास नाम तथा व्यवहार की समानता के बल पर फीनिशियनों को पणियों का ही प्रतिनिधि मानते हैं। इस विषय के प्रतिपादन में कल्पना की ऊँची उड़ान ली गई है, परन्तु यूनानी ऐतिहासिक हिरोडटस की उक्ति इस प्रसङ्ग में ध्यान देने योग्य है। उनका कहना है कि ये फीनिशियन लोग मूल निवासी न होकर इरिथ्रिअन समुद्र के किनारे रहने वाले माने जाते थे। यहाँ से इन्होंने सीरिया पार कर भूमध्यासागर के किनारे अपनी बस्ती बनाई। इरिथ्रिअन समुद्र वही है जिसे आजकल 'अरब सागर' के नाम से पुकारते हैं। पणि तथा फणीशियन के नाम में साम्य है ही, साथ-ही-साथ इनके आचरण और जीविका, धर्म में आश्चर्यजनक साम्य है। इस प्रकार दोनों मे किसी प्रकार की सम्बन्ध स्थापना असम्भव कोटि में नहीं आती।

इस प्रसंग में भारत का पश्चिमी एशिया के साथ प्राचीन काल में व्यापार-सम्बन्ध की चर्चा करना असंगत न होगा। पिछले कालमें दोनो में व्यापारिक सम्बन्ध के अस्तित्व के बारे में सन्देह करने की गुंजायश नहीं है; प्राचीन काल में भी दोनों के व्यापार-सूत्र से बद्ध होने के भी प्रमाणों की कमी नहीं है। पश्चिमी एशिया के लोग द्रविड़ लोगों के साथ व्यापार किया करते थे, इसके अनेक प्रमाण मिल चुके हैं। डा० सेस, जो एसीरिया के विषय मे प्रमाण माने जाते हैं, का कहना है कि प्राचीन 'उर' नगर की खुदाई में, जिसकी स्थापना तीन हजार वर्ष ईसा पूर्व में 'उरबगश्' नामक राजा के द्वारा हुई थी, चीड़ लकड़ी का एक टुकड़ा मिला है। यह प्रसिद्ध बात है कि चीड़ का पेड़ दक्षिण भारत के मालाबार प्रान्त में ही पैदा होता है, अन्यत्र कहीं भी नहीं। यहूदियों के विख्यात राजा सुलेमान (१००० ई० पू०) के जहाजें भारत से चन्दन, हाथी दाँत, बन्दर तथा मोर लाती थीं। यहूदी भाषा में इन चीजों के द्योतक शब्द भी तमिल शब्दों से उत्पन्न बतलाये जाते हैं। चन्दन की लकड़ी तो मालाबार के तीर पर ही होती है, अन्यत्र कहीं भी नहीं। यहूदी भाषा में मोर-वाचक शब्द 'टुकि यिम' प्राचीन तमिल शब्द 'टोकई' के साथ मिलता-जुलता है। अतः प्राचीनकाल में दक्षिण भारतीय लोग पश्चिमी एशिया के निवासियों के साथ जहाजों के सहारे व्यापार किया करते थे, इस विषय में संशय नहीं है[1]। परन्तु आर्य लोग भी प्राचीनकाल में इस भूभाग से व्यापार किया करते थे। इस विषय में भी प्रमाण मिल रहे हैं। बाबुल की भाषा में मलमल के लिए 'सिन्धु'

---

१. डा० सेस (Sayce)—हिबर्ट लेक्चर (१८८७), पृ० १३०, १३०।

शब्द मिलता है जिससे निःसन्देह प्रतीत होता है कि बाबुल देश में कपास का बना हुआ मलमल का कपड़ा सिन्धु देश (भारत) से आया था। 'सिन्धु' शब्द के रूप से हम एक विलक्षण सिद्धान्त पर पहुँचते हैं। यदि यह कपड़ा स्थलमार्ग से ईरान होकर आया होता, तो इसके 'स' कार का परिवर्तन 'ह' कार में जरूर ही हो गया होता। अतः 'सिन्धु' का मूल अपरिवर्तित रूप इस बात का साक्षी है कि यह कपड़ा भारत से बाबुल में सीधे जलमार्ग से ही होकर आया था। ऋग्वेद में प्रयुक्त होने के सिक्के के अर्थ में व्यवहृत 'मना' शब्द का प्रतिनिधि शब्द यूनानी तथा लातीनी भाषाओं में उपलब्ध होता है।

आ नो भर व्यञ्जनं गामश्वमभ्यञ्जनम्। सचा मना हिरण्यया ॥
(ऋ० ८।७८।२)

इस मन्त्र का सीधा अर्थ है कि 'हे इन्द्र, हमारे लिए गाय, अश्व, व्यञ्जन, अभ्यञ्जन (तैल) को सोने के बने 'मना' के साथ लाइए'। 'मना' शब्द का अर्थ इस मन्त्र में स्पष्टतः विद्यमान है।

त्रयोदश परिच्छेद

सामाजिक जीवन

वेदकालीन समाज

वेदकालीन समाज पितृमूलक समाज था। पिता ही प्रत्येक घर का नेता तथा पुरस्कर्ता था। पुत्र तथा पुत्री, बधू तथा स्त्री सब लोग उसी की छत्र-छाया में अपना सुखद समय बिताते थे। पिता केवल पुत्रों को ही शिक्षा नहीं देता था, प्रत्युत पुत्रियों को भी ललित कला की शिक्षा देकर सुयोग्य गृहिणी बनाता था। उपनयन संस्कार के अनन्तर गुरु के पास जाकर वेदाध्ययन की भी प्रथा थी। प्राचीनकाल में स्त्रियों के भी मौञ्जी-बन्धन का उल्लेख मिलता है। शिक्षा प्राप्त बालिकाओं में से कुछ तो विवाह कर गृहस्थी के कार्य में जुट जाती थीं, परन्तु कतिपय आजन्म ब्रह्मचारिणी ('ब्रह्मवादिनी' के नाम से प्रख्यात) बनकर विद्या तथा अध्यात्म की उपासना में अपना जीवन-यापन करती थीं। समाज का प्रत्येक व्यक्ति पुत्र की उत्पत्ति के लिए देवताओं से प्रार्थना किया करता था। पुत्र के लिए वैदिक शब्द 'वीर' (= लैटिन वीरुस) है, जो अवान्तर काल मे शौर्य मण्डित व्यक्ति के अर्थ में आने लगा।

ऋग्वेद के काल में वर्ण-व्यवस्था विद्यमान थी या नहीं? इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। अधिकांश पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के नाम तथा काम की व्यवस्था तथा परिबृंहण ब्राह्मण-युग की ही महती देन है। ऋग्वेद के काल में ये वर्ण विद्यमान न थे।

पुरुष सूक्त के १० वें मन्त्र में चारों वर्णों की उत्पत्ति पुरुष के भिन्न-भिन्न अंगों से बतलाई गई है। ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य तथा शूद्र का इसी क्रम से उल्लेख यहाँ मिलता है, परन्तु यह दशम मण्डल का सूक्त है जो दशतयी में सर्वथा अर्वाचीन स्वीकृत किया जाता है। यह कतिपय पश्चिमी विद्वानों की मान्यतायें हैं। ऋग्वेदीय समाज में किसी प्रकार की जटिलता न थी। फलतः इन वर्णों का उदय सम्पन्न नहीं हुआ था, परन्तु समाज में जटिलता के साथ-साथ वर्णों के कार्य-कलापों में भी भिन्नता तथा विविधता का जन्म हुआ। प्राचीन सरल याग नाना दिन स्थायी अनुष्ठानों के रूप में परिणत हुआ जिसके लिए ब्राह्मणों का

एक स्वतन्त्र वर्ण ही अलग हो गया। आर्यों के जनाधिपों का अनेक शत्रुओं से सामना करने वाला अवसर आया जिससे सामरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए क्षत्रियों की जाति वंशानुगत हो गई। विशः या वैश्यों का कार्य प्रधानतया कृषि कार्य था। ये भी धीरे-धीरे समाज के कार्यों के निष्पादन के लिए पीछे वंशानुगत हुए।

ये विचार सामान्यतः मान्य हैं, परन्तु विशेषतः भ्रान्त हैं। ऋग्वेद में ब्राह्मण, क्षत्रिय (राजन्य) तथा वैश्य (विशः) तीनों की स्थिति वंशानुगत मानी गई थी। ऋषि के सन्तान ही पुरोहित का काम करते थे, तथा क्षत्रिय ही राजकार्य का निर्वाह करते थे और यह नाम वंशानुगत ही हो गया था। वैश्य कृषिकर्म का जात्या सम्पादन करते थे। ऋग्वेद के समय में ही वर्णव्यवस्था उन विशिष्टताओं से मण्डित हो चुकी थी जिसका परिवृंहण पिछले युग में हुआ।

विवाह-प्रथा

ऋग्वेद के युग में विवाह एक सुव्यवस्थित प्रथा के रूप में ही दृष्टिगोचर होता है। वैदिक आर्य संग्राम-प्रिय जाति थी, जो शत्रुओं के साथ समराङ्गण में अपनी भुजाओं का पराक्रम दिखलाने के लिए सर्वदा उद्यत रहती थी। इसीलिए मन्त्रों में वीर पुत्रों की प्रसूति के लिए देवताओं से भव्य प्रार्थना की गई है (यथाऽहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा—अथर्व १।२९।५)। विवाह के समय की प्रार्थना है कि हे इन्द्रदेव ! इस स्त्री को दश पुत्र दो जिससे इसका पति ग्यारहवाँ होवे (दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि—ऋ० १०।८५।४५)। ऋग्वेद के समय में अभ्रातृका कन्या (अर्थात् भ्राता-रहित कन्या) का विवाह बहुशः नहीं होता था, क्योंकि उसका पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति का अधिकारी न होकर मातामह की सम्पत्ति का अधिकारी होता था। इसीलिए (ऋ० ३।३१।१) एक मन्त्र में कथन है कि अभ्रातृका कन्या का पिता जामाता को वस्त्र तथा अलंकार आदि से प्रसन्न करके दौहित्र को पौत्र बना लेता है। इसीलिए ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा स्मृति-ग्रन्थों में अभ्रातृमती कन्या के विवाह का निषेध है (मनुस्मृति ३।११; ९।१२७)।

यह भ्रान्त धारणा फैली है कि वेद के युग में कन्या अपने पति का वरण स्वयं कर लेती थी, उसके माता-पिता का इस कार्य में किसी प्रकार का नियन्त्रण तथा नियमन नहीं था। सत्य घटना ठीक इससे विपरीत है। स्वयंवरण का भी प्रसंग वेद में आता है, परन्तु वह केवल क्षत्रिय-कन्याओं के ही

लिए विशेषतः होता था, कन्या-सामान्य के निमित्त नहीं। ऋग्वेद में उस पिता की प्रसन्नता का उल्लेख है जो अपनी दुहिता के वर का प्रबन्ध कर अपने मन में बड़ा सुखी होता है (**पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन् संशग्म्येन मनसा दधन्वे**—ऋ० ३।३१।१)। शतपथ-ब्राह्मण में **सुकन्या** का निःसन्दिग्ध कथन है कि मेरे माता-पिता ने मुझे जिस पति के हवाले किया है उसे मैं जीते जी नहीं छोड़ूँगी (**सा होवाच यस्मै मां पिताऽदान्नैवाहं तं जीवन्तं हास्यामीति**—शतपथ ४।१।५।९)। माता-पिता की इच्छा पर ही कन्या का विवाह निर्भर होता था। इसकी पुष्टि राजा रथवीति के आख्यान से भी होती है। राजा से श्यावाश्व ऋषि ने उसकी कन्या से विवाह का प्रस्ताव किया। राजा ने अपनी विदुषी रानी शशीयसी की सम्मति से ऋषित्व प्राप्त कर लेने पर ही ऋषि को पुत्री का पाणिग्रहण कराया[१]। फलतः विवाह के विषय में पिता-माता की सम्मति कन्या के लिए सर्वथा मान्य तथा ग्राह्य होती थी।

विवाह सर्वदा युवक तथा युवती का हुआ करता था, बालविवाह का कहीं भी संकेत नहीं मिलता। विवाह का सर्वमान्य सूक्त—ऋग्वेद के दशम मण्डल का ८५ वाँ है जिसका अनुशीलन ऋग्वेदीय विवाह की पूर्ण भावना का परिचायक है। सूर्या के दान के प्रसंग में यह मन्त्र आता है—

सोमो वधूयुरभवदश्विना ता उभा वरा।
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात्॥
(ऋ० १०।८५।९)

इस मन्त्र का 'पत्ये शंसन्तीं' सायण-भाष्य के अनुसार 'पतिकामा' तथा 'पर्याप्तयौवना' अर्थ रखता है। इसी सूक्त के ४६वें मन्त्र में वधू को आशीर्वाद देते समय उसे श्वसुर, सास, ननद तथा देवर के ऊपर सम्राज्ञी होने का जो आशीर्वाद है वह युवती के ऊपर ही चरितार्थ होता है। गृह्यसूत्रों में इस विषय के विपुल प्रमाण मिलते हैं कि विवाह के समय वर-वधू पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त होते हैं; क्योंकि विवाह के अनन्तर चतुर्थी कर्म के बाद वर-वधू के अभिगमन की स्पष्ट आज्ञा है[२]। अतः यौवनकालीन विवाह में वैदिक समस्त वाक्यों की एक-

---

१. द्रष्टव्य बृहद्देवता ५।५०।८० ।

२. तामुदुह्य यथर्तु प्रवेशनम्—पारस्कर गृह्य १।११।७ पर हरिहर-भाष्य देखिए। प्रवेशनम् = अभिगमनम्॥ मिलाइए गोभिल-गृह्यसूत्र २।५।८ से।

वाक्यता है। सामान्यतः वैदिक आर्य एक ही विवाह करता था, तथापि बहु-विवाह की प्रथा स्पष्टतः प्रचलित थी। **'पतिं न नित्यं जनयः सनीळाः'** (१।७१।१) तथा **'जनीरिव पतिरेकः समानः'** (ऋ० ७।२६।३) आदि अनेक मन्त्रों में एक पति की अनेक पत्नियों का निर्देश स्पष्ट रूप से मिलता है। राजाओं की चार प्रकार की पत्नियाँ होती थीं—(१) **महिषी**, जो क्षत्रिया होने के अतिरिक्त पटरानी भी होती थी (शतपथ ६।५।३।१); (२) **परिवृक्ती** (=परिवृक्ता—ऋ० १०।१०२।११; अथर्व० ७।११३।२; पुत्रहीन पत्नी); (३) **वावाता**—जो राजा की प्रियतमा होती थी (ऐत० ब्रा० १२।११); (४) **पालागली**—जो दरबार के किसी पदाधिकारी की कन्या होती थी और किसी राजनैतिक उद्देश्य से राजा से ब्याही जाती थी (शत० १३।४।१।८)। ब्राह्मणों में भी बहुविवाह की प्रथा विद्यमान थी। च्यवन ऋषि की बहुपत्नियों का (ऋ० १।११६।१०), सौभरि ऋषि के त्रसदस्यु पौरुकुत्स की पचास कन्याओं से विवाह का उल्लेख (ऋ० ८।१९।३६) स्पष्टतः मिलता है। महर्षि याज्ञवल्क्य की दोनों पत्नियों—कात्यायनी तथा मैत्रेयी—का विशेष विवरण बृहदारण्यक उपनिषद् में है।

नारी की महिमा

वैदिक युग में नारी का गृहस्थी में बड़ा महत्त्व था। दुहिता के रूप में पत्नी या माता के रूप मे वह सर्वथा सम्मान-भाजन थी। **जायेदस्तम्**–(जाया ही घर है; गृहिणी गृहमुच्यते) की भावना ऋग्वेदीय युग में प्रौढ़ता को प्राप्त कर चुकी थी। स्त्री सहधर्मिणी थी—उसी के संग में धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान वस्तुतः सम्पन्न होता था। इसलिए अपत्नीक यज्ञ के अधिकार से वञ्चित था (**अयज्ञो वा ह्येष योऽपत्नीकः**—(तै० ब्रा० २।२।२।६)। ऋग्वेद के ऋषिगण पत्नी के गुणों, पतिप्रेम तथा दैनिक परिचर्या के गीत गाते कभी नहीं थकते। स्त्री का प्रेम अपने पति के लिए आदर्श था। वह समरसता की प्रति-मूर्ति मानी जाती थी। गृहस्थी की ही वह स्वामिनी नहीं थी, प्रत्युत अपने पति के ऊपर भी उसका पूर्ण प्रभुत्व था। वह गृहलक्ष्मी थी जिसकी सम्मति महनीय अवसरों पर सदा ली जाती थी, तथा सादर मानी जाती थी। कन्याओं को सुयोग्य वधू के रूप में परिणत करने के लिए उदार शिक्षण का प्रबन्ध था। उन्हें ललित कलाओं काव्य कला, संगीत, नृत्य तथा अभिनय की शोभन शिक्षा दी जाती थी। इसी उदात्त शिक्षा का प्रभाव था कि वेद के मन्त्रों की दर्शन करनेवाली अनेक 'ऋषिका' का दर्शन हमें ऋग्वेद के अनुशीलन से होता है। कक्षीवान् की

पत्नी घोषा का नाम इस प्रसंग में महत्त्वशाली है जिसने अपनी तपस्या तथा मन्त्र दर्शन के बल पर अश्विन की अनुकम्पा से अधिक उम्र बीतने पर विवाह का सौख्य प्राप्त किया। दशम मण्डल के दो लम्बे सूक्त (३९ तथा ४०) उसकी अध्यात्म-दृष्टि के परिचायक हैं। लोपामुद्रा ने अपने पति अगस्त्य के संग में १।१७९ सूक्त का दर्शन किया। अपाला (१०।९१) तथा रोमशा के संग में सूर्य की पुत्री सूर्या भी ऋषिका है (१०।८५)। काव्य-रचना का यह दृष्टान्त उदात्त शिक्षापद्धति का स्पष्ट प्रमाण है।

आर्य नारियों में नैतिकता पूर्णरूपेण विद्यमान थी। वे शोभन आचरण तथा सदाचार के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध थीं। इन्द्र स्वयं धर्म से उत्पन्न तथा धर्म के रक्षक (ऋतपा, ऋतेजा ऋ० ७।२०।६) के रूप में प्रतिष्ठित हैं। अतः ऋग्वेदीय समाज में सामान्यतः सब जगह धर्म का आदर था। कन्या बाल्यकाल में पिता के आश्रय में रहती थी और विवाह होने पर पति के घर में वह पातिव्रत धर्म का पूर्ण पालन करती थी। नियम के उल्लंघन अपवाद रूप से कभी-कभी मिलते हैं।

उपनिषद्-काल में नारी

संहिता तथा ब्राह्मणकाल के अनन्तर उपनिषदों का महत्त्वपूर्ण युग आरम्भ होता है। इस युग की कालिक सीमा का निर्धारण करना कठिन है, परन्तु मोटे तौर पर यह युग दो सहस्र पूर्व ईस्वी पूर्व से लेकर एक सहस्र वर्ष इ० पू० तक था, अर्थात् एक हजार वर्षों के विस्तृत काल में यह उपनिषद्युग फैला हुआ था। इस युग में नारी का भारतीय समाज में स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था—उतना ही महत्त्वपूर्ण, जितना वह था इतः पूर्व संहिता काल में। इस विषय के कतिपय समुज्ज्वल पक्षों की यहाँ संक्षेप में चर्चा की जा रही है।

(१) शिक्षा—नारी की शिक्षा सुव्यवस्थित रूप में दृष्टिगोचर होती है। समाज के उच्च स्तर की कन्याओं में उपनयन संस्कार का प्रचलन था। इस तथ्य की सूचना 'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते' आदि प्रख्यात स्मृति वचनों के द्वारा प्राप्त होती है। उपनयन के अनन्तर उन्हें सुव्यवस्थित शिक्षण दिया जाता था, जिसका अमृतमय परिणाम तत्कालीन नारियों के बौद्धिक-विकास तथा गम्भीर पाण्डित्य के ऊपर स्पष्टतः प्रतिफलित दृष्टिगोचर होता है।

महिला छात्राओं के दो प्रकार इस समय उल्लेखनीय हैं-(१) ब्रह्मवादिनी तथा (२)—सद्योद्वाहा। इनमें से 'सद्योद्वाहा' स्त्रियाँ वे होती थीं जो ब्रह्मचर्य आश्रम के अनन्तर गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होती थीं तथा उस आश्रम के नियमों का पालन करती हुई मातृत्व के महनीय पद पर प्रतिष्ठित होती थीं।

उनके विवाह का वय १६–१७ वर्ष के आसपास मानना चाहिए। आठ वर्ष से आरम्भ कर लगभग ९ वर्षों तक वे उन समग्र विद्याओं का शिक्षण प्राप्त करती थीं जो उन्हें सद्गृहिणी बनाने में पर्याप्त सहायक होती थीं। संगीत की शिक्षा भी उन्हें दी जाती थी, परन्तु अधिकतर उन्हें धार्मिक शिक्षा ही दी जाती थी। यह तो निर्विवाद सत्य है कि वैदिक यज्ञ में स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यजमान-पत्नी के रूप में वे अग्न्याधान करने वाले अपने पतिदेव के धार्मिक कृत्यों में हाथ बटाती थीं, अग्नि के परिचरण के अवसर पर वे तत्तत् विशिष्ट मन्त्रों के उच्चारण के संग हवन कार्य का भी सम्पादन करती थीं। यह तभी संभव हो सकता था जब उन्हें मन्त्रों के अध्ययन का अवसर छात्र जीवन में मिलता हो। अध्ययन का कार्य उन्हें अपने ही घर में किसी पुरुष से करना पड़ता था। इस विषय में हारीत का यह वचन महत्त्वशाली है जिसे वीर-मित्रोदय के 'संस्कार-प्रकाश' में उत्धृत किया गया है—द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योद्वाहाश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्षचर्येति।

(२) ब्रह्मवादिनी

ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ उपनिषद् युग की विशिष्टता मानी जा सकती हैं। ये स्त्रियाँ ब्रह्म-चिन्तन में तथा ब्रह्म-विषयक व्याख्यान में अपना तपःपूत जीवन बिताती थीं। अध्यात्म जीवन की रहस्य भरी गुत्थियों का अपनी तपस्या, अनुभूति तथा विद्वत्ता से सुलझाना इनके लिये एक सहज-सरल व्यापार था। साथ ही इस ब्रह्मतत्त्व के व्याख्यान तथा परिष्कार में ये उस युग के माने जाने दार्शनिकों से लोहा लेने में तनिक भी चिहकती न थीं। बृहदारण्यक उपनिषद् ऐसी दो ब्रह्मवादिनी नारियों की विद्वत्ता का परिचय बड़े ही विशद शब्दों में देता है। इनमें से एक तो है उस युग के महनीय तत्त्वज्ञानी याज्ञवल्क्य ऋषि की धर्मपत्नी मैत्रेयी और दूसरी है उसी याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ करने वाली वाचान्कवी गार्गी। मैत्रेयी के जीवन में हम तत्त्वज्ञान से समुत्पन्न मनःसंतोष, मनःशक्ति तथा पूर्ण वैराग्य का साक्षात्कार करते हैं। अपने जीवन की सन्ध्या में जब याज्ञवल्क्य जी ने व्यावहारिक नीति को अपना कर अपने सम्पत्ति का बटवारा अपनी दोनों भार्याओं—कात्यायनी और मैत्रेयी में कर दिया, तब ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी ने झुंझलाकर कहा था–येनाहं नामृता स्याम्, किं तेन कुर्यामिति, अर्थात् जो धन समृद्धि मुझे अमरत्व प्रदान नहीं कर सकती, उससे मेरा लाभ ही क्या? इसके उत्तर में महर्षि याज्ञवल्क्य ने आत्मा की अनन्यता, महनीयता तथा सर्व-श्रेष्ठता के विषय में अपना दार्शनिक पक्ष समझाया था, जो बृहदारण्यक के

पृष्ठों में वैशद्येन अंकित है। वाचक्नवी गार्गी ने इन्हीं महर्षि याज्ञवल्क्य से लोहा लेकर भारतीय तत्त्वचिन्तन के इतिहास में अपना नाम अमर कर दिया। विदेह के राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य से गार्गी ने जिन दो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान माँगा था, उससे उसकी तर्ककुशलता का पूर्ण परिचय हमें मिलता है। याद रखने की बात तो यह है कि अनेक पुरुष तत्त्वज्ञानियों के तर्क में ध्वस्त होने पर इसी विदुषी गार्गी ने महर्षि याज्ञवल्क्य को अपने प्रश्नों से चमत्कृत, हतप्रभ तथा आश्चर्यचकित कर दिया था। ऐसी ब्रह्मवादिनियों का दृष्टान्त प्रस्तुत करने वाला यह उपनिषद् युग सचमुच में स्त्रियों के प्रतिभा-रत्न को सुरक्षित रखने में अपनी तुलना नहीं रखता। नारियों ने अध्यापन का भी पवित्र कार्य अपनाया और वे गुरुकुलों में अध्यापक के पद पर आसीन होकर अध्यापन का कार्य किया करती थीं। महर्षि पाणिनि ने उपाध्याय (अध्यापक) की सहधर्मिणी तथा स्वयमेव अध्यापिका होने वाली स्त्रियों के लिए विभिन्न नामों की सृष्टि की है। उपाध्याय की स्त्री, जो नियमतः विदुषी नहीं होती थी, **उपाध्यायानी** कहलाती थी, परन्तु स्वयमेव अध्यापन करने वाली स्त्रियाँ 'उपाध्याया' नाम से अभिहित की जाती थीं। यह आख्याभेद पाणिनि के समय का है, परन्तु यह प्राचीन काल से आने वाले भेद का सूचक है। फलतः शिक्षा की दृष्टि से उपनिषत्काल की नारी बड़ी ही प्रौढ, प्राञ्जल तथा प्रवीण थी।

धार्मिक कृत्यों में नारी का विशिष्ट स्थान था। नियन्त्रण की प्रवृत्ति इस युग में दृष्टिगोचर होती है, अर्थात् संहिता-काल में यज्ञों के जिन भागों में स्त्रियाँ विशेषरूप से कार्य करती थीं, उनमें नियन्त्रण के कारण वे अंश पुरुषों के द्वारा किये जाने लगे। रुद्रयाग तथा सीतायाग जैसे कतिपय यागों का सम्पादन स्त्रियों का ही विशिष्ट अधिकार अब भी माना जाता था और शिक्षित स्त्रियाँ इन यागों का कृत्य विधिवत् सम्पन्न करती थीं।

विवाह

बालविवाह का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। षोडश वर्ष का वय प्राप्त करने पर पूर्ण यौवनावस्था में ही कन्यायें विवाहित की जाती थीं। पति के चुनने में कन्या का भी हाथ होता था। क्षत्रियों में तो स्वयम्वर की प्रथा विद्यमान थी जिसमें कन्या गुणों से सम्पन्न वर को स्वेच्छया वरण करती थी। यह प्रथा इस युग के आगे भी चलती रही और महाकाव्यों के युग में इस प्रथा की प्रौढता भलीभाँति दृष्टिगोचर होती है। विवाह के जो अनेक प्रकार सूत्रग्रन्थों में मिलते हैं वे यहाँ विद्यमान नहीं थे। प्राजापत्य विवाह का आदर सर्वत्र समाज में

होता था। प्रत्येक गृहस्थ को यज्ञ का सम्पादन वैदिक विधान था और उस यज्ञ की पूर्ति बिना पत्नी के सहयोग के नहीं हो सकती थी। इसलिये यज्ञ और पत्नी दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। इसलिए तैत्तिरीय ब्राह्मण की मार्मिक उक्ति है—अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः (२।२।२६), अर्थात् पत्नी से हीन व्यक्ति यज्ञ के लिए कथमपि उपयुक्त पात्र नहीं था। घर के संभालने का पूरा भार पत्नी पर ही था और इसीलिए ऋग्वेद जाया को गृहरूप मानता है—जायेदस्तम् (३।५३।४)। समाज में नारी का नैतिक जीवन आदर्श माना जाता था। किसी प्रकार के अनैतिक आचरण, दुराचार या कदाचार का स्पर्श भी नारी-चरित्र को कलुषित नहीं बनाता था। इसका पूर्ण परिचय हमें प्राप्त होता है उपनिषत्काल के एक मान्य महीपति केकय अश्वपति की इस प्रख्यात उक्ति से। ब्रह्मज्ञान की शिक्षा के लिए ऋषियों के अकस्मात् आगमन के अवसर पर अश्वपति ने कहा था—

> न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
> न नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

अमर्यादित आचरण करने वाला वहाँ कोई भी पुरुष नहीं था। तब स्वैरिणी नारी का अस्तित्व कहाँ ? यह कथन बड़ा ही महत्त्व रखता है समाज के नियम की दृष्टि से। स्वैरिणी शब्द का तात्पर्य है ऐसी नारी से जो समाज की मर्यादा का उल्लंघन कर मनमानी ढंग से अपना जीवन बिताती है। समाज में ऐसी नारी का प्रादुर्भाव स्वैरी पुरुष की सत्ता पर आधारित रहता है। उस युग में स्वैरी पुरुष तथा स्वैरिणी नारी-दोनों का एकान्त अभाव था और यह कथन उपनिषद् युग के उच्च नैतिक आदर्श के ऊपर एक उज्ज्वल भाष्य प्रस्तुत करता है।

निष्कर्ष यह है कि नारी के उदात्त चरित्र, नैतिक आदर्श, शिक्षण योग्यता, सामाजिक सहयोग की दृष्टि से उपनिषद् युग अपने पूर्ववर्ती संहिता-युग से विशेष दूर नहीं था। पूर्ववर्ती युगों का आदर्श नारी जीवन में उसी प्रकार काम्य तथा कमनीय था। उपनिषदों में नारी अपनी प्रौढता, तत्त्वचिन्ता, वावदूकता तथा उदात्तता के लिए भारतीय समाज के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी।

सामाजिक जीवन

वैदिक आर्य लोगों का समाज कृषीवल समाज था, जो एक निश्चित स्थान पर अपनी बस्तियाँ बनाकर पशुपालन तथा कृषिकर्म में सन्तत निरत रहता था। आर्य लोगों का जीवन अधिकतर ग्राम्य था, परन्तु नागरिक जीवन की

सत्ता के प्रमाणों की भी कमी नहीं है। वेदों में ग्रामों तथा जङ्गलों में और वहाँ उगने वाले पौधों तथा रहने वाले जानवरों में परस्पर विभेद दिखलाया गया है। देश भर में ग्राम फैले हुए थे, कुछ ग्राम नजदीक होते, कुछ दूर, परन्तु वे आपस में सड़कों (रथ्या) के द्वारा जुड़े रहते थे। रथ्या का अभिप्राय पगडंडियों से नहीं, सड़कों से है। सड़कें माललदी गाड़ियों तथा रथों के आवागमन के लिए बहुत चौड़ी हुआ करती थीं। गाँव में केवल मनुष्य ही नहीं रहते, बल्कि गाय, बैल, घोड़े, भैंस, बकरी तथा भेड़ों के झुण्ड और रखवाली करनेवाले कुत्ते भी रहते थे। कृषीवल समाज होने के कारण आर्यों की जीविका का प्रधान साधन कृषिकर्म तथा पशुपालन था। सबेरा होते ही गायें शाला (गोशाला) से चरागाह (गोष्ठ) में चरने के लिए गोपाल की संरक्षता में भेज दी जाती थीं, जहाँ वे दिन भर चरती रहतीं। दोपहर से कुछ पहले उनका दूध दुहा जाता था (संगव)। सायंकाल के समय वे गाँव में लौटती थीं। गायों के दुहने का काम गृहपति की पुत्री के जिम्मे रहता था, जो इसी कारण 'दुहिता' (दुहनेवाली) कहलाती थी। सायंकाल में अपने दुधमुँहे बछड़ों के लिए धेनुओं का रँभाना वैदिक आर्यों के कानों में इतना सुखद प्रतीत होता था कि उन्होंने इन्द्र के बुलाने के लिए प्रयुक्त अपनी प्रार्थनामय वाणियों की इनसे तुलना की है[1]। जब सायंकाल बछड़े रस्सियों से खोल दिये जाते, और वे अपनी माताओं के पास दौड़ जाते थे, तब वैदिक गृहपति की दुहिता अपने कोमल हाथों से गृहस्थी के लिए दूध दुहती थी, और घरघों-घरघों की आवाज से वह शाला गूँज उठती थी, तब उस वैदिक काल में सुलभ सार्वत्रिक मनोरम दृश्य की स्मृति आज भी हमारे शरीर को पुलकित कर देती है[2]।

दुर्ग

वैदिक काल में नगरों की सत्ता के विषय में पर्याप्त मतभेद है। वैदिक समाज प्रधानतया ग्राम्य समाज था अवश्य; परन्तु नागरिक जीवन की छटा का एकान्त अभाव उस समय मानने के लिए हम तैयार नहीं हैं। 'नगर' शब्द स्वतन्त्र रूप से पीछे आरण्यक (तैत्तिरीय आर० १।११।८) में मिलता है, परन्तु ब्राह्मणकाल में

---

१. तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥
(अथर्व २०।९।१)

२. सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् (ऋ० ७।८६।५)।

भी 'नगरी जानश्रौतेय' (जनश्रुति की सन्तान) के व्यक्तिवाचक नाम में यह उपलब्ध होता है (ऐतरेय ब्रा० ५।३०)। इसी प्रसङ्ग में 'पुर्' शब्द के अर्थ को समझ लेना जरूरी है। रामायण-काल में 'पूर्' या 'पुर' प्रत्यक्षरूप से नगर का ही बोधक प्रतीत होता है, परन्तु वैदिक काल में यह प्रयोग सार्वत्रिक था या नहीं ? यह जानना कठिन है। 'पुर' से अभिप्राय 'किला' लिया जाता है जिसे वेदकालीन राजाओं ने अपने निवास स्थान को शत्रुओं से बचाने के लिए बना रखा था। बड़े-बड़े गाँवों में किलाबन्दी की जाती थी। पुर बहुत विशाल हुआ करते थे, क्योंकि एक मन्त्र में (ऋ० १।१८९।२) इसे पृथ्वी (विस्तृत) तथा उर्वी (विशाल) बतलाया गया है। किले पत्थर के बनाये जाते थे[1]। (अश्मन्मयी) लोहे के बने (आयसी) किलों के इन्द्र के द्वारा ध्वस्त किये जाने का उल्लेख ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में किया गया है[2]। (ऋ० १।५८।८, २।२०।८, ४।२७।१: १०।१०१।८)। इन पुरों को गोमती (गो–समन्वित–अथर्व ८।६।२३) कहने से प्रतीत होता है कि इनमें मनुष्यों के अतिरिक्त गायें भी रहा करती थीं। दस्युओं के पुरों के लिए शारदी (शरत्कालीन) शब्द का व्यवहार सूचित करता है कि ये लोग आर्यों से युद्ध में अपनी रक्षा के लिए शरत्काल में इनमें निवास करते थे। सौ दीवाल वाले (शतभुज) किलों का निर्देश ऋग्वेद के दो स्थलों पर किया गया है[3]। आर्य और दास सरदार अपने प्रबल शत्रुओं से रक्षा करने के उद्देश्य से अनेकों किलों की रचना भिन्न-भिन्न स्थानों पर किया करते थे। पिप्रु, चुमुरि, धुनि आदि दासजातीय सरदारों के विपुल पुरों के उल्लेख करने के अतिरिक्त ऋग्वेद ने स्पष्टतः प्रतापी दासराज शम्बर के ९०, ९९ या १०० किलों के इन्द्र के द्वारा ध्वस्त किये जाने का वर्णन किया है। पिछली संहिताओं और ब्राह्मणों ने किलों पर शत्रुओं द्वारा घेरा डालने की बात लिखी है। ऋग्वेद ने इस कार्य से अग्नि के प्रयोग करने का उल्लेख किया है। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि वैदिक आर्यों तथा दासों ने आत्मरक्षा के लिए किलों का निर्माण पत्थर आदि कड़े और टिकाऊ साधनों से किया था।

---

१. शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्।
दिवोदासाय दाशुषे ॥ ऋ० ४।३०।२०।

२. प्रति यदस्य वज्रं बाह्वोर्धुर्हत्वी दस्यून् पुर आयसीर्नि तारीत्।
(ऋ० २।२०।८)

३. शतभुजिभिस्तमभिहुतेरघात् पूर्भी रक्षता मरुतो यमावत।
(ऋ० १।१६६।८)

पुर

वैदिक ग्रन्थों में 'पुर्' तथा 'पुर' दोनों शब्द मिले रहते हैं, परन्तु दोनों के अर्थ में तनिक पार्थक्य सा प्रतीत होता है। त्रिपुर (तैत्ति० सं० ६।२३; शत० ६।३।३।२५; ऐत० २।११) तथा महापुर (तै० सं० ६।२।३।१; ऐत० १।२३।२) शब्द निःसन्देह किसी बड़े निवास स्थान के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। 'त्रिपुर' का संकेत उस शहर से जान पड़ता है जिसमें किलाबन्दी की तीन कतारें खड़ी की गई थीं; 'महापुर' तो निश्चय ही किसी बृहत् आकार वाले, किलाबन्दी किये गये नगर को बतलाता है। ये शब्द उस काल में प्रयुक्त किये गये हैं जब आर्य लोग बड़ी जातियों की प्रधान राजधानियों से परिचित हो चले थे। इस युग में वे काम्पिल (पाञ्चालों की राजधानी), आसन्दीवन्त (कुरु राजधानी) तथा कौशाम्बी नगरियों से भली-भाँति परिचित हो गये थे। 'एकादशद्वारं पुरं' तथा 'नवद्वारं पुरं' का औपनिषद उल्लेख इसी सिद्धान्त को पुष्ट कर रहा है। इन शब्दों में शरीर की उपमा नौ द्वारवाले या ग्याहर द्वारवाले पुर से दी गई है, परन्तु जब तक आर्यों ने इतने दरवाजा वाले बड़े नगरों को न देखा होगा, तब तक ऐसी उपमा के प्रयोग करने का अवसर ही न आया होगा। उपमा का प्रयोग वास्तविक आधार से विरहित नहीं हो सकता। प्राचीन काल में (जैसा मेगास्थनीज के वर्णन तथा आजकल उपलब्ध खँड़हरों से जान पड़ता है। बड़े नगरों में ४, ८, १२ या चार के द्वारा विभाज्य संख्यावाले मुख्य द्वार हुआ करते थे, जो एक दूसरे से सड़कों के द्वारा मिले रहते थे। इन चारों नगर-द्वारों के एकत्र मिलने का स्थान 'चतुष्पथ' (चौक) कहलाता था। उपनिषत्काल में ऐसे पुरों की सत्ता सर्वतोभावेन विद्यमान थी जिनके नमूने पर शरीर की समता अधिक दरवाजे वाले पुरों से की गई है।

नगर का प्रयोग आजकल साधारण रीति से बड़े-बड़े शहरों के लिए किया जाता है, परन्तु महाभारत-काल में इसका मुख्य अभिप्राय राज्य की राजधानी से ही था। और यह विशिष्ट अर्थ प्राचीनकाल से चला आता प्रतीत होता है। आरण्यक ग्रन्थ में नगर शब्द की उपलब्धि से यह अनुमान लगाना कि संहिता-काल में नगरों का अभाव था सुसंगत नहीं प्रतीत होता। जब जंगल में रहने वाले (आरण्यक) ब्राह्मणों के हृदय में भी नगरों के लिए पक्षपात था, तब तो निश्चित ही यह एक प्राचीन संस्था जान पड़ती है। व्यक्ति-वाचक नाम में 'नगरिन्' शब्द का ब्राह्मण-ग्रन्थ में किया गया उल्लेख इस बात का प्रत्यक्ष साक्षी है कि ब्राह्मण युग में नगर—राजकीय राजधानी—या कम-से-कम बड़े शहर—की

प्रतिष्ठा हो चुकी थी। राजाओं ने अपने तथा राजकर्म में सहायक 'वीरों' अथवा 'रत्नियों' के उपयुक्त बड़े-बड़े मकानों को बनाकर नगर को सुसज्जित किया था। राजा के लिए अपना विशिष्ट महल हुआ करता था जिसमें अनेक खम्भे हुआ करते थे। ऋग्वेद में राजा वरुण के बृहदाकार प्रासादों का वर्णन स्पष्ट शब्दों में किया गया है। राजा वरुण का महल (सदस् तथा गृह) बहुत ही बड़ा विशाल-काय प्रतीत होता है, क्योंकि उसमें हजार खम्भे (सहस्रस्थूण) लगे थे[1] और वह सहस्रद्वारों से अलङ्कृत किया गया था[2]। यह कल्पना निराधार नहीं हो सकती है। वैदिक राजाओं के महल भी इसी प्रकार लम्बे-चौड़े हुआ करते थे। ऐसे महलों के वास्ते 'हर्म्य' शब्द प्रयुक्त किया गया है। ऋग्वेद (७।५६।१६) ने महल की अटारी पर खड़े होने वाले (हर्म्येष्ठा) राजा का उल्लेख किया है, जो सम्भवतः पिछले राजाओं के समान अपने महल के झरोखे से अपनी प्रजाओं को दर्शन दिया करता था। 'प्रासाद' शब्द तो अवान्तर-वैदिक काल के ग्रन्थों में मिलता है, परन्तु राजमहल की विशिष्टता की पर्याप्त सूचना ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलती है। शतपथ (१, ३, २, १४) में उल्लिखित 'एकवेश्मन्' (प्रधान गृह) शब्द से प्रकट होता है कि राजा का महल साधारण लोगों के घरों की अपेक्षा अधिक ऊँचा, भड़कीला तथा प्रभावशाली हुआ करता था। इतने स्पष्ट प्रमाणों के रहते यह अनुमान करना कि वैदिक काल में बड़े-बड़े नगरों की सत्ता नहीं थी, संगत नहीं प्रतीत होता। वैदिक युग में ग्राम्य जीवन की सादगी के साथ-साथ नगर जीवन की मनोरम आभा हमारे विस्मय-मिश्रित आनन्दोल्लास की जननी है।

वैदिक ग्राम

वैदिक ग्राम आवश्यक सामग्रियों से परिपूर्ण रहता था। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे अन्य ग्रामों की किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं थी। ग्राम के निवासी आर्य लोग अन्नादि भोज्य-पदार्थ कृषि-कर्म से तथा दूध घी दही आदि पदार्थ पशुपालन से उत्पन्न करते थे। गाँवों में भेड़ें तथा बकरियाँ पाली जाती थीं जिनके ऊन के कम्बल जाड़े में शीत-निवारण के लिए ओढ़े जाते थे।

---

१. राजानवभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे।
सहस्रस्थूण आसते ॥ (ऋ० २।४१।५)

२. बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः।
सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ॥ (ऋ० ७।८८।५)

रूई की पैदावार भी खूब होती थी, रूई के सूत से बढ़िया से बढ़िया कपड़े बुने जाते थे। बुनने का काम अधिकतर स्त्रियों के ही सुपुर्द रहता था[1]। प्रेममयी माता अपने पुत्र के लिए कपड़ा बुनकर पहनाया करती थी[2]। बढ़ई लोग युद्ध-यात्रा के तथा मनोविनोद के प्रधान सहायक रथ को बनाते थे, तथा आर्यों की गृहस्थी की उपयोगी काठ की चीजें तैयार करने में लगे रहते थे। लोहार (कार्मार) हल तथा फाल की तैयारी में व्यस्त रहता था। कुम्हार (कुलाल) कलश, कुम्भ, उखा (रसोई का बरतन) आदि मिट्टी की चीजें बनाता था। पानी तथा मधु रखने के लिए कुछ लोग चाम (अजिन) को साफ करके उससे बड़े-बड़े बर्तन बनाते थे जो 'दृति' कहे जाते थे। ऐसे लोगों का नाम चर्मम्न (ऋ० ८।५।३८) दिया गया है। प्रत्येक ग्राम में हजाम (वप्ता ऋ० १०। १४२।४) होते थे जो आर्य लोगों की हजामत बनाया करते थे। इन अत्यावश्यक पेशावाले लोगों के सिवाय दवा देकर रोगों को दूर करनेवाले डाक्टरों (भिषक् ऋ० २।३३।४) का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। एक मन्त्र में ऋषि ने हँसी में कहा है कि वैद्य लोग बीमार की ही खोज में लगे रहते हैं—यह कथन उस समय सत्य भले ही न हो, परन्तु आज कलके वैज्ञानिक युग में तो यह नितान्त सत्य है। वैदिक काल में आयुर्वेद ने जितनी उन्नति कर ली थी, वह आजकल के युग के लिए भी निःसन्देह आश्चर्यजनक है। वैदिक ग्रामों में जीवन को रसमय बनानेवाले साधनों की कमी न थी। सामवेद इस बात का प्रधान साक्षी है कि उस समय आर्य-लोग संगीत-विद्या से सर्वथा परिचित थे। सोमयाग के अनुष्ठान के अवसर पर वैदिक ऋषियों के कलकण्ठ से निकला हुआ सामगान मण्डप भर में गूँज उठता था, तथा वायुमण्डल को मनोरम स्वरलहरी से संगीतमय बनाता हुआ प्रस्तुत देवता को प्रसन्न करने में सर्वथा समर्थ बनता था। ऋग्वेद के मण्डलों में कथनोपकथन से संवलित अनेक सूक्त उपलब्ध होते हैं जिन्हें 'संवादसूक्त' कहते हैं। जर्मन विद्वान् डा० श्रोयदर की सम्मति में ये वस्तुतः नाटकीय संवाद हैं जिनका यज्ञों के अवसर पर आवश्यक सामग्री जुटाकर सचमुच

---

१. तन्तुं ततं संवयन्ती समीची यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती।

(ऋ० २।३।६)

२. वितन्वते धियो अस्मा अपांसि

वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति ॥

(ऋ० ५।४७।६)

अभिनय किया जाता था। इस प्रकार वैदिक ग्राम जीवन की आवश्यक सामग्रियों के लिए किसी दूसरे पर अवलम्बित न रहकर पूर्णतया स्वावलम्बी था।

वैदिककालीन गृह

वैदिक मन्त्रों में घर के अर्थ को सूचित करनेवाले गृह, आयतन, पस्त्या, वास्तु, हर्म्य, दुरोण आदि अनेक शब्द उपलब्ध होते हैं जो गृह की विशिष्टता को लक्ष्य कर प्रयुक्त किये गये हैं। चारों ओर दीवालों से घिरे रहने के कारण घर 'आयतन' कहलाता है, तथा दरवाजा होने के कारण उसे 'दुरोण' के नाम से पुकारते थे। निवास स्थान के अर्थ में वास्तु तथा पस्त्या का प्रयोग किया जाता था। 'सुवास्तु' तथा 'वास्तोष्पति' शब्दों में वास्तु घर बनाने के स्थान को भी लक्षित करता है जो इस शब्द का कालान्तर में गृहीत अर्थ है। इन घरों में वैदिक आर्यों के कुटुम्ब रहते थे और रात के समय गायें तथा भेड़ें भी रहती थीं। घरों में बहुत से कमरे हुआ करते थे, तथा आने जाने के लिए दरवाजा (द्वार) भी बने रहते थे, जिनके कारण घर की ही 'दुरोण' संज्ञा हो गई थी। आर्यों के रहने के निमित्त निर्मित गृहों के अतिरिक्त राजाओं के महल, सभा के भवन, अध्यापन कार्य के लिए आचार्यों के परिषद् के भवन की स्वतन्त्र स्थिति तथा विशिष्ट रचना के द्योतक अनेक निर्देश मन्त्रों में पाये जाते हैं।

गृह-निर्माण

घरों के बनाने के लिए बाँस, मिट्टी, लकड़ी-पत्थर और पके हुए ईंट प्रधान सामान थे। अथर्व वेद के दो सूक्तों (३।१२, ९।३) में गृह-निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है, परन्तु इन मन्त्रों में प्रयुक्त परिभाषिक शब्दों की दुर्ज्ञेयता के कारण रचना-पद्धति का यथार्थ विवेचन करना कठिन प्रतीत होता है, तथापि वैदिक गृहों की विशिष्टताओं से हम भलीभाँति परिचित हो जाते हैं। वैदिककालीन गृहों की विशिष्टता इस प्रकार है—(१) घर बनाने के लिए लकड़ी के खम्भे (उपमित) गाड़े जाते थे, जिनपर सीधी या आड़ी धरनें (प्रतिमित और परिमित) रखी जाती थीं। इन धरनों के ऊपर बाँस (वंश) के बड़े-बड़े लट्ठे रखे जाते थे और इन बासों के ऊपर 'अक्षु' रखा जाता था। बाँस के टुकड़े काटकर छाजन बनाने का काम लिया जाता था। इन टुकड़ों से ऊपर का छत पाट दिया जाता था। इन्हीं को 'अक्षु' कहा जाता था। अक्षु को (सहस्र चक्षु) हजार आँखोंवाला कहने का अभिप्राय यही जान पड़ता है कि इनमें बहुत से छेद धूम आदि के निकलने के लिए हुआ करते थे। आजकल की भाषा में 'अक्षु' को पाटन कह सकते हैं। इसके ऊपर छाजन

(छदिः) के लिए 'पलद' तथा 'तृण' (घास-फूस) रखे जाते थे। इसके अनन्तर पूरे ठाट को तरह-तरह की रस्सियों से बाँध दिया जाता था जिसे 'नहन', 'प्राणाह', 'संदंश', 'परिष्वञ्जल्य' नामों से पुकारते थे। इस प्रकार के घरों में बाँस और घास-फूस ही का प्रयोग किया जाता था; दूसरे प्रकार के घरों में लकड़ी का विशेष उपयोग किया जाता था। लकड़ी के मकानों में खम्भों (स्कम्भ, स्थाणु, स्थूणा) की बहुलता एक विशिष्ट चीज थी। वैदिक काल में राजमहलों मे हजार खम्भे तक होते थे, तथा इतने विशाल प्रासाद में आने जाने के लिए हजार दरवाजे तक बनाये जाते थे। मिट्टी के गृह (मृण्मयं गृहम्) भी बनाये जाते, तथा पत्थरों और ईंटों का भी उपयोग कर वैदिक आर्य लोग विविध आकार के लम्बे-चौड़े मकान बनाने में कभी नहीं चूकते थे।

वैदिक घरों में आवश्यकतानुसार अलग-अलग कमरे हुआ करते थे। इस प्रसंग में हविर्धान; अग्निशाला, पत्नीनां सदनम्, तथा सदस्—इन चार शब्दों का उल्लेख मिलता है, जो यज्ञ के प्रसग में मुख्यतया निर्दिष्ट होनेपर भी साधारण घरों के सम्बन्ध मे भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं। इससे प्रतीत होता है कि उस काल में घरों के चार विभाग हुआ करते थे—(१) **अग्निशाला**—वह कमरा जिसमें अग्नि जलाई जाती, तथा विभिन्न अग्नि कुण्डों मे देवताओं के लिए होम किया जाता था; (२) **हविर्धान** = भाण्डार गृह, जिसमें घर गृहस्थी के नित्य खर्च तथा यज्ञ याग की चीजें एकत्र रखी जाती थीं। (३) **पत्नीनां सदनम्** = अन्तःपुर, जनाना। यह बहुत ही भीतर हुआ करता था, जिनमें स्त्रियाँ स्वच्छन्दतापूर्वक अन्य घर वालों की आँख से ओझल होकर रह सकती थीं (गुहा चरन्ती योषा—ऋ० १।१६७।३)। दूसरे कमरों में आने-जाने में स्त्रियों के लिए कोई रुकावट न थी, परन्तु बाहर जाने के समय विवाहित स्त्रियाँ चादर या दुपट्टे से अपने शरीर को ढँक लिया करती थीं[1]। (४) **सदस्** = बैठने का स्थान; बाहरी दालान जिसमें पुरुषवृन्द एकत्र होकर सोते, बैठते या बातचीत किया करते थे। इनके कमरों के सिवाय पशुओं के रहने के भी अलग कमरे होते थे, जो 'शाला' या 'गोत्र' कहे जाते थे। उत्सव तथा यज्ञों में आने वाले अतिथियों और निमन्त्रित व्यक्तियों, विशेषतः ब्राह्मणों के रहने के लिए भी अलग घर होता था जो 'आवसथ' (= अतिथि शाला) कहलाता (अथर्व०

---

१. अयमुत्वाविचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः प्र सोम इन्द्र सर्पतु।

(ऋ० ८।१७।७)

९।६।५)। आजकल की धर्मशाला के समान 'आवसथ' में यात्रियों के रहने तथा आराम करने का पूरा प्रबन्ध रखा जाता था। इसका विस्तृत वर्णन सूत्र-ग्रन्थों (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ५।९।३; धर्मसूत्र २।९।२५।४) में दिया गया है। ऋग्वेद (६।४६।९) मन्त्र[1] के सायणभाष्य के आधार पर उस समय घरों में तीन आँगन या खण्ड हुआ करते थे। इस मन्त्र के 'त्रिधातु' का अर्थ सायण ने 'त्रिभूमिकम्' किया है। इससे वैदिक गृहों के विस्तृत तथा लम्बे-चौड़े होने की बात पुष्ट होती है।

अपने गृहों की रक्षा करने के निमित्त ऋग्वेद में 'वास्तोष्पति' देवता की कल्पना की गई है और उनकी स्तुति दो सूक्तों (७।५४,५५) में की गई है। वास्तोष्पति से प्रार्थना की गई है कि आर्यों का निवास शोभन तथा रोगहीन हो, द्विपद तथा चतुष्पद का कल्याण हो, गायों और घोड़ों के द्वारा समृद्धि को बढ़ाओ तथा सदा जवानी का अनुभव करते हुए हम लोग आपके मित्र बने रहें और पुत्रों के प्रति पिता के समान तुम हम लोगों पर सदा प्रीतियुक्त बने रहो[2]।

वैदिक कालीन आर्य अपने घरों को सूत्र से मापते थे (धाम ममे)। इस अर्थ में निमित एवं मित शब्दप्रयुक्त हैं (अ० वे० ९।३।१९)। बड़े मापन को मित कहते थे एवं अवान्तर भागों को सूत से मापते थे। स्तम्भ के अधिष्ठान बुनियाद का भी उल्लेख मिलता है (ऋ० १०।४४)। ऋग्वेद ३।८।३ में वर्ष्मन् शब्द बड़े खम्भे या लाट की ऊँचाई के लिए प्रयुक्त है। बड़े माप वाले गृह को बृहन्त मान (ऋ० ७।८८।५) तथा सामान्य गृह को शाला कहते थे। महाशाला शब्द का प्रयोग उपनिषदों में मिलता है। घर में कई पाख (पक्ष या भित्ति) भी होते थे, जिनके आधार पर द्विपक्ष, चतुष्पक्ष, षट्पक्ष गृहों का उल्लेख मिलता है (अ० वे० ९।३।२१)। घर में छतों से लटकते हुए सिकहर या छींके (शिक्य) का भी उल्लेख मिलता है (अ० वे० ९।३।६)। कोठे के अन्दर कोठे या कोठरी का भी उल्लेख है (कुलाये अधिकुलायम् ९।३।२०)। शाला को बृहच्छन्दाः भी कहा गया है (अ० वे० ३।१२।३), उसे दृढ़ एवं स्थायी बनाने के लिए उसकी

---

१. इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत्।
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः॥

(ऋ० ६।४६।९)

२. वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व॥

(ऋ० ७।५४।२)

नींव भी परिपक्क रखी जाती रही होगी (इहैव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शाले—अ० वे० ३।१२।२)। ओपस का भी उल्लेख मिलता है, जो स्तूपिका के आकार का होता था (ओपसे विततं सहस्राक्षं विषुवति—अ० वे० ९।३।८)। विषुवत् या नलदण्ड के ऊपर हजार नेत्रों या छेदों वाले ओपस या स्तूपिकाओं का यहाँ स्पष्ट वर्णन है। घर को पर्याप्त अलंकृत किया जाता था; उसकी उपमा अलंकृत हथिनी से दी गई है (अ० वे० ९।३।१०)।

शतपथ-ब्राह्मण में घर के दो भागों का उल्लेख है। एक पूर्वार्ध या सदस् और दूसरा उत्तरार्ध या पत्नी-सदन। इन भागों की उपमा पुरुष या स्त्री के अङ्गों से दी गई है। उत्तरार्ध भाग के पृथुश्रोणी स्त्री के समान होने पर सुन्दर माना गया है (श० ब्रा० ५।१।१९), अर्थात् उसके पिछले मध्य-भाग को विशाल बनाने की सलाह दी गई है। नाप के लिए पैरों से चलकर भी पद-गणना की जाती थी। शाला का मुख-मण्डप उसकी नासिका थी, जिसे बाद में अलिन्द कहा जाने लगा। शतपथ-ब्राह्मण (३।६।३) में कहा गया है कि देवों को पूर्व-पश्चिम का विन्यास रुचिकर था और मनुष्य उत्तर-दक्षिण के विन्यास को अधिक पसन्द करते थे। इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक वास्तु-विन्यास विकसित, स्पष्ट और सरल था। साथ ही वे तत्त्व भी उसमें विद्यमान थे जो ऐतिहासिक युग की वास्तु-कला में पाये जाते हैं।

घरेलू सामान

वैदिक घरों में नित्य काम में आने वाली चीजें सीधी-सादी उपयोगी तथा नाना प्रकार की हैं। उनके प्रयोग करने से उस समय की उन्नत भौतिक दशा का परिचय भली-भाँति लगता है। बैठने तथा लेटने के अनेक आसनों का वर्णन मिलता है, जो सामाजिक अवस्था की उन्नति के साथ-साथ सीधे-सादे से अलंकृत और परिष्कृत होते गये हैं। याज्ञिक अनुष्ठान के अवसर पर कुश के बने हुए 'प्रस्तर', 'बर्हि' तथा 'कूर्च' का उपयोग किया जाता था। बैठने और लेटने के लिये चटाइयाँ बनाई जाती थीं। 'कशिपु' (सेज) पत्थर से कूट कर तैयार नर-कट (नड) से तथा 'कट' (बेंत) से बनाई जाती थी। समाज के धन-सम्पन्न होने पर इन चटाइयों में सोने-चाँदी की सम्भवतः झालर लगाने की चाल पीछे चल पड़ी थी। राजा के 'अश्वमेध' के अवसर पर जिस 'हिरण्यकशिपु' (सोने की चटाई) पर बैठने की चाल थी वह अवश्य ही सोने के सूतों से बनी हुई बहुत ही चमकीली होती थी।

तल्प—वैदिक काल के अन्तःपुर में स्त्रियों के वास्ते अनेक प्रकार के विस्तर और आसन काम में लाये जाते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में 'तल्प' 'प्रोष्ठ' तथा 'वह्य' पर लेटकर आराम करनेवाली स्त्रियों का उल्लेख किया गया है। ये तीनों आसन थे जो अपनी रचना और सजावट के कारण भिन्न-भिन्न हुआ करते थे। 'तल्प' साधारण खटिया न होकर वह बेशकीमती पलङ्ग है जिस पर वर-वधू नव समागम के शुभ अवसर पर सोते-बैठते थे। अथर्व वेद के विवाह सूक्त (१४।२।३१) में[1] वधू को प्रसन्नचित्त होकर 'तल्प' पर आरोहण करने तथा पति के लिये प्रजा उत्पन्न करने का मङ्गलमय उपदेश दिया गया है। शतपथ-ब्राह्मण (१३।१।६।२) में नियमतः उत्पन्न पुत्र की 'ताल्प' संज्ञा दी गई है, तथा छान्दोग्य (५।१०।९) में पञ्च पातकियों में गुरुतल्प-सेवी की भी गणना है[2]। इससे स्पष्ट है कि 'तल्प' वैवाहिक शय्या है जिस पर आरोहण करने का अधिकार वर-वधू को ही है। पवित्र उदुम्बर (गूलर) की लकड़ी से इसके रचना-विधान से भी इसी बात की पुष्टि होती है।

प्रोष्ठ—ऋग्वेद बड़े महल (हर्म्य) में 'प्रोष्ठ' पर लेटने वाली स्त्रियों का उल्लेख करता है (प्रोष्ठशया—ऋ० ७।५५।८)। यह बड़ा ऊँचा, काठ का बना बेंच जाना पड़ता है। इसके सुडौल बने दो पैर होते थे और सम्भवतः दीवाल का सहारा लेकर यह खड़ा किया जाता था। अथर्व के एक मन्त्र से जान पड़ता है कि वधू को अपने पति के घर जाने के समय तकिया तथा तैल के साथ एक पेटी दी जाती थी[3]। बहुत सम्भव है कि वह कोश (पेटी) इसी प्रोष्ठ के रूप में होती हो जो पेटी और तकियादार पलंग दोनों का संमिश्रण सा जान पड़ता है।

वह्य—यह स्त्रियोपयोगी सुखद आसन था। 'वह्य' शब्द से प्रतीत होता है कि यह एक स्थान से दूसरे स्थान पर ढोकर लाया जाता था। बहुत सम्भव है कि इसके दोनों ओर बाँस लगे रहते थे और ऊपर चँदवे से ढका रहता था। आज

---

१. आरोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै।

२. स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा च।
एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरँस्तैरिति॥
(छा० ५।१०।९)

३. चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम्॥
(अथर्व १४।१।६)

कल की 'डोली' या 'पालकी' वैदिक 'वह्य' की अर्वाचीन प्रतिनिधि जान पड़ती है। अथर्ववेद के अनुसार वधू थक जाने पर 'वह्य' पर चढ़ती थी[1]। एक दूसरे सूक्त में 'वह्य' का उपयोग विवाह के अवसर पर किये जाने का उल्लेख है। वह्य लकड़ी का बना होता था, जिस पर नाना प्रकार की रमणीय आकृतियाँ खोदी जाती थीं और सुनहली कलाबत्तू की गई चादर बिछाई जाती थी[2]। इतनी कीमती शय्या पर वधू वर के साथ विवाह के अवसर पर सोती थी। आसन्दी का भी विवाह के अवसर पर उल्लेख मिलता है, परन्तु 'वह्य' आसन्दी तथा तल्प दोनों से भिन्न बेशकीमती एवं सुसज्जित पलँग जान पड़ता है, जो आवश्यकतानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी डोली के समान लाया जाता था।

आसन्दी—ऋग्वेद में आसन्दी का उल्लेख नहीं है, परन्तु पिछली संहिताओं (अथर्व १५।३; वाज० सं० ८।५६) और ब्राह्मणों (विशेषतः ऐतरेय और शतपथ) में इसका विस्तृत वर्णन तथा उपयोग उपलब्ध होता है। इन ग्रन्थों के अनुशीलन से राजा-महाराजाओं के द्वारा अभिषेक आदि विशेष अवसरों पर प्रयुक्त यह एक आराम देनेवाली गद्दी या गद्दीदार आरामकुर्सी जान पड़ती है। पर्यङ्क आसन्दी का ही विस्तृत रूप था जिसे धनाढ्य लोग—शासक वर्ग—बैठने और सोने दोनों काम के लिए प्रयोग में लाते थे। 'आसन्दी' राज्यसिंहासन सी प्रतीत होती है और वैदिक निर्देशों के अनुशीलन से उसकी निर्माण-विधि का भी पर्याप्त परिचय मिल जाता है।

अथर्व (१५।३) में व्रात्यों (वैदिक धर्म से बहिष्कृत आर्यों) की आसन्दी का विशिष्ट वर्णन मिलता है—उसके चार पैर होते थे=दो आगे और दो पीछे; लम्बे तौर से दो काठ लगाये जाते थे, दो तिरछे तौर पर; लम्बाई और चौड़ाई में वह तन्तुओं से बिनी जाती थी। और उसके ऊपर थी एक चादर (आस्तरण), तकिया (उपबर्हण), गद्दादार आसन (आसद) और सहारा लेने की जगह (उपश्रय)। विवाह में प्रयुक्त 'आसन्दी' का विशेष वर्णन नहीं मिलता। शुक्ल-यजुर्वेद में भी आसन्दी का सम्बन्ध राजाओं के साथ है, 'राजसन्दी' शब्द से जान पड़ता है कि साधारण जनता भी अपने बैठने के लिए साधारण 'आसन्दी' का प्रयोग किया करती थी। ऐतरेय ब्रा० (८।५, ६) और शतपथ (५।४।४।१) में

---

१. सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव।—अथर्व ४।२०।३।

२. प्रोष्ठेशया वह्येशया नारीर्यास्तल्पशीवरीः।
स्त्रियो याः पुण्यगन्धास्ताः सर्वाः स्वापयामसि॥
(ऋ० ७।५५।८)

राज्याभिषेक के अवसर पर 'आसन्दी' के अंगप्रत्यङ्ग का विस्तृत सूक्ष्म वर्णन मिलता है जिससे अलङ्कारों से सुसज्जित राज्य-सिंहासन की विशिष्टता तथा गौरव का परिचय भलीभाँति हमें मिलता है[१]।

नाना प्रकार की घरेलू वस्तुओं के रखने के लिये मिट्टी और धातु के बने 'कलश', लकड़ी के बने 'द्रोण', चाम के बने 'दृति का प्रयोग प्रत्येक घर में होता था। सोने तथा चाँदी के बने चषकों (प्यालों) का प्रयोग धनाढ्य आर्यजनों के महलों में किया जाता था। यज्ञ के अवसर पर हविष्य पकाने के लिये 'उखा' तथा घरेलू अवसरों पर पकाने के लिए 'स्थाली' काम में लाई जाती थी। जाँत (दृषत् तथा उपल) से अनाज पीसे जाते थे। काठ के बने हुए ओखल (उलूखल) तथा मसूर (मूषल) से अनाज या सोमलता के कूटने का काम लिया जाता था। सूप (शूर्प) तथा चलनी (तितउ) से भूसी से अनाज को अलग किया जाता था। तैयार नाज को नापने वाला बर्तन 'ऊर्दर' कहलाता और उसकी सहायता से मापा गया नाज भण्डार (स्थीवि) में रखा जाता था। आवश्यकता के अनुसार स्थीवि से अनाज निकाला जाता और काम मे आता। चीजों को चूहा-बिल्ली से बचाने के लिए उन्हें शिक्य (छीका) पर लटका कर रखने की चाल उस समय भी थी (अथर्व० ९।३।६) धातु या मिट्टी के बर्तनों में सोने या चाँदी के सिक्के भर कर रखे जाते थे, और रक्षा के लिए उन्हें जमीन के नीचे गाड़ा भी जाता था (हिरण्यस्येव कलशं निखातम्—ऋ० १।११७।१२)। इन वस्तुओं के अतिरिक्त स्रुव्, जुहू आदि यागोपयोगी वस्तुयें भी प्रत्येक घर में याज्ञिक अनुष्ठान के निमित्त रखी जाती थीं। आर्य घरों में दास-दासियों की भी कमी नहीं रहती थी, जो अपने मालिक के लिए जरूरी काम करने में लगे रहते थे। दासियाँ आर्य-गृहपत्नियों को उनके घरेलू कामों में सहायता दिया करती थीं। वैदिक आर्यों की घरेलू चीजों तथा सामान को सरसरी निगाह से भी देखने वालों के लिए यह स्पष्ट है कि जीवन को सुखमय और सरस बनाने वाली आवश्यक सामग्री वैदिक घरों में नित्य सन्निहित रहती थी जिससे आर्यों का जीवन सादगी के साथ-साथ आनन्दोल्लास से भरा रहता था। वैदिक घर सादगी के पुतले थे, इसे मानने में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए।

---

१. रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम्।
आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम्॥

(अथर्व० १४।२।३०)

भोजन

वैदिक आर्यों का भोजन सीधा-सादा, स्वास्थ्यवर्धक तथा सात्विक होता था, जिसमें दूध और घी की प्रचुरता रहती थी। ऋग्वेद के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि भारतीयों का सबसे प्राचीन भोजन था जव की रोटी और चावल (धान) का भात। यव का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर किया गया है। 'व्रीहि' (चावल) शब्द ऋग्वेद में न आकर यजुर्वेद आदि संहिताओं में उल्लिखित मिलता है, तथापि प्राचीन आर्यों को हम चावल से अपरिचित नहीं मान सकते, क्योंकि इसका वाचक 'धान' या 'धान्य' शब्द ऋग्वेद में अवश्य ही उपलब्ध होता है। आजकल तर्पण आदि धार्मिक कृत्यों में तिल के साथ यव तथा धान के एकमात्र प्रयोग से यही सिद्ध होता है कि आर्यों के आदिम भोज्य पदार्थ होने के कारण ही इनमें हमारी पूज्य भावना अक्षुण्ण बनी हुई है। जव को जांत (उपल) में पीसकर रोटी (पंक्ति—ऋ० ४।१४।५) बनाई जाती थी, तथा धान को कूटकर और उसे पानी में उबालकर भात (ओदन) बनाया जाता था। नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन प्रकारों के भी पर्याप्त निर्देश मिलते हैं। जव के आटा में दही मिलाकर 'करम्भ' तैयार किया जाता था, जो पूषन् (आर्यों की पशुसम्पत्ति की रक्षा करनेवाले देवता) को उपहार के रूप में समर्पण किया जाता था। अपूप (पुआ) आटा तथा दूध से तैयार किया गया नितान्त स्वादु भोजन है।

भात के भी तरह-तरह के प्रकार थे। दूध के साथ पका हुआ चावल अत्यन्त स्वादिष्ट माना जाता था, तथा समय-समय पर यज्ञों में विशिष्ट देवताओं को भी अर्पित किया जाता था। आजकल की 'खीर' इसी वैदिक 'क्षीरौदन' की प्रतिनिधि है। दही डालकर चावल पकाया जाता था, जिसे 'दध्योदन' कहते थे। मूँग की खीचड़ी (मुग्दौदन) वैदिक आर्यों को भी हितकर और रुचिकर प्रतीत होती थी। नाना प्रकार की दालों से आर्य लोग अपरचित न थे। दालों में तीन दाल विशेष काम में आती थीं—मूँग (मुद्ग), उड़द (माष) तथा मसूरी (मसूर)। एक बात ध्यान देने की है कि अधिकांश भारतीयों का प्रधान खाद्य गेहूँ (गोधूम) ऋग्वेद में उल्लिखित नहीं है। इसका नाम पहले पहल वाजसनेयी संहिता (१८।१२) तथा तत्संबद्ध शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों में आता है। जान पड़ता है कि ऋग्वेद काल में सप्तसिन्धु प्रदेश इतना अधिक ठंढा था कि गेहूँ की पैदावार उसमें नहीं हो सकती थी। अवान्तर ब्राह्मणयुग में आर्यों के पूरब ओर बढ़ने पर इसकी खेती की जाने लगी। गोधूम के साथ ही व्रीहि का भी नाम पिछले ग्रन्थों में सर्वत्र मिलता है। जौ को आग में भूजकर सातू (सक्तु) बनाया जाता था, जिसे दूध में मिलाकर पीने की प्रथा उस समय प्रचलित थी।

वैदिक काल में दूध, दही और घी की महती प्रचुरता थी। हमने देखा है कि आर्यों के घर में सैकड़ों गायें पाली जाती थीं। अग्निहोत्र के लिए प्रत्येक ऋषि के दरवाजे पर गायें रहती थीं जिन्हें 'होम-धेनु' के नाम से पुकारते थे। ब्राह्मणों को दानशील सरदार और उदार राजाओं के घर से हजारों गायें दक्षिणा के रूप में मिलती थीं। अतः पशुपालन मे उस जमाने में दूध की कहीं कमी न थी। दूध को सोमरस में मिलाकर पीने की भी चाल थी। दही का उपभोग स्वतन्त्र रूप से भी भोजन में किया जाता था और सोमरस में इसे मिलाकर भी पीते थे। ऐसा दधि-मिश्रित सोम 'दध्याशीर' कहलाता था। दही को मथकर छाछ या मट्ठा (मन्था) बनाया जाता था, जो खाने या पीने के लिए व्यवहार में आता था। घी (घृत) का प्रचुर प्रयोग आर्यों के भोजन में हुआ करता था। घृत के नाना अवस्थाओं के बोधक शब्द वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं। दही से मथकर सद्यः निकाला गया घी कहलाता था 'नवनीत' (नैनू या लैनू); कुछ पिघला हुआ 'आयुत', बिल्कुल पिघला हुआ घी (विलीन) 'आज्य' तथा जमा हुआ (घनीभूत) घी 'घृत'। इनकी विशिष्टता का भी निर्देश मिलता है। ऐतरेय (१।३) के कथनानुसार आज्य देवताओं के लिए सुरभि (प्रिय) होता है, घृत मनुष्यों के लिए, आयुत पितरों के लिए और नवनीत गर्भ के लिए[1]। भोजन में आवश्यक होने के अतिरिक्त घृत यागानुष्ठानों में आहुति के लिए भी उपादेय था। भिन्न-भिन्न देवताओं के उद्देश्य से घी की आहुति आग मे दी जाती थी। इसलिए अग्नि ऋग्वेद में 'घृत-प्रतीक' (घी का रूप वाला), 'घृतपृष्ठ', घृत-प्रसन्न (घी से प्रसन्न)कहा गया है।

मांस-भोजन—उस समय आर्य लोग कतिपय जानवरों के मांस भी पकाकर खाते थे। सर्द मुल्क के रहनेवालों के लिए मांस का भक्षण नितान्त आवश्यक हो जाता है। वैदिक काल में आर्यों की निवासभूमि का जलवायु अत्यन्त शीत-प्रधान था, इसलिए 'वर्ष' की सूचना देने के लिए ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों[2] (१।६४।१०; २।१।११;५।५४।१५) में 'हिम' (पाला, शीत) का प्रयोग किया गया है। अतः जलवायु की विशिष्टता पर ध्यान देनेवालों को यह जानकर आश्चर्य न होगा कि विषम ऋतु के प्रभाव से अपनी रक्षा के निमित्त आर्यलोग कभी-कभी घृतपक्व भोजन के साथ-साथ मांस का भी सेवन करते थे।

---

१. आज्यं वै देवानां सुरभि, घृतं मनुष्याणामायुतं पितृणां
नवनीतं गर्भाणां —ऐत० ब्रा० १।३।

२. तद्वो यामि द्रविणं सद्यऊतयो येना स्वर्ण ततनाम नॄँ रभि।
इदं सु मे मरुतो हर्यता वचो यस्य तरेम तरसा शतं हिमाः॥
(ऋ० ५।५४।१५)

फल—वैदिक लोग फलों को भी खाया करते थे, परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि ये फल बगीचों में पैदा किये जाते थे अथवा स्वयं जंगलों में उगा करते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन्द्र के द्वारा कामनाओं को पूर्ण करनेवाले धन देने की तुलना अंकुश लेकर पक्के फलों को गिराने से दी गई है। जंगलों में स्वादिष्ट फलों के उगने का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद दोनों प्रकार की—फूलने फलनेवाली और न फूलने न फलने वाली ओषधियों से परिचित है। किन्हीं ओषधियों में रोग निवारण की शक्ति थी और इस काम के लिए उनका प्रयोग किये जाने का उल्लेख है[1]। वैदिक आर्यों को बेर का फल प्यारा जान पड़ता है, क्योंकि इसके अनेक प्रकारों का उल्लेख मिलता है। बेर के साधारण शब्द हैं बदर और कर्कन्धु, पर कोमल बदरी फल को 'कुवल' के नाम से पुकारते थे (वाज० सं० १४।२२)। पिप्पल के स्वादिष्ट फल के खाने का भी स्पष्ट उल्लेख है (ऋ० १६।१६४।२०)।

भोजन को मीठा बनाने के लिए 'मधु' का प्रयोग किया जाता था। मधु देवताओं को भी समर्पित किया जाता था। आर्य लोग गन्ने से भली-भाँति परिचित थे। इक्षु (ईख) का उल्लेख ऋग् (९।८।६।१८), अथर्व (१।३४।५) में और इक्षु-काण्ड का मैत्रायणी संहिता (४।२।२) में मिलता है, परन्तु इसकी खेती होती थी या यह प्राकृतिक रूप से पैदा होता था यह ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता। शर्करा (चीनी) शब्द के उल्लेख न होने से बहुत संभव है कि ईख का काम चूसने में ही आता था, उसका रस निकाल कर गुड़ या चीनी नहीं बनाया जाता था। ऋग्वेद में 'लवण' का उल्लेख न पाकर कतिपय विद्वान् आर्यों को नमक से अनभिज्ञ बतलाते हैं, परन्तु इस अनुल्लेख से अभाव का अर्थ निकालना उचित नहीं प्रतीत होता। आर्यों का निवास उस प्रदेश में था जहाँ नमक का पहाड़ विद्यमान था। नमक उस देश में एक साधारण सी चीज थी—इतनी साधारण कि इसके साहित्यिक उल्लेख की योग्यता ही नहीं समझी गई। यह आवश्यक नहीं कि समस्त ज्ञात वस्तुओं की सत्ता ग्रन्थ-निर्दिष्ट होने पर ही स्वीकृत की जाय। ऋग्वेद कोई भोज्य पदार्थों का रजिस्टर नहीं ठहरा कि उसमें आटा-दाल, नमक-मिर्च का उल्लेख होना ही चाहिए। अतः ऋग्वेदी आर्यों को लवण से अपरिचित बतलाना प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। लवण का उल्लेख अथर्व (७।७६।१), शतपथ (५।२।१।१६), छान्दोग्य (४।१७।७) तथा बृहदाकारण्यक (२।४।१२) में अनेकशः किया गया है।

---

१. वृक्षं पक्वं फलमङ्कीव धूनुहीन्द्र सम्पारणं वसु ॥

(ऋ० ३।४५।४)

पेय—सोम और सुरा

वैदिक आर्यों का प्रधान पेय सोमरस था जिसे वे अपने इष्ट देवता को अर्पित कर स्वयं पीते थे। यज्ञों के अवसर पर सोमरस का सेवन तथा भिन्न-भिन्न देवताओं को समर्पण एक महत्त्वपूर्ण व्यापार था। सोम पर्वतों पर, विशेषतः मूजवत् पर्वत पर उगता था। वहाँ से यह लाया जाता था, तथा पत्थरों (ग्रावा) से कूट कर इसका रस निकाला जाता था। कभी-कभी इस काम में ओखल तथा मूशल की भी सहायता ली जाती थी। तब पानी मिलाकर उसे भेड़ों के ऊन के बने 'पवित्र' से छाना जाता था। सोमरस का रंग भूरा (बभ्रु), लाल (अरुण, अरुष) बतलाया गया है और इसका गन्ध नितान्त सुरभि। मधुरता की प्रचुरता के लिये इसमें दूध मिलाते थे, जिसे 'गवाशीर' कहते थे। कभी-कभी दही (दध्याशीर) या जव का सत्तु (यवाशीर) भी मिलाकर देवार्पण करने की चाल थी। इसके पीने से शरीर भर में विचित्र उत्साह आ जाता और मन में एक प्रकार की मोहक मस्ती छा जाती थी। यही कारण है कि ऋषियों ने सोम की स्तुति में सैकड़ों शोभन सूक्तों की रचना की है। ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम के प्रशंसा-परक सूक्तों का अभिराम समुच्चय है। इस कारण इसे **'पवमान मण्डल'** की संज्ञा प्राप्त है। सोमरस के पान से उत्पन्न उल्लास की अभिव्यक्ति अनेक मन्त्रों में अत्यन्त रमणीय कल्पना के सहारे की गई है। सोमपान से इन्द्र के आनन्दोल्लास का कमनीय वर्णन ऋग्वेद के एक समूचे सूक्त (१०।११९) में किया गया है। "जिस प्रकार वेग से चलनेवाले घोड़े रथ को दूर तक खींच ले जाते हैं, उसी प्रकार ये सोम की बूँदें मुझे दूर तक खींचे ले जा रही हैं; क्या मैंने सोम का पान नहीं किया है? हन्त! मैं इस पृथ्वी को यहाँ रखूँगा। मैं बड़ों में बड़ा हूँ (महामहः); मैं इस संसार के नाभि (अन्तरिक्ष) तक उठा हुआ हूँ, क्योंकि मैंने सोम रस का पान किया है[1]।" इन्द्र के ये हृदयोद्गार प्रचुर सोमरस पान के सुखद परिणाम हैं। आर्यों के भी अपने उद्गार कम अभिराम नहीं हैं। प्रगाथ काण्व ऋषि आनन्द की मस्ती में कह रहे हैं—हमने सोम का पान किया है, हमने अमरत्व पा लिया है; ज्योतिर्मय स्वर्ग की प्राप्ति हमने कर ली है तथा वहाँ हमने देवताओं को जान लिया है—

---

१. अहमभि महामहोऽभिनभ्यमुदिषितः।
कुवित् सोमस्यापामिति॥

(ऋ० १०।११९।१२)

अपाम सोमममृता अभूमा-
गन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
(ऋ० ८।४८।३)

उपास्य और उपासक, देवता और यजमान के इन मनोरम उद्गारों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सोमरस के पीने से मानसिक उल्लास तथा शारीरिक स्फूर्ति की अवश्य उत्पत्ति होती थी। इसीलिए आर्य सैनिक लोग सोमरस का पान कर समराङ्गण में उतरा करते थे—(ऋ० ९।१०६।२)।

सोमरस जितना ही उत्साहवर्धक होने से श्लाघनीय था, सुरा मादकता उत्पन्न करने के कारण उतनी ही गर्हणीय थी। सुरा बहुत तेज, मादक मद्य सी प्रतीत होती है। साधारण जनता का यह पेय भले हो, परन्तु समाज के लिए यह सर्वथा अहितकारिणी मानी गई है, क्योंकि इसके प्रभाव से मनुष्य अपराध और अनिष्ट कर बैठते थे। इसीलिए सुरा की गणना मन्यु (क्रोध), विभीदक (जूआ) तथा अचित्ति (अज्ञान) के साथ अनिष्टोत्पादक वस्तु के रूप में की गई है (ऋ० ७।८६।६)[1]। वैदिक समाज ने सोम पान को उत्तेजना दी और सुरापान की पर्याप्त निन्दा की।

आर्यों की अन्न के प्रति भव्य भावना का पता हमें ऋग्वेद के एक सूक्त (१।१८७) से चलता है, जिसमें 'पितु' (अन्न-पान) की प्रशंसा स्मरणीय शब्दों में की गई है। अन्न की महिमा गाते हुए अगस्त्य ऋषि का यह कथन[2] कितना सारगर्भित है कि "हे अन्न! तुम्हीं में बड़े से बड़े देवताओं का मन स्थित है; तुम्हारे ही केतु के नीचे शोभन कार्यों का संपादन किया गया है; तुम्हारी सहायता से उन्हों (इन्द्र) ने सर्प को मारा है।" अन्न ही सुख देनेवाला है (मयोभूः), द्वेष रहित (अद्विषेण्यः), सुखोत्पादक, अद्वितीय मित्र (सखा सुशेवो अद्वयाः) है। अतः आर्यों ने अन्न से रक्षक बनने की बारम्बार प्रार्थना की है। सचमुच अन्न की महिमा अतुलनीय है!

---

१. न स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा।
सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः॥

२. त्वे पितो महानां देवानां मनो हितम्।
अकारि चारु केतुना तवाहिमवसाऽवधीत्॥
(ऋ० १।१८७।७)

वस्त्र और परिधान

वैदिक ग्रन्थों में परिधान के विषय में जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं वे इतने स्वल्प तथा विरल हैं कि उस समय की दशा का पूरा परिचय नहीं मिलता, परन्तु इधर-उधर बिखरे हुए निर्देशों को एकत्र कर इस विषय का साधारण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वैदिक आर्यों के वस्त्र और परिधान ऊनी, सूती और रेशमी हुआ करते थे। अजिन तथा कुश के बने वस्त्रों के पहनने की चाल यज्ञ के पवित्र अवसर पर थी जरूर, परन्तु यह वैदिक काल का साधारण परिधान न था। किसी प्राचीनकाल के परिधान की बहुमूल्य स्मृति के रूप में ही अजिन और कौश वस्त्र व्यवहृत किये जाते थे, साधारण अवसरों पर नहीं; प्रत्युत देवपूजा तथा अभिषेक सम्बन्धी दीक्षा के विशिष्ट, असाधारण और पवित्र अवसरों पर ही।

अजिन—किसी सुदूर प्राचीन काल में व्यवहृत होता था। सम्भवतः प्रथम अजिन वस्त्र बकरों के चर्म का बनता था, पीछे हरिणचर्म की चाल चली। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में अजिन-परिधान का उल्लेख है। मरुद्गण मृगाजिन पहने हुए वर्णित किये गये हैं (ऋ० १।६६।१०)। मुनि लोग भी इस परिधान का प्रयोग करते थे। बालखिल्य सूक्तों में एक स्थान (७।२।३) पर ऋषि कुश ने प्रस्कण्व राजा की दानस्तुति की है—जिसमें सौ सफेद बैलों, सौ बाँसों, सौ कुत्तों, चार सौ लाल घोड़ियों के साथ-साथ एक सौ विशुद्ध (कमाए हुए—म्लात) अजिन के दान की चर्चा की गई है। शतपथ-ब्राह्मण के समय में अजिन पहनने वाले (अजिनवासिन्) पुरुषों का उल्लेख है। ऐतरेय (१।१।३) का कहना है कि दीक्षित पुरुष को दिक्षा के अवसर पर अपने वस्त्र के ऊपर मृगचर्म (कृष्णाजिन) धारण करना चाहिये। वस्त्र के ऊपर—शरीर के ढक जाने पर भी, कृष्णाजिन पहनने के विधान से यही सूचित होता है कि प्राचीनता तथा पवित्रता का खयाल कर शुभ अवसरों पर इस पवित्र वस्त्र का व्यवहार वैदिक समाज को उसी प्रकार अभीष्ट था जिस प्रकार सोमयाग के अवसर पर दीक्षित यजमान को बाँस के बने मण्डप (प्राग्वंश) में रहने की तथा दीक्षिता यजमान-पत्नी को अधोवस्त्र के ऊपर कुश के बने वस्त्र (कौशं वासः)[1] पहनने की विधि ब्राह्मणों में दी गई है।

---

१. कौशं वासः परिधापयति।

(शतपथ ५।२।१।८)

कपड़े पहने जाते थे[1]। कमनीय कलेवर वाली युवतियाँ सुनहले तार की बनी जरी के काम वाली रंगीन साड़ियाँ पहना करती थीं। 'पुराणी युवति' उषा के वस्त्र के निरीक्षण करने से इस बात का पता भली-भाँति चलता है (ऋ० १।९२।४; १०।१।६)।

परिधान-विधि

साधारण रूप में प्राचीन भारतीय दो वस्त्रों का व्यवहार करते थे—अधोवस्त्र (निचले भाग को ढकनेवाला कपड़ा, धोती या साड़ी) तथा अधिवास (ऊपरी भाग को ढकने के लिए चादर या दुपट्टा)। कपड़ों के पहनने के विषय में वैदिक ग्रन्थों से आवश्यक सूचना का संग्रह किया जा सकता है। कमर के पास धोती को बाँधने की चाल थी जिसे 'नीविं करोति' वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त करते थे। नीवि आगे की तरफ एक ही जगह बाँधी जाती थी (जैसा आजकल हिन्दू पुरुष और स्त्रियाँ करती हैं)। कभी-कभी उसे दोनों ओर बाँधने का भी रिवाज था (जैसा आजकल पुरुषों के द्वारा किया जाता है)। कच्छ (काछा) बाँधने की चाल नहीं दीख पड़ती। स्त्रियाँ कमर के दाहिनी ओर नीवि बाँधती थीं। नीवि के ऊपर वस्त्र ओढ़कर उसे छिपाया भी जा सकता था।

शरीर के ऊपरी भाग को दो प्रकार से आच्छादिति करने की प्रथा थी, कभी कभी उसे ढीले-ढाले लम्बे रैपर (उपवासन, पर्याणहन या अधिवास) से ढकते थे और कभी-कभी दर्जी के द्वारा सिले हुए, शरीर से चपकने वाले कुर्ता (चपकन) या कुर्ती (जेकट) पहनते थे जिसे जैदिक ग्रन्थों में 'प्रतिधि' 'द्रापि' और 'अत्क' नाम से पुकारते थे। अथर्व (१४।२।४९) में वर्णित दुलहिन का 'उपवासन' चापर ही जान पड़ता है, तथा मुद्गलानी का जो वस्त्र (वासः) हवा के झोंकों से उड़ता था वह भी 'उत्तरीय' प्रतीत होता है (उत स्म वातो वहति वासो अस्या—ऋ० १०।१०२।२)। 'पर्याणहन या एक हल्की चादर ओढने के काम में आती थी। 'अधिवास' के वर्णन से (शत० ५।४।४।३) प्रतीत होता है कि वह लम्बा ढीला-ढाला चोंगा था जिसे राजा लोग धोती तथा कुर्ते के

---

१. तृपा नाम ओषधिविशेषः, तत्तन्तुनिर्मितं क्षौम वस्त्रं तार्प्यम्—सायणभाष्य।
एतत्ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे।
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर॥
(अथर्व १८।४।३१)

ऊपर पहना करते थे। अधिकतर सम्भव है कि यह शरीर के ऊपरी भाग को ढकने वाला दुपट्टा था, अरण्य को पृथ्वी के अधिवास रूप में वर्णित करने से इसी अर्थ की पुष्टि होती है (ऋ० १।१४०।९)।

सिले हुए कपड़े पहनने की चाल वैदिक काल में अवश्य थी। प्रतिधि (अथर्व १४।१।८) दुलहिन के वस्त्रों में वर्णित है, प्रसंगानुसार यह कंचुकी (चोली) जान पड़ती है। धन-सम्पन्न ऊँचे दर्जे के पुरुष तथा स्त्रियाँ शरीर मे सटने वाले सोनहले तारों से बुने जरी के काम वाले 'द्रापि' पहना करते थे। 'द्रापि' शब्द के अर्थ के विषय में पर्याप्त मतभेद है, परन्तु सन्दर्भानुसार इसका सिला वस्त्र (जाकेट) अर्थ करना उचित जान पड़ता है। यह सोना का (सुनहले तारों का) बना हुआ बतलाया गया है। वरुण के हिरण्यमय द्रापि पहनने का उल्लेख मिलता है[1] (ऋ० १।२५।१३) और सविता के पिशंग (पीले रँगवाली) द्रापि पहनने का स्पष्ट निर्देश है (ऋ० ४।५३।२)[2]। अथर्ववेद (५।७।१०)[3] हिरण्यमय द्रापि का उल्लेख स्त्रियों के प्रसंग में करता है जिससे प्रतीत होता है कि आजकल के वेस्टकोट की तरह यह एक कीमती सिला हुआ कपड़ा था जिसे उच्चकोटि के स्त्री-पुरुष समान भाव से पहनने के काम में लाते थे।

पेशस्—वैदिक काल का एक बहुत बढ़िया कीमती कपड़ा जान पड़ता है। इस पर सुनहले जरी का काम किया रहता था। इसका उल्लेख अनेक प्रसंगों मे आया है। इसके ऊपर बढ़िया कलाबत्तू का काम किया जाता था, जिसका सोना चमकता रहता था। दम्पती सुनहले पेशस् को पहनते थे (ऋ० ८।३१।८)[4]। सूर्य की किरणों के पड़ने पर नदी का जल जिस प्रकार चमकता है, पेशस् भी उसी भाँति चमचमाता है (ऋ० ७।३४।११)। अश्विन् के विषय में सफेद तथा काले पेशस् पहनने का उल्लेख मिलता है[5]।

---

१. बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्।

२. दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः पिशङ्गं द्रापिं प्रति मुञ्चते रविः।

३. हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्मही।
तस्यै हिरण्द्रापयेऽरात्या अकरं नमः॥

४. पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः।
उभा हिरण्यपेशसा॥
(ऋ० ८।३१।८)

५. पेशो न शुक्रमसितं वसाते।
(वाज० सं १९।८९)

वस्त्रों तथा उनके पहनने के ढंग से किसी भी आलोचक से यह परोक्ष नहीं है कि वैदिक समाज नितान्त सभ्य, समुन्नत तथा सुरुचि पूर्ण था। वह सभ्यता की उस कोटि में पहुँच चुका था जब मानव समाज प्रत्येक वस्तु के सौन्दर्य तथा माधुर्य को बढ़ाने के विचार से उन्नत कलाओं की सहायता लिया करता है।

पगड़ी—इन वस्त्रों के अतिरिक्त वैदिक आर्य लोग माथे पर पगड़ी (उष्णीष) पहना करते थे। अवसरों की भिन्नता के कारण उष्णीष के बाँधने के ढंग भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते थे। व्रात्यों के प्रसङ्ग में उनके उष्णीष की भी विशिष्टता दिखलाई गई है। व्रात्यों के उष्णीष दिन की भाँति चमकने वाले, उज्ज्वल और प्रकाशमान होते थे और उसके रात के समान नितान्त काले-काले केशों पर अत्यन्त सजते थे (**अहरुष्णीषं रात्री केशा**—अथर्व० १५।२)। यज्ञ के अवसर पर राजाओं के उष्णीष धारण का सुन्दर उल्लेख है। राजाओं की पगड़ियों के, ऐसे अवसर पर, दोनों छोर खींचकर आगे की ओर एक जगह खोंस दिये जाते थे जिससे पगड़ी ढक सी जाती थी (**संहृत्य पुरस्ताद् अवगुह्यति**—शत० ५।३।५।२०)। शतपथोल्लिखित इस विशेषता से अनुमान निकाला जा सकता है कि अन्य अवसरों पर पगड़ियों के दोनों छोर अलग-अलग लटका करते थे, जैसा आजकल राजपूती पगड़ियों के बाँधने में देखा जाता है)। यजमान के समान ऋत्विग् लोग भी पगड़ियाँ (विशेषतः लाल रंग की) पहन कर अपने याजन कृत्य में प्रवृत्त हुआ करते थे (**रक्तोष्णीषाः प्रचरन्ति ऋत्विजः**)। उष्णीष सूत्र के बने हुए होते थे। और सूत्र-ग्रन्थों के आधार पर ये सिर पर तिरछे, टेढ़े ढंग के बाँधे जाते थे (**तिर्यङ् नद्धं**—कात्या० श्रौतसूत्र २१।४)। पुरुषों के अतिरिक्त विशेष अवसरों पर स्त्रियों के सिर पर भी उष्णीष बाँधने की चाल सी थी। इन्द्र की पत्नी इद्राणी के उष्णीष धारण करने का वर्णन मन्त्रों में मिलता है।

जूता—वैदिककाल में पैर को सरदी-गरमी से बचाने के लिए पादत्राण पहनने का अनेक बार उल्लेख मिलता है। युद्ध के अवसर पर सैनिकों के लिए पादत्राण पहनने की चाल थी। सेनानी लोग पैर से लेकर जंघा तक की रक्षा करने के लिए एक विशिष्ट प्रकार के पादत्राण पहनते थे (वट्टूदरिणा पदा—ऋ० १।१३३।२)। अथर्व (५।२१।१०) में उल्लिखित 'पत्सङ्गिणी' एक प्रकार का पादत्राण प्रतीत होती है जिसे सैनिक लोग दूर जाने के लिए या शत्रु पर आक्रमण करने के अवसर पर पहना करते थे। पिछले समय में जूता का बोधक 'उपा-

नह्' शब्द यजुर्वेद की संहिता और ब्राह्मण में (तै० सं० ५।४।४।४; शत० ब्रा० ५।४।३।१९) उपलब्ध होता है। जूता मृग या शूकर के चाम का बनाया जाता था (वाराही उपनिषद्; शत०)। व्रात्यों के जूते कुछ विलक्षण प्रकार के होते थे। उनके जूते काले और नुकीले हुआ करते थे (कर्णिन्यौ—कात्या० श्रौ० सू० २२।४) वैदिक ग्रन्थों के उल्लेख से स्पष्ट है कि माथे पर चमकीली पगड़ी और पैर में काले नोकदार जूता पहनने वाले व्रात्य लोग उस समय शौकीनों में गिने जाते थे। छाता (छत्र) और छड़ी (दण्ड) आर्यों के नित्य सहचर थे, छाता घाम से बचाने के लिए और छड़ी अनिष्टकारी जानवरों से अपनी रक्षा के निमित्त हुआ करती थी।

भूषा-सज्जा

आर्य लोग आभूषण धारण करने के प्रेमी थे। ऋग्वेद में अनेक आभरणों के धारण करने का उल्लेख मिलता है। सबसे प्रसिद्ध गहना था सुवर्ण-निर्मित **निष्क**—जो गले में पहना जाता था (ऋ० २।३३।१०; ५।१९।३), निष्क मुद्रा के रूप में भी प्रचलित था। अतः यह अनुमान असङ्गत नहीं प्रतीत होता कि सम्भवतः ये आकार में वर्तुल (गोला) या चतुष्कोण (चौकोर) थे। आजकल भी तो सोने या चाँदी के सिक्कों को डोरे में गूँथकर गले में पहनने की चाल है ही। दूसरे प्रकार का आभूषण सुनहला **रुक्म** था—जो गले से लटक कर छाती को सुशोभित किया करता था (रुक्मवक्षसः—ऋ० २।३४।२)। यह डोरे से लटका करता था, जो 'रुक्मपाश' कहलाता था (शत० ६।७।१।७)। सुवर्ण के बने कर्णाभरण (एअरिंग) को 'कर्णशोभन' की संज्ञा प्राप्त थी (ऋ० ८।७८।३)। मोती और कीमती रत्नों के पहनने की भी प्रथा उस समय विद्यमान थी। उस समय मोतियों की प्रचुरता सी प्रतीत होती है। जब इसका उपयोग घोड़ों तथा रथों को अलङ्कृत करने के लिए किया जाता था, तब बहुत सम्भव है कि स्त्रियाँ भी शरीर को मुक्ताभूषण—मोतियों की मालाओं—से अलङ्कृत करने में कभी न चूकती होंगी। मणि को अलङ्कार रूप में धारण किया जाता था। वृत्र के अनुयायियों को सोने तथा मणियों से चमकते हुए बतलाया गया है (**हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः**—ऋ० १।३३।८)। 'मणिग्रीव' शब्द इस बात का प्रमाण है कि मणि गले में पहना जाता था (ऋ० १।१२२।१४)। दुलहा विवाह के शुभ अवसर पर सुनहले गहनों को पहन कर अपनी शान-शौकत को दिखलाता था (ऋ० ५।६०।४)। इस प्रकार रमणीय, बहुमूल्य आभूषणों के प्रचलन होने से वैदिक सभ्यता की महत्ता भली-भाँति आँकी जा सकती है।

मन्त्रों के अनुशीलन से वैदिककालीन केशरचना की पद्धति का थोड़ा-बहुत परिचय मिल सकता है। पुरुष लोग केशों की रचना में चतुर थे, परन्तु आभरणप्रिय स्त्रियाँ अपने बालों की अभिराम और नाना प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत करने में नितान्त दक्ष थीं। पुरुष लोग अपने बालों को जटाजूट (कपर्द) के रूप में बाँधते थे। रुद्र तथा पूषन्—दोनों देवता कपर्द धारणा करते थे। वसिष्ठ ऋषि तथा उनके अनुयायियों की वेषभूषा अन्य ऋषि-लोगों से इतनी विलक्षण थी कि इसका उल्लेख अनेक बार मन्त्रों में किया गया है। ये लोग सफेद कपड़ा पहनते थे (श्वित्यञ्चः) और अपना कपर्द सिर के दक्षिण ओर धारण करते थे जिससे वे 'दक्षिणतस्कपर्दाः' (ऋ० ७।३३।१) कहे गये हैं। स्त्रियाँ भी कपर्द धारण करती थीं। ऋग्वेद (१०।११४।३) में चार कपर्द धारण करनेवाली युवति—चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा—का स्पष्ट उल्लेख है, जिससे प्रतीत होता है कि वह युवती अपने केशपाश को चार प्रकार की वेणी बनाकर सज्जित किया करती थी। स्त्रियों के केशपाश की रचना के अन्य प्रकारों के बोधक 'ओपश,' 'कुरीर' और 'कुम्ब' शब्द वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, परन्तु इन शब्दों के विशिष्ट अर्थ का पता भाष्यकारों के अनेक प्रयत्न करने पर भी भली-भाँति नहीं चलता। यजुर्वेद (वा० सं० ११।५०)[1] में सिनीवाली देवी सुकपर्दा (सुन्दर कपर्दवाली), सुकुरीरा और स्वोपशा (शोभन ओपशवाली) वर्णित की गई है। अथर्व वेद (६।१३८।३)[2] में जहाँ शत्रु को क्लीब (नपुंसक) बनाने के औषध का विधान किया गया है वहाँ ओपश, कुरीर और कुम्ब स्त्रियोपयोगी वेश-भूषा के सूचक चिह्न माने गये हैं।

ओपश—पुरुष लोग भी इसे धारण करते थे, परन्तु स्त्रियाँ विशेष रूप से। सायण ने इसका अर्थ 'स्त्री-व्यञ्जन' किया है। यह शब्द ऋग्वेद (१०।८५।८), अथर्व (६।१३८।३) तथा वाज० सं० (११।५०) और-और ग्रन्थों में पाया जाता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में (१।१७३।६) आकाश की तुलना ओपश से की गई है जिससे प्रतीत होता है कि जब केशों को एक गोलाकार रूप मे लपेट दिया जाता है और ऊपर एक गाँठ बाँध दी जाती है, तब इस केश रचना को 'ओपश' कहते थे।

---

१. सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वोपशा—यजु० ११।५०।

२. क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि ॥ २ ॥
कुरीमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि ॥ ३ ॥

कुरीर—ऋग्वेद के विवाह-सूक्त (१०।८५) में इस शब्द[1] का प्रयोग किया गया है। सायण के भाष्यानुसार यह एक प्रकार का शिरोभूषण था जिसे वधू अपने उद्वाह के समय पहनती थीं। उव्वट ने 'कुरीर' का अर्थ मुकुट तथा महीधर ने सिर को सुशोभित करने वाला सुनहला गहना किया है (**स्त्रीभिः शृङ्गारार्थं धार्यमाणं कनकाभरणम्**—वाज० सं० ११।५०)। अथर्व वेद (५।३१।२) में अज (बकरा को) 'कुरीरी' कहा गया है, जो प्रसंगानुसार सींगवाले के अर्थ में प्रयुक्त दीखता है। मुकुट की शृंगाकार रचना से सम्भव है कि अज को यह संज्ञा प्राप्त थी। बहुत से विद्वानों ने शृंगाकृति केश-रचना को 'कुरीर' माना है।

कुम्ब—किसी प्रकार की रचना का नाम था, हम भली-भाँति नहीं जानते, परन्तु यदि यह शब्द कुम्भ या कम्बु के साथ सम्बद्ध हो, तो यह कुम्भाकृति, सिर के पीछे विरचित, केश-रचना (जूड़ा) के लिए आ सकता है जिसे स्त्रियाँ आजकल भी धारण किया करती हैं। कुरीर तथा कुम्ब का मुख्य सम्बन्ध स्त्रियों के साथ था, क्योंकि सूत्रग्रन्थों मे पत्नी के सिर पर इनकी रचना का विधान मिलता है (आप० श्रौतसूत्र)। वैदिक समाज केश-वर्धन करने वाली ओषधियों से परिचित था। उस समय भी केश को लम्बा और सुन्दर बनाने वाली ओषधियों का आविष्कार किया जा चुका था। जमदग्नि ऋषि ने अपनी पुत्री के केश-वर्धन के लिए जमीन से खोदकर एक ओषधि निकाली थी (अथर्व० ६।१७३), जिसके प्रयोग करने से छोटे-छोटे बाल लम्बे-लम्बे बन गये। अंगुलिमेय बाल व्याममेय बन गये थे, अर्थात् फैलाये गये दोनों हाथों के बराबर बन गये। इन वैदिक शब्दों के अर्थ को समझने के लिए भारतीय पुरातत्त्व-विभाग द्वारा खुदाई में मिली मूर्तियों के केशसज्जा की परीक्षा आवश्यक है। मोहनजोदड़ो और बक्सर की मृण्मयी मूर्तियों के सिर पर जो केशरचना दीख पड़ती है वह इस वैदिक-विधि की परम्परा से बहुशः साम्य रखती है[2]।

---

१. स्तोमा आसन् प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः।
सूर्याया अश्विना वराऽग्निरासीत् पुरोगवः॥
(१०।८५।८)

२. अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः।
केशा नडा इव वर्धन्ता शीर्ष्णस्ते असिताः परि॥
(अथर्व० ६।१३७।२)

यातायात के साधन

यातायात का प्रधान साधन रथ था। वैदिक युग में रथ संचरण, क्रीडा तथा युद्ध के लिए नियुक्त किये जाते थे। राज्य की सेना में रथियों का प्रधान स्थान था। उत्सवों में रथों की दौड़ हुआ करती थी। उसमें सम्मिलित होने वाले रथ एक चक्राकार रंगस्थल में तेजी से दौड़ाये जाते थे। उस युग में रथ की निर्माण-विधि का भी ज्ञान हमें प्राप्त होता है। रथ लकड़ी का बनता था जिसमें उसका 'अक्ष' (दोनों पहियों को जोड़ने वाला डंडा) 'अरट्टु' नामक लकड़ी का बनता था। अक्ष तथा युग (जुये) को जोड़ने वाला डंडा भी लकड़ी का बनता था और 'ईषा दण्ड' कहलाता था। ईषा को जूए में किये गये छेद ('तर्द्मन') में बैठाया जाता था और उसे योक्त्रक से बाँध दिया जाता था। ईषा का जो भाग जूये से आगे की ओर निकला रहता था 'प्रउग' कहलाता था। घोड़े या बैल जूआ कन्धे पर रखने के समय इधर-उधर भाग न जाँय, इसलिए जूए के दोनों ओर छोटे-छोटे डंडे पहिना दिये जाते थे। इनका नाम था 'शम्या'। अक्ष के दोनों ओर पहिये ('चक्र') मजबूती से कसे जाते थे। चक्र की बाहरी गोलाई को 'प्रधि' तथा भीतरी भाग को 'पवि' और दोनों को मिलाकर 'नेवि' कहते थे। तीलियों को 'अर' या 'अरा' कहते थे। अक्ष के दोनों ओर उन्हें मजबूत बनाने और दौड़ते समय खिसकने न देने के लिए लगाई गई छोटी लकड़ियाँ 'आणि' कहलाती थीं। अक्ष के ऊपर रथ का मुख्य भाग होता था, जो कोश या 'बन्धुर' कहा जाता था। कोश के भीतरी भाग को 'नीड़' तथा अगल-बगल के हिस्से को 'पक्ष' कहते थे। रथ में योद्धा के बैठने का स्थान 'गर्ता' (कभी-कभी 'बन्धुर' भी) कहा जाता था, वह सारथी के दाहिने पार्श्व में बैठता था। रथ के ऊपरी भाग को 'रथशीर्ष' कहते थे। रथ के वेग को घटाने के लिए या आवश्यकता पड़ने पर रथ को सहारा देने के लिए भी ईषादण्ड से एक भारी सी लकड़ी नीचे की ओर लटकाई जाती थी जिसे 'कस्तंभी' या 'अपालम्ब' कहते थे।

बहुधा रथ में दो या चार घोड़े जोते जाते थे। कभी-कभी तीन घोड़े भी जोते जाते थे। इस तीसरे घोड़े का नाम 'प्रष्टि' था, कभी-कभी एक घोड़े से भी काम चलाना पड़ता था। सारथी लगाम तथा चाबुक (प्रतोद) से रथ का संचालन करता था। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से पता चलता है कि रथों का वर्गीकरण रथांग के किसी वैशिष्ट्य के आधार पर किया जाता था। वाहकों के आधार पर वृषरथ, षडश्व, पंचवाही आदि; रथभागों के आधार पर त्रिबन्धुर, अष्टाबन्धुर, सप्त-चक्र, हिरण्यचक्र, हिरण्यप्रउग आदि नाम होते थे।

रथ से भिन्न एक प्रकार का और भी यान होता था, जो 'अनस्' (गाड़ी) शब्द के द्वारा व्यवहृत किया जाता था। रथ तथा गाड़ी की बनावट प्रायः एक प्रकार की ही होती थी। गाड़ी में बैल और कभी-कभी गौएँ भी जोती जाती थीं। इन गाड़ियों के ऊपर आच्छादन भी रहता था। सूर्य की कन्या 'सूर्या' को विवाह के समय जिस गाड़ी में बैठाया गया था वह आच्छादित थी। गाड़ी खींचने वाले जानवर को 'धूर्षद' कहते थे। गाड़ियाँ साधारणतया दो प्रकार की होती थीं—

(१) मनुष्यवाही—जो 'वृषरथ' कहलाती थी, तथा (२) भारवाही—अनाज ढोने वाली बड़ी-बड़ी 'शकट' 'सगड़' (आजकल का 'सग्गड़)) कहते थे, तथा छोटी गाड़ी 'गोलिङ्ग' या 'लघुमान' कहलाती थीं।

इस युग में जलयान का भी उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद और वाजसनेयी संहिता में सौ डाँड़ों से चलाये जाने वाले जहाज का उल्लेख है। पतवार को 'अरित्र' तथा नाविक को 'अरितृ' कहते थे। शतपथ-ब्राह्मण में पतवार को 'मण्ड' तथा परवर्ती काल में 'कर्ण' कहा जाता था। वैदिक युग में भी जलयान के द्वारा सामुद्रिक व्यापार का स्पष्ट निर्देश मिलता है। पिछले युग के साहित्य में बड़े-बड़े व्यापारी जहाज, युद्ध-पोत, क्रीडा-नौका आदि अनेक प्रकार के जलयानों का वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद के युग में समुद्र से आर्यों का पूर्ण परिचय था; बड़ी-बड़ी नौकाओं को बनाकर उस युग के आर्य लोग समुद्री व्यापार करने में प्रवीण थे।

चतुर्थ परिच्छेद

आर्थिक जीवन

वैदिक आर्य उस अवस्था को पार कर चुके थे जिसमें मनुष्य अपनी क्षुधा-शान्ति के लिये फल-मूल पर ही निर्भर रहा करता है, अथवा पशुओं का शिकार कर मांस से अपनी उदराग्नि की ज्वाला को शान्त किया करता है। वे लोग एक सुव्यवस्थित तथा एक स्थान पर रहने वाले समाज में सुसंगठित हो गए थे, खानाबदोश फिरकों की तरह एक जगह से दूसरी जगह पर अपना निवास-स्थान बदला नहीं करते थे। उनकी जीविका का प्रधान साधन था खेती तथा पशु-पालन। वे कृषीवल समाज के रूप में ऋग्वेद में चित्रित किए गए हैं। आर्य कृषि को बड़ा महत्त्व देते थे। जूए में पराजित द्यूतकर को ऋषि ने उपदेश दिया है कि जूआ खेलना छोड़ दो और खेती करने का अभ्यास करो (**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व**—ऋ० १०।३४।७)। ऋग्वेद के अनुसार अश्विन् ने सर्वप्रथम आर्य लोगों को हल (वृक) के द्वारा बीज बोने की कला सिखलाई[1]। इस प्रकार अश्विन् देवों का सम्बन्ध कृषिकला के साथ नितान्त घनिष्ठ है। अथर्व (८।१०।२५) में पृथी वैन्य नामक राजा को हल से भूमि जोतने की विद्या का आविष्कारक माना गया है। वेनपुत्र पृथी या पृथु का वर्णन पुराणों में बड़े विस्तार के साथ किया गया है तथा इनकी सेवाओं का उल्लेख मार्मिक ढंग से किया हुआ मिलता है[2]। ये ही प्रथम राजा थे जिन्होंने कृषिकर्म के अयोग्य पथरीली भूमि को जोतकर समतल बनाया और इसीलिये उसका 'पृथ्वी' नामकरण हुआ।

कृषि-कर्म

खेत—ऋग्वेद तथा पिछले ग्रन्थों में खेत के लिये 'उर्वर' तथा 'क्षेत्र' शब्द साधारणतया प्रयुक्त किए गए हैं। खेत दोनों प्रकार के होते थे—उपजाऊ (अप्नस्वती) तथा पड़ती (आर्तना, ऋ० १।१२७।६)। खेतों के माप का

---

१. दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः (ऋ० ८।२२।६); यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा (ऋ० १।११७।२१)।

२. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ४, अध्याय १६–२३।

भी वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। खेत बिलकुल एक चकला ही नहीं होता था, बल्कि उन्हें नाप-जोखकर अलग-अलग टुकड़ों में बाँट दिया करते थे, जो विभिन्न कृषकों की जोत में आते थे[१]। खेतों के स्वामित्व के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद है, परन्तु ऋग्वेद के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि खेत पर किसी जाति का अधिकार नहीं होता था, वह वैयक्तिक अधिकार का विषय था। इसकी पुष्टि में उस मन्त्र का प्रामाण्य दिया जा सकता है जिसमें अपाला ने अपने पिता के खेत (उर्वरा) को उनके सिर की समान-कोटि में उल्लिखित किया है[२]। वैयक्तिक अधिकार का यह तात्पर्य नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति उस समय अपने लिये अलग-अलग जोत रखता था, प्रत्युत उसके खेत पर एक कुटुम्ब का अधिकार समझना चाहिए। राजा ही समग्र खेत तथा भूमि का एकमात्र स्वामी है, यह कल्पना वैदिक युग में प्रबल नहीं जान पड़ती। आगे चलकर सूत्र-काल में यह भावना बद्धमूल हो सकी थी।

वैदिक काल के कृषि-कर्म के प्रकारों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय खेती आज की भाँति ही होती थी। खेत (उर्वर क्षेत्र) को हलों से जोतकर बीज बोने के योग्य बनाया जाता था। हल का साधारण नाम 'लांगल' या 'सिर' था जिसके अगले नुकीले भाग को 'फाल' कहते थे। फाल (गार) बड़ा ही नुकीला तथा चोखा होता था; हल की मूँठ बड़ी चिकनी होती थी (सुमतित्सरु, अथर्व ३।१७।३)। हल में एक लम्बा मोटा बाँस बाँधा जाता था (ईषा), जिसके ऊपर जुआ (युग) रखा जाता था, जिसमें रस्सियों (वरत्रा) से बैलों का गला बाँधा जाता था। हल खींचने वाले बैलों की संख्या छः, आठ, बारह अथवा चौबीस तक होती थी, जिससे हल के भारी तथा बृहदाकार होने का अनुमान किया जा सकता है। हलवाहा (कीनाश) अपने पैनों (अष्ट्रा, तोद या तोत्र) से इन बैलों को हाँकता था। वैदिक काल में वैश्य लोग ही अधिकतर खेती किया करते थे, क्योंकि अष्ट्रा उनका चिह्न बतलाया गया है। खेत उपजाऊ होते थे। उनके उपजाऊ न होने पर खाद डालने की व्यवस्था थी। खाद के लिए गाय का गोबर (करीष) काम में लाया जाता था।

---

१. क्षेत्रमिव विममुस्तेजनेन।

(ऋ० १।११०।५)

२. इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥

(ऋ० ८।९१।५)

पक जाने पर खेतों को हँसुआ (कटनी, ऋ० १०।१०१।३; दात्र, ऋ० ८।७८।१०) से काटते थे; अनाज को पुलियों (पर्ष) में बाँधते थे तथा खलिहान (खल, ऋ० १०।४८।७) में लाकर भूमि पर माँड़ते थे जिससे अनाज डंठल से अलग हो जाता था। शतपथ ने कर्षण (जोतना), वपना (बोना), लवन (काटना) तथा मर्दन (माँड़ना)—चार ही शब्दों में कृषिकर्म की पूरी प्रक्रिया का वर्णन कर दिया है। मर्दन के बाद चलनी (तितउ) अथवा सूप (शूर्प) से अनाज भूसे से अलग किया जाता था (ऋ० १०।७१।२)। इसे करनेवाले व्यक्ति को धान्यकृत कहते थे (ऋ० १०।९४।१३)। अनाज को बर्तनों से नापकर कोठिलों में रखते थे। नापनेवाले बर्तन को 'ऊर्दर' कहते थे। (**तमूर्दरं न पृणता यवेन**—ऋ० २।१४।११) तथा उस बड़े घर को जिसमें अनाज इकट्ठा रखा जाता था, 'स्थिवि' कहते थे[1]।

अनाज—बोए जानेवाले अनाजों के नाम मन्त्रों में मिलते हैं। ऋग्वेद में यव तथा धान का उल्लेख है, परन्तु इनके अर्थ पर मतभेद है। ये अनाज के साधारण नाम माने जाते हैं। बोए जानेवाले अनाजों के नाम हैं—व्रीहि (धान), यव (जौ), मुद्‌ग (मूँग), माष (उड़द), गोधूम (गेहूँ), नीवार (जंगली धान), प्रियंगु, मसूर, श्यामाक (साँवा), तिल (वाज० सं० १८।१२)। खीरे (उर्वारु या उर्वारुक) का भी नाम मिलता है। इनमें अनेक अनाजों के नाम ऋग्वेद में नहीं मिलते, प्रत्युत पिछली संहिताओं तथा ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं। व्रीहि ऋग्वेद में न होकर पिछले ग्रन्थों में उल्लिखित है।

तैत्तिरीय-संहिता में काले तथा सफेद धान में अन्तर किया गया है तथा धान के तीन मुख्य प्रकार बताए गए हैं—कृष्ण (काला), आशु (जल्दी जमनेवाला) तथा महाव्रीहि (अर्थात् बड़े दानोंवाला, तै० सं० १।८।१०।१)। इन भेदों में आशु 'साठी' नामक धान को लक्षित करता है, क्योंकि यह धान साठ ही दिनों में पककर तैयार हो जाता है (षष्टिका षष्टिरात्रेण पच्यन्ते)। धान का साहचर्य सदा यव के साथ बतलाया गया है। फलों की पैदावार के बारे में हम अधिक नहीं जानते। बेर का नाम विशेषतः आता है, परन्तु यह जंगली था या लगाया जाता था, यह कहना कठिन है।

---

1. **बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः ॥**

(ऋ० १०।६८।३)

ऋतु—अनाज बोने की भिन्न-भिन्न ऋतुओं का विशिष्ट वर्णन तैत्तिरीय संहिता (७।२।१०।२) में किया गया है। इसके देखने से बीज बोने का समय आज-कल के समान ही जान पड़ता है। जौ हेमन्त में बोया जाता था और ग्रीष्मकाल में पकता था। धान वर्षा में बोया जाता तथा शरद् में पकता था। तिल तथा दाल वाले अनाज शीतकाल में बोए जाते थे। फसल (शस्य) साल में दो बार बोई जाती थी। कौषीतकि-ब्राह्मण (२१।३) के अनुसार शीतकाल में बोई गई फसल चैत के महीने में पक जाती थी।

आजकल की भाँति उस समय भी किसानों के सामने हानि पहुँचानेवाले कीड़ों से खेती को बचाने की समस्या उपस्थित थी। अवर्षण तथा अतिवर्षण से भी खेती को हानि पहुँचती थी, परन्तु कीड़ों से इनकी अपेक्षा कहीं अधिक। अथर्व में कृषि-नाशक कीड़ों में उपक्वस, जभ्य तथा पतंग के नाम दिए गये हैं, जिनसे खेती की रक्षा के लिए अनेक मन्त्र तथा उपाय बतलाए गये हैं। छान्दोग्य के प्रामाण्य पर टिड्डियों (मटची) से भी बड़ी हानि होती थी। कभी-कभी ये पूरा देश का देश साफ कर डालती थीं। एक बार टिड्डियों के कारण समग्र कुरु जनपद के नष्ट होने की घटना का उल्लेख किया गया है (**मटचीहतेषु कुरुषु**—छां० १।१०।१)। वैदिक-कालीन कृषि के इस संक्षिप्त वर्णन से विदित होता है कि हमारी कृषि-पद्धति वैदिक ढंग पर आज भी चल रही है।

वैदिक आर्यलोग अपने कृषि-कर्म के लिए वृष्टि पर ही अवलंबित रहते थे। वृष्टि के देवता का इसी कारण वेद में प्राधान्य माना गया है। वृष्टि को रोकने-वाले दैत्य का नाम था वृत्र (आवरणकर्ता), जो अपनी प्रबल शक्ति से मेघों के गर्भ में होनेवाले जल को रोक रखता था। इन्द्र अपने वज्र से वृत्र को मारकर छिपे हुए जल को बरसा देता था तथा नदियों को प्रगतिशील बनता था। वैदिक देवतामण्डल में इन्द्र की प्रमुखता का रहस्य आर्यों के कृषिजीवी होने की घटना में छिपा हुआ है।

सिंचाई—उस समय खेतों की सिंचाई का भी प्रबन्ध था। एक मन्त्र में जल दो प्रकार का बतलाया गया है—खनित्रिमा (खोदने से उत्पन्न होनेवाला) तथा स्वयंजा[1] (अपने आप होनेवाला, नदी-जल आदि)। कूप (कुआँ) तथा

---

१. या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति।
खनित्रि मा उत वा याः स्वयंजाः॥

(ऋ० ७।४९।२)

अवट (खोदकर बनाये गए गड्ढे) का उल्लेख ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर मिलता है (कूप, ऋ० १०।१०५।१७; अवट, १।५८।८, १०।२५।४)। ऐसे कुओं का जल कभी कम नहीं होता था (अक्षितं, ऋ० १०।१०१।६)। कुओं से पानी पत्थर के बने चक्के (अश्मचक्र) से निकाला जाता था, जिनमें रस्सियों (वरत्रा) के सहारे जल भरनेवाले कोश (छोटी-मोट) बँधे रहते थे (ऋ० ११।२५।४)। पानी कुएँ से निकालने के बाद लकड़ी के बने पात्र (आहाव) में उड़ेला जाता था। कूपों का उपयोग मनुष्यों तथा पशुओं के निमित्त जल निकालने के लिए ही नहीं किया जाता था, बल्कि कभी-कभी इनसे सिंचाई भी होती थी। कुओं का जल बड़ी-बड़ी नालियों से बहता हुआ खेतों में पहुँचता (सूर्मि सुषिरा, ऋ० ८।६९।१२) और उनको उपजाऊ बनाता था। कुओं से जल निकालने का यह ढंग अब तक पंजाब तथा दिल्ली के आसपास प्रचलित है।

वैदिक आर्यों के जीवन-निर्वाह के लिए कृषि का इतना अधिक महत्त्व तथा उपयोग था कि उन्होंने 'क्षेत्रपति' नामक एक देवता की स्वतन्त्र सत्ता मानी है तथा उनसे क्षेत्रों के सस्य-संपन्न होने की प्रार्थना की है। क्षेत्रपति का वर्णन ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के सत्तावनवें सूक्त में उपलब्ध होता है। इस सूक्त के एक दो मन्त्र यहाँ दिए जाते हैं—

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥

शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिं
शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः
शुनासीरा शुनमस्मासु धत्त॥ ७-८॥

[भावार्थ—हमारे फाल (हल के नुकीले अग्रभाग) सुखपूर्वक पृथ्वी का कर्षण करें। हलवाहे (कीनाश) सुखपूर्वक बैलों से खेत जोतें। मेघ मधु तथा जल से हमारे लिए सुख बरसाए तथा शुनासीर हम लोगों में सुख उत्पन्न करें।]

पशु-पालन

वैदिक आर्यों के लिये कृषि-कर्म के अतिरिक्त पशु-पालन जीवन-निर्वाह का प्रधान साधन था। कृषीवल समाज के लिए पशुओं की और विशेषतः गाय बैलों की कितनी महत्ता है, इसे प्रमाणों से सिद्ध करने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

आर्यों के जीवन में गायों का विशेष स्थान इसी कारण है। बैलों से खेती का काम लिया जाता था। गाय का दूध आर्यों के भोजनालयों की एक प्रधान वस्तु थी। यह शुद्ध अमिश्रित रूप में आर्यों का प्रधान पेय था, सोमरस में मिलाने के काम आता था तथा क्षीरौदन (खीर) बनाने में भी नितान्त उपयोगी था। इससे दही और घी तैयार किया जाता था। उस समय किसी व्यक्ति की धन-सम्पत्ति का माप उसके पास होनेवाली गायों की संख्या से होता था। यज्ञों में ऋत्विजों के लिये दक्षिणा रूप में गाय ही देने का विधान था। यहाँ तक कि 'दक्षिणा' शब्द अनेक स्थलों पर 'गो' का पर्यायवाची बन गया था। राजा लोग प्रसन्न होकर ब्राह्मणों को सौ या हजार गायों का दान दिया करते थे, जिसका ऋषियों ने दान-स्तुतियों में आभार प्रदर्शन करते हुए उल्लेख किया है[1]। वैदिक काल में सिक्कों का प्रचलन बहुत ही कम था। अतः लेन-देन व्यवहार-बँटा, क्रय-विक्रय के कार्य के लिए विनिमय का मुख्य माध्यम गाय ही थी। गाय के ही बदले में वस्तुएँ खरीदी जाती थीं। पदार्थों का मूल्य गाय के ही रूप में विक्रेता को दिया जाता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में (३।२४।१०) वामदेव ऋषि का कथन है कि कौन मनुष्य ऐसा है जो मेरे इस इन्द्र (इन्द्र की मूर्ति) को दस गायों से खरीद रहा है[2]। अन्य मन्त्र में सौ, हजार या दस हजार भी गाएँ इन्द्र को खरीदने के लिये पर्याप्त नहीं मानी गई हैं[3]। भारत में ही नहीं, पश्चिमी देशों में भी प्राचीन काल में सम्पत्ति की कल्पना का आधार गाय ही थी। लातिनी भाषा का 'पेकुस' (Pecus) शब्द, जिसका अर्थ सम्पत्ति है और जिससे अंग्रेजी का 'पेक्यूनियरी' (Pecuniary) शब्द बनता है, भाषाशास्त्र की दृष्टि में संस्कृत 'पशुः' (पशुस्) शब्द से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार खेती, भोजन तथा द्रव्य-विनिमय का मुख्य साधन होने के कारण गाय वैदिक आर्यों के लिये नितान्त उपादेय तथा आवश्यक पशु थी। वैदिक काल में गाय के गौरव का रहस्य इसी सामाजिक अवस्था की सत्ता में अन्तर्निहित है। इसी कारण वैदिक आर्यगण गाय को 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) के नाम से पुकारते थे तथा उसे समधिक श्रद्धा एवं आदर की दृष्टि से

---

१. तं ह कुमारं सन्तं 'दक्षिणासु' नीयमानासु श्रद्धाविवेश (कठोपनिषत् १।१।२)

२. क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः (४।२४।१०)।

३. महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ॥

(ऋ० ८।१।५)

देखते थे। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में गाय को देवता के रूप में अंकित किया गया है। ऋग्वेद का एक सुन्दर सूक्त (६।२८) धेनु की प्रचुर प्रशंसा से ओत-प्रोत है तथा वैदिक आर्यों की गो-भक्ति का स्पष्टाक्षरों में प्रतिपादक है।

गाय—ऋषि भरद्वाज के शब्दों में गाय 'भग' (देवता) है, गाय ही मेरे लिये इन्द्र है, गाय ही सोमरस की पहली घूँट है; ये जितनी गाएँ हैं वे, हे मनुष्यों! इन्द्र की साक्षात् प्रतिनिधि हैं। मैं हृदय से, मन से, उसी इन्द्र को चाहता हूँ'—

गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान्
गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः स जनास इन्द्र
इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥

(६।२८।५)

इस मन्त्र में गाय के देवस्वरूप की अभिव्यक्ति नितान्त स्पष्ट शब्दों में की गई है। गो का देवत्व काल्पनिक न होकर आर्यों के लिये वास्तविक है; क्योंकि गाएँ कृश (दुबले-पतले आदमी) को स्थूल बना देती हैं, शोभाहीन (अश्रीर) पुरुष को सुभग सुन्दर रूप प्रदान करती हैं और उनकी बोली अत्यन्त कल्याण-कारक है। सभाओं में गाय के विपुल सामर्थ्य का वर्णन बहुशः किया जाता था (६।२८।६)। ऋग्वेद के एक दूसरे सूक्त (१०।१६९) शबर काक्षीवत ऋषि ने गायों की उत्पत्ति को अङ्गिरस् ऋषि की तपस्या का सुखद परिणाम बतलाया है[1] तथा भिन्न-भिन्न देवताओं (रुद्र, पर्जन्य तथा इन्द्र) से प्रार्थना की है कि वे लोग हमारी परम उपकारक गायों का सतत कल्याण-साधन किया करें। इस प्रकार गायों के प्रति वैदिक आर्यों की अटूट श्रद्धा का भाव आज भी उनके वंशजों में जाग्रत रूप से यदि पाया जाता है, तो इसमें आश्चर्य क्या है?

गाएँ वैदिक काल में दिन में तीन बार दुही जाती थीं—प्रातःकाल (प्रातर्दोह), दोपहर से कुछ पहले (सङ्गव) तथा सायंकाल (सायंदोह—तै० सं० ७।५।३।१)। तीन बार वे चरने के लिये चरागाह में भेजी जाती थीं। पहली बार की दुहाई में दूध प्रचुर मात्रा में होता था, परन्तु अन्य दोनों समय

---

१. याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्ट्या नामानि वेद।
या अङ्गिरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्यः पर्जन्य! महि शर्म यच्छ॥
(ऋ० १०।१६९।२)

कुछ कम। जो गाएँ दूध देनेवाली होती थीं वे सायंकाल घर चली आती थीं तथा 'शाला' में रखी जाती थीं, परन्तु अन्य पशु बाहर मैदान में ही रहा करते थे, परन्तु दोपहर के समय जब गर्मी अधिक होती तो सभी पशु छप्पर के नीचे रखे जाते थे (ऐतरेय ३।१८।१४ पर सायण-भाष्य)। पशुओं के रहने के स्थान को 'शाला' तथा चरने के मैदान को 'गोष्ठ' कहा जाता था। चरने जाने के समय बछड़े शाला में ही रहते, परन्तु संगव या सायंकाल वे अपनी माताओं के साथ रहते थे। वैदिक काल में गाएँ भिन्न-भिन्न रंगों की होती थीं—लाल (रोहित), सफेद (शुक्र), चित्रित (पृश्नि) तथा काली (कृष्ण)। चारागाह में गायें गोप या गोपाल (ग्वाले) की देख-रेख में चरती थीं, जो उन्हें अपने पैने (अष्ट्रा) से हाँकता था। ग्वालों के सजग रहने पर भी गायें कभी-कभी संकट तथा विपत्तियों में पड़ जाती थीं। कभी वे कुओं या गड्ढों में गिर जातीं, कभी उनका अंग-भंग हो जाता, कभी वे भूल जाया करतीं और कभी दस्यु या पणि लोग उन्हें चुरा लिया करते थे (ऋ० १।१२०।८)। इन विपत्तियों से पशुओं की रक्षा करनेवाले वैदिक देवता का नाम 'पूषन्' था, जो इसलिये 'अनष्टपशुः' (गोरक्षक) विशेषण से विभूषित किए गए हैं[1]। गायें इतनी अधिक होती थीं कि उनकी पहिचान के लिये उनके कानों के ऊपर नाना प्रकार के चिह्न बनाये जाते थे। जिन गायों के कानों पर अंक आठ का चिह्न बना रहता था वे 'अष्टकर्णि' कहलाती थीं (ऋ० १०।६२।७)। मैत्रायणी संहिता (४।२।९) में उल्लिखित चिह्न हैं—वंशी (कर्करिकर्ण्यः) हँसुआ (दात्रकर्ण्यः), खंभा (स्थूणाकर्ण्यः)। कभी-कभी गायों के कान छेदे भी जाते थे (छिद्रकर्ण्यः)। अथर्व में मिथुन के चिह्न का निर्देश है, जो सम्भवतः प्रजनन-शक्ति के उत्पादन का प्रतीक जान पड़ता है। गायों के कानों को चिह्नित करने की यह प्रथा बहुत दिन पीछे तक भारत में प्रचलित रही, क्योंकि पाणिनि के सूत्रों में ऐसे चिह्नों का उल्लेख मिलता है (अष्टा० ६।३।११५)।

गायों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के द्योतक अनेक शब्द वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं, जिनसे आर्यों का इस पशु के साथ गाढ़ परिचय अभिव्यक्त होता है। सफेद गाय को 'कर्की', बच्चा देने वाली जवान गाय को 'गृष्टि', दुधारी गाय को 'धेना' वा 'धेनु', बाँझ गाय (बहिला) को 'स्तरी', 'धेनुष्टरी' वा 'वशा', बच्चा

---

१. पूषात्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वानष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।

(ऋ० १०।१७।२)

बाँझ होने वाली गाय को 'सूतवशा' तथा अकाल में जिसका गर्भ गिरकर नष्ट हो जाता उस गाय को 'वेहत्' कहते थे। वह गाय जिसे अपना बछड़ा मर जाने पर नए बछड़े के लिये मनाने की आवश्यकता होती थी, 'निवान्यवत्सा' या 'निवान्या' (शत० २।६।१।६), 'अभिवान्यवत्सा' (ऐत० ७।२), 'अभिवान्या' या केवल 'वान्या' शब्द से अभिहित की जाती थी। वैदिक ऋषियों को गाय का अपने बछड़े के लिये रम्भाना इतना कर्ण-सुखद प्रतीत होता था कि वे देवताओं को बुलाने के लिये प्रयुक्त अपने शोभन गानों की इसमे तुलना करने में तनिक भी नहीं सकुचाते थे[1]।

वैदिक समाज में बैलों का उपयोग अनेक प्रकार से किया जाता था। वे हल जोतने के लिये तथा बोझवाली गाड़ी खींचने के लिये नियमतः काम में लाए जाते थे। वैदिक ग्रन्थों में बैलों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को सूचित करने वाले अनेक शब्द पाए पाते हैं। बैल के लिये प्रयुक्त साधारण शब्द 'ऋषभ', 'उक्ष' तथा 'उस्रिया' है; दुधमुँहे बछड़े को 'धरुण' डेढ़ साल के बछड़े को 'त्र्यवि', दो साल के बछड़े को 'दित्यवाह', ढाई साल वाले को 'पञ्चावि', तीन साल वाले को 'त्रिवत्स', साढ़े तीन साल वाले को 'तुर्यवाह', चार साल वाले को 'प्रष्ठवाह' कहते थे। इतनी ही अवस्थाओं वाली गायों के लिये क्रमशः 'त्र्यवी' 'दित्यौही', 'पञ्चावी' 'त्रिवत्सा', 'तुर्यौही', 'प्रष्ठौही' शब्दों का प्रयोग किया जाता था (वाज० सं० १८।२६-२७)। जवान बैल को 'वृष' तथा 'ऋषभ'; गाड़ी खींचने में समर्थ बैल को 'अनड्वान' और बधिया किये गए बड़े बैल को 'महानिरष्ट' नाम से पुकारते थे।

अन्य उद्यम

वैदिक आर्य खेती तथा पशु पालन के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार के उद्यम करते थे, जिनमें हाथ के कौशल और कारीगरी की विशेष आवश्यकता पड़ती थी। बढ़ई (तक्षन्), लोहार (कर्मार), वैद्य (भिषक्), स्तोत्र बनाने वाले कारु, कुम्हार (कुलाल), रथ बनाने वाले (रथकार), मल्लाह (कैवर्त, निषाद) तथा बुनकर (वाय) आदि का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया गया है। इन धन्धों को करने में आर्यजनों को पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। अपनी स्वाभाविक रुचि तथा प्रवृत्ति के अनुसार वे लोग अपने लिये पेशे चुन लिया करते थे। अतः

---

१. अभि प्रिया अनूषत गावो वत्सं न मातरः ।
इन्द्रं सोमस्य पीतये ॥ (ऋ० ९।१२।२)

यह कथन कि बढ़ई-लुहार नीच जाति के लोग थे या इन्होंने अपनी अलग एक जाति बना रखी थी, वैदिक काल के लिये नितान्त निराधार है। ऋग्वेद के एक सूक्त (९।११२) में विभिन्न पेशेवालों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का सुन्दर नैसर्गिक वर्णन किया गया है। यह वर्णन स्पष्टवादिता और सादगी के लिए बड़े महत्त्व का है। ऋषि का कथन है कि "बढ़ई टूटी हुई वस्तु चाहता है, वैद्य रोगी को; ऋत्विक् यज्ञ में सोम का रस निकालने वाले यजमान को, कर्मार धनाढ्य को। मैं स्वयं कारु हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं, मेरी माता (नना) जाँत पिसने (उपलप्रक्षिणी) है। हमारे विचार नाना प्रकार के हैं और हम अपनी अभीष्ट वस्तु की ओर उसी प्रकार दौड़ रहे हैं जिस प्रकार गायों की ओर[1]।"

बढ़ई—यह लकड़ी से सब प्रकार की चीजें, विशेषकर रथ तथा गाड़ी (अनस्) बनाने का काम और लकड़ी की चीजों पर नक्काशी का भी काम करता था। कुलिश तथा परशु उसके औजार थे।

रथकार—रथकार का वैदिक समाज में बहुत आदरणीय स्थान था। रथ ही युद्ध में लड़ने वाले आर्य शूर-वीरों की प्रधान सवारी था, अतः उसे बनाने वालों के प्रति आदर की भावना होना स्वाभाविक था।

लोहार—लोहार का उल्लेख अनेक वैदिक संहिताओं में (ऋ० १०।७२।२; अथर्व २।५।६ आदि) आदर के साथ किया गया मिलता है। अथर्ववेद में लोहार, मल्लाह (धीवानः) और रथकार के साथ कारीगरों की सूची में गिना गया है (अथ० ३।५।६)। लोहार आग में लोहे को गलाता था, इसलिए उसे 'ध्मातृ' के नाम से पुकारा जाता था। उसकी धौंकनी पक्षियों के पंखों की बनी बताई गई है। यह नित्य के काम के लिए धातु के बर्तन बनाता था। कभी-कभी सोमरस पीने के लिए धातु के प्याले भी हथौड़े से पीटकर बनाये जाते थे। इस प्रकार लोहार की उपयोगिता वैदिक समाज में बहुत अधिक थी।

बुनकर—लोहार की भाँति बुनकर का भी पेशा महत्त्वपूर्ण था। वैदिक मन्त्रों में इस पेशे से आर्यों का गहरा परिचय दिखाई पड़ता है। पहले रूई को कातकर सूत तैयार किया जाता था। बुनकर का नाम 'वाय' था। ऋग्वेद (१०।२६।६) में प्रयुक्त 'वासो-वाय' (धोती बुनने वाला) शब्द से जान

---

१. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिमे-
न्द्रायेन्द्रो परिस्रव॥ (ऋ० ९।११२।३)

पड़ता है कि उस समय धोती बुनने वालों तथा अन्य वस्त्रों—जैसे चादर, दुपट्टा, कम्बल आदि—के बुनने वालों में भेद माना जाता था। बुनकर के पेशे से सम्बद्ध पारिभाषिक शब्द साधारण व्यवहार के विषय थे। तन्तु (ताना), ओतु (बाना, ऋ० ६।९।२)[1] तंत्र (करघा, ऋ० १०।७१।९); प्राचीनातान (आगे खींचकर बाँधा गया ताना, (तैत्ति० सं० ६।१।१।४) आदि अनेक बार प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द आर्यों के इस कला से गाढ़ परिचय के द्योतक हैं। बुनने की प्रक्रिया भी बहुत कुछ आजकल की सी जान पड़ती है। सूत खूँटियों (मयूख) की सहायता से ताना जाता था (वाज० सं० १९।८०)। बुनने में सहायता देनेवाली ढरकी का नाम 'तसर' था (ऋ० १०।१३०।२)। करघे के लिए 'वेमन' शब्द का प्रयोग होता था। बुनने का काम विशेषतः स्त्रियों के जिम्मे रहता था, जिन्हें 'वयित्री' कहते थे। अथर्व (१०।७।४२) में इसकी पोषक एक अनूठी उपमा का प्रयोग मिलता है। रात्री और दिन को दो बहिनें कहा गया है, जो वर्षरूपी वस्त्र को बुनकर तैयार करती हैं। इनमें रात्रि है ताना तथा दिन है बाना।

सूती धोती (वासस्) रेशमी कपड़े (तार्प्य और क्षौम) तथा ऊनी (वस्त्र कंबल, परिधान आदि)—ये ही बुनने के मुख्य वस्तुयें थीं। ऋग्वेद के अनुशीलन से पता चलता है कि परुष्णी तथा सिन्धु नदियों का प्रदेश और गांधार बढ़िया ऊनी वस्त्रों के लिए विख्यात थे। परुष्णी नदी के तीर पर बहुत ही बढ़िया रंगीन ऊनी वस्त्र तैयार होते थे। मरुत् की स्तुति में उनके परुष्णी ऊन के बने शुद्ध पहनावे का उल्लेख किया गया है।[2] सिंधु नदी के वर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसका प्रदेश वैदिक काल में व्यापार का, विशेषतः सूती तथा ऊनी वस्त्रों के व्यापार का, बड़ा जीता-जागता केन्द्र था। सिंधु देश केवल बढ़िया घोड़ों तथा सुन्दर रथों के ही लिए प्रसिद्ध न था, प्रत्युत सूत तथा ऊन की पैदावार भी वहाँ बहुतायत में होती थी।[3] ऋषि ने इसीलिए सिंधु को 'सुवासा' तथा 'ऊर्णावती' विशेषणों से

---

१. नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः।

२. उतस्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यवः। इस मन्त्र में 'शुन्ध्यव' शब्द से स्वच्छ अथवा रंगीन ऊनी वस्त्र माना जाता है। (ऋ० ५।५२।९)।

३. स्वश्वा सिंधुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्॥
(ऋ० १०।७५।८)

अलंकृत किया है। गांधार की भेड़ें अपने चिकने ऊन के लिए ऋग्वेद-काल में चारों ओर प्रसिद्ध थीं (सर्वाहमस्मि रोमशा गंधारीणामिवाविका—ऋ० १।१२६।७)। इस प्रकार ऋग्वेद के समय में सप्तसिंधव प्रदेश का पश्चिमोत्तर भाग सूत तथा ऊन के व्यवसाय से चमक उठा था। उसके करघों से निकले हुए वस्त्रों की ख्याति आर्यों के घर-घर में फैल गयी थी। इस सम्बन्ध में यह बात बड़े महत्त्व की है कि वैदिक काल में भारत का जो पश्चिमोत्तर प्रदेश रूई तथा ऊन की बढ़िया उपज और औद्योगिक कलाओं के लिए विशेष रूप से विख्यात था, उसमें आज भी यह औद्योगिक परम्परा अटूट दिखाई पड़ती है। आज भी पंजाब के अनेक नगर—लुधियाना, धारीवाल, अमृतसर आदि—सूती तथा ऊनी वस्त्र तैयार करनेवाली मिलों से गूँज रहे हैं और अपनी बढ़िया उपज के लिए भारत भर में प्रसिद्ध हैं।

व्यापार

वैदिक काल में कृषि-कर्म तथा औद्योगिक शिल्पों से उत्पन्न वस्तुओं का क्रय-विक्रय हुआ करता था। व्यापार की उस प्रारम्भिक व्यवस्था में उसका एकमात्र रूप वस्तु-विनिमय ही था। चीज के बदले दूसरी चीज खरीदी जाती थी और इसी अदला-बदली के रूप में वैदिक व्यापार चलता था। हमने सप्रमाण दिखलाया है कि वैदिक काल में गाय ही 'क्रय-विक्रय' की मुख्य माध्यम थी। पर जैसा कि हम देखेंगे, एक प्रकार के सिक्के का भी चलन था। व्यापार करने वालों को 'वणिक्' कहते थे, और उसके कर्म को 'वाणिज्या'। मूल्य के लिए 'शुल्क' तथा 'वस्न' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वैदिककाल में पणि लोग (व्यापारियों का एक वर्ग) जल मार्ग तथा स्थलमार्ग से वस्तुओं का आदान-प्रदान किया करते थे। क्रय सामग्री में खेती तथा उद्योग-धन्धों से उत्पन्न वस्तुएँ होती थीं। सिंधु तथा परुष्णी के प्रदेश के करघों मे तैयार सूती तथा ऊनी माल उस समय सप्तसिंधव के अन्य भागों में अवश्य भेजा जाता रहा होगा और उसका व्यापार जोरों से चलता रहा होगा। अथर्ववेद में दूर्श (वस्त्र), पवस्त (चादर) तथा अजिन (चर्म) खरीदने का उल्लेख मिलता है (अथर्व० ४।७।६)।

भौतिक जीवन की आवश्यक वस्तुओं के सिवा यागानुष्ठान की भी दो-एक उपयोगी वस्तुओं का क्रय-विक्रय उस समय होता था। वैदिक काल में मूर्ति-पूजा का प्रचलन था या नहीं ? इस विषय में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ऋग्वेद—मन्त्रों (४।२४।१०,८।१।५) की छान-बीन से देवताओं की मूर्तियों के

खरीदने और बेचने की बात प्रमाणित की जा सकती है। इतना ही नहीं, सोमलता का भी व्यापार अवान्तर काल में होने लगा था। सोम का मूल निवास 'मूजवत्' पर्वत माना गया है, जो सप्तसिंधव के उत्तर-पश्चिम में अवस्थित था। ज्यों-ज्यों आर्यों का निवास पूरब की ओर बढ़ता गया, त्यों-त्यों मूजवत् पर्वत दूर होता गया और सोमयाग के लिये सोमलता का ले आना कठिन होता गया। इस कार्य के सम्पादन के लिये अनेक व्यक्ति सोमलता का व्यापार करने लगे थे। सोमयाग के आरम्भ में गाएँ देकर सोम खरीदने की विधि है, जो ऐतिहासिक पर्यालोचन से बहुत ठीक जमती है।

वैदिक काल में बाजार अवश्य थे, क्योंकि अनेक स्थलों पर वस्तुओं को खरीदने के समय भाव-ताव करने का निःसंशय उल्लेख मिलता है। जो शर्त दूकानदार और ग्राहक के बीच एक बार निश्चित हो जाती थी वह कथमपि तोड़ी नहीं जाती थी। ऋग्वेद (४।२४।९) के एक मन्त्र में भाव-ताव करने और शर्त न तोड़ने का वर्णन बहुत स्पष्ट है। मन्त्र का आशय यह है कि एक मनुष्य ने बड़े दाम की चीज कम मूल्य पर एक ग्राहक के हाथ बेंच डाली। पता चलने पर वह ग्राहक के पास आया और यह कहकर कि मेरी चीज बिना बिकी (अविक्रतं) समझी जानी चाहिए, अपनी चीज वापस लेने पर उतारू हो गया, परन्तु ग्राहक अड़ गया और चीज नहीं लौटाई। निर्धन (दीन) तथा धनिक (दक्ष) दोनों प्रकार के मनुष्यों को अपनी की हुई शर्तों को मानना ही पड़ता था[1]।

स्थल-व्यापार—वैदिक काल में बहुत से पशु माल-असबाब ढोने के काम में लाए जाते थे। आर्यों ने अपनी चातुरी से इन्हें पाल-पोस कर घरेलू बना लिया था। ऐसे पशुओं में बैल (बध्रिया, 'वध्रयः'—ऋ० ८।४६।३०), घोड़े, ऊँट (उष्ट्र, १।१०४), गदहे (रासभ—ऋ० १।३४।९), कुत्ते (ऋ० ८।४६।२८) तथा भैंसे (महिष—ऋ० ८।१२।८) प्रधान थे। बैल हल जोतने के काम में तो आते ही थे, साथ ही वे गाड़ी खींचते तथा बोझ भी लादते थे। घोड़ों का भी उपयोग रथ तथा बोझ दोनों के लिये होता था। गदहे रथ में जोते जाते तथा बोझा ढोते थे। सप्तसिंधव के आसपास जो अनेक मरुस्थल (धन्व) थे उनमें माल ढोने का काम ऊँटों से लिया जाता था। कुत्तों से यह काम लिए जाने की बात सुन कुछ आश्चर्य होता है (अश्वेषितं रजेषितं शुनेषितं—ऋ०

---

१. भूयसा वस्नमचरत् कनीयोऽविक्रीतं पुनर्यन् ।
स भूयसा कनीयो नारिरेचीद् दीना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम् ॥
(ऋ० ४।२४।९)

८।४६।२८), परन्तु कुत्ता कृषक आर्यों के लिए बड़े काम का जानवर था। वह चोरों तथा दूसरे आक्रमणकारियों से घर की रक्षा करता और उसके द्वारा सुअर का शिकार भी किया जाता था। वह बहुत बलवान् होता था, अतः बहुत सम्भव है कि पणियों का 'सार्थ' (काफिला) कुत्तों की पीठ पर माल लाद कर व्यापार के लिए सप्तसिंधव प्रदेश में एक जगह से दूसरी जगह ले जाता था।

सामुद्रिक व्यापार—वैदिक काल में समुद्र से व्यापार होता था या नहीं, इस प्रश्न की पाश्चात्य विद्वानों ने गहरी छानबीन की है। उनकी यह निश्चित धारणा है कि ऋग्वेद के समय में आर्यों को समुद्र की जानकारी न थी तथा उस समय सामुद्रिक व्यापार का सर्वथा अभाव था, परन्तु ऋग्वेद के अनुशीलन से इस धारणा को उन्मूलित करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। ऋग्वेद के मन्त्रों में साधारण नावों के अतिरिक्त सौ डाँड वाली (शतारित्रा) बड़ी नाव का स्पष्ट उल्लेख है[१]। उसके पंख (पतत्रि) भी कहे गये हैं। वहाँ पंखों से मतलब पालों से है[२]। नासत्यौ (अश्विन्) के अनुग्रह से 'शतारित्र' नाव पर चढ़कर समुद्र-यात्रा करनेवाले तुग्र-पुत्र भुज्यु के उद्धार का उल्लेख ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों (१।११२।६, ६।६२।७, १०।४०।७, १०।६५।१२ आदि) में किया गया है। जान पड़ता है कि इन देवों ने भुज्यु को समुद्र के बीच जहाज में डूबने से बचाया था। वरुण देव की स्तुति में शुनःशेप ऋषि का कहना है कि वे आकाश से जानेवाले पक्षियों के ही मार्ग को नहीं जानते, अपितु समुद्र पर चलनेवाली नावों के मार्ग से भी वे परिचित हैं[३]। इन निर्देशों से ऋग्वेद-काल में ही वैदिक आर्यों के समुद्र से परिचित होने तथा जहाजों द्वारा उनके उसे पार करने के उद्योग का भली-भाँति पता चल जाता है।

समुद्र-मार्ग से व्यापार होने की बात भी अनेक मन्त्रों से आभासित होती है। आर्यजन मोती से भली-भाँति परिचित थे। ऋग्वेद में मुक्ता का नाम है '**कृशन**', जिससे सविता के रथ को अलंकृत किए जाने का उल्लेख है[४]। घोड़ों के अलंकरण के

---

१. शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्। (ऋ० १।११६।५)।

२. युवं भुज्युं समुद्र आ रजसः पार ईङ्खितम्।
यातमच्छा पतत्रिभिर्नासत्या सातये कृतम्॥
(ऋ० १०।१४३।५)

३. वेदा वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्, वेद नावः समुद्रियः।
(ऋ० १।२५।७)

४. अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्। (ऋ० १।३५।४)

लिये मोतियों का प्रयोग होता था; ऐसे अलंकृत घोड़ों को 'कृशनावन्त' कहते थे[1]। अथर्ववेद (४।१०।१, ३) मोती पैदा करनेवाले शंख (शंखः कृशनः) को जानता है, जो समुद्र से लाए जाते और ताबीज बनाने के काम में प्रयुक्त होते थे। मोती दक्षिण-भारत के समीपस्थ सागर के किनारे पैदा होता है। अतः यदि कहा जाय कि आर्य लोग समुद्र के रास्ते आकर इस मूल्यवान् वस्तु को खरीदते थे; तो अत्युक्ति न होगी।

सिक्के—व्यापार के लिये विनिमय-कार्य के निमित्त गाय की महती उपयोगिता थी, परन्तु किसी प्रकार के सिक्कों का भी चलन उस समय अवश्य था, इसके अनेक प्रमाण वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं। एक प्रकार का सिक्का 'निष्क' था। निष्क का मूल अर्थ तो सुवर्ण का आभूषण था, क्योंकि इसी अर्थ में निष्कग्रीव (ऋ० ५।१९।३) तथा निष्ककंठ शब्दों में इसका प्रयोग मिलता है। व्रात्य लोगों के चाँदी के निष्क पहिनने का उल्लेख पंचविंश-ब्राह्मण (१७।१।१४) करता है। कक्षीवान् ऋषि ने किसी दानी राजा से सौ निष्क तथा सौ घोड़े पाने की बात लिखी है[2], जिसमें निष्क के एक प्रकार का सिक्का होने के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। पिछले ग्रन्थ में तो निष्क निश्चित रूप से विशिष्ट प्रकार की मुद्रा का ही बोधक है (अथर्व २०।१२७।३; शतपथ १०।४।१।१; गोपथ १।३।६)। एक मन्त्र में प्रयुक्त 'मना' भी किसी प्रकार का सिक्का ही जान पड़ता है। वैदिक 'मना', ग्रीक 'मना' तथा रोमन 'मिना' के परस्पर सम्बन्ध के विषय में जानकारों में काफी मतभेद है।

अनेक वैदिक ग्रन्थों में 'हिरण्यं शतमानं' शब्द उपलब्ध होते हैं, जिनमें सोना तौलने के किसी 'मान' की ओर संकेत किया गया है। वैदिक ग्रन्थों से जान पड़ता है कि सोना तौलने का एक मान था 'कृष्णल'। मनु के अनुसार चार कृष्णालों का एक माष (माशा) होता था। अवान्तर काल मे कृष्णल का नाम रक्तिका (रत्ती) तथा गुंजा है, जो रत्ती नामक लता का लाल बीज होता है, जिसके ऊपर एक काला धब्बा रहता है। इस प्रकार वैदिक-काल मे सोने को तौलने का रिवाज था।

ऋण—उस समय ऋण लेने की भी प्रथा थी, विशेषतः जूआ खेलने के अवसर पर। ऋण चुका देने के लिये ऋग्वेद में 'ऋणं संनयति' वाक्य का प्रयोग

---

१. मदच्युतः कृशनावतो अत्यान् कक्षीवन्त उदमृक्षन्त पज्राः।
(ऋ० १।१२६।४)

२. शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्काञ्छतमश्वान् प्रयताम् सद्य आदम्।
(ऋ० १।१२६।२)

मिलता है। ऋण न चुकाने का फल बड़ा बुरा हुआ करता था। द्यूत में ऋण-परिशोध न करने पर द्यूतकर को जन्म भर दासता स्वीकार करनी पड़ती, अथवा चोरों के समान ऋणियों को खम्भों (द्रुपद) में बाँधा जाता था (अथर्व ६।११५।२-३)। व्याज की दर का पता ठीक नहीं चलता; एक जगह (८।४७।१७, अथर्व ६।४६।३) ऋण के आठवें भाग (शफ) तथा सोलहवें भाग (कला) को चुकाने की बात मिलती है, परन्तु यह स्पष्ट रूप से नहीं ज्ञात होता कि यह व्याज का भाग था या मूलधन का। पूर्वजों द्वारा लिए गये ऋण उनके वंशजों द्वारा चुकाए जाते थे। ऋग्वेद के एक मार्मिक मन्त्र में ऋषि इस प्रकार के ऋण-परिशोध के लिये वरुण से प्रार्थना करता है—'हे वरुण, पूर्वजों द्वारा लिए गए ऋणों को हटा दीजिये तथा मेरे द्वारा लिए गए ऋणों को भी दूर कर दीजिए। दूसरे के द्वारा उपार्जित धन (या ऋण) से मैं जीवन निर्वाह करना नहीं चाहता। बहुत सी उषाएँ मेरे लिये उषाएँ ही नहीं हैं (अर्थात् उदित ही नहीं होतीं)। हे वरुण! आप आज्ञा दीजिए और मुझे उन उषाओं में जीवित रखिए।' यह मन्त्र[1] ऋणकर्ता की गहरी मानसिक वेदना तथा चिंता प्रकट करता है। पूर्व दिशा में नित्य प्रभात होता था तथा उषाएँ अपनी सुनहली प्रभा से जगत् को रंजित करती थीं, किन्तु ऋण के बोझ से दबे चिन्तित पुरुष के लिये उनका उदित होना न होना बराबर था।

पणि लोग उस समय व्यापर के लिये विशेष प्रसिद्ध थे। वे ऋण दिया करते थे, परन्तु व्याज बहुत अधिक खाते थे। इसीलिये वे ऋग्वेद में 'वेकनाट' कहे गए हैं[2]। निरुक्त के अनुसार 'वेकनाट' सूदखोरों को कहते थे, जो अपने रूपयों को दुगुना बनाने की कामना करते थे—'**वेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा, द्विगुणं कामयन्ते इति वा**' (निरुक्त, ६।२७)।

इस प्रकार वैदिक आर्यों के आर्थिक जीवन का इतिहास उन्हें शिष्ट, सभ्य तथा सम्पन्न सिद्ध करने के लिये पर्याप्त माना जा सकता है।

---

१. पर ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास आ नो जीवान् वरुण तासु शाधि॥
(ऋ० २।२८।९)

२. इन्द्रो विश्वान् वेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणींरभि॥
(ऋ० ८।६६।१०)

पञ्चदश परिच्छेद

राजनैतिक दशा

वेदों के अनुशीलन से उस युग की राजनैतिक दशा तथा शासन-सम्बन्धी धारणाओं का परिज्ञान हमें भलीभाँति होता है। ऋग्वेद काल के प्रत्येक जन (जाति) का आधिपत्य राजा के हाथ में होता था। राजसत्ता का प्रादुर्भाव वेद की दृष्टि में युद्धकाल से सम्बन्ध रखता है। ऐतरेय-ब्राह्मण (१।१४) की मान्यता के अनुसार देवों ने विचार किया था कि असुरों के हाथों हमारे पराजय का यही कारण है कि हम लोग राजा से विहीन हैं। अत एव उनलोगों ने एक बलिष्ठ तथा ओजिष्ठ इन्द्र को अपना राजा बनाया। इससे स्पष्ट है कि वैदिक काल में राजपद निर्वाचन का विषय था और इसकी उत्पत्ति युद्धकाल में हुई। 'समिति' में एकत्र होनेवाली प्रजा के द्वारा राजा चुना जाता था। उपस्थित प्रजा एक राय होकर राजा को उसके महनीय पद के लिए चुनती थी और इससे विश्वास किया जाता था कि वह अपने पद से कभी भ्रंश को न पावेगा। अथर्व वेद (७।८७–८८) तथा ऋग्वेद (१०।१७३) में पूरा सूक्त ही राजा के निर्वाचन के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्र में समिति के द्वारा राजपद के निर्माण की धारणा स्पष्टतः घोषित की गई है—

> ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रून्-
> छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व।
> सर्वा दिशः समनसः सध्रीची
> ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह॥
>
> (अ० वे० ६–८८–३)

अपने कर्तव्य से च्युत होने पर राजा अपने पद तथा देश से च्युत कर दिया जाता था तथा अपने दोषों को स्वीकार करने पर वह फिर से चुना जाता था। इस पुनः स्थापना तथा प्रजा के द्वारा राजा के संवरण का उल्लेख अथर्व के दो सूक्तों में (३।३; ३।४) विशदतया किया गया है। विश् के द्वारा राजा के संवरण का निर्देश यह मन्त्र करता है—

> त्वां विशो वृणतां राज्याय
> त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
> वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व
> ततो न उग्रो विभजा वसूनि॥
>
> (अथर्व ३।४।२)

राज सिंहासन पर बैठने के बाद राजा के बनाने वालों से (राजकृतः) जो पिछले युग के प्रमाणों पर राज्य के उच्च अधिकारी या मन्त्री हुआ करते थे, अपने प्रभुशक्ति के प्रतीकात्मक 'मणि' को प्राप्त किया करते थे। अथर्व ३।५ में ऐसे अवसर पर राजा के द्वारा कहे गए वाक्यों का निर्देश है, जिसमें वह पलाश-पर्ण या मणि से अपनी प्रजा को अनुकूल तथा सहायक बनाने की प्रार्थना करता है। राज अपने जीवन-काल के लिए निर्वाचित होता था। उसकी सहायता के निमित्त दो विशिष्ट जनसंघों का निर्देश ऋग्वेद में मिलता है, जिसमें से एक का नाम था **समिति** तथा दूसरी का नाम था **सभा**। इन संसदों का पृथक्-पृथक् क्या कार्य था? इसके विषय में विद्वानों में एकवाक्यता नहीं है, परन्तु अधिकांश वेदज्ञों की सम्मति में, समिति पूरे राष्ट्र की संस्था थी जिसमें राष्ट्र की समस्त जनता एकत्र होकर राजा का निर्वाचन किया करती थी, तथा निर्वासित राजा को बुलाकर उसका पुनः निर्वाचन करती थी। समिति में राजा की उपस्थिति अनिवार्य थी। राजा का यह कर्तव्य था कि वह समिति में अवश्य जाय। ऋग्वेद में समिति में जाने वाले सच्चे राजा का निर्देश उपमानरूपेण किया गया है (**राजा न सत्यः समितीरियानः—ऋ० ९।९२।२।६**) छान्दोग्य के अनुसार जब श्वेतकेतु आरुणेय गौतम पञ्चालों की समिति में गये थे, तब उनके राजा प्रवाहण जैवलि वहाँ उपस्थित थे तथा उनसे पाँच अध्यात्मविषयक प्रश्नों को पूछा (छान्दोग्य ५।३)। इस घटना का तात्पर्य यह है कि समिति जातिय राष्ट्र-सभा ही न थी, प्रत्युत एक जातीय साहित्य-सभा के भी समान थी।

सभा—समिति के समान तथा समकक्ष एक अन्य राजनैतिक संगठन था जो सभा के नाम से विख्यात था। सभा और समिति दोनों ही प्रजापति की पुत्रियाँ मानी गई हैं (**सभा च सा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने**—अथर्व० ७।१२।१)। दोनों ही जनता के द्वारा चुनी गई संस्थायें थीं; अथर्व के एक मन्त्र में सभा '**नरिष्टा**' के नाम से मण्डित है[1]। सायण-भाष्य[2] के अनुसार इस शब्द का तात्पर्य यह है कि सभा में अनेक लोग मिलकर जिस निर्णय पर

---

१. **विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।**

(अथर्व० ७।१२।२)

२. **नरिष्टा अहिंसिता परैरनभिभाव्या। बहवः संभूय यद्येकं वाक्यं वदेयुः॥ तद्धि न परैरतिलङ्घ्यम्। अतः अनभिलङ्घ्यवाक्यत्वाद् नरिष्टेति नाम॥**

(सायण-भाष्य)

पहुँचते थे वह सब के लिए अनुलंघनीय होता था। सभा में सभासदों के बीच किसी विशेष प्रश्न के ऊपर स्वतन्त्रतापूर्वक विवाद होता था तथा निर्णीत सिद्धान्त सब के लिए मान्य और अनिवार्य होता था। इसीलिए शुक्लयजुर्वेद की सांस्कृतिक प्रार्थना (२२।२२) में युवा पुरुषों को सभा में योग्य होने की मनीषा प्रकट की गई है (**सभेयो युवा**)। समिति तथा सभा के निर्वाचन में एक पार्थक्य दृष्टिगत होता है। समिति में जन-साधारण को स्थान मिलता था; परतु इसके विपरीत सभा में राष्ट्र के वृद्धों को ही स्थान मिलता था। **"न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः" 'न सभा यत्थ न सा संति संतो"** (जातक की गाथा)-आदि वाक्यों का निष्कर्ष यही है कि सभा राष्ट्र के वृद्धों की एक विशिष्ट संस्था थी। इसका कार्य अपराधियों के अपराध का निर्णय करना तथा तदनुसार दण्डविधान होता था, क्योंकि पारस्कर-गृह्यसूत्र (३।१३) में सभा के लिए 'नादि' तथा 'त्विषि' शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिनका तात्पर्य जयराम की व्याख्या के अनुसार धर्म-निरूपण करने से 'नदनशील तथा दीपनशील' (**नदनशीला दीप्ता धर्मनिरूपणात्**) प्रतीत होता है। फलतः सभा उच्च न्यायालय का कार्य-सम्पादन करती थी। इन्हीं की सहायता से राजा अपने कार्य का निर्वाह करता था।

राजा का कर्तव्य केवल शान्तिकाल में प्रजा का पालन ही नहीं होता था, परन्तु उसका एक प्रधान कार्य युद्ध के समय शत्रुओं के आक्रमणों से अपनी प्रजा की रक्षा करना भी था। राजा स्वयं युद्ध में जाता था तथा उसके साथ उसका सेनानी (सेनापति) और पुरोहित भी अवश्यमेव रहते थे। पुरोहित का काम युद्धस्थल में देवताओं की प्रार्थना कर राजा को विजय में सहायता करना होता था। दाशराज्ञ युद्ध के अवसर पर सुदास के साथ उनके पुरोहित वसिष्ठ के रहने तथा विजय के निमित्त देव-प्रार्थना करने का स्पष्ट निर्देश मिलता है (ऋग्० ७।८३।४)। इस प्रसंग में पुरोहित की महत्ता पर ध्यान देना आवश्यक है।

ब्राह्मण-काल में राजा का पद नितान्त प्रतिष्ठित हुआ तथा उसके अधिकारों में भी विशेषरूप से वृद्धि सम्पन्न हुई। अभिषेक के निमित्त उपादेय यागों में **राजसूय** महत्त्वशाली है। उसके स्वरूप की मीमांसा करने से राजा की प्रभुशक्ति के गौरव का परिचय मिलता है। राजा होने के निमित्त राजसूय का विधान नियत किया गया था। कालान्तर में अश्वमेध का अनुष्ठान सम्राट् तथा चक्रवर्ती पद के लिए आवश्यक बतलाया गया है (शतपथ-ब्राह्मण १३ काण्ड)। ११ अधिकारी **'रत्नी'** के नाम से प्रख्यात थे, जिनके पास अभिषेक से पहिले राजा को जाना

आवश्यक था। इनके नाम ये हैं (शतपथ ५।३।१):—(१) सेनानी (सेना का अध्यक्ष), (२) पुरोहित, (३) अभिषेचनीय राजा, (४) महिषी (राजा की पटरानी), (५) सूत, (६) ग्रामणी (ग्राम या पंचायत का अध्यक्ष), (७) क्षत्तृ, (८) संग्रहीतृ (कोषाध्यक्ष), (९) भागदुह (प्रजाओं से कर वसूल करने वाले अधिकारी), (१०) अक्षावाप (रूपये-पैसों के हिसाब रखने वाले अफसर), (११) गोविकर्तृ (जंगल का अधिारी)। वेद में उल्लिखित 'राजकृतः' के ही ये ब्राह्मणयुगीन प्रतिनिधि थे।

अभिषेक का महत्त्व

ब्राह्मण-ग्रन्थों में राज्याभिषेक का बहुशः वर्णन मिलता है, जो राजनैतिक दृष्टि से बड़ा ही महत्त्व रखता है। शतपथ (५।३।५।२) तथा तैत्तिरीय-ब्राह्मण (१।७।१०।१–६) में इस अवसर पर राजा जो प्रतिज्ञा करता है उसका उल्लेख-मात्र है, परन्तु इसका पूरा वर्णन ऐतरेय-ब्राह्मण में ऐन्द्र महाभिषेक के अवसर पर दिया गया है। देवों में इन्द्र अत्यन्त बलशाली, ओजिष्ठ तथा सहिष्णु थे और इन्हीं गुणों से मुग्ध होकर देवों ने उन्हें अपना राजा बनाया तथा उनका 'महाभिषेक' संस्कार सम्पन्न किया गया। क्षत्रिय राजाओं का भी महाभिषेक इसी पद्धति पर किया जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रदत्त अभिषेक के अवसर पर राजा अपनी प्रजा के सामने एक बड़ी प्रतिज्ञा करता है जिसका राजनैतिक मूल्य बहुत ही गम्भीर तथा सातिशय है। राजा श्रद्धा के साथ वह प्रतिज्ञा उद्घोषित करता है—

> यां च रात्रिमजायेऽहं यां च प्रेतास्मि, तदुभयमन्तरेण इष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येयमिति ॥
>
> (ऐत० ब्रा० ८।३।१५)

अर्थात् जिस रात को मैं पैदा हुआ तथा जिस रात को मैं मरूँगा इन दोनों के बीच में जितने यज्ञीय अनुष्ठान मैंने किये हैं, उनसे तथा स्वर्गलोक, मेरे जीवन, मेरी सन्तात से वञ्चित हो जाऊँ यदि मैं तुमसे द्रोह करूँ (पीड़ा पहुँचाऊँ)। यह प्रतिज्ञा राज्य की प्राप्ति के अवसर पर अवश्यमेव कहनी पड़ती है। इस घोषणा के अनन्तर उसे व्याघ्रचर्म से आच्छादित कर आसन्दी (काष्ठ-निर्मित सिंहासन) पर बैठने के लिए आज्ञा दी जाती है तथा पुरोहित उसके ऊपर सोने की थाली से एक सौ या नव छिद्रों से बहने वाले जल के द्वारा अभिषेक करता है तथा शुक्लयजुर्वेद के कतिपय मन्त्रों (९।४०, १०।१७–१८) का

इस प्रसंग में उच्चारण करता है। तीन सीढ़ी ऊपर चढ़कर राजा लकड़ी के सिंहासन पर बैठता है और तब उसे राज्यपद प्रदान किया जाता है। इस अवसर पर प्रयुज्यमान वाक्य बड़े ही महत्त्व के हैं—

इयं ते राट्···यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥

(शत० ब्रा० ५।२।१।२५)

'तुमको यह राष्ट्र दिया जाता है···तुम इसके नियमन करने वाले हो, तुम दृढ़ हो तथा धारणकर्ता (राज्य या उत्तरदायित्व के योग्य) हो। कृषिकर्म के लिए, कल्याण के लिए, समृद्धि के लिए तथा पुष्टि के लिए तुम्हें (यह राज्य दिया गया है)। इन वाक्यों के अनन्तर वह आसन ग्रहण करता है। इन वाक्यों के अनुशीलन करने से वैदिक कालीन राज्यविषयिणी धारणा का भव्य रूप हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। राज्य राजा को किसी दैवी शक्ति से प्राप्त नहीं हुआ है, प्रत्युत वह मानवों की ही एक सृष्टि है। राज्य-दान नहीं है, प्रत्युत एक संरक्ष्य वस्तु है; जिसकी रक्षा करना राजा का उच्चतम लक्ष्य है। राज्य राजा को किसलिए दिया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर इन वाक्यों में सुन्दरता से दिया गया है। राज्य भोग की वस्तु नहीं है जिसे राजा अपनी स्वच्छन्द अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए उपयोग करता है, प्रत्युत उसका प्रधान कर्तव्य कृषि के द्वारा उसमें समृद्धि उत्पन्न करना, कल्याण तथा पुष्टि सम्पन्न करना होता है। इस कथन से वैदिक राजा के कर्तव्यों का पूरा परिचय हमें मिलता है।

अभिषेक के अवसर पर की गई प्रतिज्ञा हमें इस निष्कर्ष पर पहूँचाती है कि राजा प्रजा का यथार्थतः सेवक है; प्रजा के कल्याण के निमित्त वह एक प्रतिष्ठापित पदाधिकारी है। जब तक उस प्रतिज्ञा का निर्माता है तब तक वह सिंहासन पर बैठने की योग्यता रखता है, अन्यथा वह हटाया जा सकता है। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीनकाल से हिन्दू राजा स्वेच्छाचारी नरपति कभी नहीं होता था। सभा तथा समिति की सहायता से राष्ट्र का मंगल साधन करना ही वैदिक राजा का चरम लक्ष्य है।

शासन-पद्धतियाँ

ऐतरेय ब्राह्मण के ऐन्द्र महाभिषेक (८।२) के अध्ययन से वैदिक युग में प्रचलित अनेक शासन पद्धतियों से भी हमे परिचय मिलता है, परन्तु इन पद्धतियों के यथार्थ रूप का थोड़ा पता अवान्तरकालीन राजनीतिशास्त्र के

ग्रन्थों की तथा राजाओं के शिलालेखों की सहायता से चलता है। इन्द्र का अभिषेक दक्षिण दिशा में भौज्य के लिए किया गया है। भौज्य ब्राह्मणयुग की एक शासन पद्धति थी जिसमें गणराज्य की स्थापना मान्य थी। ऐतरेय के अनुसार यह पद्धति सात्वत राजाओं (=अर्थात् यादवों) में प्रचलित थी। महाभारत के अनुसार यादव लोगों का अन्धक-वृष्णि नामक संघ था। अतः भौज्य शासन गणराज्य का एक विशिष्ट प्रकार का शासन था। स्वाराज्य का राजनैतिक विधान उस प्रणाली से सम्बद्ध है जिसमें गणों के ऊपर एक अध्यक्ष (या राष्ट्रपति) शासन करता था। वाजपेय यज्ञ करने का फल स्वाराज्य की प्राप्ति बतलाया गया है[1]। स्वाराज्य वह शासन है जिसमें कोई भी व्यक्ति समान व्यक्तियों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त करता है। गण के समस्त सभासद् 'सदृशाः सर्वे' माने जाते थे और इसलिए 'अग्रं समानानां पर्येति' का तात्पर्य गणराज्य के अध्यक्ष-पद पाने से है। फलतः 'स्वाराज्य शासन' भी गणतन्त्रीय शासन-विधान है। वैराज्य पद्धति का प्रचार ऐतरेय के अनुसार उदीच्य देशों में हिमालय से भी आगे (परेण हिमवन्तम्) था, जहाँ उत्तरकुरु तथा उत्तर-भद्र नामक जातियाँ निवास करती थीं 'वैराज्य' का अर्थ है राजा से रहित देश। फलतः यह एक विशिष्ट प्रजातन्त्रीय शासन-पद्धति थी जिसमें राजा का नितान्त अभाव था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में 'वैराज्य' की निन्दा की है, क्योंकि इसमें कोई भी राष्ट्र के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं समझता; कोई भी उसमें ममता नहीं रखता, कोई भी राष्ट्र को बेंच सकता है, अथवा विरक्त होने पर राज्य छोड़कर कोई व्यक्ति चला भी जाता है। इन दोषों की सत्ता के कारण यह शासन विधान नितान्त गर्हणीय माना जात था। 'वैराज्य' का अर्थ पिछले टीकाकारों ने सुशोभित होना लिखा है, परन्तु यह राजनिति का शब्द है। महाभारत में भी राजा 'विराट्' के नाम से निर्दिष्ट किया गया है (राजा भोजो विराट् सम्राज्—शान्ति पर्व, अध्याय ५८, श्लोक ५४)।[2]

---

१. य एवं विद्वान् वाजपेयेन यजति, गच्छति स्वाराज्यम्। अग्रं समानानां पर्वैति। तिष्ठन्तेऽस्मै ज्यैष्ठ्याय।

(तैत्ति० ब्रा० १।३।२२)

२. इन शब्दों की विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य के० पी० जायसवाल—'हिन्दू पालिटी' पृष्ठ ८९–९४; कलकत्ता १९२४।

ऐतरेय में **सम्राज्य**-पद्धति का प्रचलन भारत की प्राची दिशा में बतलाया गया है तथा मध्यदेश में जहाँ कुरुपंचालों का निवास था, राज्य-पद्धति का प्रसार अंगीकृत है। ब्राह्मण-ग्रन्थों से हम भली-भाँति जानते हैं कि कुरु तथा पंचाल देशों पर शासन करनेवाला **राजा** कहलाता था। छन्दोग्य (पष्ठ प्रपाठक) में पाँचालों के राजा का नाम प्रवाहण जैवलि दिया गया है। इस प्रकार वैदिक युग में गणतन्त्र तथा राज्यतन्त्र दोनों प्रकार के शासन-विधान के दृष्टान्त मिलते हैं। निष्कर्ष यही है कि वैदिक आर्य शासन दृष्टि से भी एक सुव्यवस्थित राष्ट्र के अधीन थे।

*

षोडश परिच्छेद

धार्मिक जीवन

वैदिक धर्म के स्वरूप के वर्णन से पूर्व सामान्य धर्म की व्याख्या अपेक्षित है। इसलिए आरम्भ में धर्म का स्वरूप, उसका वैशिष्ट्य एवं प्राणियों के लिए उसका प्रयोग—इन विषयों की व्याख्या की जायगी। धर्म शब्द 'धृ' धातु (धृञ् धारणे) से निष्पन्न है, अतः 'धर्म धारणकारी है'—यह अर्थ प्रतीत होता है। संपूर्ण विश्व में सभी पदार्थ एवं द्रव्यों के संयोग तथा एकत्र धारण से जीवन का निर्वाह होता है। धर्म का उद्भव ही इस निर्वाह के लिए है। सूर्य, चन्द्र, तारा-मण्डल और पृथ्वी आदि पदार्थ परस्पर के उपकार्य-उपकारकभाव से विधृत हैं और वे परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट अपने-अपने विशिष्ट कार्यों को करने में समर्थ होते हैं। मानवों को अपने उत्कर्ष-साधन के लिए समाज की अपेक्षा है। समाज का समाजत्व इसी में है कि वह विभिन्न प्रकार की मानसवृत्तियों से युक्त व्यष्टि मानवों की स्थिति का सामंजस्य करता है। यही कारण है कि धर्म में ही समाज की प्रतिष्ठा है; केवल मानव समाज की ही नहीं, प्रत्युत संपूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा धर्म में है। इस विषय में यह श्रुतिवाक्य है—'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' (धर्म ही विश्व का आश्रयभूत है)।

चोदना लक्षण अर्थ को धर्म कहा जाता है। चोदना का अर्थ है—वेद-प्रतिष्ठित मन्त्र द्वारा प्रतिपाद्यमान प्रेरणा, जो विधिरूप है। धर्म का प्रतिपादन मुख्यतया वेद में ही किया गया है। यही कारण है कि संप्रदायविद् आचार्य 'वेद की अबाधित शक्ति है' ऐसा प्रतिपादन करते हैं। शाबरभाष्य में कहा गया है—'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोति अवगमयितुम्।' वेद के प्रामाण्य से ही स्मृतियों तथा लोक-प्रसिद्धि आदि का प्रामाण्य माना जाता है, स्मृति वेद-मूलिका है और लोक-सिद्धि वेद-स्मृति मूलक है। अपौरुषेय (जिसमें पुरुषकर्तृता का अभाव है) वेद के द्वारा प्रतिपादित होने के कारण धर्म की अपौरुषेयता अवश्य ही सिद्ध होती है। धर्म देश या काल से यथार्थतः परिच्छिन्न नहीं होता; देश और काल से अपरिच्छिन्न होना ही धर्म का धर्मत्व है।

धर्म का लक्षण—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः', अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो वह धर्म है। श्रुति द्वारा जो कर्म विधि-रूप से विहित होते हैं, वे धर्म हैं—ऐसा कहा जाता है। श्रुति द्वारा जो कर्म निषिद्ध होते हैं, वे अधर्म कहलाते हैं, क्योंकि धर्माधर्म की व्यवस्था में वेद का ही परम प्रमाण्य है। इस विषय में भागवत में व्यास का यह गंभीरार्थ प्रतिपादक वचन मिलता है—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुम॥

(६।१।४०)

धर्म चूँकि भगवत्-प्रणीत है इसलिए धर्म का ज्ञाता और बोद्धा एक भगवान् ही है, ऋषि, देव और सिद्ध नहीं; मनुष्य, विद्याधर, चारणादि की तो बात ही क्या है! इस विषय में भागवत में कहा गया है—

धर्मं तु साक्षात् भगवत्-प्रणीतं
न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः
कुतश्च विद्याधरचारणादयः॥

(६।३।१९)

धर्म के आश्रय से ही इस लोक में प्राणियों को अभ्युदय प्राप्त होता है तथा परलोक में निःश्रेयसरूप मुक्ति मिलती है। धर्म का जो विधायकरूप है, वह महाभारत में व्यास द्वारा अनेक वचनों से प्रतिपादित हुआ है, यथा—

धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

(शान्ति० १०८।११)

धर्म का वैशिष्ट्य—धर्म का प्रधान वैशिष्ट्य है—अधिकारिभेद को स्वीकार करना। चूँकि मानवों में बुद्धि और स्वभाव आदि की अत्यन्त भिन्नता है, इसलिए सभी लोग एक प्रकार के धर्मोपदेश का अनुवर्तन नहीं कर सकते हैं। जो धर्म योग्यतानुसार निर्दिष्ट किया जाता है, वही सदा हितावह और श्रेयस्कर होता है। सभी मनुष्य समान योग्यता से युक्त नहीं होते, क्योंकि मनुष्यगत सत्त्वादि गुणों का परस्पर के प्रति उपचय-अपचय होता रहता है, जिससे मनोवृत्तियों में अनेकरूपता उत्पन्न हो जाती है।

कर्मसिद्धान्त को स्वीकार करना द्वितीय वैशिष्ट्य है। इस लोक में जिस अवस्था-वैषम्य का प्रतिदिन अनुभव होता है, उसका सामंजस्य कर्मसिद्धान्त से ही किया जा सकता है। कुछ धनवान् सुखपूर्वक कालयापन करते हैं, कुछ लोग हीनावस्था में रहकर क्लेशपूर्वक समय काटते हैं। इस दशा-वैषम्य का हेतु क्या है? जब व्यक्तियों के जनकरूप परमेश्वर में किसी के प्रति निर्घृणता की कल्पना नहीं की जा सकती, तब यही निश्चय करना पड़ता है कि अपनी अवस्था के विपर्यय में प्राणियों का अपना कर्म ही कारण है। इन दो वैशिष्ट्यों का आश्रय लेकर ही सभी समस्याओं का समाधान विद्वान् कर सकते हैं।

अन्य मत में अधिकारिभेद को स्वीकार न करने के कारण उन मतों के सभी अनुयायियों के लिए समान ही उपदेश दिया जाता है। ऐसा उपदेश अत्यन्त अनुचित है। उन-उन मतों के सभी अनुयायी समान बुद्धिवैभव युक्त नहीं होते हैं, अतः एक समान ही धर्म को अंगीकार करना उचित नहीं होता है। कर्मसिद्धान्त को यदि अस्वीकार किया जाय तो सर्वत्र प्रतिदिन प्रतिक्षण अनुभूयमान व्यवहारभेद का समर्थन किसी भी उचित तर्क से किसी भी प्रकार से नहीं किया जा सकता। इसलिए वेदप्रतिपाद्य धर्म का माहात्म्य विद्वज्जनों को स्वीकार करना ही चाहिए, क्योंकि इस मार्ग में ही धर्मोपदेश में अधिकारिभेद और कर्मसिद्धान्त स्वीकार किए गए हैं।

वैदिकधर्म का अद्वितीयत्व—धर्म एक है, वह चोदना प्रतिपाद्य वैदिक धर्म ही है। धर्म शब्द से प्रायेण व्यपदिश्यमान अन्य धर्म वस्तुतः सम्प्रदायविशेष ही हैं। सम्+प्र उपसर्ग युक्त 'दा' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर सम्प्रदाय शब्द निष्पन्न होता है। यह सम्प्रदाय शब्द गुरु-परम्परागत या शिष्ट-परम्परागत उपदेश का वाचक है। इसी अर्थ में महाकवि माघ ने निम्नोक्त पद्य में सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग यथार्थतः किया है—

सम्प्रदायविगमादुपेयुषीरेष नाशमविनाशिविग्रहः।
स्मर्तुमप्रतिहतस्मृतिः श्रुतिर्दत्त इत्यभवदत्रिगोत्रजः॥

(शिशुपालवध, १४।७९)

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि किसी विशेष गुण गौरवशाली आचार्य द्वारा देश-कालानुसार किसी देश में जो सद् उपदेश किया जाता है, वह सम्प्रदाय है—ऐसा विद्वानों का कहना है। धर्म का द्योतक तत्त्व है—सार्वभौमत्व, सार्वकालिकत्व और अद्वितीयत्व तथा देशकाल के सम्बन्ध से कदाचित् ही स्थितिशाली होना सम्प्रदाय का लक्षण है—यह धर्म और सम्प्रदाय का भेद है।

रिलीजन (Religion) शब्द का वाच्य अर्थ सम्प्रदाय ही है। हिब्रू-ख्रीष्टीय-मोहम्मदीय धर्म सम्प्रदाय में ही अन्तर्भूत होते हैं। ये सब सम्प्रदाय सनातन वैदिक धर्म के अंगभूत हैं, क्योंकि इनमें सनातनधर्म में उक्त एकदेशीय धर्मों का ही उपदेश मिलता है। भ्रातृभाव, परस्पर के प्रति मैत्रीभाव, प्राणियों की परस्पर प्रेमपूर्वक सेवा—ये सब सभी धर्ममतों में पाए जाते हैं। यदि परम पुरुषार्थभूत मोक्ष के साधक होने के कारण धर्म के रूप में लोक में इन सम्प्रदायों का व्यवहार किया जाए तो यह गौण व्यवहार होगा, क्योंकि इन धर्मों में परम्परा सम्बन्ध से ही मोक्षसाधकत्व है।

वैदिक धर्म सभी मतों का उपजीव्य है—वैदिक धर्म सभी मत और सम्प्रदायों का जनक है। यह मत केवल इसलिए नहीं कहा जा रहा है कि इन धर्मों में सत्य, अस्तेय, शौच आदि सदाचार के अंगों की उपलब्धि है, प्रत्युत अन्य सम्प्रदायों में स्वीकृत परमेश्वर-नाम भी वेद से ही गृहीत हुए हैं—ऐसा देखा जाता है। यह तत्त्व तुलनात्मक भाषा-विज्ञान पद्धति के अनुसार निश्चित रूप से प्रमाणित किया जा सकता है। हिब्रूमत (जिसका प्रतिपादन बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेंट नामक आदिम भाग में विशद रूप से मिलता है) में परमेश्वर के जो 'यहोवा', 'यह्वेह', 'यह्वे' इत्यादि विविध नाम प्रसिद्ध हैं, वे देववाचक वैदिक 'यह्व' शब्द का ही पूर्णतः अनुसरण करते हैं—यह भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिभात होता है। ऋग्वेद के कई मन्त्रों में 'यह्व' शब्द का प्रयोग है—

विश्पतिं यह्वमतिथिं नरः—३।३।८।
प्रवो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम्।
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिरीमहे यं सीमिदन्य इळते ॥

(१।३६।१)

यह 'यह्व' शब्द 'महत्' के नामों में निघण्टु में पठित हुआ है (३।३)। 'यह्व' का अर्थ है—महान्। इसके व्याख्यानभूत निरुक्त वाक्य 'यातश्च हूतश्च भवतीति' (८।८) से यही सिद्ध होता है। 'या' और 'ह्वे' इन धातुद्वय से 'गेहे कः' (३।१।१४) इस सूत्र से 'बहुल' करके 'क' प्रत्यय कर संप्रसारण होकर 'यह्व' शब्द सिद्ध होता है, ऐसा स्कन्दस्वामी कहते हैं। जो यात है तथा प्रार्थियों द्वारा हूत होता है वह 'यह्व' है। वह देव याजकों द्वारा अधिगत होता है, एवं प्रार्थना स्वीकार के लिए बहुधा उनका आह्वान किया जाता है—यह इस शब्द का तात्पर्य है। इससे उस देव की अतिशय महत्ता सिद्ध होती है।

हिब्रूमत में परमेश्वर का विख्यात अभिधान रोमनलिपि के अनुसार Jehovah है। इस शब्द में जो J है, उसका उच्चारण 'य' होता है—यह भाषातत्त्वविद् कहते हैं। पहले परमेश्वर का नाम किसी के द्वारा उच्चरित नहीं होता था, क्योंकि नाम अत्यन्त पवित्र माना जाता था; पर कुछ काल बाद उनका 'यह्वे' या 'यह्वेह्' नाम हो गया। इस नाम का अर्थ है—परममहान्। इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में संदेह है। हिब्रूभाषा के 'हावाह्' धातु से यह शब्द निष्पन्न हुआ है, जिससे उसका अर्थ 'स्वयंभू' होता है। (Hawah to be, to exist; the self-existent), पर यह व्युत्पत्ति सभी भाषातत्त्वविदों को मान्य नहीं है। मैं समझता हूँ कि वैदिक 'यह्व' शब्द का प्रतिरूप ही यह Jehovah शब्द है।

खीष्टीय मत में परमेश्वर का अभिधान गॉड (God) है। प्राचीन ट्यूटानिक भाषा में प्रयुक्त 'घूतोम्' (Ghuto-m) शब्द से यह निष्पन्न हुआ है। यह घूतो-म् शब्द संस्कृत हूत शब्द से निष्पन्न हुआ है—यह महा-प्रामाणिक आक्सफोर्ड आंग्लभाषाकोश (The Great Oxford English Dictionary) में स्वीकृत हुआ है। 'होमादि द्वारा जिसका आह्वान किया जाता है', 'प्रार्थना-स्वीकार के लिए साधकों द्वारा जो आहूत होता है' इस अर्थ में यह शब्द 'हु' और 'ह्वे'-धातु से निष्पन्न होता है।

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि 'गॉड' शब्द का मूलभूत अर्थ है—'यज्ञ से उपास्यदेव', 'हवनादि से पूजित परमेश्वर', 'स्वमनोरथ-पूर्ति के लिए भक्तों के द्वारा सेवित सर्वशक्तिमान् परमेश्वर'। अंग्रेजी और जर्मन भाषा में प्रयुक्त 'गड्' शब्द का 'ग' रूप आदिम अक्षर मूलतः प्राचीन ट्यूटानिकभाषागत 'घ' वर्ण से निष्पन्न हुआ है। यह 'घ' वर्ण संस्कृत के 'ह' वर्ण का विकार है। संस्कृत का हूतम् या हुतम्=प्राचीन ट्यूटानिक भाषा का 'घूतोम्' शब्द है, जो अंग्रेजी भाषीय गॉड् शब्द और जर्मन भाषीय गात् (Gott) शब्द का प्रकृति है। इस प्रकार की वर्ण-परिवर्तन की पद्धति भाषातत्त्वविदों को अनुमत है, जो उपर्युक्त समीकरण का हेतुरूप है।

वैदिक धर्म का शिक्षास्वारस्य—उपदेश के कई प्रकार होने पर भी धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय का सामंजस्य करना ही सर्वश्रेष्ठ उपदेश है। धर्म-अर्थ-कामरूप त्रिवर्ग में धर्म का प्राधान्य धर्मशास्त्रविद् मनीषी मानते हैं। वैदिक धर्म में माना जाता है कि अर्थ और काम धर्मानुकूल हों; धर्मविरुद्ध अर्थ और काम को सफलता नहीं मिलती। गीता में तो धर्मानुकूल काम को

साक्षाद् भगद्विभूति-विशेष ही माना गया है—'धर्मविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेस्मिन् भरतर्षभ।' चूँकि अर्थ और काम लोकोपकारी, जीवननिर्वाह के साधक और निखिल मानवों के अभीष्ट हैं, इसलिए वर्जनीय पदार्थ नहीं हैं, बल्कि वे धर्म से अविरुद्ध होकर अभ्यर्थित ही होते हैं—यह शास्त्रकारों का हार्दिक अभिप्राय है। अतः धर्म-अर्थ-काम के परस्पर उपकारी होने के कारण उनके संतुलित आचरण में ही शास्त्र का तात्पर्य है, न कि विरुद्धाचरण में। इसी दृष्टि से व्यास का यह वचन है—

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः
यो ह्येकसक्तः स नरो जघन्यः।
तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं
स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे॥

इस श्लोक में जो 'सम' शब्द है, उसका अर्थ है—अनाशक्ति भाव से परस्पर संतुलित रूप से प्रयोग करना। वह मनुष्य जघन्य है, जो किसी एक ही वर्ग में—धर्म में भी—यदि आसक्त होता है। अर्थ और काम को छोड़कर केवल धर्मासक्ति भी मनुष्य को स्वीकार नहीं करनी चाहिए। अर्थ और काम के साथ अविरुद्धभाव से धर्म के आचरण में ही शास्त्रकारों का आग्रह है, न कि अर्थकामवर्जित धर्माचरण में—यह शास्त्र-तात्पर्य विज्ञों को भली-भाँति जानना चाहिए। आजकल अर्थ और काम धर्म के अत्यन्त विरुद्ध हो गये हैं—ऐसा देखा जाता है। अतः वे त्याज्य हैं, पर यदि वे धर्माविरुद्ध हों तो नितान्त ग्राह्य हैं—यह वैदिक शास्त्रों का स्पष्ट तात्पर्य है।

आधुनिक साम्यवाद भारतीय धर्म के अनुकूल है। पाश्चात्त्य देशों में आजकल जो व्यवस्था प्रचलित है, वह है—अन्यों का उपमर्दनपूर्वक अपने लिए इष्ट अर्थ की उपलब्धि, पर यह स्थिति साम्यवाद के साथ उचित प्रतीत नहीं होती। इस विषय में श्रीमद्भागवत का वचन नितान्त ही महत्वशाली है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

यही स्वत्वपरक मीमांसा है। जितने द्रव्य में प्राणियों की उदरपूर्ति हो, उतने द्रव्य पर ही उसका अधिकार है, क्योंकि द्रव्य उदरपूरणार्थक ही होता है। उतने परिमाण द्रव्य से जो अधिक स्वत्व की आकांक्षा रखता है, वह चोर ही है। वह समाज में दण्ड का भागी होता है। अनधिकृत द्रव्य को अपने अधीन रखना ही चौर्य है। स्वोदरपूर्तिसाधक द्रव्य से अधिक द्रव्य पर अधिकार रखने वाले व्यक्ति में भी यह चौर्य अवश्य ही रहता है। अतः उस व्यक्ति के प्रति चोर की

पाश्चात्य आलोचकों की दृष्टि में वैदिक धर्म के भीतर अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं जो भारोपीय धर्म के अविभाज्य अङ्ग और विशिष्टतायें थीं, तथा अनेक बातें हैं जो ईरानी धर्म से भी समता रखती हैं, क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार प्राचीन काल में भारतीय आर्य यूरोपीय आर्यों के साथ भारत के बाहर किसी विशिष्ट स्थान में एक साथ निवास करते थे। इस मूल स्थान के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मत-भिन्नता है। मैक्समूलर के मत में आर्यों की यह आदिभूमि एशिया के मध्य में कहीं पर थी; श्रोदर तथा मेयर के मत में यूरोप और एशिया की सीमा पर तथा ब्रेण्डर के मत में भाषागत साम्य के प्रामाण्य पर 'लिथुएनिया' के समीपस्थ प्रदेश में विद्यमान थी। सर्वाधिक नवीनतम मत डा० गाइल्स का है जिसके अनुसार आर्यों का मूल देश आस्ट्रिया-हङ्गरी में कहीं पर था। आर्य लोगों ने अपने मौलिक धर्म के विविध वैशिष्ट्यों को लेते हुए भारत में नवीन धर्म की स्थापना की। ईरान में भी वे पारसीकों के साथ बहुत दिनों तक रहते थे। फलतः ईरानी धर्म की भी कुछ बातें वैदिक धर्म में मिलती हैं। भारोपीय धर्म की मुख्य बातें जो वैदिक धर्म में उपलब्ध होती हैं, ये हैं :—

(१) देव द्युतिमान प्राणी हैं। प्राचीन आर्य भाषाओं में देव-द्योतक समस्त शब्द प्रकाशनार्थक दिव धातु से निष्पन्न हैं। (२) आदिम पिता द्यौः तथा आदिम माता पृथ्वी मानी जाती है। इसीलिये वैदिक द्यौस्पितर = ग्रीक जुएस पेटर = लैटिन जुपिटर; द्यावापृथवी ही मानवों के माता-पिता हैं। वरुण की उपासना इसी काल से सम्बद्ध है (वरुण = ग्रीक यूरेनस)। (३) अधिकतर उपास्य देवता दो थे—अग्नि तथा उषस्। इन दोनों के द्योतक शब्द सर्वत्र समान हैं। अग्नि = लैटिन इग्-निस = लिथुएनियन उग्निस = रूसी ओगोन। उषस् = ग्रीक एआस = लैटिन अरोरा। (४) ऊर्ध्वलोक के निवासी इन देवों की आराधना हविष्य की आहुति से की जाती थी। (५) मरणानन्तर जीव की सत्ता में लोगों का दृढ़ विश्वास प्रतीत होता है, क्योंकि भाषागत प्रामाण्य इसका साधक है। आत्मन् = प्राचीन जर्मन आतुम् = जर्मन आतेम्। (६) भारोपीय देशों में, विशेषतः रूस, लिथुएनिया, ग्रीस, रोम तथा भारतवर्ष में सर्वत्र पितृपूजा एक मान्य धार्मिक संस्था थी। परलोक-गत पितरों का नाम प्रायः सर्वत्र एक समान उपलब्ध होता है। वैदिक पितर्, ग्रीक दिव्य पितृव्य (मूल ग्रीक का हिन्दी अनुवाद), लैटिन दि पेरेन्टीज (दिव्य पितर), रूसी दिव्य पितामह एक ही भावना के समर्थक पद हैं और इसीलिए इन देशों मे हमारे 'श्राद्ध' के समान ही आदर सत्कार सूचक विधि-विधानों का अनुष्ठान आज भी मिलता है।

भारत-पारसीक युग—इस युग के धार्मिक संस्थानों का साम्य उपलब्ध होता है—(१) देवों तथा पितरों की उपासना अबाध गति से ही प्रचलित नहीं थी, प्रत्युत वह विशेष लोकप्रिय भी बन गई थी। भारतीयों तथा पारसीकों के धार्मिक भाव एक समान हैं। पितरों को अवेस्ता में 'फ्रवसी' शब्द के द्वारा अभिहित करते हैं। सोम (अवस्ता 'हओम') के द्वारा देवों की पूजा की जाती थी। यम वैवस्वत (अवस्ता यिम विवन्हत) इस भूतल के प्रथम पार्थिव हैं जिन्होंने सोम याग का अनुष्ठान किया था, तथा मृत्यु पाकर परलोक का मार्ग बनाने वाले और स्वर्ग में निवास करने वाले प्रथम मानव हैं (द्रष्टव्य ऋ० १०।१४।१)। दोनों के उपास्य देवता एक ही हैं (वेद भग=अ० भग; वे० अर्यमन् =एरयमन्)। बोघाजकोई स्थान में उपलब्ध वरुण, इन्द्र, मित्र तथा नासत्यौ को डा० ओल्डनबर्ग जरथुष्ट्र के द्वारा धर्म-सुधार से पूर्व ईरानी देवता मानते हैं, जब वरुण की प्रधानता थी। पीछे वरुण के स्थान पर 'अहुर मज्दा' को स्थान मिला, तथा अन्य देव असुरों में परिणत किये गए।

(२) **ऋत्विज संस्था का उदय**—जरथुष्ट्र के द्वारा संस्कृत समाज का प्रधानतम पुरुष था अथ्रवन्=वैदिक अथर्वन्, अर्थात् ऋत्विज। यह समाज भी चार वर्णों में विभक्त था। हओम याग के लिए आठ ऋत्विजों की आवश्यकता होती थी। पत्नी की सहायता से प्रातःकाल अग्नि में होम करना नियम था। 'हओम' के रस को छानने के लिए सोने या चाँदी के वर्तनों का उपयोग किया जाता था।

(३) **संघर्ष की कल्पना**—जगत् में दो तत्त्व जागरूक माने जाते थे, जो सर्वदा संघर्ष किया करते थे। इनमें से एक है ईश्वर का सत् रूप (स्तेन्तोमैन्यु) और दूसरा है असत् रूप (अंग्रो मैन्यु)[१]। इनमें सन्तत विरोध तथा संघर्ष इस जगत् में होता है और अन्त में सत् की विजय असत् पर, भलाई की विजय बुराई पर, ज्योति की विजय तम पर होती है और जगत् का मङ्गल सम्पन्न होता है। वैदिक धर्म मे इन्द्र-वृत्र-युद्ध का भी यही रहस्य है। दानव वृत्र पर इन्द्र देव का आक्रमण तथा विजय इसी संघर्ष का द्योतक तथ्य है।

(४) **नियम तथा सुव्यवस्था की कल्पना**—वैदिक ऋत के समान ही अवेस्ता में 'अश' की कल्पना है। यह भावना पारसियों में भी बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी, क्योंकि यह 'तेल-एल-अमर्ना' के शिलालेख में (१४००

---

१. देखिए डा० तारापुरवाला की 'दि रिलीजन आफ जरथुष्ट्र' नामक पुस्तक (पृष्ठ ४८-५८), थिलोसोफिकल सोसायटी, अड्यार, १९२६।

ईस्वी पूर्व) 'अर्त' शब्दधारी नाम मिलते हैं और यह 'अर्त' भी 'अश' का ही प्राचीन द्योतक माना जाता है। ऋत की त्रिविध—आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक-भावना के समान ही 'अश' की धारणा है। अश की स्तुति में 'यस्न' का कथन है कि जगत् में एक ही पन्थ है और वह है अश का पन्थ; इसके अतिरिक्त अन्य समस्त पन्थ झूठे हैं :—

अएवो पन्ताओ यो अशहे, वीस्पे अन्यएसां अपन्ताम्।

(४) **नैतिक देव की कल्पना**—अवेस्ता के सर्वश्रेष्ठ देवता 'अहुर मज्दा' वैदिक देवता वरुण (असुरो वरुणः) ही हैं। इसका प्रमाण यह है कि दोनों ही (असुर = असुप्राण; अत एव प्राणदायक, जीवनप्रदाता) उपाधि धारण करते हैं, तथा दोनों 'मित्र' के ओर अविभाज्य रूप से संश्लिष्ट हैं। वेद में 'मित्रावरुणौ' द्वन्द्वदेवता के रूप में गृहीत हैं और उसी प्रकार अवस्ता में अहुरमज्दा का सम्बन्ध 'मिथ्र' के साथ विद्यमान है।

इस प्रकार वैदिक धर्म की अनेक मान्य कल्पनायें तथा मान्यतायें भारोपीय धर्म और भारत—ईरानी धर्म के साथ आश्चर्यमय साम्य रखती हैं। हमारी दृष्टि में भारतीयों ने जब इन विभिन्न देशों में अपने उपनिवेश स्थापित किये, तब उन देशों में अपने धार्मिक अनुष्ठानों का भी प्रचुर प्रचार किया। इस साम्य का यही रहस्य प्रतीत होता है।

देवता का स्वरूप

प्रकृति की विचित्र लीलायें मानवमात्र के दिन-प्रतिदिन के अनुभव के विषय हैं। इस पृथ्वीतल पर जन्म-ग्रहण के समय से ही मनुष्य अपने को कौतुकावह प्राकृतिक दृश्यों द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ पाता है। प्रातःकाल प्राचीदिशा में कमनीय किरणों को छिटका कर भूतल को काञ्चन-रञ्जित बनानेवाला अग्निपुञ्जमय सूर्यबिम्ब तथा सायंकाल में रजत-रश्मियों को बिखेर कर जगत्-मण्डल को शीतलता के समुद्र में गोता लगानेवाले सुधाकर का बिम्ब किस मनुष्य के हृदय में कौतुकमय विस्मय उत्पन्न नहीं करते? वर्षाकालीन नील गगन-मण्डल में काले-काले विचित्र बलाहकों की दौड़, उनके पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न कौंधनेवाली बिजुली की लपक तथा कर्ण-कुहरों को बधिर बना देनेवाले गर्जन की गड़गड़ाहट आदि प्राकृतिक दृश्य मनुष्य-मात्र के हृदय पर एक विचित्र प्रभाव जमाये विना नहीं रह सकते? वैदिक आर्यों ने इन प्राकृतिक लीलाओं को सुगमतया समझाने के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना की है। यह विश्व भिन्न भिन्न देवताओं का क्रीडानिकेतन है। वैदिक आर्यों का विश्वास है कि इन्हीं

देवताओं के अनुग्रह से जगत् का समस्त कार्य संचालित होता है तथा भिन्न-भिन्न प्राकृतिक घटनायें उनके ही कारण सम्पन्न होती हैं। पाश्चात्त्य वैदिक विद्वानों की वैदिक देवताओं के विषय में यही धारणा है कि वे भौतिक जगत् के—प्राकृतिक दृश्यों के—अधिष्ठाता हैं। भौतिक घटनाओं की उपपत्ति के लिए उन्हें देवता मान लिया गया है। ऋग्वेद के आदिम काल में बहुल देवताओं की सत्ता मानी जाती थी। जिसे वे पालीथीजम (बहुदेववाद) की संज्ञा देते हैं। कालान्तर में जब वैदिक आर्यों का मानसिक विकास हुआ, तब उन्होंने इन बहु देवताओं के अधिपति या प्रधान रूप मे एक देवता-विशेष की कल्पना की। इसी का नाम है—मानोथीजम (एकेश्वरवाद)। अतः बहुदेवतावाद के बहुत काल पीछे एकदेववाद का जन्म हुआ और उसके भी अवान्तरकाल में सर्वेश्वरवाद (पैन्थीजम) की कल्पना की गई। सर्वेश्वरवाद का सूचक पुरुषसूक्त दशम मण्डल का ९० वाँ सूक्त है, जो पाश्चात्त्य गणना के हिसाब से दशतयी के मण्डलों में सबसे अधिक अर्वाचीन है।

वैदिक धर्म की एक विशिष्टता ध्यान देने योग्य है। जिस देवता की स्तुति मन्त्रों के द्वारा की जाती है, वही देवता स्तुतिकाल में सबसे बड़ा, व्यापक, जगत् का स्रष्टा तथा संसार का सर्वाधिक उपकारी माना जाता है। वरुण के स्तावक सूत्रों में वही सब देवताओं में महान् तथा सर्वापेक्षया महत्त्वशाली माना गया है। अन्य देवगण उसी वरुण से उत्पन्न होते हैं तथा उसके शासन में रहकर अपने निश्चित कार्य का निर्वाह करते हैं। इन्द्र स्तुतिकाल में सबसे श्रेष्ठ देव माने जाते हैं तथा इतर देवताओं का उद्गम उन्हीं से सम्पन्न होता है। अन्य देवताओं के विषय में भी यही तथ्य मिलता है। यह विशिष्टता वैदिक देवों के विषय में ही पूर्णतया उपलब्ध होती है। मैक्समूलर के अनुसार अतिप्राचीन धर्मों का यह एक विशिष्ट प्रकार है। इसकी संज्ञा उनके अनुसार 'ह्नोथीजम' या 'केनोथीजम' है।

पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में वैदिक देवतावाद की उत्पत्ति तथा विकास का यही संक्षिप्त क्रम है, परन्तु हमारी यह दृढ़ धारणा है कि वैदिक धर्म का यह विकासक्रम नितान्त निराधार है।

वेद में अद्वैततत्त्व

यास्क के अनुसार इस जगत् के मूल में एक ही महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है, जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होने के कारण 'ईश्वर' कहलाती है। वह एक, अद्वितीय है। उसी एक देवता की बहुत रूपों से स्तुति की जाती है—

माहाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते ।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ॥
(७।४।८।९)

अतः यास्क की सम्मति में देवतागण एक ही देवता की भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। बृहद्देवता निरुक्त के कथन का अनुमोदन करती है[1]। सर्वव्यापी सर्वात्मक ब्रह्मसत्ता का निरूपण करना ही ऋग्वेद का प्रधान लक्ष्य है। यही 'कारणसत्ता' कार्यवर्गों में अनुप्रविष्ट होकर सर्वत्र भिन्न-भिन्न आकारों से परिलक्षित हो रही है। प्रकृति की कार्यावली के मूल में एक ही सत्ता है, एक ही नियन्ता है, एक ही देवता वर्तमान है; अन्य सकल देवता इसी मूलभूत सत्ता के विकासमात्र हैं। इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न प्रकारों से वैदिक ऋषियों ने किया है। ऐतरेय आरण्यक[2] ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि "एक ही महती सत्ता की उपासना ऋग्वेदी लोग 'उक्थ' में किया करते हैं, उसी को यजुर्वेदी लोग याज्ञिक अग्नि के रूप में उपासना किया करते हैं तथा सामवेदी लोग 'महाव्रत' नामक याग में उसी की उपासना करते हैं।" शंकराचार्य ने १।१।२५ सूत्र के भाष्य मे इस मन्त्र का उल्लेख किया है। ऋग्वेद का भी प्रमाण इस विषय में नितान्त सुस्पष्ट है।

देवतागण को ऋग्वेद में 'असुर' कहा गया है[3]। 'असुर' का अर्थ है असुविशिष्ट अथवा प्राणशक्ति-सम्पन्न। इन्द्र, वरुण, सविता, उषा आदि देवता असुर हैं। देवताओं को बल-स्वरूप कहा गया है। देवतागण अविनश्वर शक्तिमात्र हैं। वे आतस्थिवांसः (स्थिर रहनेवाले), अनन्तासः (अनन्त), अजिरासः, उरवः, विश्वतस्परि (५।४७।२) कहे गये हैं। वे विश्व के समस्त प्राणियों को व्याप्त कर स्थित रहते हैं। उनके लिए 'सत्य', 'ध्रुव', 'नित्य' प्रभृति शब्दों का प्रयोग किया गया उपलब्ध होता है। इतना ही नहीं, एक समस्त सूक्त (ऋ० ३।५५) मे देवताओं का 'असुरत्व' एक ही माना गया है। 'असुरत्व' का अर्थ है बल या सामर्थ्य। देवताओं के भीतर विद्यमान सामर्थ्य एक ही है,

---

१. बृहद्देवता—अध्याय १, श्लोक ६१–६५।

२. एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः—ऐतरेय आरण्यक—३।२।३।१२।

३. तद् देवस्य सवितुः असुरस्य प्रचेतसः—(४।५३।१)।
(पर्जन्यः) असुरः पिता नः—(५।८३।६)।
महद्विष्णोः (इन्द्रस्य) असुरस्य नामा—(३।३८।४)।

भिन्न-भिन्न, स्वतन्त्र नहीं। इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में यही पद बार-बार आता है—**महद् देवानामसुरत्वमेकम्**; देवों का महत् सामर्थ्य एक ही है। एक ही महामहिमशालिनी शक्ति के विकसित रूप होने से उनकी शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, प्रत्युत उनके भीतर विद्यमान शक्ति एक ही है। "जीर्ण ओषधियों में, नवीन उत्पन्न होनेवाली ओषधियों में, पल्लव तथा पुष्प से सुशोभित ओषधियों में तथा गर्भ धारण करनेवाली ओषधियों में एक ही शक्ति विद्यमान रहती है। देवों का महत् सामर्थ्य वस्तुतः एक ही है" (ऋ० ३।३५।४)।

ऋत—ऋग्वेद में 'ऋत' की बड़ी मनोरम कल्पना है। ऋत का अर्थ है सत्य, अविनाशी सत्ता। इस जगत् में 'ऋत' के कारण ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है[1]। सृष्टि के आदि में 'ऋत' ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ[2]। विश्व में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा, नियमन का कारणभूत तत्त्व यही 'ऋत' ही है। इस 'ऋत' की सत्ता के कारण ही विषमता के स्थान पर समता का, अशान्ति की जगह शान्ति का साम्राज्य विराजमान है। इस सुव्यवस्था का कारण क्या है? 'ऋत' अर्थात् सत्यभूत ब्रह्म। देवतागण भी ऋत के स्वरूप हैं या ऋत से उत्पन्न हुए हैं। सोम ऋत के द्वारा उत्पन्न (ऋतजात) तथा वर्धित होते हैं, वे स्वयं ऋत रूप हैं (ऋग्वेद ९।१०८।८); सूर्य ऋत का ही विस्तार करते हैं तथा नदियाँ इसी ऋत को वहन करती हैं[3] (ऋ० वे० १।१०५।१५)। सकल देवताओं के भीतर सकल कार्यों के अन्तर में यही ऋत या कारणसत्ता अनुप्रविष्ट है। इसी सत्ता का अवलम्बन कर कार्य-वर्ग अपनी स्थिति बनाये हुए हैं।

ऋग्वेद में देवताओं के द्विविध रूप का वर्णन मिलता है—एक तो **स्थूल-दृश्य रूप** है और दूसरा **सूक्ष्म अदृश्य** गूढ़ रूप। उनका जो रूप हमारे नेत्रों के सामने आता है वह है उनका स्थूल रूप (या आधिभौतिक रूप), परन्तु जो रूप हमारी इन्द्रियों से अतीत है, भौतिक इन्द्रियों में जिसे ग्रहण करने की शक्ति नहीं है वह है उनका गूढ़ रूप (आधिदैविक रूप)। इनसे अतिरिक्त एक तृतीय प्रकार—आध्यात्मिक रूप—का भी परिचय किन्हीं मन्त्रों में उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए विष्णु, सूर्य तथा अग्नि के द्विविध रूप की समीक्षा कीजिए। जिस रूप में विष्णु ने पार्थिव लोकों का निर्माण किया, 'उत्तर सधस्थ' अन्तरिक्ष को स्थिर किया तथा तीन क्रमों से इस विश्व को माप डाला,

---

१. द्रष्टव्य ऋ० वे० ३।५५।५।

२. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत—ऋ० वे० १०।१९०।१।

३. ऋतमर्षन्ति सिन्धवः।

वह उनका एक रूप है,[1] परन्तु इससे अतिरिक्त उनका 'परम पद' है जहाँ विष्णु का सूक्ष्म रूप निवास करता है। उस लोक में विष्णु के भक्त लोग अमृत पान करते हुए आनन्दानुभव किया करते हैं। उसमें मधुचक्र है—अमृतकूप है[2]। उस परम पद को ज्ञानसम्पन्न जागरणशील विप्रलोग—विद्वज्जन ही जानते हैं[3]। विष्णु के परम पद की प्राप्ति ब्रह्म की ही उपलब्धि है। इसलिये श्रुति विष्णु को हमारा सच्चा बन्धु बतलाती है।

इसी प्रकार सूर्य के त्रिविध रूपों का नितान्त स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। ऋषि अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य के तीन रूपों का वर्णन करते हैं—उत्, उत् + तर = उत्तर, उत् + तम = उत्तम, जो क्रमशः माहात्म्य में बढ़कर है। सूर्य की उस ज्योति का नाम 'उत्' है जो इस भुवन के भौतिक अन्धकार के अपनयन में समर्थ होती है। देवों के मध्य में जो देव-रूप से निवास करती है वह 'उत्तर' है, परन्तु इन दोनों से बढ़कर एक विशिष्ट ज्योति है, उसकी संज्ञा इस मन्त्र में 'उत्तम' है। अतः ये तीनों शब्द सूर्य के कार्यात्मक, कारणात्मक तथा कार्य-कारण से अतीत अवस्था के द्योतक हैं। अतः इस एक ही मन्त्र में सूर्य के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक स्वरूपों का संकेत किया गया है[4]। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (जंगम तथा स्थावर समस्त विश्व का आत्मा सूर्य है) इस मन्त्र का लक्ष्य आधिभौतिक सूर्य नहीं है। 'आत्मा' शब्द स्पष्टतः सूर्य के परमात्म-तत्त्व को लक्ष्य कर प्रयुक्त किया गया है।

अग्नि के इसी प्रकार स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों की मनोरम कल्पना ऋग्वेद में मिलती है। ऐतरेय आरण्यक का कहना है कि अग्नि दो प्रकार का होता है—(१) तिरोहित अग्नि और (२) पुरोहित अग्नि। 'तिरोहित' शब्द अग्नि के

---

१. ऋ० वे० १।१५४।१।

२. विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः—(ऋ०।१५४।५)।

३. तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम्॥ (ऋ० वे० १।२२।२१)

४. उद् वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥
(ऋ० वे० १।२०।१०)

अव्यक्त, गूढ़ तथा सूक्ष्म रूप का परिचायक है। अतः पुरोहित अग्नि व्यक्त, पार्थिव अग्नि का प्रतिपादक है। 'अग्निमीडे पुरोहितम्' मन्त्र में पुरोहित अर्थात् अभिव्यक्त-पार्थिव अग्नि की सत्ता का निर्देश किया गया है[1]।

इन प्रमाणों के आधार पर निःसन्देह कह सकते हैं कि ऋग्वेद इस विश्व के अनुपम शक्तिशाली एक नियन्ता से परिचित है तथा वह विभिन्न देवताओं को उसी की नाना शक्तियों का प्रतिनिधि बतलाता है। अतः वैदिक धर्म अद्वैत-तत्त्व के ऊपर अवलम्बित है। नाना के बीच में एकता की भावना, भिन्नता के बीच अभिन्नता की कल्पना दार्शनिक जगत् में मौलिक तत्त्व है और इस निगूढ़तम तत्त्व के अनुसन्धान करने का समस्त गौरव हमारे वैदिक-कालीन आर्षचक्षुः-सम्पन्न महर्षियों को निःसन्देह है।

(२)

देव-परिचय

द्युस्थान देवता

वरुण—वरुण सूक्तों की संख्या एक दर्जन से अधिक न होने पर भी वरुण आर्यों के महनीय देवता हैं। उनका मानव रूप एकान्त सुन्दर है। वह अपने भुजाओं को हिलाते हैं, भ्रमण करते हैं, रथ हाँकते हैं, बैठते हैं तथा खाते-पीते हैं। उनका शरीर पुष्ट तथा मांसल है। उनका सुनहला कवच (हिरण्ययद्रापि) दर्शकों के नेत्रों को चकाचौंध किया करता है। सूर्य उनका नेत्र है। वह दूर की वस्तुओं को भी देख सकते हैं तथा उनके हजार नेत्रों का उल्लेख है। उनका रथ सूर्य की तरह चमकता है जिनमें सुन्दर घोड़े जुते रहते हैं। अपने नेत्र के द्वारा वे समस्त भुवनों के भीतर घटित होनेवाली घटनाओं का निरीक्षण करते है तथा मनुष्यों के हृदय मे संचरणशील भावों का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान रहता है। ऊर्ध्वतम लोक में उनका सुवर्णमय प्रसाद है—एक हजार खम्भों तथा एक सहस्र द्वारों से मण्डित विशाल प्रसाद, जहाँ बैठकर वे अद्भुत, अतीत तथा भविष्य मे करणीय समस्त कार्यों को देखा करते हैं। पितृगण उसी प्रसाद में वरुण का दर्शन करते हैं और वहीं वरुण के चारों ओर दूत गण (स्पशः) बैठते हैं तथा दोनों

---

१. देवतातत्त्व के विशद विवेचन के लिए देखिए काकिलेश्वर शास्त्री—अद्वैत-वाद (बंगला), पञ्चम अध्याय।

लोकों का निरीक्षण किया करते हैं। वरुण सम्राट् तथा स्वराट् की उपाधि से विभूषित हैं। वे क्षत्र (प्रभुत्व) के अधिपति होने से क्षत्रिय नाम से व्यवहृत किये जाते हैं। असुर (प्राणदायक) शब्द मुख्यतः वरुण के लिए ही प्रयुक्त होता है। उनकी अनिर्वचनीय शक्ति का नाम माया है जिसके द्वारा वे जगत् का संचालन किया करते हैं।

इसी माया के बल पर वह जगत् का रक्षण तथा संवर्धन करता है। वृष्टि को भेजकर अन्न उपजाता है तथा जगती को बलीयसी बनाता है। सूर्य को आकाश के बीचों-बीच प्रकाश के निमित्त भेजता है तथा हिरण्यमयी उषा की प्रेरणा करता है। अत्रि ऋषि इसी माया का निर्देश तथा रूप-संकलन स्पष्टतः कर रहे हैं—

माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता
सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्।
तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि
पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्त ईरते॥

(ऋ० ५।६३।४)

हे मित्रावरुण, आप की माया शक्ति आकाश का आश्रय लेकर निवास करती है। चित्र-विचित्र किरणों से सम्पन्न होनेवाला ज्योतिष्मान् सूर्य इसी शक्ति के सहारे चलता है। आकाश में उस सूर्य को मेघ तथा वृष्टि से आप लोग छिपा देते हैं। जिससे पर्जन्य मधुमान् जल बिन्दुओं की वर्षा कर जगती को मधुमयी, मंगलमयी तथा मोदमयी बना देता है। यह समस्त गौरव है आप की माया शक्ति का।

वैदिक ऋषियों की मर्मस्पर्शी आध्यात्मिक दृष्टि विश्व की विषमता तथा विपुलता का बाह्य आवरण भंग कर उसके अन्तस्तर में प्रवेश करती है और बतलाती है कि इसके भीतर सुव्यवस्था का अखण्ड साम्राज्य विराजता है— सर्वत्र एक सूत्र में बँधी व्यवस्था-नटी अपना नर्तन कर जगती के प्राणियों का मंगल साधन करती है। इस भौतिक व्यवस्था का वैदिक अभिधान ऋत है और वेद के मन्तव्यानुसार ही जगत् पर उत्पन्न होनेवाले पदार्थों में सर्वप्रथम उत्पन्न होने का गौरव इसी ऋत को उपलब्ध है। सृष्टि के इस आधार-स्थानीय ऋत की प्रशस्त प्रशंसा मन्त्रों में बहुशः मिलती है। वरुण के अनुशासन के वशवर्ती

बनकर ही नक्षत्र अपने गमनागमन का निश्चय करते हैं। जगती को चमकाता हुआ चन्द्रमा रात को आता है वरुण की ही आज्ञा से। तथ्य यह कि वरुण के व्रत अदब्ध—अघर्षणीय होते हैं। ऋतगोपा वरुण के अनुशासन में इस विश्व का अणु से भी अणुतर पदार्थ तथा महत् से भी महत्तर पदार्थ परिचालित होकर अपनी सत्ता तथा स्थिति धारण करता है और इसे महनीय बनाता है। विश्व के इस महनीय तथ्य का प्रतिपादक ऋषि का यह मार्मिक कथन है—**"अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि"**, अर्थात् जो कोई व्यक्ति वरुण के इस व्रत का उल्लंघन करता है, व्रतपालन मे शिथिलता करता है, व्रत-मार्ग की व्यवस्था का तिरस्कार कर अव्यवस्था को अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है उसे वरुण कभी क्षमा नहीं करते। वे क्रुद्ध होकर उस व्यक्ति को अपने नाशकारी आयुध का पात्र बनाते हैं तथा पाशहस्त वरुण उस व्यक्ति को अपने विकट पाश से जकड़ देते हैं।

वरुण के नियम सर्वदा ही निश्चित तथा दृढ़ हैं और इसीलिए उन्हीं के लिए 'धृतव्रत' शब्द प्रयुक्त होता है। स्वयं देवता लोग भी उनके व्रत का पालन करते हैं। उनकी शक्ति इतनी अधिक है कि उसके विना न तो उड़ने वाली पक्षियाँ और न बहने वाली सरिताएँ अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर सकती हैं। वह समग्र विश्व और सब प्राणियों के निवास-स्थान को व्याप्त कर विद्यमान है। वह सर्वज्ञ है; वह आकाश में उड़ने वाली पक्षियों के मार्ग को, समुद्रगामी नावों के पथ को, सुदूर बहने वाले वायु के प्रवाह को भली-भाँति जानता है। इतना ही नहीं, वे मनुष्यों के सत्य-अनृत भावों को भी देखते हैं। इस जगत् में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो विना उनके ज्ञान के निमेष तक भी उठा सके।

इस विश्व के नैतिक अध्यक्ष के रूप में वरुण से बढ़कर कोई भी देवता नहीं है। पाप करने से, उनके व्रतों को भंग करने से उनका क्रोध उत्पन्न होता है और पापियों को दण्ड देते हैं। पापियों को बाँधने के लिए उनके हाथ मे पाश रहता है, परन्तु वे दयालु भी हैं। वे अपनी अनुग्रह शक्ति के द्वारा अपने किये गये अपराधों को स्वीकार करने वाले प्राणियों पर दया की वर्षा करते हैं। ऋग्वेद में एक बहुत सुन्दर सूक्त (७।८६) मिलता है जिसमें वरुण के कोपभाजन बनने की आशंका से विचलित उपासक के हृदय का मार्मिक उद्गार है। भौतिक पार्थिव के गुप्तचरों के समान आध्यात्मिक आधिपत्य से आहत सम्राट् वरुण के स्पश जगतीतल के प्राणियों के जीवन को स्पर्श करते हैं तथा उनके गुण-दोषों की

खबर अपने मालिक के पास क्षणभर में पहुँचा देते हैं। इस प्रकार गुण-दोषों के द्रष्टा, पाप-पुण्यों के विवेचक, कर्मानुसारी फलों के उपस्कर्त्ता सम्राट् वरुण का स्थान वैदिक देवता-मण्डली में प्रजापति के समकक्ष है।

विशाल समुद्र के वक्षःस्थल पर एक ही नाव में बैठकर झूले में झूलते हुए वरुण तथा वसिष्ठ का मानस-साक्षात्कार किस व्यक्ति के हृदय में आध्यात्मिकता की भव्य झाँकी नहीं कराता ?

आ यद् रुहाव वरुणश्च नावं
प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम्।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव
प्र प्रेङ्ख ईंखयावहै शुभे कम्॥

(ऋ० ७।८८।३)

वरुण कर्म-द्रष्टा ईश्वर के प्रतिनिधि हैं, वसिष्ठ कर्मभोक्ता जीव के प्रतीक हैं। समुद्र में बहने वाली नाव भवसागर पर छलकने वाले इस मानव शरीर का प्रतीक है। समान वृक्ष पर बैठने वाले दो पक्षियों का चित्र, नरनारायण के परस्पर संगमन का दृश्य तथा समान रथ पर आरूढ़ कृष्ण और अर्जुन का दृश्य इसी वसिष्ठ-वरुण के परस्पर मिलन की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।

कतिपय विद्वान् मित्र के साम्य पर वरुण को रजनी का देवता मानते हैं, तो दूसरे लोग चन्द्रमा का। 'मित्रावरुणौ' में मित्र निःसन्देह सूर्य का प्रतिनिधि है, तथापि इसी कारण वरुण को चन्द्रमा का प्रतिनिधि मानना कथमपि सम्भव नहीं दीखता; वरुण के जिस रूप तथा कार्य-कलाप का वर्णन ऊपर किया गया है वह चन्द्रमा के लिये यथार्थ सिद्ध नहीं होता। अतः निरुक्तकार यास्क की ही सम्मति सुसंगत प्रतीत होती है। सूर्य-चन्द्रमा की विचरण लीला का ललित निकेतन, नील सलिल के सतह पर फैलने वाले फेनपुञ्जों के समान विकसित तारापुञ्जों से चमत्कृत, विश्व का आवरणकर्त्ता यह आकाश ही वरुण देवता का भौतिक प्रतीक है। इस समीकरण में व्युत्पत्ति ही सहायक नहीं है, अपितु कार्यावली भी। 'वृणोति सर्वम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वरुण ही जगत् के आवरणकर्त्ता देवता हैं। आकाश जगतीतल का आवरण करने के कारण ही वरुण का चल-चक्र कहा जा सकता है। वरुण के कार्यकलाप की समता नितान्त स्पष्ट है। वरुण की देवत्व-कल्पना नितान्त प्राचीन युग में ही सम्पन्न हो गई थी, क्योंकि ग्रीस देश में वरुण की कल्पना 'यूरेनस' के रूप में उपलब्ध होती है। बोगाजकोई से प्राप्त शिलालेख में वरुण वर्तमान है, जिससे स्पष्ट है कि ईस्वी पूर्व १५ सौ वर्ष पहले मितानी लोगों के भी

वे उपास्य देवता थे। पिछला युग वरुण के ह्रास का युग है जिससे उनका नैतिक उदात्तता से ह्रास उत्पन्न हो जाता है और उनका साम्राज्य इस विशाल विश्व से धीरे-धीरे हटकर केवल जल तक ही सीमित कर रह जाता है।

सौर देवता

पूषन्—ऋग्वेद के आठ सूक्तों में पूषन् की स्तुति है, जिनमें से अधिकांश पञ्च-षष्ठ मण्डल में विद्यमान हैं। उनकी मानुषाकृति के विशेष चिह्नों का परिचय नहीं मिलता। उनके शिर पर जटायें हैं तथा दाढ़ी है। उनके हाथ में सुवर्ण की बनी हुई माला तथा अंकुश है। घोड़ों के स्थान पर बकरे रथ के वाहन हैं। वह अपनी भगिनी (पूषा) का प्रेमी तथा सूर्य की कन्या सूर्या का पति है। वह सब प्राणियों को देखनेवाला तथा जाननेवाला देवता है। उनका वासस्थान स्वर्ग में है, जहाँ से वह सब संसार को देखते हुए अपने रथ पर चढ़ कर आते-जाते हैं। प्रेतात्माओं को पितृ-लोक में ले जाने का काम उनका है। वह मार्गों के अध्यक्ष हैं तथा उन्हें विपत्तियों से दूर कर प्राणियों की रक्षा करते हैं। वह गोचर भूमि मे जाने वाले पशुओं के पीछे जाते हैं, उनकी रक्षा करते हैं तथा विना किसी हानि तथा हिंसा के वह उन्हें घर पहुँचा देते हैं, तथा भूले हुए पशुओं को घर लाते हैं। इसीलिए वे मुक्ति के पुत्र (विमुचो नपात्) कहलाते हैं। 'आघृणि' (प्रकाशमान उनका विशिष्ट विशेषण है। 'पूषन्' शब्द का अर्थ है 'पोषण-कर्ता' और इसीलिए वे सूर्य की पोषण-शक्ति के प्रतिनिधि देव हैं।

मित्र—पूषन् की अपेक्षा 'मित्र' के सूक्त बिल्कुल नगण्य हैं। वह वरुण के संग में इतनी अधिकता तथा घनिष्ठता से उल्लिखित हैं कि उसके लिए एक ही स्वतन्त्र सूक्त है (३।५९)। वह मनुष्यों को उद्यमशील बताता है (यातयति) और 'यातयज्जनः' (मनुष्यों को एकत्र बाँध रखनेवाला) विशेषण उसी के लिए प्रयुक्त होता है। मित्र सूर्य के संचार का नियामक है। इसीलिए वह सविता के साथ अभिन्न माना जाता है (१।३५)। अग्नि जो उषाओं का अग्रगामी होता है (अर्थात् उषा के उदय से प्रथम ही जलाया जाता है) मित्र को उत्पन्न करता है, और प्रज्वलित होने पर वही 'मित्र' होता है। ब्राह्मणों में मित्र का सम्बन्ध दिन से माना गया है तथा वरुण का रात्रि के साथ। वैदिक मित्र पारसी धर्म का मुख्य देवता 'मिथ्र' से अभिन्न है। मिथ्र निश्चित रूप से सूर्य का प्रतीक है। इस प्रकार मित्र के सौर देवता होने में कुछ भी सन्देह नहीं। मित्र का अर्थ है— सुहृद् या सहायक। इसलिए मित्र सूर्य की रक्षण-शक्ति का निःसन्देह प्रतिनिधि है।

सवितृ—मित्र की अपेक्षा सवितृ की भूयसी महत्ता ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होती है। वह स्वतन्त्र रूप से एकादश सूक्तों द्वारा प्रशंसित है। वह 'हिरण्यमय' देव है, जिसके हाथ, नेत्र और जिह्वा सब हिरण्यमय हैं। शीघ्रगामी दो अश्वों के द्वारा संचालित रथ पर चढ़कर सविता विश्व को अपने हिरण्यमय नेत्रों से देखता हुआ गमन किया करता है। वह प्राणियों के पापों तथा दोषों को दूर कर उन्हें निर्दोष बनाता है। वह ऋत का अनुगामी है। हिन्दुओं के गायत्री मन्त्र का उपास्य यही सविता देवता है—वह नितान्त पवित्र तथा स्फूर्तिदायक मन्त्र जिसका प्रातः और सन्ध्या-वन्दन में जपना प्रत्येक द्विज का मुख्य धर्म है। सविता का सम्बन्ध प्रातःकाल के समान सायंकाल से भी है; क्योंकि उन्हीं के आदेश पर रात्रि का आगमन होता है। 'सविता' का अर्थ है प्रसव करनेवाला, स्फूर्ति देनेवाला देवता। अतः विश्व में गति के संचार करने तथा प्रेरणा देनेवाले सूर्य का सविता निश्चय ही प्रतिनिधि है।

आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥
(१।३५।२)

सूर्य

सौर देवों में सूर्य का रूप इतना ठोस है कि इसके भौतिक आधार, उदय लेनेवाले सूर्य, को मन्त्रों में कभी भुलाया नहीं गया है। इनकी आँख का वर्णन मिलता है, परन्तु वे स्वयं मित्रावरुण के नेत्र कहे गये हैं। वह सब प्राणियों का उनके शोभन तथा अशोभन कार्यों का द्रष्टा है तथा मनुष्यों को कर्म का प्रेरक देव; जङ्गम तथा स्थावर पदार्थों की आत्मा है। (सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च)। 'एतश' नामक एक घोड़ा अथवा 'हरित' नामक सात तेज चलने वाली घोड़ियाँ उसके रथ को खींचती हैं।

अनेक मन्त्रों में सूर्य कभी तो आकाश में उड़ने वाले पक्षी के रूप में, कभी लाल रङ्ग के पक्षी के रूप में और कभी उड़ने वाले गृध्र के रूप में माना गया है। वह आकाश में चमकता हुआ अन्धकार को दूर भगाता है जिसे वह चर्म की भाँति लपेट लेता है, अथवा जिसकी किरणें पानी में चर्म के समान उसे फेंक देती हैं। वह दिनों को मापता है और जीवन को बढ़ाता है। वह रोग, बीमारी तथा दुष्ट स्वप्नों को दूर भगा देता है। वह अपने गौरव तथा महत्त्व के कारण देवों का पुरोहित कहा गया है (असुर्य पुरोहितः) 'सूर्य' का सम्बन्ध स्वर

(प्रकाश) से है तथा वह अवेस्ता के 'ह्वरे' (सूर्य) के समान ही है, जो तेज घोड़ों को रखता है तथा जो अहुरमज्दा का नेत्र है। उसके वैशिष्ट्य को यह मन्त्र स्पष्टतः प्रकट कर रहा है—

उद् वेति सुभगो विश्वचक्षाः
साधारणः सूर्यो मानुषाणाम्।
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य देव-
श्चर्मेव यः समविव्यक् तमांसि ॥

(ऋ० ७।६३।१)

विष्णु

व्यापनशील होने से विष्णु सूर्य के क्रियाशील रूप के प्रतिनिधि हैं। सूर्य की नाना क्रियाओं तथा दशाओं की विभिन्नता से अनेक देवताओं के रूप में ऋग्वेद में कल्पना की गई है। सूर्य एक स्थान पर कभी नहीं टिकता। वह प्रातःकाल प्राची के क्षितिज से उठकर दोपहर को ठीक आकाश के मध्य मे आ विराजता है तथा सन्ध्याकाल में पश्चिम दिशा में अस्त हो जाता है। यह सूर्य का क्रियाशील उद्योग-सम्पन्न रूप है जिसकी कल्पना 'विष्णु' के रूप में की गई है। उसके स्वरूप की तुलना पर्वत पर रहनेवाले, यथेच्छ भ्रमण करनेवाले, भयानक पशु (=सिंह) से की गई है (**मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः**; ऋग० १।१५४।२)। विष्णु का महत्त्वशाली कार्य पृथ्वी की तीन डगों में माप डालने का है। वह एक होकर भी तीन डगों से विश्व को नाप लेता है (**एको विममे त्रिभिरित् पदेभिः**)। इन विशाल डगों या क्रमों के कारण वह 'उरुक्रम' तथा 'उरुगाय' कहलाता है। विष्णु के इन तीन पदक्रमों के विषय में पर्याप्त मतभेद था। यास्क के उल्लेखानुसार (निरुक्त १२।१९) आचार्य और्णवाभ के मत में प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल में सूर्य के द्वारा अंगीकृत आकाश के तीन स्थान-बिन्दुओं का निर्देश है। अन्य आचार्य शाकपूणि के मत में त्रिक्रमणों से पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश—इन तीनों लोकों के मापने तथा अतिक्रमण करने का संकेत है। इन दोनों मतों में से द्वितीय मत की पुष्टि ऋग्वेदीय मन्त्रों से स्वतः होती है, जिनमें तृतीय पद की सत्ता ऊर्ध्वतम लोक में मानी गई है। विष्णु के परम पद—उच्चलोक में मधु का उत्स (झरना) बतलाया गया है तथा भूरिशृंगा (नाना सींगों से युक्त) चञ्चल (अयासः) गायों का अस्तित्व माना गया है (**यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः—ऋ०**

१।१५४।६)। ये गायें सूर्य की किरणें ही हैं जिनका आकाश के मध्य में नाना प्रकार के प्रसरण की उपमा शृंगों से दी गई है। विष्णु की स्तुति में यह मन्त्र उनके रूप का पर्याप्त परिचायक है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे॥ (ऋ० १।२२।७)

विष्णु के इस रूप-निर्देश में अवान्तर-युगीय पौराणिक कल्पनाओं के बीज अन्तर्निहित हैं। त्रिविक्रम विष्णु ही पुराणों में वामन के रूप में चित्रित हैं जिसके लिए 'उरुक्रम' तथा 'उरुगाय' जैसे वैदिक पदों का प्रयोग दोनों के एकत्व का परिचायक है। वैष्णव तन्त्रों के अनुसार भगवान् विष्णु का वैकुण्ठलोक 'गोलोक' कहलाता है। इस धारणा का भी मूल पूर्वोक्त मन्त्र में पर्याप्तरूपेण उपलब्ध होता है। विष्णु के भक्त लोग इसी वैकुण्ठलोक में मृत्यु के अनन्तर जाते हैं तथा स्वादिष्ट वस्तुओं का उपभोग करते हुए आनन्द उठाते हैं (**नरा यत्र देवयवो मदन्ति**—ऋ० १।१५४।५)। इस सूर्यरूपी विष्णु की प्रमुखता वैदिक युग में भले ही न हो, परन्तु उसमें वे समस्त चिह्न विद्यमान हैं जिनका विकाश तथा महत्त्व पीछे के युग में सम्पन्न दीखता है, विशेषतः वैष्णव धर्म के माननीय ग्रन्थों में।

अश्विन्

अश्विनौ संयुक्त देवता हैं जिनकी महत्ता इन्द्र, अग्नि तथा सोम के अनन्तर मान्य होती है। पूरे पचास सूक्त इनकी प्रार्थना में प्रयुक्त हैं। ये दो देवता हैं, जो अविभक्त रूप से एकत्र रहते हैं। ये प्राचीन होते हुए भी युवक हैं। ये प्रकाशमान, प्रकाश के अधिपति, सुवर्ण की चमक धारण करने वाले तथा कमलों की माला से अलंकृत वर्णित हैं। इनके लिए दो स्वतन्त्र तथा बहुशः प्रयुक्त विशेषण हैं—**दस्रा** (अद्भुत) तथा **नासत्या** (सत्य)। इनके ही लिए 'हिरण्यवर्तनि' (सुवर्ण मार्ग वाले) शब्द का प्रयोग किया गया है। सोम की अपेक्षा मधु से ही इनका घनिष्ठ सम्पर्क है। अन्य देवों की अपेक्षा ये मधु अधिक पीते हैं, उनके पास मधु से भरा हुआ कोष है, मधु के एक सैकड़े घड़ों को वे उडेलते हैं। उनका अंकुश ही मधुमय नहीं है, प्रत्युत उनका रथ भी मधुवर्ण वाला तथा मधु धारण करने वाला है। यह रथ घोड़ों के द्वारा, अधिकतर पक्षियों या पक्षधारी अश्वों के द्वारा खींचा जाता है। इसी पर बैठकर वह एक ही दिन में द्यावापृथिवी की परिक्रमा कर आते हैं। उषा तथा सूर्य के

उदय काल के मध्य में इनका आविर्भाव होता है; उषा के आगमन के अनन्तर वे उसका अनुगमन करते हैं। वे अन्धकार दूर करते हैं तथा मानवों को क्लेश पहुँचाने वाले राक्षसों को दूर भगा देते हैं।

वे सूर्यपुत्री सूर्या के पति हैं जिन्हें उसने स्वयं वरण किया है तथा जिनके रथ पर वह चढ़ती है। उनके रथ पर सूर्या की स्थिति उनका वैशिष्ट्य है। इसीलिए ऋग्वेद के विवाह सूक्त (१०।८५) में उनसे विवाहित वधू को अपने रथ पर चढ़ा कर घर लाने तथा सन्तान उत्पन्न करने की क्षमता प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।

विपत्तियों से प्राणियों का उद्धार करना अश्विन् देवता का प्रधान कार्य है। विपत्ति से शीघ्रतम उद्धारक के रूप में उनकी ख्याति अक्षुण्ण है। वे देवताओं में कुशल वैद्य हैं, जो अपने औषधों से रोगों को दूर करते हैं, अन्धों को दे देखने की शक्ति देते हैं तथा बीमार पड़े लोगों को रोगमुक्त करते हैं। उनके परोपकार की कार्यावली का निर्देश अनेक मन्त्रों में बहुशः किया गया है। उन्होंने च्यवन ऋषि को वृद्धता से मुक्त कर यौवन प्रदान किया तथा उनकी पत्नी के लिए उन्हें सुन्दर बना दिया। पेदु को उन्होंने एक सफेद शीघ्रगामी अश्व प्रदान किया। अन्धकार के कारागृह में बद्ध अत्रि का उद्धार किया, परन्तु उनकी सबसे श्रेष्ठ घटना है भुज्यु का समुद्र के तल से उद्धार, जब उसकी हजार डांडों वाला जहाज समुद्र के बीच टूट गया था और वह उसमें अपने प्रिय प्राणों को गवाँ रहा था।

अश्विनौ के भौतिक आधार के विषय में प्राचीन काल से मतवैभिन्य चला आता है। यास्क ने ही विविध मतों का उल्लेख कर इस मतभेद की सूचना दी है। आधुनिक पश्चिमी विद्वानों ने भी अनेक व्याख्यायें दी हैं। सबसे सम्भाव्य मत यह है कि ये प्रातःकालीन सन्ध्या के, आधा प्रकाशमय तथा आधा अन्धकारमय काल के, प्रतीक हैं; अथवा प्रातः और सायंकाल उदय लेने वाले नक्षत्र (शुक्र) के प्रतिनिधि हैं। इनका उदय भारोपीय काल में सम्भवतः सम्पन्न हो गया था। ग्रीक धर्म में जुएस (देवाधिदेव) के दो पुत्रों की कल्पना है, जो हेलेना देवी के भाई हैं। उन्हीं से उषा के भ्राता अश्वारोही अश्विनौ की समता विद्वानों ने की है। नासत्या के नाम से इनका उल्लेख मितानि जाति के देवताओं में किया गया है, जिससे इनकी प्राचीनता तथा व्यापकता स्वतः सिद्ध होती है। अवेस्ता में नासत्या को एक असुर के रूप में कल्पित किया गया है।

उषा

उषा देवी के सूक्तों में वैदिक ऋषियों की प्रतिभा अपने चरम रूप में दृष्टिगोचर होती है। उषा के सूक्त ऋग्वेद के सूक्तों में अत्यन्त सुन्दर, प्रभावशाली तथा प्रतिभासम्पन्न हैं। ये वैदिक युग के गीति-काव्य के प्रमुख निदर्शन रूप में आलोचकों को चमत्कृत करते हैं। 'उषा' शब्द वस् दीप्तौ धातु से निष्पन्न हुआ है। इसलिए इसका अर्थ है प्रकाशमान, दीप्तिसम्पन्न। उषा के वर्णन-प्रसंग में उसका भौतिक रूप मन्त्र-द्रष्टाओं की दृष्टि से कभी ओझल नहीं होता। 'उषा' का मानवीय रूप सौन्दर्य का चरम अवसान है। नर्तकी के समान प्रकाशमय वस्त्रों से सज्जित, आलोक से आवृत उषा जब प्राची-क्षितिज पर उदय लेती है, तब वह रजनी के घोर अन्धकार को सिले हुए वस्त्र के समान दूर फेंक देती है। 'पुराणी युवतिः' शब्दों का प्रयोग उषा के लिए इसी निमित्त होता है कि वह पुराचीन होने पर भी नित्य उत्पन्न होती है। वह हिरण्यवर्णा है तथा उसके सुवर्णमय रथ को लालरंगवाले, बलशाली तथा शिक्षित घोड़े (किरणें) खींचकर आकाश में लाते हैं। उस समय पक्षीगण अपने स्वरों से तथा मन्त्र-गायक लोग अपनी मधुर वाणी से उसका स्वागत करते हैं। वह प्रातः अग्नि के उपासकों को जगाती है और उन्हें अग्निहोत्र के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार वह देवों की सेवा करती है।

उषा सूर्य के साथ बहुशः सम्बद्ध है। वह देवों के नेत्र को लाती है, सूर्य के लिए मार्ग बनाती है।' सूर्य तथा उषा के सम्बन्ध के विषय में अनेक कल्पनायें मन्त्रों में मिलती हैं। सूर्य उषा का अनुगमन उसी प्रकार करता है जिस प्रकार वर वधू का। फलतः वह सूर्य की पत्नी मानी गयी है। सूर्य से प्रथम ही उदय लेने के कारण वह सूर्य की माता भी कहीं-कहीं कही गई है, जो चमकते हुए बालक को अपने साथ लाती है। वह रजनी की ज्येष्ठ भगिनी मानी जाती है और इन दोनों बहिनों के नाम द्वन्द्व समास में 'उषासानक्ता' तथा 'नक्तोषासा' के रूप में संयुक्त किये गये हैं। आकाश में उत्पन्न होने से वह 'दुहिता दिवः' भी प्रसिद्ध है। अग्नि भी उषा का कामुक कहा गया है, जो उस समय ऋत्विजों के द्वारा प्रज्वलित होकर उससे मिलने के लिए जाता है। अश्विनौ भी उसके मित्र हैं, क्योंकि उषा उन्हें जगाती है, इसलिए उनसे भी सम्बद्ध है।

वह मघोनी (दानशील), विश्ववारा (समस्त प्राणियों के द्वारा वरण-योग्य), प्रचेताः (प्रकृष्ट ज्ञान से सम्पन्न), सुभगा, रेवती (धन-युक्त) आदि विशेषणों से मण्डित की जाती है। वह प्रकृति के नियम का पालन करती हुई उचित समय पर

उपस्थित होती है, इसीलिए वह 'ऋतावरी' शब्द का भाजन बनती है। वह अमरत्व का चिह्न (अमृतस्य केतुः) है। वह प्रकाश-पुञ्ज का इसप्रकार आवर्तन करती है जिस प्रकार कोई पहिए को लुढ़काता है। इस कमनीय कल्पना से मण्डित यह मन्त्र कितना कवित्वपूर्ण है—

> उषः प्रतीची भुवनानि विश्वो-
> ध्वर्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः
> समानमर्थं चरणीयमाना
> चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व।
>
> (ऋ० ३।६१।३)

अन्तरिक्ष-स्थान देवता

इन्द्र

ऋग्वेद के चतुर्थांश सूक्तों में केवल इन्द्र की स्तुति है। इसका मुख्य कारण यह है कि वह वैदिक आर्यों का जातीय देवता है। उसके भौतिक रूप का वर्णन उपमा तथा अलंकार की सहायता से बड़ी सुन्दरता से किया गया है। उसके शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों का बहुशः निर्देश मिलता है। सोमपान से वह अपने पेट को भरता है। वह स्वयं भूरे रंग का (हरि) है, तथा उसके बाल और दाढ़ी भी भूरी हैं। वह अपने पराक्रम से समस्त देवों को परिभूत कर देता है तथा उत्पन्न होते ही वेदों में अग्रगण्य स्थान पा लेता है। चलायमान पृथ्वी को तथा हिलने-डुलनेवाले पर्वतों को उन्होंने स्थिर कर दिया। उनके व्यक्तिगत रूप का भी सुन्दर चित्र हमें मन्त्रों में मिलता है। उनका शरीर बड़ा ही गठीला तथा बलशाली है। उनकी ठुड्डी (हनु) बड़ी ही सुन्दर है (सुशिप्रः)। उनके बाहु वज्र के समान मजबूत हैं (वज्र-बाहुः), तथा वे अपने हाथ में वज्र धारण करते हैं। उन्होंने शत्रुओं के पुरों को—दुर्ग से वेष्टित नगरों को—ध्वस्त कर दिया है (पुरभित्)। बलशालिता के कारण इन्द्र की तुलना सात रस्सियों के सहारे कब्जे में आनेवाले बैल से दी गई है (वृषभः सप्तरश्मिः)। इन्द्र के वज्र को त्वष्टा ने लोहे से बनाया है, जो सुनहला, भूरा, तेज, अनेक सिरावाला और कभी-कभी पत्थर का बना हुआ बताया गया है। वज्र इन्द्र का अपना विशिष्ट आयुध है। इसी लिए वह 'वज्रबाहु' तथा 'वज्री' विशेषणों से मण्डित होता है। दो भूरे रँगवाले अश्वों (हरि) के द्वारा खींचे गये सुनहले रथ पर चढ़कर इन्द्र युद्ध करता है (रथेष्ठा)। अन्य देवों की अपेक्षा इन्द्र सोमपान का अतना

अभ्यासी है कि 'सोमपा' शब्द उसी का विशिष्ट परिचायक है। सोम के पीने से उसमें उत्साह तथा शौर्य की इतनी अभिवृद्धि होती है कि जिससे वह अपने वीरमय कार्यों का सम्पादन करता है। वृत्र से युद्ध के अवसर पर उसने सोम से भरे हुए तीन तालाबों को पी डाला। ऋग्वेद का एक पूरा सूक्त (१०।११९) उसके सोमपान से उत्पन्न आनन्दोल्लास का कवित्वमय उद्गार है। उसके पिता द्यौः हैं; कहीं-कहीं अनुमानतः त्वष्टा भी प्रतीत होते हैं। उसकी पत्नी इन्द्राणी का भी उल्लेख मिलता है। वह अनेक देवताओं के साथ संयुक्तरूप से निर्दिष्ट है, विशेषतः मरुतों ('मरुत्वन्त' इन्द्र का विशिष्ट अभिधान है), अग्नि तथा वरुण के साथ। उसकी शक्ति अतुलनीय है, जिसे न तो किसी मनुष्य ने पाया है, और न किसी देवता ने। इस वैशिष्ट्य के कारण वह शचीपति तथा शक्र (बल का अध्यक्ष), शचीवन्त तथा शतक्रतु (सौ शक्तियों से सम्पन्न) विशेषणों का भाजन है।

उसका सबसे महत्त्वशाली शौर्य वृत्र (दुर्भिक्ष तथा अकाल के असुर) का पराजय है। इन्द्र तथा वृत्र के युद्ध का वर्णन नितान्त वीर-रस का उत्पादक है और अत्यन्त सुन्दर प्रतिभा के सहारे यह घटना वर्णित है। वह अपने वज्र से वृत्र (अथवा अहि = सर्प) को, जो जल को व्याप्त कर उसे गिरने और बहने से रोके रहता है, ध्वस्त कर देता है। इसी घटना से वह अप्सुजित् (जल में विजयी) की उपाधि धारण करता है। वह पर्वतों को चूर-चूर कर डालता है और गुफा में बद्ध गायों के समान जल को मुक्त कर प्रवाहित करता है।

वृत्र को अपने बल पर बड़ा गर्व था (ओजायमानम्) और धूर्तता से वह अपने को इन्द्र की पकड़ से सदा बचाये रखता था, परन्तु इन्द्र ने बड़े उद्योग से उसे चालीसवें वर्ष में (चत्वारिंश्यां शरदि) खोज निकाला और उसे अपने विकट वज्र से छिन्न-भिन्न कर दिया। उसके बुरे प्रभाव से नदियों का प्रभाव रुक गया था; सप्तसिन्धु प्रदेश की सातों नदियों की धारा रुक गयी थी। वृत्र-वध के फल-स्वरूप सप्तसिन्धुओं में जल प्रवाहित होने लगा, तथा देश में सुख-सौख्य का साम्राज्य छा गया। इस प्रसंग में मेघ कहीं पर्वत कहा गया है जहाँ वह दैत्य वास करता है, अथवा जहाँ से वह उसे नीचे गिरा देता है। जल-पूर्ण बलाहक का संकेत ऊधः (थन), उत्स (झरना), कवन्ध (पीपा) तथा कोष शब्दों के द्वारा किया गया है। मेघ वायुवीर्य दैत्यों के दुर्ग (पुर) भी कहे गये हैं। इसीलिए उनके भेदक देवता के लिए 'पुरभिद्' का प्रयोग अनेकशः किया गया है। इन्द्र वृत्र के वास्तव संकेत की व्याख्या अनेक प्रकार से प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों ने की है—

(१) निरुक्त के समय में भी वृत्र के विषय में अनेक कल्पनायें प्रचलित थीं। ऐतिहासिकों के अनुसार वृत्र वस्तुतः एक ऐतिहासिक राजा था और इन्द्र के साथ उसका युद्ध एक वास्तव युद्ध था। इसी पक्ष का आश्रयण कर भागवत में इस युद्ध का वर्णन किया गया है (भागवत, षष्ठ स्कन्ध, अध्याय ९–१३)।

(२) यास्क के अनुसार वृत्र मेघ का प्रतीक है। आवरणार्थक वृञ् धातु से निष्पन्न वृत्र शब्द का अर्थ है आवरण करने वाला, जल को पृथ्वी पर गिरने से रोकने वाला। जल-वर्षण न करने वाले मेघ ही वृत्र के प्रतिनिधि हैं। इन्द्र वृष्टि के देवता हैं। दो पत्थरों (मेघों) के बीच में अग्नि (विद्युत्) उत्पन्न करने वाले इन्द्र (अश्मनोरन्तरग्निं जजान) का रूप वृष्टि-देवता का परिचायक है। वृत्र के मारने के अनन्तर नदियों के रुके हुए जल-प्रवाह का वह निकलना इसी सिद्धान्त को पुष्ट करता है।

(३) लोकमान्य तिलक के अनुसार इन्द्र सूर्य का प्रतीक है तथा वृत्र हिम का प्रतिनिधि। उत्तरी ध्रुव में शीत ऋतु में समस्त नदियाँ अत्यन्त ठंढक के कारण जम जाती हैं, उनकी धारा रुक जाती है। वसन्तकालीन सूर्य अपनी प्रखर रश्मियों से जब बरफ को गला डालता है, तब वसन्त काल में नदियाँ प्रवाहित होने लगती हैं। अतः इन्द्र-वृत्र का आख्यान उत्तरी ध्रुव की भौगोलिक स्थिति का वास्तव परिचायक है।

(४) अधिकांश पश्चिमी वैदिक विद्वान् निरुक्त के पूर्वोक्त मत में ही अधिक श्रद्धा रखते हैं और इन्द्र को वृष्टि का ही मुख्य देवता मानते हैं। डा० हिलेब्राण्ट इस मत से सहमत नहीं हैं। उनकी दृष्टि में वृत्र उस हिमानी का संकेत करता है जो शीत के कारण जल को बर्फ के रूप में परिणत कर देती है। इस हिमानी का संहार ही इस आख्यान का परिणाम है। इन भिन्न-भिन्न मतों में अधिकांश वेदज्ञों की यही मान्यता है कि इन्द्र वृष्टि लाने वाला तूफान का देवता है।

वृत्र के वध के साथ ही साथ वह प्रकाश, सूर्य तथा उषा को भी इस जगतीतल पर लाता है। सोम को भी वह प्राप्त करता है। वह इस विश्व को क्षुब्ध करने वाली अनेक घटनाओं को शान्त करता है। कम्पायमान पर्वतों तथा पृथ्वी को स्थिर करता है। इसीने इस अन्तरिक्ष को विशाल बनाया है। इन्हीं की कृपा से आर्यों ने अपने शत्रुओं पर विजय पायी तथा दस्युओं को जंगल में खदेड़ कर उनके स्थानों पर अधिकार कर लिया (दासं वर्णमधरं गुहाकः—

ऋ० २।१२।४)। अत एव आर्यों को विजय-प्रदान करने वाले देव होने के नाते इनकी भव्य स्तुतियाँ बल तथा ओज के वर्णन से परिपूर्ण हैं। इन्द्र की स्तुति विजय-प्रदात्री है—

> यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो
> यं युद्धमाना अवसे हवन्ते।
> यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव
> यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः ॥
> (ऋ० २।१२।९)

अपां नपात्

इस देवता के नाम का अर्थ है—जल का पुत्र। इसके लिए एक पूरा सूक्त (२।३५) स्वतन्त्र रूप से मिलता है। युवक तथा दीप्तिमान् यह देवता विना किसी इन्धन के ही जल के भीतर चमकता है, जो इसे चारों ओर घेरे रहता है तथा उसे पुष्ट करता है। बिजुली से ढँका हुआ यह देव रंग-रूप में बिल्कुल सुवर्णमय है। मन के समान वेगशाली घोड़े उसे खींच कर लाते हैं। 'आशुहेमन्' (शीघ्रगामी) पद का प्रयोग अपां नपात् के लिए बहुशः तथा अग्नि के लिए एक बार किया गया है। इसीलिए यह अग्नि का, विशेषतः दिव्य अग्नि का (मेघों में छिपी हुई बिजुली का) सम्भवतः प्रतीक माना जाता है। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि इस देवता का उदय भारत से सम्बद्ध नहीं है, प्रत्युत यह पारसीक काल का निर्माण है, क्योंकि अवेस्ता में अपां नपात् जल में रहने वाला एक असुर है, जो स्त्रियों से घिरा रहता है और वह तेज घोड़ों पर चढ़ता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि ऋग्वेद के अनेकानेक देवों को अवेस्ता धर्म वालों ने असुर का रूप प्रदान किया है।

पर्जन्य

यह बिल्कुल साधारण श्रेणी का देवता केवल तीन सूक्तों में प्रशंसित है। 'पर्जन्य' का अर्थ है वर्षाकालीन मेघ और ठीक इसी रूप मे इसका वर्णन भी मिलता है। उसकी उपमा जोर से रँभानेवाले वृषभ (कनिक्रदत् वृषभः) से दी गई है। वृष्टि का गिराना ही उसका मुख्य व्यापार है और इस समय वह बिजली तथा गर्जन के संग में अपने जलमय रथ पर आरूढ़ होकर आकाश में गमन करता है। अपने घोड़ों को चाबुक से मारने वाले सारथी के समान वह अपने वर्षा के दूतों को प्रकट करता है और जब वह आकाश को वर्षा से संयुक्त (वर्ष्य) बनाता है, तब दूर से सिंह का गर्जन उत्पन्न होता है। वह विश्व मे ओषधियों को

पैदा करने वाला परम मंगलकारी देवता है। इसीलिए वह शक्तिशाली पिता (असुरः पिता नः) कहा गया है। जलपूरित पर्जन्य की उपमा दृति (मशक) से बड़ी सुन्दरता के साथ दी गई है (दृतिं सु कर्ष विषितं न्यञ्चं)।

आपः—जल-देवता है, जिसका वर्णन चार सूक्तों में है। अपने वज्र की सहायता से इन्द्र ने उसके लिए मार्ग बना दिया है जिस पर वह सदा चलता है और कभी चलने से परांमुख नहीं होता। राजा वरुण मनुष्यों के सत्य तथा अनृत को देखता हुआ उसके बीच में भ्रमण करता है। मधु के साथ उसका अनेक बार वर्णन मिलता है।

रुद्र की वैदिक भावना

ऋग्वेद में केवल तीन सूक्त—प्रथम मण्डल का ११४वाँ सूक्त, २ मण्डल का ३३वाँ सूक्त तथा ७ मण्डल का ४६वाँ सूक्त—रुद्र देवता के विषय में उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य देवताओं के साथ इनका नाम लगभग ५० बार आता है। ऋग्वेद में रुद्र का स्थान अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं की अपेक्षा बहुत ही कम महत्त्व का है, परन्तु यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में रुद्र का स्थान बहुत कुछ महत्त्व-संवलित है। यजुर्वेद का एक पूरा अध्याय ही इनकी स्तुति में प्रयुक्त किया गया है। यह 'रुद्राध्याय' यजुर्वेद की अनेक संहिताओं में थोड़े-बहुत अन्तर के साथ उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय संहिता के चतुर्थ काण्ड का पाँचवाँ और सातवाँ प्रपाठक तथा शुक्ल यजुर्वेदीय संहिता का १६वाँ अध्याय 'रुद्राध्याय' के नाम से विख्यात है। अथर्ववेद के ११ काण्ड के द्वितीय सूक्त में रुद्रदेव की स्तुति की गई है।

ऋग्वेद में रुद्र का मानव स्वरूप इस प्रकार का वर्णित है :—रुद्र के हाथ तथा बाहु हैं (ऋ० २।३३।७)। उनका शरीर अत्यन्त बलिष्ठ है। उनके ओठ अत्यन्त सुन्दर हैं (सुशिप्रः)। उनके मस्तक पर बालों का एक जटाजूट है जिसके कारण वे 'कपर्दी' कहलाते हैं (ऋ० १।१४।१)। उनका रंग भूरा है (बभ्रु) तथा आकृति देदीप्यमान है। वे नानारूप धारण करने वाले हैं (पुरुरूपः) तथा उनके स्थिर अङ्ग चमकने वाले सोने के गहनों से विभूषित हैं। वे रथ पर सवार होते हैं। यजुर्वेद के रुद्राध्याय में तथा अथर्व के रुद्रसूक्त में उनके स्वरूप का इससे कहीं अधिक विशद् वर्णन उपलब्ध होता है। रुद्र के मुख, चक्षु, त्वच्, अङ्ग, उदर, जिह्वा तथा दाँतों का उल्लेख किया गया है (अथर्व ११ काण्ड, १ सूक्त, ५-६ मन्त्र)। उनके सहस्र नेत्र हैं (सहस्राक्षः)। उनकी गर्दन का रंग

नीला है (नीलग्रीवः), परन्तु उनका कण्ठ उज्ज्वल रंग का है (शितिकण्ठः)[1] । उनके माथे पर जटाजूट का वर्णन भी है, साथ ही साथ कभी-कभी वे मुण्डित केश (व्युप्तकेशः, शु० य० १६।२९) भी कहे गये हैं। उनके केश लाल रंग या नीले रंग के हैं (हरिकेशः) । वे माथे पर पगड़ी पहनने वाले हैं (उष्णीषी, यजु० १६।२२) रंग उनके शरीर का कपिल है (बभ्लुशः १६।१८) ।

रुद्राध्याय के अनुसार रुद्र एक बलवान् सुसज्जित योद्धा के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनके हाथ में धनुष् तथा बाण है। उनके धनुष का नाम 'पिनाक' है (शु० यजुर्वेद १६।५१) । उनका धनुष सोने का बना हुआ, हजारों आदमियों को मारने वाला, सैकड़ों बाणों से सुशोभित तथा मयूरपिच्छ से विभूषित बतलाया गया है (धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम्—अ० ११।२।१२) । बाणों को रखने के लिए वे तरकस (इषुधि) धारण करते हैं, जो संख्या में सौ हैं। उनके हाथ में तलवार भी चमकती रहती है (निषङ्गी) तथा इस तलवार के रखने के लिये उनके पास म्यान (निषङ्गधि) है। वे वज्र भी धारण करते हैं; वज्र का नाम सृक है (शु० य० १६।२१) । शरीर की रक्षा करने के लिए वे अनेक साधनों को पहने हुए हैं। माथे की रक्षा करने के लिये वे शिरस्त्राण धारण करते हैं (बिल्मी, शु० य० १६।३५) और देह के बचाव के वास्ते कवच तथा वर्म पहने हुए हैं। महीधर की टीका के अनुसार वर्म कवच से भिन्न होता था[2] । कवच कपड़ों का सिला हुआ 'अंगरखा' के ढंग का कोई पहनावा था; वर्म खासा लोहे का बना हुआ जिरहबख्तर था। कवच के ऊपर वर्म पहना जाता था। रुद्र शरीर पर चर्म का कपड़ा पहनते हैं (कृत्तिं वसानः—शु० य० १६।५१) । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस तरह रथ पर चढ़ कर धनुर्बाण से सुसज्जित योद्धा रणाङ्गण में शत्रुओं के संहार के लिये जाता है, उसी भाँति रुद्र शिर पर बिल्म तथा देह पर कवच और वर्म पहन कर रथ पर आसनमार धनुष पर बाण चढ़ा कर अपने भक्तों के वैरियों को मारने के लिये मैदान में उतरते हैं। वे धनुष पर बाण सदा चढ़ाए रहते हैं। इसीलिए उनका नाम है—आततायी। इनके अस्त्र-शस्त्र इतने भयानक हैं कि ऋषि इनसे बचने के लिये सदा प्रार्थना किया करते हैं—

---

१. नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च—शु० य० १६।२८ ।

२. पटस्यूतं कर्पासगर्भं देहरक्षकं कवचम् ; लोहमयं शरीररक्षकं वर्म ।

(शु० य० १६।३५ पर महीधर-भाष्य)

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवान् उत।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः॥
(शु० य० १६।१०)

रुद्र का शरीर नितान्त बलशाली है। ऋग्वेद में वे क्रूर बतलाए गए हैं। वे स्वर्गलोक के रक्तवर्ण (अरुष) वराह हैं (ऋ० १।११४।५)। वे सबसे श्रेष्ठ वृषभ हैं; वे तरुण हैं और उनका तारुण्य सदा टिकने वाला है; वे शूरों के अधिपति हैं और अपने सामर्थ्य से वे पर्वतों में टिकी हुई नदियों में जल का प्रवाह उत्पन्न कर देते हैं। उन्हें न मानने वाले मनुष्यों को वे अवश्य अपने बाणों से छिन्न-भिन्न कर देते हैं, परन्तु अपने उपासक मनुष्यों के लिये वे अत्यन्त उपकारी हैं। इसीलिए वे 'शिव' के नाम से भी पुकारे जाते हैं। उनके सम्बन्धियों का परिचय मन्त्रों के अध्ययन से चलता है। रुद्र मरुतों के पिता हैं (ऋ० १।११४।६)। यही कारण है कि अनेक मन्त्रों में मरुत् तथा रुद्र की स्तुति एक साथ की गई मिलती है। मरुतों के 'रुद्रिय' संज्ञा पाने का यही रहस्य है। 'त्रयम्बक' का प्रयोग ऋग्वेद के केवल एक ही मन्त्र में किया गया है, जो शुक्ल यजुर्वेद (अ० ३, ६० मं०) में भी उद्धृत पाया जाता है। रुद्र का स्तुतिपरक यह मन्त्र नितान्त प्रसिद्ध है :—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥
(ऋ० ७।५९।१४)

'त्र्यम्बक' शब्द का अर्थ समस्त भाष्यकारों ने 'तीन नेत्र वाला' किया है, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों को इस अर्थ में आस्था नहीं है। वे यहाँ 'अम्बक' शब्द को जननीवाचक मान कर रुद्र को तीन माता वाला बतलाते हैं, परन्तु यह स्पष्टतः प्रतीत नहीं होता कि रुद्र की ये तीन मातायें कौन सी थीं। वैदिक काल के अनन्तर रुद्र की पत्नी के लिये प्रयुक्त 'अम्बिका' शब्द का प्रथम प्रयोग वाजसनेयी संहिता (३।५७) में आता है, परन्तु इतना अन्तर अवश्य है कि यह उनकी पत्नी का नाम न होकर उनकी भगिनी का नाम बतलाया गया है— "एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राऽम्बिकया, तं जुषस्व स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः" (शु० य० ३।५७)। इनकी पत्नी के अन्य नाम वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं। 'पार्वती' शब्द तैत्तिरीय आरण्यक में और 'उमा, हैमवती' शब्द केनोपनिषद् में प्रयुक्त हैं।

इस प्रकार ऋग्वेदीय देवमण्डली में रुद्र का स्थान नितान्त नगण्य सा प्रतीत होता है, परन्तु अन्य संहिताओं में इनका महत्त्व बढ़ता-सा दीख पड़ता है। रुद्राध्याय में रुद्र के लिए भव, शर्व, पशुपति, उग्र, भीम आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। विश्व में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, चाहे वह स्वर्लोक में, अन्तरिक्ष में, भूतल के ऊपर या भूतल के नीचे हो, जहाँ भगवान् रुद्र का आधिपत्य न हो। यह समस्त विश्व सहस्रों रुद्रों की सत्ता से ओत-प्रोत है। रुद्र जगत् के समग्र पदार्थों के स्वामी हैं। वे अन्नों के, खेतों के, वनों के अधिपति हैं, साथ ही साथ चोर, डाकू, ठग आदि जघन्य जीवों के भी वे स्वामी हैं। अथर्ववेद में रुद्र के नामों में भव, शर्व, पशुपति तथा भूतपति उल्लिखित है (११।२।१)। पशुपति का तात्पर्य इतना ही नहीं है कि गाय आदि जानवरों के ही ऊपर उनका अधिकार चलता है, प्रत्युत 'पशु' के अन्तर्गत मनुष्य की भी गणना अथर्ववेद को मान्य है :—

तवेमे पञ्च पशवो भक्ता
गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः।

(अ० ११।२।९)

इस प्रकार 'पशु' के तान्त्रिक अर्थ का आभास हमें अथर्व के इस मन्त्र में सर्वप्रथम मिलता है। रुद्र का निवास अग्नि, ओषधियों तथा लताओं में ही नहीं है, बल्कि उन्होंने इन समस्त भुवनों की रचना कर इन्हें सम्पन्न बनाया है—

यो अग्नौ रुद्रो य अप्स्वन्त-
र्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे
तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥

(अथर्व ७।८७।१)

ब्राह्मण-काल में तो रुद्र का महत्त्व और भी बढ़ता ही चला गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के एक दो उल्लेखों से ही रुद्र की महनीयता की पर्याप्त सूचना मिलती है। ३।३।३३ में प्रजापति के उनकी कन्या के सहगमन का प्रसंग उठाकर रुद्र की उत्पत्ति की चर्चा की गई है। वहाँ गौरव की दृष्टि से इनके नाम का उल्लेख नहीं किया गया है, प्रत्युत 'एष देवोऽभवत्' कह कर सम्माननीय शब्द ही व्यवहृत किया गया है।

उपनिषदों में रुद्र की प्रधानता का परिचय हमें भली-भाँति मिलता है। छान्दोग्य (३।७।४), बृहदारण्यक (३।९।४), मैत्री (६।५), महानारायण (१३।२), नृसिंहतापनी (१।२), श्वेताश्वतर (३।२,४) आदि प्राचीन उपनिषदों में रुद्र के वैभव तथा प्रभाव का वर्णन उपलब्ध होता है। श्वेताश्वतर में रुद्र की एकता, जगन्निर्माण में निरपेक्षता, विश्व के आधिपत्य, महर्षि तथा देवताओं के उत्पादक तथा ऐश्वर्य सम्पन्न बनाने के सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्पष्ट भाषा में किया गया है। 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' (३।२);

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

(श्वेता० ३।४)

—आदि श्वेताश्वतर श्रुति के प्रसिद्ध मन्त्र इस विषय में प्रमाणरूप से उद्धृत किए जा सकते हैं। अवान्तरकालीन उपनिषदों में अनेक का विषय रुद्र-शिव की प्रभुता, महनीयता, अद्वितीयता दर्शाना है। अतः अथर्वशिर, कठरुद्र, रुद्रहृदय, पाशुपतब्रह्म आदि शिवपरक उपनिषदों के नामोल्लेखमात्र से हमें यहाँ सन्तोष करना पड़ता है।

प्रकृति के किस व्यक्त तथा दृश्य पदार्थ का निरीक्षण कर उसे 'रुद्र' की संज्ञा प्रदान की गई है? ग्रन्थों में सर्वत्र 'रुद्र' की व्युत्पत्ति 'रुद्' (रोना) धातु से निष्पन्न बतलाई गई है। शतपथ-ब्राह्मण (६।१।३।८) में रुद्र की मनोरम कहानी दी गई है कि प्रजापति ने जब सृष्टि करना आरम्भ किया तब एक कुमार का जन्म हुआ, जो जनमते ही अपने नामकरण के लिये रोने लगा। नामकरण आगे किया गया अवश्य, परन्तु जन्म के समय ही रोदन-क्रिया के साथ सम्बद्ध होने के कारण उस कुमार का नाम 'रुद्र' रखा गया (यदरोदीत् तस्माद् रुद्रः)। बृहदारण्यक (३।९।४) में इसी प्रकार दशों इन्द्रियों तथा मन को एकादश रुद्र के रूप में ग्रहण किया गया है। इन्हें 'रुद्र'[1] कहने का तात्पर्य यही है कि जब ये शरीर छोड़कर बाहर निकल जाते हैं, तो मृतक के सगे सम्बन्धियों को रुलाते हैं (ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति। तद् यद् रोदयन्ति, तस्माद्रुद्रा इति)। पाश्चात्य वेदानुशीली विद्वानों ने रुद्र के प्राकृतिक आधार को ढूँढ़ निकालने का विशेष परिश्रम

1. 'रुद्र' की अन्य व्युत्पत्तियों के लिये देखिए ऋ० १।१४३।१ का सायण-भाष्य।

किया है[1]। डा० वेबर रुद्र को तूफ़ान का देवता मानते हैं। डा० हिलेब्रान्त की सम्मति में ये ग्रीष्मकाल के देवता हैं तथा किसी विशिष्ट नक्षत्र से भी इनका सम्बन्ध है। डा० आयदेर के विचार में मृतात्माओं के प्रधान व्यक्ति को देवत्व का रूप प्रदान कर रुद्र मान लिया गया है, क्योंकि यह वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है कि मृतकों की आत्माएँ आँधी के साथ उड़कर ऊपर जाती हैं। डा० ओल्डेनवर्ग इस मत में आस्था रखते हुए रुद्र का सम्बन्ध पर्वत तथा जङ्गल के साथ स्थापित करना श्रेयस्कर मानते हैं। रुद्र का सम्बन्ध पर्वत के साथ अवश्य है। उनकी पत्नी उमा भी हैमवती कही जाती हैं। अतः इस मत के लिये भी कुछ आधार है, परन्तु इन कथनों में कल्पना का विशेष उपयोग किया गया है।

वस्तुतः रुद्र अग्नि के ही प्रतीक हैं। अग्नि के दृश्य, भौतिक आधार पर रुद्र की कल्पना खड़ी की गई है। अग्नि की शिखा ऊपर उठती है, अतः रुद्र के ऊर्ध्व लिङ्ग की कल्पना की गई है। अग्नि वेदी पर प्रज्वलित होता है, इसी कारण शिव जलधारी के बीच में रखे जाते हैं। अग्नि में घृत की आहुति दी जाती है, इसीलिये शिव के ऊपर जल से अभिषेक किया जाता है। शिवभक्तों के लिये भस्म धारण करने की प्रथा का भी स्वारस्य इस सिद्धान्त के मानने से भली-भाँति हो जाता है। ऋग्वेद (२।१।६) ने 'त्वमग्ने रुद्रो' कहकर इस एकीकरण का संकेत किया है। अथर्व (७।८३) 'तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये' मन्त्र में इसी ओर इङ्गित करता है। शतपथ-ब्राह्मण (३।१।३) 'अग्निर्वै रुद्रः' अत्यन्त स्पष्ट भाषा में दोनों की एकता का प्रतिपादन कर रहा है। रुद्र की आठ मूर्तियाँ आठ भौतिक पदार्थों की प्रतिनिधि हैं। 'रुद्र' अग्नि है, 'शर्व' जलरूप है, 'पशुपति' ओषधि है, 'उग्र' वायु है, 'अशनि' विद्युत् है, 'भव' पर्जन्य है, 'महान् देव' (महादेव) चन्द्रमा है, 'ईशान' आदित्य है। शतपथ से पता चलता है कि रुद्र को प्राच्यलोग (पूरब के निवासी) 'शर्व' के नाम से तथा वाहीक (पश्चिम के निवासी) लोग 'भव' नाम से पुकारते थे, परन्तु ये सब वस्तुतः अग्नि के ही नाम हैं:—

"अग्निर्वै स देवः। तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षन्ते। भव इति यथा वाहीकाः पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्याशान्तान्येवेतराणि नामानि, अग्निरित्येव शान्ततमम्।"

(शतपथ १।७।३।८)

---

1. इन सब मतों के लिए डा० ए० बी० कीथ का 'रिलिजन ऐण्ड फिलासफी आफ वेद' के पृ० १४१-४७ देखिए।

शुक्लयजुर्वेद (३९।८) में अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, शर्व, ईशान, महादेव, उग्र—ये सब एक ही देवता के पृथक्-पृथक् नाम कहे गए हैं। शतपथ की व्याख्या के अनुसार 'अशनि' का अर्थ है विद्युत्। इस प्रकार यजुर्वेद के प्रमाण से स्पष्ट है कि पृथ्वीतल पर जो रुद्र देवता अग्निरूप से निवास करते हैं, आकाश में काले मेघों के बीच में चमकने वाली विद्युत् के रूप में वे ही प्रकट होते हैं। अतः रुद्र को विद्युत् का अधिष्ठाता देव मानना नितान्त उचित प्रतीत होता है।

इस विवेचन की सहायता से हम रुद्र के 'शिवत्व' को भली-भाँति पहचान लेते हैं। वह भयानक पशु की भाँति उग्र तथा भयद अवश्य है, परन्तु साथ ही साथ वह अपने भक्तों को विपत्तियों से बचाता भी है तथा उनका मंगल साधन करता है। उसके रोग निवारण करने की शक्ति का अनेक बार उल्लेख आता है। उसके पास हजारों औषधें हैं जिनके द्वारा वह ज्वर (तक्मन्) तथा विष का निवारण करता है। वैद्यों में वह सबसे श्रेष्ठ वैद्य है (**भिषक्-तमं त्वा भिषजां शृणोमि—ऋ० २।३३।४**)। इस प्रसङ्ग में रुद्र के दो विशिष्ट विशेषण उपलब्ध होते हैं—जलाष (ठंढक पहुँचाने वाला) तथा जलाषभेषज (ठंढी दवाओं को रखने वाला)।

> **क स्य ते रुद्र मृळयाकु-**
> **र्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।**
>
> (ऋ० २।३३।७)

वस्तुतः अग्नि के दो रूप हैं—घोरा तनु और अघोरा तनु। अपने भयङ्कर घोर रूप से वह संसार का संहार करने में समर्थ होता है, परन्तु अघोर रूप में वही संसार के पालन में भी शक्तिमान् है। यदि अग्नि का निवास इस महीतल पर न हो, तो क्या एक क्षण के लिये भी प्राणियों में प्राण का संचार रह सकता है? विद्युत् में संहारकारिणी शक्ति का निवास अवश्य है, परन्तु वही विद्युत् भूतल पर प्रभूत जल-वृष्टि का भी कारण बनती है और जीवों के जीवित रहने में मुख्य हेतु का रूप धारण करती है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रलय में भी सृष्टि के बीज निहित रहते हैं, संहार में भी उत्पत्ति का निदान अन्तर्हित रहता है।

अतः उग्ररूप के हेतु जो देव 'रुद्र' हैं, वही जगत् के मंगल-साधन करने के कारण 'शिव' हैं। जो रुद्र है, वही शिव है। रुद्र और शिव की अभिन्नता की प्रथम सूचना ऋग्वेद में ही उपलब्ध होती है (२।३३।७)। ऋग्वेदीय ऋषि

गृत्समद के साथ-साथ रुद्रदेव से हम भी प्रार्थना करते हैं कि रुद्र के बाण हम-लोगों को स्पर्श न कर दूर से ही हट जायँ तथा हमारे पुत्र और सगे सम्बन्धियों के ऊपर उस दानशील की दया सतत बनी रहे:—

परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः
परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात् ।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व
मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ ॥
(ऋ० २।३३।१४)

मरुतः

मरुत् देवता का सम्बन्ध रुद्र से है। रुद्र के ये पुत्र हैं। ऋग्वेद में इनका स्थान पर्याप्तरूपेण महत्त्वपूर्ण है। ३३ सूक्तों में स्वतन्त्र रूप से, ७ सूक्तों में इन्द्र के साथ तथा एक-एक सूक्त में अग्नि तथा पूषण के साथ संयुक्त रूप से वर्णित होने के कारण इनके ऋग्वेदीय गौरव का परिचय मिल सकता है। गोरूपा पृश्नि मरुतों की माता है। मरुत् देवों का एक गण है जिसमें सब अवयस्क, समानचेता, समनिवास तथा समान उदय स्थान वाले भ्राता हैं। रोदसी देवी उनके रथ पर विराजमान रहती हैं और इसीलिए वह उनकी पत्नी मानी जाती हैं। रंग में ये सुवर्ण के समान, द्युतिमान्, अग्नि के समान प्रकाशमय तथा स्वतः प्रकाश भी हैं। वे माला, सुवर्णमय द्रापि, सुवर्णमय आभूषण तथा सुवर्णमय शिरस्त्राण धारण करते हैं। फलतः उनकी देहप्रभा आँखों को चकाचौंध बना देती है। उनके गर्जन तथा वायु के तुमुल ध्वनि का वर्णन मिलता है। उनके प्रभाव के सामने पर्वत तथा द्यावा-पृथिवी काँपते हैं। उनका प्रधानकार्य वृष्टि देना है और जल बरसाने के समय वे विश्व को अन्धकार से ढक लेते हैं। इन्द्र के साथ इनका सम्बन्ध नितान्त घनिष्ठ है, क्योंकि वृत्र-वध के अवसर पर ये इन्द्र के प्रधान सहायक हैं। रुद्र के समान उनसे भी विपत्तियों से रक्षा की तथा रोगों के निवारण के लिए ओषधियों को बरसाने की भी प्रार्थना की गई है।

पृथिवी-स्थान देव

अग्नि

पृथ्वी-स्थान देवों में अग्नि ही मुख्य है, जो यज्ञीय अग्नि का प्रतिनिधि रूप है। इन्द्र के अनन्तर अग्नि ही सर्वमान्य देवता है जिसकी स्तुति लगभग दो सौ सूक्तों में वर्णित है। अग्नि अनेक पशुओं के समान बतलाया गया है।

वह गर्जनशील वृषभ के समान है। उत्पत्ति के समय वह एक बछड़ा प्रतीत होता है तथा प्रज्वलित होने के समय देवताओं को लाने वाला अश्व माना गया है। उसके प्रकाश का बहुल वर्णन मिलता है। उसकी ज्वाला और किरणों, उषा की प्रभा तथा विद्युत् की चमक के समान है। काष्ठ तथा घृत अग्नि के भोजन हैं और आज्य उनका पेय है। उसकी आवाज इतनी तेज होती है मानों आकाश का गर्जन। 'धूमकेतु' उनकी विशिष्टता का द्योतक प्रख्यात अभिधान है। अग्नि कभी द्यावापृथिवी का पुत्र और कभी द्यौः का सूनु कहा गया है। 'अपां नपात्' के रूप में अग्नि एक स्वतन्त्र देवता ही है। अग्नि का जन्म-स्थान स्वर्ग है जहाँ से मातरिश्वा ने मनुष्यों के कल्याण के निमित्त उसका इस भूतल पर आनयन किया। इस प्रकार यह कथा ग्रीक कथा से मिलती है। अग्नि का ज्ञान सर्वातिशायी है। वह समग्र उत्पन्न प्राणियों को जानता है। इसीलिए वह 'जातवेदाः' के नाम से प्रख्यात है। वह अपने उपासकों का सदा कल्याण करता है, विशेषतः सन्तान, गार्हस्थ्य-मंगल तथा सौख्य-समृद्धि का प्रदाता है। अग्नि की उपासना भारोपीय काल में भी मान्य और प्रतिष्ठित थी, क्योंकि भारतीय तथा पारसीकों के समान ग्रीक तथा इटलीवासियों में भी यह अग्नि-पूजन प्रचलित था।

बृहस्पति

यह देवता ११ सूक्तों में स्वतन्त्र रूप से और अन्य दो सूक्तों में इन्द्र के साथ संयुक्त रूप में वर्णित है। इनका दूसरा नाम ब्रह्मणस्पति (= मन्त्र के पति) भी है। इनके शारीरिक चिह्नों का विशेष परिचय नहीं मिलता। उनकी तीखी सींगें तथा काली पीठ है। वे स्वयं सुवर्ण के समान देदीप्यमान हैं। हाथ में धनुष-बाण तथा सुनहला परशु है। उनके रथ को लाल रंग के घोड़े खींचते हैं और वे दैत्यों का नाश कर गोष्ठों को खोल देते हैं तथा आलोक का जगत् में आनयन करते हैं। सब प्रार्थनाओं तथा मन्त्रों के प्रेरक होने से बृहस्पति के बिना यागानुष्ठान एक निष्फल व्यापार है। इन्द्र के साथ अधिकतर संयुक्त रूप से प्रशंसित होने के कारण इन्द्र के अनेक विशेषण, जैसे—मघवन् (दानशील) तथा वज्री, इन्हें प्रकृत्या प्राप्त हैं। इसी कारण गुहा के भीतर छिपी हुई गायों के निष्कासन-व्यापार से इनका भी सम्बन्ध है। गायन करने वाले (ऋक्वता) गणों से घिरा हुआ बृहस्पति बल नामक असुर को अपने गर्जन से फाड़ डालता है, गायों को बाहर निकाल देता है, अन्धकार को दूर भगा देता है तथा प्रकाश का आविर्भाव करता है। अपने उपासकों को वह दीर्घ आयु प्रदान करता है—यह कहना व्यर्थ है।

'बृहस्पति' का प्रथम अंश बृह् (वर्धन) धातु से निष्पन्न 'बृह्' शब्द का षष्ठी एक वचन है। फलतः इस पद का अर्थ है—मन्त्र या प्रार्थना का अधिपति। बृहस्पति अग्नि के प्रतीक प्रतीत होते हैं। अग्नि के समान ये भी यज्ञानुष्ठान के ऊपर शासन करने वाले एक दिव्य ऋत्विज् हैं। हिन्दू धर्म के विकास काल में ये बृहस्पति ही गणपति (= गणेश) के रूप में स्वीकृत किये गए हैं। गणपति के स्थूलकाय गजानन रूप से अनेक आलोचकों को भ्रम हुआ करता है कि ये वस्तुतः अनार्यों की देव-मण्डली से गृहीत देवता है; परन्तु ऋग्वेद के प्रामाण्य पर यह तथ्य पुष्ट नहीं होता[1]। गणों के अधिपति होने से बृहस्पति ही 'गणपति' के अभिधान से मण्डित हैं। बृहस्पति तथा इन्द्र दोनों अंगिरस-गण के साथ गायों की प्राप्ति के लिए संबद्ध हैं (१।६२।३)। इन्हीं गणों का आधिपत्य गणपति का गणपतित्व है। बृहस्पति से यह भव्य प्रार्थना सुमति की दानस्तुति की स्वीकृति तथा शत्रुओं से धन के हरण के लिए की गई है—

> **बृहस्पति इन्द्र वर्धतं नः**
> **सचा सा वां सुमतिर्भूत्वस्मे।**
> **अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीः**
> **जजस्तमर्यो वनुषामरातीः॥**
>
> (ऋ० ४।५०।११)
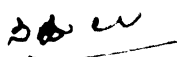
सोम

ऋग्वेद में सोमयाग प्रधान अनुष्ठान के रूप में गृहीत था। इसलिए सोम की महत्ता अग्नि से ही किञ्चित् न्यून है। लगभग १२० सूक्तों में इनकी स्तुति इनकी महत्ता का परिचायक है। इनकी मानवाकृति के चिह्न वरुण तथा इन्द्र की अपेक्षा कम विकसित हैं। सोमरस के चुलाने के प्रकार का वर्णन पीछे किया गया है। साथ ही साथ मन्त्रों में उस आनन्दोल्लास की भी प्रचुरता हमें उपलब्ध होती है। जब इन्द्र सोमपान से मत्त होकर वृत्र-वध के लिए रणक्षेत्र में उतरता है। यद्यपि साधारणतः सोम (अवेस्ता के हओम) पर्वतों पर उगनेवाला बताया जाता है, तथापि उसका वास्तव निवास स्वर्ग में है। सोम स्वर्ग का पुत्र है, स्वर्ग का दुग्ध है तथा स्वर्ग में वह शुद्ध किया जाता है, वह स्वर्ग का पति है और उसका वासस्थान उच्चतम स्वर्ग है और यहीं से वह इस भूतल पर लाया

---

१. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—धर्म और दर्शन, पृष्ठ २१–२८, काशी।

गया था। गृध्र के द्वारा इन्द्र के लिए सोम के आनयन की कथा दो सूक्तों (४।२६, २७) में वर्णित है। अमृत-प्रदायी होने से वह 'वनस्पति' कहलाता है। वह राजा है। मानवों तथा देवों का अधिपति है। चन्द्रमा के साथ उसका समीकरण ऋग्वेद तथा अथर्व में दृष्टिगोचर होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह सिद्ध घटना है। सोम की यह प्रार्थना कितनी सुन्दर भाषा में है—

शं नो भव हृद आ पीत इन्दो
पितेव सोम सूनवे सुशेवः।
सखेव सख्य उरुशंस धीरः
प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारीः॥
(ऋ० ८।४८।४)

———

(३)

यज्ञ-संस्था

यज्ञ वैदिकधर्म का मेरुदण्ड है। अग्नि में नाना देवताओं को उद्दिष्ट कर हविष्य अथवा सोमरस का हवन यज्ञ के नाम से अभिहित किया जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञसंस्था का साम्राज्य है तथा उसके नाना अनुष्ठानों का इतना सूक्ष्म तथा विस्तृत वर्णन है कि आलोचक को आश्चर्य-चकित हो जाना पड़ता है। इस संस्था का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन श्रौत तथा गृह्यसूत्रों की सहायता से ही हो सकता है। इसका पूर्ण वैभव वहीं दृष्टिगोचर होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में वैदिक कर्म पाँच भागों में विभक्त है—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोम, परन्तु स्मृति तथा कल्प ग्रन्थों में स्मार्त और श्रौत कर्मों की सम्मिलित संख्या २१ मानी गई है। वैदिक कर्म के तीन प्रकार तथा अवान्तर प्रकारों का निर्देश इस प्रकार है—

(क) पाक-यज्ञ संस्था—औपासन होम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिक श्राद्ध, श्रवणा, शूलगव = ७

(ख) हविर्यज्ञ संस्था—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी, पिण्डपितृ यज्ञादिक दर्विहोम = ७

(ग) सोम संस्था—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम = ७

अग्नि मुख्यतया दो प्रकार का होता है—स्मार्ताग्नि तथा श्रौताग्नि। इनमें प्रथम अग्नि का स्थापन प्रत्येक विवाहित व्यक्ति को करना चाहिए। उस गृह्याग्नि में क्रियमाण यज्ञ 'पाकयज्ञ' के नाम से अभिहित होते हैं। अन्तिम दो प्रकार की यागसंस्थाओं का सम्बन्ध श्रौताग्नि से है। अग्न्याधान करने वाला व्यक्ति ही इन यज्ञों का अधिकारी होता है। अग्नि के आधान का पच्चीस से ऊपर चालीस साल से पूर्व उम्र वाले सपत्नीक व्यक्ति को अधिकार है तथा स्थापन करने पर उसे यावज्जीवन अग्नि की उपासना करते रहना अनिवार्य होता है। श्रौत-अग्नि के चार प्रकार हैं—(१) गार्हपत्य, (२) आहवनीय, (३) दक्षिणाग्नि, (४) सभ्याग्नि। इन्हीं में नाना होमद्रव्यों के प्रक्षेप का विधान है। अग्निहोत्र प्रतिदिन प्रातः तथा सन्ध्याकाल में अग्नि की उपासना है, जिसमें मुख्यतः दुग्ध की तथा गौणतः यवागू, तण्डुल, दधि तथा घृत की आहुति दी जाती है। दर्शपूर्णमास याग क्रमशः अमावस्या तथा पूर्णिमा में किया जाता है। दर्श में आग्नेय पुरोडाश याग, इन्द्रदेवताक दधिद्रव्यक याग तथा इन्द्रदेवताक पयोद्रव्यक याग—ये तीन याग होते हैं। पौर्णमास में अग्निदेवताक अष्टाकपाल पुरोडाश याग, अग्निषोमीय आज्यद्रव्यक उपांशुयाग तथा अग्निषोमीय एकादशकपाल पुरोडाश याग—ये तीन याग होते हैं। इस प्रकार छ यागों की समष्टि दर्शपूर्णमास के नाम से प्रसिद्ध है।

आग्रयण इष्टि—नवीन उत्पन्न द्रव्य—धान तथा यव—से शरद् तथा वसन्त में इष्टि विहित है। द्रव्य है पुरोडाश तथा चरु। यह नित्य इष्टि है जिसके अनुष्ठान के अनन्तर ही आहिताग्नि नए अन्न को खाता है।

चातुर्मास्य—चार-चार मासों में अनुष्ठेय होने के कारण इसका यह नामकरण है। इसमें चार पर्व होते हैं—(१) वैश्वदेव पर्व, फाल्गुनी पूर्णिमा को अनुष्ठेय। (२) वरुण-प्रघास—चार मास बीतने पर आषाढ़ी पूर्णिमा में अनुष्ठेय पर्व। (३) साकमेध—चार मासों के अनन्तर कार्तिकी पूर्णिमा में अनुष्ठेय। (४) शुनासीरीय—फाल्गुन शुक्ल प्रतिपद् को अनुष्ठेय चतुर्थ पर्व। इसी क्रम से पुनः इसका आवर्तन प्रति वर्ष होता है।

निरूढपशु—प्रतिवत्सर वर्षा ऋतु में करना चाहिए। कहीं-कहीं उत्तरायण तथा दक्षिणायन के आरम्भ में दो बार भी विकल्प से अनुष्ठान विहित है। द्रव्य है छाग और वह भी प्रत्यय नहीं, प्रत्युत उसके वपा, हृदय, वक्षः, यकृत् आदि नाना अङ्गों का होम इन्द्राग्नि, सूर्य अथवा प्रजापति के उद्देश्य से अग्नि में विहित है। खदिर अथवा बिल्व से निर्मित यूप में छाग को बाँधकर 'संज्ञपन'

करते हैं ('संज्ञपन' का अर्थ है शस्त्रघात के विना ही पशु का मुँह बन्द कर श्वास रोकने से मारना)। तदनन्तर अङ्ग-विशेषों को निकाल कर अग्नि में हवन किया जाता है।

सौत्रामणी—(सुत्राम्णः इयमिति सौत्रामणी इष्टिः) यह भी पशु-याग का ही एक प्रकार है। स्वतन्त्र तथा अङ्गभूत होने से यह दो प्रकार की होती है, जिनमें स्वतन्त्र याग में ब्राह्मणमात्र का तथा अङ्गभूत में क्षत्रिय और वैश्य का अधिकार माना जाता है। पशु तीन होते हैं–अज, मेष तथा ऋषभ और देवता भी यथाक्रम अश्विनौ, सरस्वती तथा इन्द्र होते हैं। 'सौत्रामण्यां सुराग्रहः' एकान्त नियम नहीं है। अतः आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र (१९।२।२३) में 'पयोग्रहा वा स्युः' नियम विकल्पतः मिलता है। इसलिए पयोग्रहण का भी विधान न्याय्य है। इसके भी कई प्रकार हैं।

पिण्डपितृ-यज्ञ—नाम से ही पता चलता है कि पितरों के उद्देश्य से यज्ञ का विधान होता है।

सोम-याग

सोमयाग ही आर्यों का अत्यन्त प्रसिद्ध याग है। पारसी लोगों में भी यह प्रचलित था। यह बहुत ही विस्तृत, दीर्घकालीन तथा बहुसाधनव्यापी व्यापार है। इसके प्रधानतः कालगणना की दृष्टि से तीन प्रकार हैं—

(१) **एकाह**—एक दिन में साध्य याग। (२) **अहीन**—दो दिनों से लेकर १२ दिनों तक चलने वाला याग। (३) **सत्र**—१३ दिनों से आरम्भ कर पूरे वर्ष तक तथा एक हजार वर्षों तक चलने वाला याग। द्वादशाह दोनों प्रकार का होता है—अहीन तथा सत्र भी।

सोमलता के रस की आहुति देने से यह सोमयाग कहलाता है। सोम के रूप-रङ्ग तथा प्रभाव का वर्णन ऊपर (पृ० ४३९-४०) विस्तार के साथ किया गया है। आज यह लता भारतवर्ष में उपलब्ध नहीं है। अतः उसकी कोई प्रतिनिधि 'पूतीक' नामक लता का आजकल प्रयोग होता है। इसमें १६ ऋत्विजों का कार्य होता है। मुख्य ऋत्विजों के तीन-तीन सहायक होते हैं।

अग्निष्टोम—'यज्ञायज्ञा वो अग्नये' (ऋ० ६।४८।१; साम मन्त्र संख्या ३५) ऋचा पर साम-गान 'अग्निष्टोम' कहलाता है। इस साम के अन्तिम होने से यह याग कहलाता है 'अग्निष्टोम संस्था' और लघुता की दृष्टि से केवल अग्निष्टोम। 'संस्था' का अर्थ है 'अन्त'। अग्निष्टोम ही इसमें सबसे अन्तिम

साम होता है। यही इस नामकरण का हेतु है। यह याग पाँच दिनों तक चलता है। ऐष्टिक वेदि में आनुषङ्गिक इष्टियों का तथा सौमिक वेदि पर प्रधान इष्टियों का अनुष्ठान किया जाता है। प्रकृत याग होने से इसका विशेष महत्त्व है। १२ शस्त्रों का प्रयोग इसकी विशिष्टता है।

उक्थ्य—उक्थ्य नामक साम से समाप्य याग। इसमें पूर्व याग से तीन शस्त्र अधिक होते हैं। अतः शस्त्रों की संख्या १५ होती है। ये अधिक तीनों शस्त्र उक्थ्य-शस्त्र कहलाते हैं।

षोडशी—इस इष्टि में उक्थ्य के अनन्तर एक षोडशी नामक स्तोत्र और भी विद्यमान रहता है। पन्द्रह स्तोत्रों को गर्भित कर एक अधिक स्तोत्र की सत्ता इसकी विशिष्टता है। यह स्वतन्त्र क्रतु नहीं है, इसीलिए अग्निष्टोम के समान इसका अनुष्ठान पृथक् रूप से नहीं होता।

अतिरात्र—षोडशिस्तोत्र के अनन्तर अतिरात्र-संज्ञक सामों का गायन इस याग के अन्त में होता है। इसीलिए यह 'अतिरात्र' के नाम से प्रख्यात है। अब तक निर्दिष्ट इन चारों यागों का सामूहिक अभिधान 'ज्योतिष्टोम' है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।५।११) के अनुसार त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश तथा एकविंश—इन चारों स्तोमों को 'ज्योतिः' पद के द्वारा संकेतित किया जाता है और इन यागों में इन्हीं की प्रधानता होने से यह नामकरण है।

अत्यग्निष्टोम—वह याग है जिसमें अग्निष्टोम के अनन्तर बिना उक्थ्य किये ही षोडशी का विधान किया जाता है। वाजपेय तथा आप्तोर्याम—पूर्वोक्त ज्योतिष्टोमों में आवापोद्वाप से निष्पन्न नवीन संस्थायें हैं। इन सबकी प्रकृति होने से 'अग्निष्टोम' का ही विशेष वर्णन श्रौत-सूत्रों में अत्यधिक उपलब्ध होता है। सोम का त्रिषवण होता है—प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन। सवन कर्म ही 'सुत्या' के नाम से अभिहित होता है। इन यागों के अतिरिक्त अन्य यागों में गवामयन (सत्र), वाजपेय, राजसूय तथा अश्वमेध मुख्य हैं[1]।

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य—विद्याधर अग्निहोत्री रचित 'कातीय श्रौत-सूत्र' की सरला व्याख्या की भूमिका (पृष्ठ ४२–७५); चिन्नस्वामी शास्त्री रचित 'यज्ञप्रकाश' (कलकत्ता); रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी रचित 'यज्ञकथा' (बंगला, कलकत्ता से प्रकाशित)।

पञ्चाग्नि—यज्ञ में पञ्चाग्नियों में आहुति-प्रदान मुख्यतया विहित है। याज्ञिक दृष्टि से पञ्चाग्नियों के नाम तथा वेदी पर निर्दिष्ट स्थान इस प्रकार है—श्रौत-अग्नि वह है जिसमें श्रौत-सूत्रों के द्वारा प्रतिपादित यागानुष्ठान विहित हैं। ये संख्या में तीन हैं—आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि; इनकी स्थापना एक ही दिन में की जाती है। प्रत्येक अग्नि का कुण्ड भिन्न-भिन्न आकार का होता है। आहवनीय का कुण्ड होता है चौकोर, गार्हपत्य का गोलाकार और दक्षिणाग्नि का अर्धचन्द्राकार। इनमें मुख्य अग्नि **आहवनीय** है जिसमें देवताओं के उद्देश्य से आहुति प्रदान की जाती है। **गार्हपत्य**-अग्नि साधारणतया हवि के पाक के लिए व्यवहृत होती है और इसमें पत्नीजन्य होम (पत्नी-संयाज आदि) किये जाते हैं। दक्षिणाग्नि में पितृकर्म की साधारणतः व्यावस्था मान्य है। श्रौत-कर्म के लिए श्रौताग्नि की आवश्यकता होती है और स्मार्त कर्म के लिए एकमात्र **गृह्याग्नि** आवश्यक होती है। इस गृह्याग्नि में गृह्यसूत्रों के द्वारा विहित कर्म, जैसे औपासन होम आदि, का अनुष्ठान विहित होता है। **सभ्याग्नि** इन पूर्वोक्त चारों अग्नियों से पृथक् पञ्चम अग्नि है। इसका श्रौतसूत्र में ही विधान है। इसे सभामण्डप में स्थापित करना पड़ता है और इसीलिए इसे सभ्य (सभा+यत्) नाम से अभिहित किया जाता है। याज्ञिकों की ये ही पञ्चाग्नियाँ होती हैं। पञ्चाग्नियों के इतर नाम भी शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं। उपनिषदों में पञ्चाग्नि-विद्या के प्रसङ्ग में पञ्चाग्नि का वर्णन है। भागवत में वानप्रस्थ आश्रमी को '**पञ्चतपा**' नाम से अभिहित किया गया है (ग्रीष्मे पञ्चतपा वीर वर्षास्वा-सारषाण् मुनिः, भाग० ४।२३।६)। यहाँ पञ्चाग्नि-साधन का उल्लेख है जिसमें चारों दिशाओं में चार अग्नि (भौतिक) को तथा आकाश में सूर्य को पञ्चम अग्नि के रूप में ग्रहण किया गया है। अग्नियों का सम्बन्ध पञ्चकोणों से भी है और इसी आधार पर आगे वर्णन दिया गया है।

पञ्चाङ्ग-साधन—शतपथ-ब्राह्मण में यज्ञ पञ्चाङ्ग-सम्पन्न कहा गया है। यज्ञ के इस **पञ्चाङ्ग** का निर्देश अधोलिखित रूप में समझना चाहिए—

(१) **देवता**—एक आत्मा की विभिन्न विभूतियाँ ही देवता हैं। देवता को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—**आजानज** देवता, **कर्मदेवता** तथा **आजान** देवता। इनमें आजानज देवता तथा कर्म-देवता कर्मफल के भोक्ता होते हैं तथा दिव्य लोक में रहकर अपने कृतकर्म का फल-भोग करते रहते हैं। आजान देवता की स्थिति इनसे भिन्न होती है। ये देवता सृष्टि के आदिकाल से उद्भूत हुए हैं (जैसे—सूर्य, चन्द्र, वायु, इन्द्र आदि)। ये स्तुति और आहुति से प्रसन्न

होते हैं तथा कर्म का फल प्रदान करते हैं। वे दिव्य, साकार और ऐश्वर्य-सम्पन्न होते हैं, तथा सिद्ध योगियों के साथ एक समय में अनेकत्र प्रकट होने की क्षमता भी रखते हैं[1]।

(२) हविर्द्रव्य—आजान देवताओं को यज्ञ में आहुति में दिया जानेवाला पदार्थ द्रव्य कहलाता है। आहुति का प्राचीन वैदिक अर्थ है आह्वान, आहूति यज्ञों में देवताओं को मन्त्रों के द्वारा बुलाया जाता था और वे प्रत्यक्ष होकर अपना भाग ग्रहण करते थे, परन्तु प्रचलित अर्थ है—द्रव्य का वह भाग जो देवतादिकों को अर्पण किया जाता है 'आहुति' कहलाता है। 'अग्निमुखा वै देवाः' के नियमानुसार आग में दी गयी आहुति वस्तुतः देवताओं के मुख में ही दी जाती है। याज्ञिक लोगों का सिद्धान्त है कि अग्नि में प्रविष्ट होनेपर आहुति अमृत के रूपमें परिणित हो जाती है और अमृतभोजी देवों के लिए वह जीवनाधार पदार्थ बन जाता है।

(३) मन्त्र—मननाद् वै मन्त्राः। मन्त्र का मन्त्रत्व उसके मनन के कारण है। मन्त्र शक्तिसम्पन्न वह शब्द-राशि है जिसके प्रभाव से हवि देवताओं के पास भोग्य रूप में प्रस्तुत होता है। मन्त्र चैतन्यात्मक होते हैं; मीमांसा की दृष्टि में मन्त्र ही देवताओं का विग्रह होता है।

(४) ऋत्विक्—यज्ञ के लिए आमन्त्रित तथा तत्कार्य कराने में निष्णात ब्राह्मण 'ऋत्विज्' कहलाता है। ये चार प्रकार के होते हैं और एक-एक वेद के साथ सम्बद्ध होकर उसकी सहायता से अपना यज्ञीय कार्य निष्पादन करते हैं।

(क) होता—ऋग्वेद के द्वारा देवताओं का यज्ञ में आह्वान करता है।

(ख) अध्वर्यु—यजुषों के द्वारा यज्ञ में होमादि का अनुष्ठान करता है।

(ग) उद्‌गाता—सामों का उच्चस्वर से गायन करता है।

(घ) ब्रह्मा—अथर्ववेद के साथ सम्बद्ध होने पर भी अन्य वेदों का भी ज्ञाता होता है और यज्ञ के विविध कर्मों का निरीक्षण इसका प्रधान कार्य होता है। इन चारों में प्रत्येक के सहायक तीन-तीन ऋत्विक् होते हैं और इस प्रकार महत्त्वपूर्ण यज्ञ में षोडश ऋत्विजों का रहना अनिवार्य होता है। इनमें प्रत्येक के निर्दिष्ट कार्य पृथक्-पृथक् होते हैं, जिनका विवरण श्रौत-सूत्रों में विस्तार से दिया गया है।

---

१. एकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गतां गच्छतीति, परैश्चन दृश्यते, अन्तर्धानादिक्रियायोगात्।

(१।३।२७ ब्र० सू० शाङ्करभाष्य)

यज्ञ का प्रधान उद्देश्य है। चैतन्य के विकाश के पाँच स्तर हैं, जो कोषों के साथ सम्बद्ध हैं। ये कोष पाँच हैं, जो क्रमशः उच्च से उच्चतर चैतन्य की वृद्धि के सूचक हैं। कोषों के नाम हैं—अन्तमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय। ज्ञान की विभिन्न भूमियाँ होती हैं, जिनमें निम्न से होकर उच्च भूमि में प्रतिष्ठित होना जीवन का सदुद्देश्य है। जिस भूमि में स्थूल देह में आत्म प्रतीति होती है वही निम्नतम भूमि है। अन्नमय कोष स्थूल है। पहले इस कोष से अभिमान निकल कर प्राणमय कोष में जाता है। देह का सारभाग वीर्य है। सप्तधातुमय अन्नमय कोष के सारभूत वीर्य (बिन्दु) का दोहन कर उसके अनुरूप अग्नि में आहुति देनी पड़ती है, तब प्राणमय कोष के चैतन्य की अभिवृद्धि होती है। प्रथम कोषस्थ बिन्दु की आहुति द्वितीय अग्नि में पड़ती है। उसका ओजोमय सारभाग प्राणमय कोष की पुष्टि करता है। देह का प्रथम अमृत वीर्य है, जो अन्नमय कोष का पोषक है; द्वितीय वीर्य ओज है, जो प्राणमय कोष का पोषक होता है। इस ओज को भी शुद्ध करने की आवश्यकता होती है, और जब तक यह ओज विशुद्ध नहीं बनता, तब तक वह मनोमय कोष को पुष्ट नहीं कर सकता। इसे तृतीय अग्नि में हवन करना पड़ता है, तब ओज का मलिनांश दूर हो जाता है और वह निर्मल होकर मनोरम कोष की सम्पुष्टि करता है। मन संकल्प-विकल्पात्मक होने से मलिनांश से संवलित होता है। मन का विकल्प अंश उसके मालिन्य का सूचक है और यह विकल्प अंश सामान्यतः मन के साथ सर्वदा जड़ित होता है। चतुर्थ अग्नि में मन की आहुति दी जाती है जिससे उसका विकल्प अंश दूरीभूत हो जाता है और संकल्प विशुद्ध होकर शेष रह जाता है। यही है विज्ञान, जो विज्ञानमय कोष का आधारभूत चैतन्य होने से उसकी पुष्टि करता है। विज्ञान में भी अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों विद्यमान रहते हैं। अनुकूल ज्ञान सुख है और प्रतिकूल ज्ञान दुःख। अनुकूलवेदनीयं सुखम् ; प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्। प्रतिकूलता ही विज्ञान का मल है और इस मल की विशुद्धि के लिए पञ्चम अग्नि में विज्ञान की आहुति दी जाती है। तब यह विशुद्धि विज्ञान आनन्दरूप में परिणत हो जाता है। यही पञ्चम अमृत है, जो आनन्द कोष का उपजीव्य है। उसमें मल न होने से उसका शोधन नहीं होता। यह नित्य, अमृत और अक्षय है। साधारणतः अब आहुति देने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि मलिन अंश के अभाव में आहुति का प्रसङ्ग ही नहीं उठता; तथापि यहाँ एक और आहुति दी जाती है, वह है 'ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्' के द्वारा लक्षित आहुति। आनन्दमय कोष भी तो अन्ततः कोषों के ही भीतर गणनीय होता है, अत एव उसका भी अतिक्रमण अपेक्षित होता है। अब

आता है एक ओर आत्म-समर्पण और दूसरी ओर होता है पूर्ण आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठा। इस समय आत्मा अपने अनवच्छिन्न पूर्ण सच्चिदानन्द रूप में प्रतिष्ठित होकर विद्योतित होता है। आत्म-ज्योति के प्रादुर्भाव की यही दिव्य दशा है।

जीव को भगवान् के चरणारविन्द में अपना सर्वस्व समर्पण करना होता है। दुःख तथा सुख; हेय तथा उपादेय; मृत्यु तथा अमृतत्व इन सब का समर्पण अनन्त ब्रह्माण्ड नायक भगवान् के चरणों में करने से ही जीव का परम कल्याण सम्पन्न होता है। यज्ञ आत्म-बलिरूप है। उसके द्वारा मलिन अंश का त्याग कर शुद्ध अंश का ग्रहण किया जाता है। अन्ततः विशुद्ध सत्त्व में आत्मा प्रतिष्ठित होता है। यज्ञ की चरम आहुति या पूर्णाहुति ग्रहण करने की क्षमता न तो किसी लौकिक अग्नि मे है, और न किसी अलौकिक अग्नि में ही; यह तो विशुद्ध अमृत है। एकमात्र ब्रह्माग्नि में—विशुद्ध चैतन्य रूप अग्नि में—ही उस परम अमृत के धारण करने की क्षमता है। उसमें अग्नि और सोम एकाकार होते हैं। चैतन्य और आनन्द का पूर्ण सामरस्य हो जाता है। शिव तथा शक्ति की पूर्ण समरसता उल्लसित हो उठती है। कामेश्वर तथा कामेश्वरी का अभिन्न आलिङ्गन, जो शाक्तागमों का अन्तिम लक्ष्य है उसी समय सम्पन्न होता है। इसी का नाम परिपूर्ण सत्य है। पञ्चाग्नियों में आहुति-दानरूप यज्ञ का यही चरम पर्यवसान और अन्तिम लक्ष्य है।

यज्ञ का एक अन्य प्रयोजन भी है, और वह है जगत्-चक्र के यथावत् संचरण के लिए साधन जुटाना। सृष्टि के कार्य में यज्ञ का ही साधन आवश्यक होता है। यह एक वैदिक तत्त्व है जिसका विवरण पुरुषसूक्त में और परिवर्धन श्रीमद्भगवद्गीता (तृतीय अध्याय, श्लोक १०–१६) में उपलब्ध होता है। प्रजापति ने भूतों की सृष्टि तथा यज्ञ का सर्जन एक साथ किया और देव-मानवों के परस्पर साहाय्य-भाव का आदर्श उसी आदिकाल में स्थापित किया। इस चक्र की कड़ियों का रूप देखिए—संसार में जीव ही अपने स्वरूप से प्रधान हैं। इन जीवों की सृष्टि होती है अन्न से; अन्न उत्पन्न होता है पर्जन्य से (मेघ वृष्टि से) और पर्जन्य उत्पन्न होता है यज्ञ से; यज्ञ उत्पन्न होता है कर्म से और कर्म उत्पन्न होता है ब्रह्म[1] से और ब्रह्म उत्पन्न होता है अक्षर परमेश्वर से।

---

१. 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' में ब्रह्म का अर्थ कुछ विद्वान् वेद मानते हैं, परन्तु 'ब्रह्म' का अर्थ प्रकृति मानना ही उचित है। 'मम योनिर्महद् ब्रह्म' (गीता १४।३) में ब्रह्म का यही अर्थ 'प्रकृति' है। रामानुज ने इस

पारस्परिक भावना ही इस विश्व-चक्र के संचरण का मूल तत्त्व है। देवता तथा मानव—दोनों की परस्पर भावना से ही यह विश्व चलता है और इस भावना का मूल साधन है—यज्ञ। यज्ञ के द्वारा ही मनुष्य देवताओं का आहार प्रस्तुत करता है जिससे वे पुष्ट होते हैं और देवता मानवों के कल्याणार्थ नाना कर्मों का सम्पादन स्वयं करते हैं। भगवान् के सच्चे भक्तों का कभी अमङ्गल नहीं होता। उनकी प्रतिज्ञा ही है—न मे भक्तः प्रणश्यति (=मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता)। स्वार्थ के लिए जीना पापमय है—केवलाघो भवति केवलादी (=जो व्यक्ति अपने लिए ही केवल भोजन पकाता है वह पाप का भागी होता है)। जिसका जीवन परमार्थ में व्यतीत होता है, जो क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठ कर परोपकार के साधन में निरत रहता है उसका योग-क्षेम भगवान् स्वयं सम्पन्न करते हैं, परन्तु जो यज्ञार्थ कर्म से विमुख होता है; जो अपने स्वार्थ में ही आसक्त होता है; जो भगवान् के द्वारा परिचालित मङ्गलमय यज्ञमय जगत्-चक्र का अनुवर्तन नहीं करता, उस इन्द्रियाराम के लिए इस विश्व में कहीं स्थान नहीं है। फलतः यज्ञ की आराधना करना मानव के मङ्गल का प्रधान पन्था है। भगवान् का यह मङ्गलमय उपदेश यज्ञ की उपादेयता का मूल मन्त्र है:—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(गीता ३।११)

स्वर्ग की कल्पना

यज्ञ का प्रधान फल स्वर्ग की प्राप्ति है। नाना उद्देश्यों से भी अनेक यज्ञों का सम्पादन किया जाता है, परन्तु स्वर्ग ही उसका सर्वोत्तम तथा परममंगलमय उद्देश्य है। ऋग्वेद सूक्तपञ्चक (१०।१४–१८) के अनुशीलन से मृत्यु तथा भविष्य जीवन की वैदिक मान्यताओं से हमें परिचय प्राप्त होता है। शवसंस्कार के लिए अग्निदाह ही श्रेष्ठ उपाय माना जाता था और इसलिए अग्नि शव को पितृ-लोक तथा देव-लोक तक पहुँचाता है। प्रेत के लिए स्वर्ग तक जाने का रास्ता बहुत दीर्घ पन्था है जिस पर सविता प्रेतात्माओं को राह दिखलाता हुआ

अर्थ को स्वीकार किया है। शान्तिपर्व का कथन है—"अनुयज्ञं जगत् सर्वम्, यज्ञश्चानु जगत् सदा" (शान्ति० २६७।३४), अर्थात् यज्ञ के पीछे जगत् है और जगत् के पीछे यज्ञ है। जगत् ही प्रकृति है। अतः ब्रह्म का प्रकृति अर्थ करने से इस वाक्य का यथार्थ तात्पर्य निकलता है।

ले जाता है (ऋ० १।३५) तथा पूषन् उनकी रक्षा करता है (६।५४)। चिता जलने के पहिले प्रेत-पुरुष की पत्नी, जो शव के साथ लेटी हुई थी, उठती है और उसका धनुष हाथ से हटा लिया जाता है। यह इसकी सूचना है कि प्राचीनतर काल में पत्नी तथा धनुष दोनों ही शव के साथ जला दिये जाते थे। पितरों के मार्ग पर चलकर प्रेत की आत्मा प्रकाशमान लोक में प्रवेश करती है और पितरों के साथ साक्षात्कार करती है। वहाँ उच्चतम लोक में यम पितरों के साथ बैठकर आनन्द में कालयापन करते हैं।

यम (अवेस्ता 'यिम') प्रथम मानव हैं जिन्होंने मानवों के लिए पितृलोक में जाने का मार्ग खोज निकाला है (यमो नो गातुं प्रथमं विवेद—ऋ० १०।१४।२)। उसी लोक में हमारे पूर्व पितृगण प्राचीनकाल में गए हैं तथा उसके अनन्तर भावी पुरुष अनेक मार्गों से उसी लोक में जाते हैं। यम विवस्वान् के पुत्र होने से 'वैवस्वत' कहलाते हैं। यम के लिए 'राजा' शब्द का प्रयोग अनेकत्र किया गया है, व्यक्त रूप से 'देव' का नहीं। पितृलोक के मार्ग में यम के शबल दो कुत्ते रहते हैं, जो सरमा के पुत्र, चार नेत्र वाले (चतुरक्षौ), मार्ग के रक्षक (पथिरक्षी) तथा मनुष्यों पर पहरा देनेवाले (नृचक्षसौ) हैं। प्रेतात्मा को इनसे बच कर जाने का उपदेश दिया गया है। दीर्घ नासिका वाले (उरूणसौ), प्राण के संहारक (असुतृपौ) तथा नाना वर्ण वाले (उदुम्बलौ)—ये सारमेय यम के दूत बतलाये गये हैं। ये मनुष्यों में घूमते हैं तथा पितृलोक में जाने वालों को ढूँढ़ा करते हैं। पितृलोक प्रकाशमान देदीप्यमान लोक है जहाँ यम पितृ लोगों के साथ आनन्द में मग्न दीखते हैं। पितरों के अनेक गण होते हैं जिनमें अङ्गिरस, नवग्वा, अथर्वण, भृगु तथा वसिष्ठ मुख्य माने जाते हैं। ये सोमरस के अभिलाषुक हैं तथा मर्त्यलोक में प्रस्तुत आहुति के लिए सदा लालायित रहते हैं। उनसे यज्ञ में आने, सोम पीने तथा उपासकों की रक्षा करने के लिए नाना प्रकार की प्रार्थनायें की गई हैं—

> असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञा-
> स्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥
> (ऋ० १०।१५।१)

पितरों के नाना प्रकार हैं—अवर (नीचे रहनेवाला), पर तथा मध्यम, प्राचीन तथा नवीन। हम पितरों को न भी जानें, परन्तु अग्नि सब को जानता है।

स्वर्गकी धारणा बड़े ही सुन्दर तथा प्रकाशमय रूप में की गई है। उस लोक में यम वरुण तथा पितरों के साथ निवास करते हैं। वहाँ मनुष्य को अमरत्व प्रदान करने के लिए कश्यप ऋषि प्रार्थना करते हैं—"यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।............तत्र माममृतं कृधि" (९।११३।८)। वहाँ दिन, रात और जल सब सुन्दर तथा आनन्ददायक होते हैं (१०।१४।९)। वहाँ मनुष्य को बलिष्ठ सुन्दर शरीर प्राप्त हो जाता है तथा इस शरीर की रोग-व्याधि, दुर्बलता तथा त्रुटियाँ सब दूर हो जाती हैं। पुण्य-कार्य करनेवाला प्राणी अपने सम्पादित इष्ट (यज्ञ) तथा पूर्त (कुँआ खोदना आदि स्मृति-निर्दिष्ट कार्य) के फल को प्राप्त कर लेता है, तथा पितरों और यम से मिलकर आनन्द भोग करता है (ऋ० १०।१४।८)। प्रेतात्मा भौतिक प्रकाशमान शरीर से युक्त होकर स्वर्ग में सोम, सुरा, मधु, दुग्ध तथा घी जैसी भौतिक वस्तुओं से ही आनन्द नहीं उठाता, प्रत्युत प्रेम करने के लिए स्त्रियों की भी वहाँ बहुलता होती है (**स्वर्गे लोके बहुस्त्रैणमेषाम्**—अथर्व ४।३४।२)। वहाँ गाना तथा बाजा का भी आनन्द है। वहाँ अश्वत्थ वृक्ष है[1] जिसके नीचे यम देवों के साथ पान करते हैं (**यस्मिन् वृक्षे सपलाशे देवैः संपिबते यमः**—ऋ० १०।१३५।१)। कामधेनु से सम्पन्न समस्त अभिलाषा तथा आनन्द से परिपूर्ण स्वर्ग की कल्पना नितान्त सुन्दर तथा आकर्षक है[2]। नरक की कल्पना स्पष्टतः ऋग्वेद में नहीं दीखती, परन्तु अथर्व (१२।४।३६) में 'नारकं लोकं' की कल्पना स्पष्टतः स्वर्ग-लोक की भावना से विपरीत कल्पित की गई है[3]। इस प्रकार स्वर्ग की वैदिक कल्पना बड़ी उदात्त है और आर्यों जैसे आशावादी प्राणियों के लिए नितान्त उचित तथा सुन्दर है।

---

१. अथर्व० ५।४।३; कौषीतकि उप० (१।३) में इस वृक्ष का नाम तिल्य या तिल्प है तथा ब्रह्मलोक में विरजा नदी, सायुज्य नगर, अपराजित प्रासाद आदि का भी उल्लेख यहाँ मिलता है। इसका माहात्म्य वैष्णवों के साहित्य में विशेषरूप से मिलता है, देखिए ब्रह्मसंहिता।

२ सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे।
(अथर्व० १२।४।३६)

३ अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम्॥
(वही)

नरक—अधर्म के आचरण करनेवाले जीवों को यातना भोगने का मरणोपरान्त लोक। 'नरक' की कल्पना का विकसित रूप हमें पुराणों में उपलब्ध होता है, परन्तु वैदिक साहित्य में भी नरक की कल्पना का अभाव नहीं है। अथर्व वेद (२।१४।२; ५।१९।३) में नरक स्वर्ग से विपरीत यम के क्षेत्ररूप में अभीष्ट है, जहाँ राक्षसियों और अभिचारिणियों का आवास रहता है और जिसकी स्थिति पाताल लोक (अधोगृह) में मानी गई है। ब्राह्मण साहित्य में परलोक में दण्ड की धारणा जब विशेष रूप से विकसित हुई, तब नरक में यातना के भोगने का भी विकाश सम्पन्न हुआ। पुराणों—विशेषतः विष्णुपुराण (२।६।१–२९) तथा श्रीमद्भागवत (५।२६।१–३७) में नरक का विशद विवरण उपलब्ध होता है।

स्थिति—नरक की स्थिति के विषय में मतभेद है। भागवत (५।२६।५) के अनुसार नरक की स्थिति त्रिलोकी के भीतर ही है तथा वे दक्षिण की ओर पृथ्वी से नीचे, परन्तु जल से ऊपर स्थित हैं। विष्णुपुराण (२।६।१) तो नरक की स्थिति पृथ्वी और जल दोनों के नीचे मानता है। भूर्लोक के त्रिविध स्तर पुराणों को अभीष्ट है—सब से ऊपर पृथ्वी, उसके नीचे पाताल तथा उसके भी नीचे नरक। इस प्रकार नरक को पृथ्वी के सब से नीचे स्थित होने में किसी प्रकार की पौराणिक विप्रतिपत्ति नहीं है।

संख्या—नरकों की संख्या परिगणित नहीं है। वह 'शतशः सहस्रशः' बतलाई गई है, परन्तु नरकों की संख्या में विकाश दृष्टिगोचर होता है। नरकों की न्यूनतम संख्या सात है, जिसका उल्लेख विष्णुपुराण, योगसूत्र का व्यासभाष्य (३।२६) तथा शंकराचार्य (वेदान्तभाष्य ३।१।१५) करते हैं। विष्णुपुराण के अनुसार रौरव, महारौरव आदि का उल्लेख शंकराचार्य को अभीष्ट है। व्यासभाष्य (३।२६) में दो प्रकार के नाम मिलते हैं। 'अवीचि' को छोड़ देने पर दोनों सूचियों के नाम इस प्रकार हैं—घन (=महाकाल), सलिल (=अम्बरीष), अनल (=रौरव), अनिल (=महारौरव), आकाश (=कालसूत्र) तथा तमःप्रतिष्ठ (=अन्धतामिस्र)। कालान्तर में यह संख्या विकसित होकर एक्कीस तक पहुँच गई। ये नाम मनुस्मृति (४।८८।९०) तथा श्रीमद्भागवत (५।२६।७) में उपलब्ध होते हैं, परन्तु इन अभिधानों में पर्याप्त पार्थक्य है। विष्णुपुराण (२।६।२–५) तथा श्रीमद्भागवत (५।२६।७) में यह संख्या वृद्धिगत होकर २८ तक पहुँच गई है। दोनों सूचियों में संख्या की एकता होने पर भी नामों में पार्थक्य है। रौरव, कालसूत्र, लालाभक्ष, वैतरणी आदि संज्ञाओं की समानता होने पर भी अन्यत्र पार्थक्य है।

नाम—भागवत के अनुसार २८ नरकों के नाम यहाँ दिये जाते हैं जो अपने स्वरूप के भी स्वतः प्रकाशक हैं—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, सूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, सन्दंश, तप्तसूर्मि, वज्रकण्टकशाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि, अयःपान, क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्तन और सूचीमुख। ये 'विविध यातना भूमि' माने गये हैं, अर्थात् इनमें निवास कर प्राणी अपने किये गये पापों के निमित्त नाना प्रकार की यातनायें भोगते हैं।

नरकलोक का शासन-सूत्र सूर्य के पुत्र पितृराज भगवान् यम के हाथों में रहता है, जो अपने दूतों तथा सेवकों के द्वारा उस विचित्र विशाल लोक की सुव्यवस्था करने में समर्थ होते हैं। मरणासन्न प्राणी को यम के दूत संयमनी पुरी में लाते हैं, चित्रगुप्त उनके किये गये पुण्यों तथा पापों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हैं; यमराज उनके गौरव-लाघव का विचार करते हैं। पुण्य का फल भोगने के लिए तो पुण्यात्माओं को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, परन्तु पाप का फल भोगने के लिए पापाचरण वाले जीवों को नरकलोक मिलता है। यथा इस लोक में निरपराध मनुष्यों को दण्ड देनेवाले राजा या राजकर्मचारी 'सूकरमुख' नामक नरक में गिरता है, जहाँ वह कोल्हू में गन्ने के समान पेरा जाता है और वह आर्त स्वर मे चिल्लाता है और कभी मूर्छित होकर अनेक यातनायें भोगता है। फलतः नरक प्रायश्चित रूप से यातनाओं के भोगने का विकट स्थान है। इस प्रकार नरक और स्वर्ग के भोग से जब जीवों के अधिकांश पाप और पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब बाकी बचे हुए पुण्य-पाप-रूप कर्मों को लेकर ये जीव इसी लोक में जन्म लेने के लिए लौट आते हैं। नरक के साथ 'स्वर्ग' की कल्पना अनुस्यूत है। जीव के आवागमन की प्रक्रिया में स्वर्ग तथा नरक एक नितान्त आवश्यक अङ्ग है। वैदिक धर्म के अनुसार जैनधर्म तथा बौद्धधर्म में भी 'नरक' की कल्पना मान्य है तथा वह ऊपर वर्णित रूप से भिन्न नहीं है। संख्या की भिन्नता होने पर भी मूल स्वरूप की मान्यता प्रायः एकाकार है।

वैदिक साहित्य में विश्वबन्धुत्व की परिकल्पना

वैदिक साहित्य की यह एक अनोखी विशेषता है कि वह मानव मात्र के लिए कल्याण की भावना को अग्रसर करता है। संकीर्ण स्वार्थ को ही मानव जीवन का चरम पुरुषार्थ मानने वाले पाश्चात्य देशों के साहित्य में जो एकांगिता विद्यमान है,

वह वैदिक साहित्य को स्पर्श नहीं करती। कारण इसका स्पष्ट है—साहित्य संस्कृति का अग्रदूत है, साहित्य संस्कृति का वाहन है। समाज की भावना को दर्पणवत् प्रतिबिम्बित करनेवाला साहित्य कितना भी आदर्शवादी हो, वह यथार्थता का चित्रण किये बिना नहीं रह सकता। उसकी व्याप्ति राष्ट्र की परिधि के द्वारा नियन्त्रित होती है। वह उस देश के प्राणियों में परिव्याप्त भावना को सर्वथा उलंघन करने की क्षमता नहीं रखता। पश्चिम के देश संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना से जकड़े हुये हैं। फलतः उनके साहित्य में उस संकीर्णता का ही परिचय हमें पदे-पदे मिलता है। वहाँ के साहित्यिक अपने राष्ट्र की चहारदिवारी के भीतर अपने को सीमित रखते हैं। इसलिए उनकी वाणी राष्ट्रीयता के परिबृंहण में ही लगी रहती है। इसके विपरीत, संस्कृत के कविजन उदारता का आश्रय लेकर संकीर्णता को अपने पास फटकने नहीं देते। फलतः वैदिक साहित्य विश्व-बन्धुत्व की भावना से सर्वथा परिव्याप्त है।

वैदिक प्रार्थना में समष्टि भावना का पूर्ण साम्राज्य विराजमान है। वैदिक ऋषि व्यष्टि के कल्याण के लिये जगदीश्वर से प्रार्थना नहीं करता, प्रत्युत वह समग्र समष्टि के मंगल के लिये आशीर्वाद चाहता है। वह व्यक्ति तथा समाज से ऊपर उठकर समस्त विश्व के सुख-समृद्धि तथा मंगल के निमित्त ही प्रार्थना करता है। मन्त्रों का प्रामाण्य इस विषय में अक्षुण है।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्न आसुव॥

(यजु० ३०।३)

हे देव सविता, समस्त पापकर्मों को हमसे दूर करो। हमारे लिए जो भद्र वस्तु—कल्याणकारी पदार्थ हो, उसे हमें प्राप्त कराइये।

विश्व-शान्ति, और विश्व बन्धुत्व की उदात्त भावना से ओतप्रोत वैदिक मन्त्रों में मानवमात्र में परस्पर सौहार्द, मैत्री तथा साहाय्य की भावना की उपलब्धि नितान्त स्वाभाविक है—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

(यजु० ३६।१८)

मैं मित्र की दृष्टि से सब प्राणियों को देखूँ। हम सब लोग मित्र की दृष्टि से परस्पर में एक दूसरे को देखें।

मानव मात्र का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह एक-दूसरे की सर्वथा रक्षा तथा सहायता करे। केवल अपने ही स्वार्थ में उसे निविष्ट नहीं रहना चाहिये। इस भाव को द्योतित करता हुआ ऋग्वेदीय मन्त्र कहता है—

पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः।

(ऋग्वेद ६।७५।१४)

वैदिक ऋषि भगवान से प्रार्थना करता है कि वह मानवमात्र के लिये सुमति-सद्भावना धारण करे; उन प्राणियों के ही प्रति नहीं, जिन्हें वह देखता है, प्रत्युत उनके लिए भी जो उसकी दृष्टि से ओझल हैं जिन्हें वह नहीं देखता—

यांश्च पश्यामि यांश्च न।
तेषु मा समुमतिं कृधि॥

(अथर्व० १७।१।७)

कितनी उदात्त भावना है यह। सामान्यतः हम उन्हीं के कल्याण की कामना करते हैं, जिन्हें हम देखते हैं अपनी आखों से; परन्तु वैदिक ऋषि यहीं तक अपनी प्रार्थना को सीमिति नहीं रखता, प्रत्युत वह निखिल विश्व के अदृष्ट प्राणियों के प्रति भी वह भावना रखने का नम्र निवेदन करता है।

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में विशिष्ट सूक्त हैं जिनकी संज्ञा है सांमनस्य सूक्त। इनमें विशेषरूप से विश्व-कल्याण की भावना परिव्याप्त है। इस विषय के एक दो मन्त्र यहाँ दिये जाते हैं—

सं गच्छध्वं संवदध्वम्, सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते॥

इस मन्त्र का तात्पर्य बड़ा गंभीर है। हे मनुष्यों, जैसे सनातन से विद्यमान दिव्य शक्तियों से सम्पन्न सूर्य, चन्द्रादि देव परस्पर अविरोध भाव से प्रेम से अपने कार्यों को करते हैं, ऐसे ही तुम भी समष्टि भावना से प्रेरित होकर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त हो, ऐकमत्य होकर परस्पर सद्भाव से रहो। ऋग्वेद का अंतिम मन्त्र इसी भावना को अग्रसर करता है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋग्वेद १०।१९१।४)

मानवों को लक्ष्य कर अंगिरस संवनन ऋषि का उपदेश इस मन्त्र में निहित है। वह कहते हैं कि मानवों की आकूति—चित्तवृत्ति, हृदय तथा मन—सब समान हों, तभी विश्व के प्राणी परस्पर में सौहार्द से निवास कर सकते हैं। अतः ऋषि केवल अपने वैयक्तिक मंगल के लिये भगवान् से प्रार्थना नहीं करता, प्रत्युत वह मानवमात्र के हित का प्रार्थी है।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

यह अपना है और यह पराया है ऐसी गणना क्षुद्रचित्त वाले प्राणियों की है। उदार चरित वाले जनों की दृष्टि में तो यह समस्त वसुधा ही एक कुटुम्ब है। विश्व-भावना की अभिव्यक्ति इससे बढ़कर और सुन्दर शब्दों में नहीं की जा सकती। इस श्लोक के तात्पर्य के भीतर एक गहरी अनुभूति है। आजकल यातायात की सुविधा से यदि एक देश का मानव दूसरे देश के मानव के प्रति आवश्यकता के पाश में बद्ध होकर आकृष्ट होता है, तो इसे कम समझ सकते हैं, परन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि ऐसी सुविधाओं से विरहित प्राचीन काल में भारत के निवासी विश्वबन्धुत्व की भावना में विश्वास ही नहीं करते थे, प्रत्युत अपने दैनिक जीवन में उसका व्यवहार भी करते थे।

भारत के निवासी आर्यजन का जीवन विश्वबन्धुत्व का व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत करता है। प्रत्येक गृहस्थ "बलिवैश्वदेव" के अनुष्ठान के उपरान्त ही स्वयं भोजन करता है। यह बलि विश्व के समस्त देवताओं के ही लिए अन्न द्वारा तृप्ति की साधिका नहीं है, प्रत्युत पशु पक्षी आदि तिर्यग्योनि के जीवों को भी भोजनार्थ अन्न देने का विधान यहाँ पाया जाता है। इसी प्रकार श्राद्ध के अवसर पर ऋषियों, मानवों तथा स्वीय पूर्वजों की ही जल द्वारा तृप्ति नहीं की जाती, प्रत्युत नाग, सर्प आदि क्षुद्र जीवों को भी जलाञ्जलि देकर तृप्ति पहुँचाने का सार्वभौम नियम है। यह तर्पण प्रतिदिन विहित अनुष्ठान है। इससे प्रत्येक मानव अपने को संसार के समस्त प्राणियों के साथ सम्पर्क स्थापित कर विश्वबन्धुत्व की साकार उपासना करता है।

इस विश्वबन्धुत्व की भावना का एक गंभीर दार्शनिक पक्ष भी है। यह समग्र विश्व परमैश्वर्य-मण्डित सत्य ज्ञान अनन्त परब्रह्म का ही विवर्त है। जगत् के जीव परब्रह्म के अंशभूत होने पर भी तद्रूप ही हैं। जगत् के भीतर एक ही सर्व शक्तिमान् परमेश्वर रमा हुआ है। अपनी अलौकिक-घटनापटीयसी माया के कारण सर्वत्र व्याप्त है। विश्व का प्रत्येक अणु उसी की अमल शक्तिमत्ता का

विजय घोष करता है। विश्व के समस्त जीव उसी परमपिता की सन्तान हैं। ऐसी दशा में उनमें पारस्परिक बन्धुत्व की भावना परिस्फुटित न होगी ? यह कौन सचेता विश्वास कर सकता है। यह अद्वैत सिद्धान्त भारतीय संस्कृति की आधारशिला है। फलतः इस संस्कृति के परिवहन करने वाले वैदिक साहित्य में इस भावना का साङ्गो-पाङ्गाङ्ग रूप उपलब्ध होता है—यह कथन पुनरुक्ति मात्र है। हमारे संस्कृत के काव्यों तथा रूपकों में यह भावना बड़ी स्फुटता से अपनी अभिव्यक्ति पा रही है। इसलिए प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान की समाप्ति पर साधक पुरुष अपना आदर्श इस प्रसिद्ध श्लोक के द्वारा प्रकट करता है—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

इस विश्व में सब प्राणी सुखी हों, सब लोग रोग से आक्रान्त न हों, सब प्राणी कल्याण की उपलब्धि करें। कोई प्राणी दुःख का भाजन न हो।

उपसंहार

वेद अनन्त है; वेद गम्भीर है। वेद के गम्भीर अर्थ तथा रहस्य की सूचना इस घटना से भी पर्याप्त रूपेण मिलती है कि अपने उदयकाल से आरम्भ होकर वर्तमानकाल तक यह नाना विचारवाले विद्वानों को प्रेरणा तथा स्फूर्ति देता आया है। यास्क के समय में ही इसके गम्भीर अर्थ की व्याख्या नाना सम्प्रदाय के वेदज्ञों ने अपनी दृष्टि से की और आज भी इसके मन्त्रों के तात्पर्य को समझने तथा समझाने के लिए नाना शैली पुरस्कृत की जा रही है और प्रत्येक शैली एक नवीन अर्थ का उन्मेष करती है। वेद इस विशाल ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार से जागरूक तथा नाना अभिव्यक्तियों में प्रकाशशील एक अचिन्त्य शक्ति का शाब्दिक उन्मेष है—वर्णमय विग्रह है। वह तर्क की कर्कश पद्धति पर व्याख्यात सिद्धान्तों का समुच्चय नहीं; अपितु वह प्रातिभ-चक्षु से साक्षात्कृत तथ्यों का प्रशंसनीय पुंज है। वैदिक युग के मनीषियों तथा लोकातीत आर्षचक्षुर्मण्डित द्रष्टाओं की वाणी में सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक नैतिकता और धर्म की मूल प्रेरणाओं का स्फुरण हो रहा है, जो आज भी विश्व के मानवों को सन्मार्ग पर ले जाने की क्षमता रखता है। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में धर्म ही जीवनयात्रा का मुख्य उपयोगी साधन है। 'सुगा ऋतस्य पन्थाः' (ऋ० ८।३१।१३)=धर्म का मार्ग सुगम है। 'सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्'

(ऋ० ९।७३।१)=सत्य की नाव धर्मात्मा को पार लगाती है। वेद अध्यात्म के साथ व्यवहार का, परलोक के साथ इहलोक का मंजुल सामञ्जस्य अपने भव्य उपदेशों से प्रस्तुत करता है। वेद का सर्वातिशायी श्लाघनीय धर्म यज्ञ है। यज्ञ ही मानव को दूसरे मानव के प्रति मैत्री के सूत्र में बांधने वाला कर्म है। वेद मनुष्यों को कर्मठ, देशभक्त तथा परोपकारी बनने की शिक्षा देता है। वह स्वावलम्बी मानव के मूलमन्त्र का रहस्य बतलाता है—**'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'** (ऋ० ४।३३।११)=विना स्वयं परिश्रम किये देवों की मैत्री प्राप्त नहीं होती है। वह सम्पत्ति को मानवों में बांट देने की शिक्षा देता है—**'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर'** (अथर्व० ३।२४।५)=सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और हजारों हाथों से बाँट दो।

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' का शिक्षक वेद अद्वैतवाद का महनीय उपदेष्टा ग्रन्थरत्न है। प्राणिमात्र में एक ही चैतन्य व्याप्त हो रहा है। प्राणिमात्र को परस्पर में बन्धुता की महनीय भावना से ओत-प्रोत होना चाहिए। इस भावना की प्रेरणा देनेवाले अथर्व ऋषि का यह वाक्य वर्तमानकाल के मानवों के लिए आदर्श मन्त्र होना चाहिए—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योऽन्यमभिनवत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
(अथर्व० पिप्पलाद ५।१९।१)

यह **संज्ञान सूक्त** (अथर्व० ३।३०) मानवों के परस्पर सौहार्द, सहानुभूति तथा मैत्री को मानव समाज के लिए आदर्श बतलाने वाला एक नितान्त श्लाघनीय सूक्त है जिसके भावों को समझना तथा अपने जीवन में उतारना संसार के प्राणियों का कल्याण-साधक है।

वेद अपौरुषेय है; वेद नित्य है; वेद रहस्यमय है; वेद का ज्ञान गम्भीर है। वह विश्व में सर्वत्र व्यापक परम चैतन्य का आभामय शाब्दिक विग्रह है। वह देश तथा काल से अतीत है। वह किसी एक मानव समाज का ग्रन्थ नहीं है। वह विश्व मानव का कल्याणाधायक ग्रन्थरत्न है। व्यवहार का उपदेष्टा है। वह अध्यात्म का शिक्षक है। वह परमज्योतिर्मय प्रभु का प्राणियों के लिए मधुर सन्देश है। उसकी उपासना उस अनन्त सर्वशक्तिमान् अचिन्त्य शक्तिशाली भगवान् के मंगलमय साक्षात्कार कराने में कृतकार्य होती है। उस

परम करुणावतार भगवान् से हमारी विनम्र प्रार्थना है कि हमें वह सुबुद्धि दे जिससे हम इस वेदवाणी को समझें, गूढ़ अर्थ को हृदयंगम करें, उसका आचरण कर अपने जीवन को मंगलमय बनावें तथा इस जन्म को सार्थक सिद्ध करें।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
(ऋ० १०।१९१।४)

ॐ तत् सद् ब्रह्मार्पणमस्तु॥

परिशिष्ट 1

शुल्बसूत्र

भारतवर्ष में रेखा-गणित के प्राचीन इतिहास की जानकारी के लिए शुल्ब-सूत्रों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। शुल्बसूत्र वेदाङ्ग के अन्तर्गत कल्प सूत्र का अन्यतम अङ्ग है। कल्पसूत्र का मुख्य विषय है वैदिक कर्मकाण्ड। ये मुख्यतया दो प्रकार के हैं—गृह्यसूत्र तथा श्रौतसूत्र, जिनमें गृह्यसूत्र का मुख्य विषय है विवाहादि संस्कारों का विस्तृत वर्णन। श्रौतसूत्रों में श्रुति में प्रतिपादित नाना यज्ञ-यागों का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है। शुल्बसूत्र इन्हीं श्रौतसूत्रों का एक उपयोगी अंश है। 'शुल्ब' शब्द का अर्थ है—रज्जु, अर्थात् रज्जु के द्वारा मापी गई वेदि की रचना शुल्बसूत्र का प्रतिपाद्य विषय है।

सिद्धान्त की दृष्टि से तो प्रत्येक वैदिक शाखा का अपना विशिष्ट 'शुल्बसूत्र' होता है, परन्तु व्यवहारतः ऐसी बात नहीं है। कर्मकाण्ड के साथ मुख्यतः सम्बद्ध होने के कारण शुल्बसूत्र यजुर्वेद की ही शाखा में पाये जाते हैं। यजु-र्वेद की अनेक शाखाओं में शुल्बसूत्रों का अस्तित्व पाया जाता है। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध एक ही शुल्बसूत्र है—कात्यायन-शुल्बसूत्र, परन्तु कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध छः शुल्बसूत्र मिलते हैं—बौधायन, आपस्तम्ब, मानव, मैत्रायणीय, वाराह तथा वाधूल। इनके अतिरिक्त आपस्तम्ब शुल्ब (११।११) टीका में करविन्दस्वामी ने मशक शुल्ब तथा हिरण्यकेशी-शुल्ब का उल्लेख किया है, जो आजकल उपलब्ध नहीं हैं। आपस्तम्ब-शुल्ब (६।१०) में हिरण्यकेशी-शुल्ब से एक उद्धरण भी उपलब्ध होता है।

इन सात उपलब्ध सूत्रों में बौधायन-शुल्ब ही सब से बड़ा तथा सम्भवतः सब से प्राचीन शुल्बसूत्र है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में ११६ सूत्र हैं, जिनमें मंगलाचरण के अनन्तर वर्णन है शुल्ब में प्रयुक्त विविध मानों का (सूत्र ३–२१); याज्ञिकवेकदियों के निर्माण के लिए मुख्य रेखा गणितीय तथ्यों का (सूत्र २२–६२) तथा विभिन्न वेदियों के क्रमिक स्थान तथा आकार-प्रकार का वर्णन है (सूत्र ६३–११६)। द्वितीय परिच्छेद में ८६ सूत्र हैं, जिनमें वेदियों के निर्माण के सामान्य नियमों का बहुशः वर्णन (१–६१ सूत्र) के पश्चात्

गार्हपत्य-चिति तथा 'छन्दश्चिति[1] के बनावट का विवरण प्रस्तुत किया गया है। तृतीय परिच्छेद में ३२३ सूत्र हैं, जिनमें काम्य इष्टियों के १७ प्रभेदों के लिए वेदि के निर्माण का विशद विवरण है। इनमें से कई वेदियों की रचना बड़ी ही पेचीदी है, परन्तु अन्यों की रचना अपेक्षाकृत सरल है।

आपस्तम्ब का शुल्बसूत्र ६ 'पटल' (अध्याय) में विभक्त है, जिनके भीतर अन्य अवान्तर वर्ग हैं। इस प्रकार इसमें २१ अध्याय तथा २२३ सूत्र हैं। प्रथम पटल (१–३ अध्याय) में वेदियों की रचना के आधारभूत रेखागणितीय सिद्धान्तों का निर्वचन है। द्वितीय पटल (४–६ अध्याय) वेदि के क्रमिक स्थान तथा उनके रूपों का वर्णन करता है। यहाँ इनके बनाने के ढंग या प्रक्रिया का भी विवरण दिया गया है। अन्तिम १५ अध्यायों में काम्य इष्टि के लिए आवश्यक विभिन्न वेदियों के आकार-प्रकार का विशद विवेचन है। यहाँ बौधायन तथा आपस्तम्ब ने प्रायः समस्त काम्येष्टियों का समान रूप से विवेचन किया है। अन्तर इतना ही है कि आपस्तम्ब की अपेक्षा बौधायन में अधिक विस्तार तथा विभेदों की सत्ता मिलती है। आपस्तम्ब अपेक्षाकृत सरल तथा संक्षिप्त है :

बौधायन के टीकाकार

बौधायन के दो टीकाकारों का पता चलता है जिनमें से एक उतने प्राचीन प्रतीत नहीं होते, परन्तु दूसरे टीकाकार पर्याप्तरूपेण प्राचीन प्रतीत होते हैं—

(क) द्वारकानाथ यज्वा—ये आर्यभट के पश्चाद्वर्ती निश्चित रूप से प्रतीत होते हैं, क्योंकि इन्होंने अपनी टीका में आर्यभटीय के एक सिद्धान्त का निर्देश किया है। शुल्बसूत्र के अनुसार व्यास तथा परिधि का सम्बन्ध π होता है, परन्तु द्वारकानाथ यज्वा ने इस नियम में शोधन उपस्थित किया है जिससे π

---

१. 'छन्दश्चिति' मन्त्रों के द्वारा निर्मित वेदि है। इसमें वेदि का निर्माता बाज की आकृतिवाली वेदि की रूपरेखा पृथ्वी के ऊपर खींचता है तथा मन्त्रों का उच्चारण करता है। ईंटों को रखने की वह कल्पना करता है, अर्थात् मन्त्रों को पढ़ता जाता है तथा ईंटों को रखने की कल्पना करता है, परन्तु वस्तुः वह रखता नहीं। इसीलिए यह वेदि छन्दश्चिति के नाम से प्रसिद्ध है।

मूल्य आधुनिक गणना के अनुसार ही ३.१४१६ तक सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य गणना के लिए भी यज्वा ने अपनी विमल प्रतिभा का परिचय दिया है। इस व्याख्या का नाम है—शुल्ब-दीपिका।

(ख) वेंकटेश्वर दीक्षित—इनकी टीका का नाम शुल्ब-मीमांसा है। ये यज्वा की अपेक्षा अर्वाचीन ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं।

आपस्तम्ब-शुल्ब के टीकाकार

टीका की दृष्टि से यह शुल्बसूत्र बहुत ही लोकप्रिय रहा है। इसके ऊपर चार टीकायें प्रसिद्ध हैं—

(क) कपर्दिस्वामी—इन टीकाकारों में ये ही सबसे प्राचीन प्रतीत होते हैं। इन्होंने इन ग्रन्थों की टीकायें की हैं—आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब-सूत्रपरिभाषा, दर्शपौर्णमाससूत्र, भारद्वाज-गृह्यसूत्र आदि। शूलपाणि, हेमाद्रि, तथा नीलकण्ठ ने इनके मत का उद्धरण अपने ग्रन्थों में किया है। इस निर्देश से इनके समय का निरूपण किया जा सकता है। शूलपाणि का समय ११५० ई० के आसपास है। वेदार्थदीपिका के रचयिता षड्गुरुशिष्य (११४२ ई०—११९३ ई०) के ये गुरु थे। हेमाद्रि का भी काल १३वीं शती है, क्योंकि ये देवगिरि के राजा महादेव (१२६० ई०—१२७१ ई०) तथा उनके भतीजे और उत्तराधिकारी रामचन्द्र (१२७१ ई०—१३०९ ई०) के महामात्य थे। इस प्रकार शूलपाणि तथा हेमाद्रि के द्वारा उद्धृत किये जाने के कारण कपर्दि-स्वामी का समय १२ वीं शती से प्राचीन होना चाहिए। ये दक्षिण भारत के निवासी प्रतीत होते हैं। अपनी टीका में इन्होंने कतिपय नियमों तथा रचना-प्रकारों का सरल विवरण दिया है।

(२) करविन्दस्वामी—इन्होंने आपस्तम्ब के पूरे श्रौतसूत्र के ऊपर अपनी व्याख्या लिखी है। इनके समय का निर्धारण अभी तक ठीक ढंग से नहीं किया जा सका है। इन्होंने विना नाम-निर्देश किये ही आर्यभट प्रथम (जन्मकाल ४७६ ई०) के ग्रन्थ आर्यभटीय (रचनाकाल ४९९ ई०) के कतिपय निर्देशों को अपने ग्रन्थों में उल्लिखित किया है जिनसे ये पञ्चमशती से अर्वाचीन तो निश्चितरूप से प्रतीत होते हैं। इनकी टीका का नाम शुल्ब-प्रदीपिका है और यह मूलग्रन्थ को समझने के लिए एक उपयोगी व्याख्या है।

(ग) **सुन्दरराज**—इनकी टीका का नाम 'शुल्बप्रदीप' है, जो ग्रन्थकार के नाम पर 'सुन्दरराजीय' के भी नाम से प्रख्यात है। इनके भी समय का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इस ग्रन्थ के प्राचीन हस्तलेख का समय सम्वत् १६३८ (१५८१ ईस्वी) है, जो तंजोर के राजकीय पुस्तकालय में (न० ९१६०) सुरक्षित है। फलतः इनका समय १६ वीं शती से प्राचीन होना चाहिए। इन्होंने बौधायन-शुल्ब के टीकाकार द्वारकानाथयज्वा के कतिपय वाक्यों को अपनी टीका में उद्धृत किया है।

(घ) **गोपाल**—इनकी व्याख्या का नाम है-**आपस्तम्बीय शुल्बभाष्य**। इनके पिता का नाम गातर्य नृसिंह सोमसुत् है। इससे प्रतीत होता है कि ये कर्मकाण्ड में दीक्षित वैदिकपरिवार में उत्पन्न हुए तथा कर्मकाण्डीय परम्परा से पूर्ण परिचित थे।

कात्यायन-शुल्बसूत्र का प्रसिद्ध नाम है **कात्यायन-शुल्ब-परिशिष्ट,** अथवा **कातीय शुल्ब-परिशिष्ट**। यह दो भागों में विभक्त है। प्रथमभाग सूत्रात्मक है तथा सात कंडिकाओं में विभक्त होकर इसमें ९० सूत्र हैं। इसमें वेदियों की रचना के लिए आवश्यक रेखागणितीय तथ्य, वेदियों का स्थान-क्रम तथा उनके परिमाण का पूरा वर्णन हैं। यहाँ काम्य इष्टियों की वेदियों का वर्णन नहीं है, क्योंकि कात्यायन श्रौतसूत्र के १७ वें अध्याय में इसका वर्णन पहिले ही किया गया है। द्वितीय खण्ड श्लोकात्मक है जिसमें ४० या ४८ श्लोक मिलते हैं। यहाँ नापनेवाली रज्जु का, निपुण वेदिनिर्माता के गुणों का तथा उनके कर्तव्यों का तथा साथ ही साथ पूर्वभाग में वर्णित रचनापद्धति का भी विवरण दिया गया है। इसी द्वितीय खण्ड का नाम कातीय परिशिष्ट है, क्योंकि इसमें पूर्वखण्ड के विषयों का संक्षेप में पुनः वर्णन दिया गया है। पूर्व के दोनों शुल्बसूत्रों की अपेक्षा इसमें कतिपय रोचक विशिष्टतायें पाई जाती हैं। कात्यायन ने वेदि निर्माण के आवश्यक समस्त रेखागणितीय विषयों का विवरण विशेष क्रमबद्ध रूप से यहाँ प्रस्तुत किया है।

इसके ऊपर दो टीकायें उपलब्ध होती हैं—

(क) **महीधर**—महीधर काशी के रहने वाले प्रकाण्ड वैदिक थे। वेद तथा तन्त्र के विषय में इनके अनेक प्रौढ़ ग्रन्थरत्न आज भी मिलते हैं। इन्होंने अपने **'मन्त्र-महोदधि'** की समाप्ति १५८९ ईस्वी में तथा **विष्णुभक्तिकल्पलता-प्रकाश** की रचना १५९७ ईस्वी में की। कातीय शुल्बसूत्रों की व्याख्या का रचना-काल संवत् १६४६ (=१५८९ ईस्वी) है।

(ख) **राम या रामवाजपेय**—ये नैमिष (=लखनऊ के पास निमिखार के निवासी थे। इन्होंने बहुत से ग्रन्थों की रचना की है जिनमें मुख्य हैं—क्रम-दीपिका, कुण्डाकृति (टीका के साथ), शुल्ब-वार्त्तिक, सांख्यायन गृह्य-पद्धति, समरसार (टीका के साथ), समरसारसंग्रह, शारदातिलक तन्त्र की व्याख्या तथा कातीय शुल्बसूत्र की टीका। कुण्डाकृति की रचना का समय १५०६ विक्रमी (=१४४९ ईस्वी) दिया गया है। फलतः राम का आविर्भाव-काल १५वीं शती का मध्य भाग है। राम अपने विषय के विज्ञ पण्डित प्रतीत होते हैं। इन्होंने शुल्बसूत्रों में उल्लिखित $\sqrt{२}$ का जो मूल्य दिया है वह शुल्ब-सूत्र मे दिये गये मूल्य की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म तथा ठीक है। शुल्ब के अनुसार $\sqrt{२}$ का मूल्य है—१.४१४२१५६८६३ तथा राम के अनुसार $\sqrt{२}$ का मूल्य है—१.४१४२१३५०२........। आजकल की गणना के अनुसार $\sqrt{२}$ का मूल्य है १.४१४२१३५६। इन तीनों की तुलना करने से स्पष्ट है कि शुल्बसूत्रों का निर्णय ५ दशमलव अङ्कों तक ही ठीक है, परन्तु राम की गणना ७ दशमलव अङ्कों तक ठीक उतरती है। यह टीकाकार की सूक्ष्म गणना-पद्धति का विशद प्रतीक है।

शुल्बसूत्रों में सबसे प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण ये ही तीनों ग्रन्थ हैं—बौधायन, आपस्तम्ब तथा कात्यायन के शुल्बसूत्र, जिनके अनुशीलन से जैनधर्म के उदय से पूर्व भारतीय रेखागणित का विशिष्ट रूप आलोचकों के सामने प्रस्तुत हो जाता है। इन तीनों मे अनेक नवीन तथ्यों का संकलन है, जो एक दूसरे के परिपूरक हैं। इनसे अतिरिक्त शुल्बसूत्र उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं तथा महत्त्व की दृष्टि से सामान्य ग्रन्थमात्र हैं। इन ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है—

(क) **मानव-शुल्बसूत्र**—गद्य तथा पद्य से मिश्रित यह छोटा ग्रन्थ है। इसमें अनेक नवीन वेदियों का वर्णन मिलता है जो पूर्वोक्त ग्रन्थों में नहीं मिलता। यहाँ 'सुपर्ण-चिति' के नाम से उस प्रसिद्ध वेदि का वर्णन है जो 'श्येन-चिति' के नाम से अन्यत्र प्रसिद्ध है।

(ख) **मैत्रायणीय शुल्बसूत्र**—मानव शुल्ब का यह एक दूसरा संस्करण है। दोनों का विषय ही एक समान नहीं है, बल्कि दोनों में एक समान श्लोक भी मिलते हैं, परन्तु दोनों में कतिपय अन्तर भी है, विशेषतः क्रम-व्यवस्था में।

(ग) बाराह-शुल्बसूत्र—यह मानव तथा मैत्रायणीय शुल्ब के समान ही है। कृष्णयजुः से सम्बद्ध होने के कारण इन तीनों में समानता होना कोई आश्चर्य की घटना नहीं है।

टीकाकार—काशी के निवासी तथा नारद के पुत्र शिवदास ने मानव-शुल्बों पर एक टीका लिखी है। शिवदास के अनुज शंकरभट्ट ने मैत्रायणीय शुल्ब पर टीका रची है। दोनों भाइयों ने अपनी टीकाओं में रामवाजपेय के मत का उल्लेख किया है जो निश्चय ही कात्यायन शुल्ब के टीकाकार राम ही हैं। शिवदास ने वेदभाष्यकार सायण के मत का उल्लेख किया है जिससे इनका समय १४वीं शती से पूर्ववर्ती नहीं हो सकता। शुल्बसूत्रों से सम्बद्ध यह प्राचीन साहित्य।

परिशिष्ट २

सिन्धु-उपत्यका की सभ्यता

वर्तमान सिन्धु प्रदेश (आजकल पश्चिमी पाकिस्तान) में 'मोहञ्जोदड़ो' नामक स्थान पर भारतीय पुरातत्त्व विभाग ने अनेक वर्षों तक खुदाई कर बहुत-सी प्राचीन वस्तुओं को खोज निकाला है। 'मोहञ्जोदड़ो' सिन्धी शब्द है जिसका अर्थ है 'मृतकों की ढेरी'। हिन्दी संसार में यह शब्द 'मोहनजोदारो' के रूप में प्रख्यात हो गया है। यह स्थान सिन्धुनदी के तट पर अवस्थित है तथा डोकरी स्टेशन से आठ मील की दूरी पर है। पंजाब के 'हरप्पा' नामक स्थान की खुदाई में भी इसी प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं। सिन्धुनदी की घाटी में पनपने के कारण यह सभ्यता 'सिन्धु-घाटी की सभ्यता' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सभ्यता की मुख्य बातें नीचे लिखी जाती हैं जिससे वैदिक सभ्यता के साथ इसकी तुलना की जा सके।

'मोहञ्जोदड़ो' की सभ्यता नागरिक सभ्यता है। इसके विशाल भवनों की कुल सात तहों का पता लग चुका है। पहिले के बने हुए स्तर पृथ्वी के बहुत भीतर पानी वाले सतह में पाये जाते हैं। साधारणतः प्रारम्भिक स्तर के भवनों की आयु एक हजार वर्ष कूती गई है और पीछेवाले स्तरों के भवनों की आयु प्रति स्तर पाँच सौ वर्ष। इस प्रकार कुल मिलाकर इन सातों स्तरों की आयु चार हजार वर्ष हुई। सिन्धु-सभ्यता इससे भी प्राचीन है। इसलिए प्रोफेसर लैंग्डन (जिन्होंने एलम तथा ईरान की प्राचीनतम सभ्यता से इस सभ्यता की तुलना करने का अश्रान्त परिश्रम किया है) का कथन है कि सिन्धु-सभ्यता ईसा से २८००) वर्ष पूर्व से भी प्राचीन है। इस सिद्धान्त की पुष्टि अनेक स्पष्ट प्रमाणों पर होती है और इसीलिए ऐतिहासिकों को इस काल को मानने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

(क) **वास्तु-विद्या**—इस नगर के निरीक्षण से उन दिनों वास्तु-विद्या की विशेष उन्नति का पता चलता है। मोहञ्जोदड़ो नगर की स्थापना एक विधि-विशेष के अनुसार हुई है। मध्य में राजपथ था जो बहुत चौड़ा था। इसके दोनों तरफ बड़ी-बड़ी दुकानें थीं। उन दुकानों के ऊपर, परिवारों के रहने के लिए चौबारे बने हुये थे। ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ थीं, जो बाजार में आती थीं।

इस राजपथ के उत्तर और दक्षिण में गलियाँ हैं जो एक दूसरे के समानान्तर हैं। इन गलियों से छोटी गलियाँ फूटती हैं जो बड़ी गलियों से ठीक समकोण पर हैं। इस प्रकार इस नगर में सीधी पँक्तियों में घर बनाये गये थे। यह पद्धति वास्तु-कला की विशेष उन्नति को सूचित करती है।

प्रत्येक घर में एक प्राङ्गण अवश्य था। घर कम से कम दो मञ्जिले अवश्य थे। नीचे-ऊपर पृथक्-पृथक् परिवार रहते थे। इसीलिए ऊपर जाने के लिए बाहर से ही सीढ़ियाँ ऊपर जाती थीं। नगर में स्थान का अभाव प्रतीत होता है या यों कहिये कि जन-संख्या बहुत होने से थोड़े से थोड़े स्थान का भी खूब उपयोग किया जाता था। स्थान के अभाव के कारण घरों के साथ बाग-बगीचों का होना असम्भव था। सारे नगर में किसी भी बाग-बगीचे का कोई भी चिह्न नहीं पाया गया है। यह भी मालूम होता है कि स्थानाभाव के कारण घरों के साथ बरामदा इत्यादि बनाने की प्रथा नहीं थी। एक ही घर में, ऊपर-नीचे, पृथक्-पृथक् परिवारों के निवास से सिद्ध है कि नगर का सामाजिक जीवन भली-भाँति सुसंगठित था, नहीं तो इस प्रकार परस्पर मिलकर रहना कठिन हो जाता।

यह प्रतीत होता है कि मोहञ्जोदारों के लोग बड़े सादे थे। वे अपने घरों की दीवारों पर, बाहर या भीतर, चूने आदि से पलस्तर नहीं करते थे। दीवारें केवल ईंटों की बनी हुई हैं और गारे से चुनी हुई हैं। केवल चूने से टीप कर दी गयी हैं; पर पलस्तर या लिपाई का चिह्न नहीं मिलता। दीवारें नितान्त सादी हैं, उनपर बेल-बूटे, चित्रकारी इत्यादि अलंकार नहीं हैं; और न दीवारों पर किसी प्रकार की मूर्तियाँ ही हैं।

(ख) मोहनञ्जोदड़ो में जो विशेष गुण है, वह इसकी स्वास्थ्य-सम्बन्धिनी प्रक्रिया है। इस नगर के कर्मचारियों को नगर के स्वास्थ्य का बहुत खयाल था। नगर का स्वाथ्य बहुधा नगर की सफाई पर निर्भर रहता है। यह सफाई बहुत-कुछ नगर की नालियों पर निर्भर है। यदि नगर की नालियाँ गन्दी हैं, उनसे हरदम दुर्गन्ध फैलती रहती है, तो नगर के स्वास्थ्य पर अवश्य ही बुरा प्रभाव पड़ेगा।

मोहञ्जोदारो में पतनालों और नालियों पर विशेष ध्यान दिया जाता था। घरों के पतनाले जो गली की नालियों में गिरते थे खुले नहीं होने पाते थे, वे सब ढके हुए होते थे। जितने भी पतनाले खोदे गये हैं, वे सब के सब ढके हुए हैं। फिर गली की नालियाँ भी खुली नहीं होती थीं। ये नालियाँ भी सबकी सब ढकी

हुई होती थीं। प्रत्येक गली में एक ढकी हुई नाली थी। दोनों तरफ के घरों से इस नाली को छोटी-छोटी नालियों से मिला दिया गया है। ये भी ढकी हुई हैं। प्रत्येक गली की नाली बड़ी नाली में जा गिरती है। ये बड़ी नालियाँ भी ढकी हुई हैं। ये बड़ी नालियाँ एक बड़े नाले में जा गिरती हैं। यह नाला भी ढका हुआ है। उन नालियों को साफ करने के लिए स्थान-स्थान पर गड्ढे रखे गये हैं। उनमें नीचे उतरने के लिए सीढ़ियाँ बनाई गई हैं, जिनसे उतरकर भंगी लोग नालियों की सफाई किया करते थे। इस प्रकार नगर में खुली गंदी दुर्गन्ध से पूर्ण सड़ी नालियों का दृश्य दृष्टिगोचर नहीं होता था, और नगर के स्वस्थ्य की भली-भाँति रक्षा होती थी।

(ग) मोहञ्जोदड़ो के लोगों को स्नान बहुत प्रिय था। प्रत्येक घर में, नीचे ऊपर, दोनों मञ्जिलों में, **स्नान-गृह** बने हुये हैं। इन स्नान-गृहों का फर्श पक्का है और एक तरफ ढालू है, जिससे जल न रहे, तुरत बह जाय। जल ढके हुए पत-नाले के द्वारा नाली में गिरा दिया जाता था। स्नान के इतने प्रेमी होने के कारण जल की बहुत आवश्यकता को पूरी करने के लिए प्रायः प्रत्येक घर में एक छोटा सा गोल कूप बनवाया गया है। यह कूप भी पक्का है। कूप की मण्डेर का पत्थर रस्सी की रगड़ से जगह-जगह घिस गया है। इससे स्पष्ट है कि जल रस्सी द्वारा हाथों से खींचा जाता था। कूप पर बर्तन रखने के स्थान में छोटे-छोटे गड्ढे पड़ गये हैं। इन छोटे-छोटे कूपों के अतिरिक्त गलियों के कोनों पर तथा बड़े बाजार में बड़े-बड़े कूप थे, जो सर्वसाधारण के लिए थे। स्नान के कमरे प्रत्येक घर में पाये जाते हैं। इससे सिद्ध है कि मोहञ्जोदारो के लोग निजी सफाई भी बहुत पसन्द करते थे। बड़े कूप पनघट का काम देते थे। एक पन-घट पर एक पत्थर की बेंच पड़ी है। इस पर बैठकर महल्ले की स्त्रियाँ, अपने-अपने घड़े भरने से पहले, गप्प-शप मारा करती होंगी।

बौद्ध स्तूप के समीप ही एक बड़ा तालाब भी मिला है। यह ३६ फूट लम्बा और २३ फूट चौड़ा है। यह एक विशाल और आलीशान भवन के मध्य में बना है। इस तालाब के चारों तरफ एक पक्का चबूतरा था। चारों कोनों पर परदेदार गोल प्रांगण बने थे। इन प्रांगणों की चारों तरफ पक्की दीवारें थीं, भीतर स्तम्भ थे। तालाब बड़े परिश्रम से बनाया गया था। इसकी दीवारों को बिल्कुल समतल करने के लिए थोड़ा-थोड़ा घिस दिया गया था। तालाब के नीचे का फर्श पक्का है। दोनों तरफ चौड़ी-चौड़ी सीढ़ियाँ पानी तक आती हैं। इन सीढ़ियों पर पाँव रखने के स्थान पर, लकड़ी या धातु के पत्तर जड़े हुए थे। नमी से दीवारों को बचाने के लिए पलस्तर किया गया था।

(घ) मुद्रा—मोहञ्जोदारो में बहुत सी पुरानी वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं—नाना प्रकार के मिट्टी के खिलौने, धातु की मूर्तियाँ, आभूषण, बर्तन, रंग-बिरंगे फूल रखने के गुलदस्ते इत्यादि, पर जो बहुत आवश्यक वस्तु उपलब्ध हुई है, वह है मुद्रा-समूह। मुद्राओं पर कुछ लेख अंकित हैं, जो अभी तक पढ़े नहीं गये हैं। उनके न अक्षर ही पढ़े गये हैं और न भाषा के विषय में ही मतैक्य है। ये मुद्राएँ पत्थर की बनी हैं। इनका आकार भिन्न-भिन्न प्रकार का है। अधिकतर मुद्रायें चौरस हैं। मध्य में एक छिद्र है, जहाँ से वे डोरी में पिरोयी जाती थीं। ऊपर कुछ अक्षर अंकित हैं। नीचे की तरफ किसी जानवर का चित्र है। अधिक मुद्राओं पर एक सींगवाले पशु का चित्र है, जो बैल के सदृश है। किसी-किसी मुद्रा पर छोटी सींगवाले बैल, किसी पर ऊँचे पिंड वाले साँड़, किसी पर गेंड़े, किसी पर भैंसे, किसी पर हाथी और किसी पर बारहसिंहे के चित्र हैं। कितनी ही मुद्राओं पर काल्पनिक पशुओं के भी चित्र हैं। किसी भी मुद्रा पर अश्व का चित्र नहीं मिला है। इससे अनुमान होता है कि मोहञ्जोदारो के लोग अश्व से अनभिज्ञ थे। दो चार ही मुद्राएँ ऐसी हैं, जिन पर मनुष्य का चित्र है। एक चित्र में तो मनुष्य एक वृक्ष पर बैठा है, नीचे घात में एक सिंह बैठा है और मनुष्य क्रोध से उसकी तरफ घूर रहा है।

ये मुद्राएँ बड़े महत्त्व की हैं। इन मुद्राओं के साक्ष्य से ही मोहञ्जोदारो के समय का निर्णय हुआ है। जैसी मुद्राएँ हरप्पा और मोहञ्जोदारो में उपलब्ध हुई हैं; ठीक वैसे ही सुमेर (Sumer) और एलम (Elam) में भी मिली हैं। सुमेर और एलम के समय का निश्चय रूप से ज्ञान है। इससे परिणाम निकलता है कि मोहञ्जोदड़ो सुमेर और एलम के समकालीन है अथवा मोहन-जोदारो ईसा से लगभग ३००० वर्ष पूर्व का है।

(ङ) बच्चों के खिलौने बड़े विचित्र हैं। एक बैल का खिलौना है। इसकी पूँछ हिलाने से सिर भी हिलता है! एक हाथी है, जिसको दबाने से शब्द होता है! पक्षियों के मिट्टी के खिलौने बहुत से मिले हैं। उनमें छिद्र हैं, जिनमें से सीटी बजायी जा सकती है। एक स्त्री की नग्न मूर्ति है। सिर पर पंखे के आकार का कोई वस्त्र है। दोनों कानों पर दो लम्बे कालर जैसे टुकड़े लटकते हैं। गले में कितने ही हार हैं। भुजाओं में कड़े और चूड़ियाँ हैं। कमर में केवल रशनादाम है। एक नृत्य करने वाली स्त्री की धातु की मूर्ति है। सिर के बालों की लटें एक कन्धे पर डाल दी गयी हैं। गले में हँसली पहने

हुये है। वाम हाथ में कलाई से लेकर कंधे तक चूड़ी पहने हुए है। यह मूर्ति भी नग्न है। इसके मुख पर औदासीन्य के भाव हैं। छोटी-छोटी डिब्बियों से लेकर बड़े-बड़े माट भी मिले हैं। प्याला, थाली, चमचा, कलछी आदि भी प्राप्त हुये हैं। इनपर काले, लाल आदि रंगों की अनेक डिजाइनें बनायी गयी हैं। ऊखल, मूसल, चक्की आदि भी मिले हैं। सोने, चाँदी, ताँबे तथा कीमती पत्थरों के हार पाये गये हैं। ताँबे के कितने ही औजार, चाँदी का एक डब्बा (जिसमें आभूषण रखे हुये थे) और रूई का बुना हुआ कपड़ा भी प्राप्त हुआ है। इससे मालूम होता है कि, आज से ५००० वर्ष पहले मोहञ्जोदारो में रूई के कपड़े का प्रयोग होता था।

(च) **धर्म**—इस सभ्यता की धार्मिक भावना की सूचक अनेक मृन्मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं जिनके अध्ययन से उस युग का धार्मिक चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है। मातृ-देवी की पूजा उस युग में होती थी। इनकी सैकड़ों मूर्तियाँ सिन्धु प्रान्त में मिली हैं। ये प्रायः नग्न हैं। केवल कमर के नीचे एक पटका पहिने रहती हैं। आभूषणों से लदी हैं, विशेषतः गले में अनेक हार पहने गये हैं। मातृ-देवी की उपासना उस प्राचीन युग की विशेषता थी जिसका प्रचलन इराक, बेबिलोन आदि प्राचीन देशों में भी था। शिव-पशुपति की भी उपासना उस सभ्यता का एक विशिष्ट अङ्ग था। एक त्रिमुख मूर्ति पशुओं से घिरी हुई मिली है जो शिव का प्रतीक मानी गई है। शिव जी की एक दूसरी मूर्ति ताम्र-पट्ट पर अङ्कित है। इसमें भी शिव योगासन साधे हुए हैं। शिव जी के दोनों ओर घुटनों के बल बैठे हुए दो भक्त हैं। सामने सर्प बैठे हुए हैं। इस प्रकार नागों के साथ शिव जी का सम्बन्ध बहुत ही प्राचीन प्रतीत होता है। पुजारी की एक बहुत ही भव्य प्रस्तर मूर्ति अङ्कित मिली है। यह पुरुष आकृति दाढ़ी पहने हुए है तथा शरीर चादर या दुशाले से ढका हुआ है। ओढ़ने का ढङ्ग आज-कल के समान ही है—बायें कन्धे के ऊपर और दाहिने कन्धे के नीचे। चादर के ऊपर तिनपतिया छाप शोभित होती है। मूर्ति की आँखें अधखुली हैं। वे नासिका के अग्रभाग पर स्थित हैं। ऐसी योगमुद्रा में मूर्तियों की प्राप्ति उस युग की भूयसी विशेषता है।

कला की बहुसंख्यक सामग्री मिली है जिससे उस युग के कला-कौशल की उन्नति पर विशेष प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार उस प्राचीन युग का एक भव्य चित्र हमें इस पुरातन नगर में उपलब्ध हो रहा है।

सिन्धु-सभ्यता की वैदिकता

डाक्टर मार्शल ने 'मोहनजोदड़ों' की खुदाई में मिले हुए पदार्थों का वर्णन अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में किया है। उनकी मान्यता है कि सिन्धु-उपत्यका की सभ्यता वैदिक सभ्यता से प्राचीन तथा स्वतन्त्र है, दोनों में पार्थक्य ही अधिक है, साम्य नहीं। मार्शल की मान्यताओं को अनेक देशी और विदेशी विद्वान् मानते हैं, परन्तु उनकी युक्तियाँ तथा उक्तियाँ प्रमाण से पुष्ट नहीं की जा सकतीं। उनकी युक्तियों का निराकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(क) मार्शल साहब का यह कथन है कि वैदिक आर्य ग्रामीण थे, उन्हें नगर निर्माण का ज्ञान नहीं था, साधारणतः मिट्टी के ही दुर्ग बनते थे, युक्तियुक्त नहीं जँचता। इसके विपक्ष में प्रो० मैक्डानल और प्रो० कीथ की उक्ति ध्यान देने योग्य है—'पुर' शब्द ऋग्वेद में साधारणतः दुर्ग के लिए व्यवहृत हुआ है। ऐसे दुर्ग निश्चय ही विशाल और सुदृढ़ होते होंगे। कहीं-कहीं पत्थरों के दुर्गों का भी उल्लेख मिलता है। कहीं-कहीं लौह-दुर्ग के भी वर्णन हैं; किन्तु सम्भवतः पक्की ईंटों के लिए ही 'आमा' (ऋ० २।३५।६) शब्द प्रयुक्त हुआ है। किसी-किसी स्थल पर सौ दीवारों वाले दुर्गों की भी चर्चा है। (द्रष्टव्य वेदिक इण्डेक्स)।

(ख) मार्शल साहब का मत है कि मोहञ्जोदारो की खुदाई में लोहे की कोई वस्तु नहीं मिली है। ऋग्वैदिक काल की धातुओं में लोहे का नाम नहीं है। यह धातु यजुर्वेद और अथर्ववेद के समय में थी। ऋग्वेद में लोहे के मकान बनते थे, इसका उल्लेख मिलता है; किन्तु यदि इसे काल्पनिक समझ लिया जाय, तो भी इससे तो ऋग्वैदिक काल की सभ्यता और सिन्धु-उपत्यका की सभ्यता में सादृश्य ही सिद्ध होता है, विभिन्नता नहीं। सोना, ताँबा और काँसा जिस प्रकार सिन्धु-सभ्यता में थे, वैसे ही वैदिक सभ्यता में भी। रही चाँदी की बात, सो, यह सिन्धु-उपत्यका के निवासियों द्वारा भी व्यवहृत होती थी और अथर्व तथा यजुर्वेद के समय में भी इससे भिन्न-भिन्न प्रकार के आभूषण आदि बनाये जाते थे। ऋग्वेद में इसका वर्णन नहीं मिलता; इसलिये यह कह देना ठीक नहीं कि उस समय यह धातु थी ही नहीं—विशेषतः जब बाद के वेदों में इस धातु की अच्छी चर्चा मिलती है। ऋग्वेद के पत्थर के बर्तनों का भी तो उल्लेख मिलता है—अधिक या कम ! 'उपल', 'दृषद्' और 'उलूखल' आदि पत्थर के ही बने होते थे। सोमपात्र भी अधिकांशतः पत्थर के ही होते थे; द्रव पदार्थ रखने के लिये 'आसे-कन', डोल (Bucket) के अर्थ में 'आहाव', भोजन बनाने के बर्तन के लिये

'उखा', पानी पीने के बर्तन के लिये 'पात्र' तथा घरेलू बर्तनों के लिये 'पारीणह्य' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये बर्तन किस धातु के बने थे, यह नहीं लिखा है। सम्भव है, यह पत्थर के ही हों। ऋग्वेद में ढेलबाँस (Slingstones)— पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े फेंकनेवाले यन्त्र—का भी उल्लेख मिलता है।

(ग) हथियारों में—धनुष तथा बाण, बर्छे, कृपाण और फरसे (कुल्हाड़ियाँ) सिन्धु-उपत्यका के लोगों में भी थीं और वैदिक लोगों में भी। रही गदा की बात। मोहञ्जोदारो में जो गदा मिली है (जिसका उल्लेख अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहिता में है—ऋग्वेद में नहीं), उसे शस्त्रास्त्र सम्बन्धी उपर्युक्त सादृश्य में विशेष विभिन्नता का स्थान नहीं दिया जा सकता।

(घ) जिस प्रकार सिन्धु निवासी मांसभक्षी थे, उसी प्रकार भारतीय आर्य भी। ऋग्वेद में (भारतीय आर्यों के) मछलियाँ नहीं खाये जाने के पक्ष में कहीं भी उल्लेख नहीं है। ऐसी दशा में निश्चयात्मक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि, ऋग्वैदिक काल में लोग मछलियाँ खाते ही नहीं थे।

(च) खोदाई में गौ और घोड़े की मूर्त्तियाँ न मिलने के कारण ही यह सिद्धान्त स्थिर कर लेना कि सिन्धु निवासियों को इन दो पशुओं का ज्ञान नहीं था—युक्तिसङ्गत नहीं प्रतीत होता। मार्शल साहब ने कहा है कि सिन्धु निवासी घोड़े से बिल्कुल अपरिचित थे और गौओं की जगह वृषभों (साँड़ों) को ही पूज्य समझते थे—यह कथन ठीक नहीं है। 'वृषभ' शब्द, जब वेदों में, इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं के लिये भी प्रयुक्त हुआ है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि वैदिक आर्यों में वृषभ को पूज्य पशु नहीं माना जाता था। बाघ और हाथी के विषय में वैदिक आर्य अपरिचित थे, यह बात भी निर्मूल है। पहले तो जिसे मार्शल साहब ने बाघ का स्वरूप माना है, उसी में काफी सन्देह और मतभेद है। लम्बी-लम्बी लकीरें तो चीता (हाइना) के शरीर पर भी होती हैं। 'किश' (Kish) में इसी प्रकार की एक मुद्रा मिली है। उसमें भी मनुष्य या वृक्ष पाया गया है। 'किश' वाले पशु को, जिसके शरीर पर लम्बी-लम्बी लकीरें हैं, लोगों ने चीता ही माना है। यदि मोहञ्जोदारो वाली मुद्रा में चीता का ही चित्र है, तो इसके अर्थ में ऋग्वेद में 'सालावृक' शब्द प्रयुक्त है (१०।७३।३; १०।९५।१५)। ऋग्वेद में 'बाघ' शब्द का बोधक कोई शब्द नहीं मिलता; तो भी उसके कुछ समय ही बाद के अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहिता में 'व्याघ्र' शब्द कई स्थलों में मिलता है। ऋग्वेद में 'वारण' और 'हस्तिन्' शब्द प्रयुक्त हुए हैं,

जिनका अर्थ 'हाथी' ही है। तैत्तिरीय तथा वाजसनेयी संहिताओं में 'हस्तिप' शब्द मिलता है। एक स्थल पर लिखा भी है कि पालतू हाथियों की सहायता से जङ्गली हाथी पकड़े जाते थे। मैके साहब ने तो एक स्थल पर साफ कह दिया है कि सम्भवतः मोहञ्जोदारो के निवासी हाथी से वैसे परिचित नहीं थे, जैसी हमारी धारणा पहले थी।

(छ) मूर्त्ति-विद्या, मूर्त्ति-निर्माण या मूर्त्ति-पूजा के सम्बन्ध में ऋग्वेद में उतना वर्णन नहीं मिलता, तो भी एक स्थल पर लिखा है कि एक इन्द्र की मूर्त्ति के मूल्य में १० गायें काफी नहीं हैं। मार्शल साहब ने लिखा है कि वेद-कालीन धार्मिक विश्वासों में स्त्रियाँ पुरुषों के सर्वथा अधीन पायी जाती हैं, और वैदिक देवताओं में शिव और शक्ति का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। आश्चर्य है कि उन्होंने क्योंकर समझ लिया कि सिन्धु-सभ्यता में स्त्रियाँ पुरुषों से ऊँची नहीं, तो बराबर थीं—पुरुषों के समान ही उनका अधिकार था। स्त्रियों के विषय में, यदि स्त्री-मूर्तियों की अधिकता के ही बल पर, उनकी यह धारणा बँधी हो, तो यह सर्वमान्य नहीं हो सकती। कारण, इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि स्त्रियाँ पुरुषों में आदरणीया या समानाधिकारिणी समझी जाती थीं। फिर, यदि ऐसी बात हो भी, तो वेदों में भी साधारणतः स्त्रियाँ समान दृष्टि से ही देखी जाती थीं। कहीं-कहीं ऐसी बातें अवश्य हैं, जिनसे स्त्रियों पर पुरुषों का शासन होना जान पड़ता है; किन्तु ऐसे उल्लेख बहुत कम—नाममात्र—हैं; इनपर जोर नहीं दिया जा सकता। मातृदेवी के अर्थ में '-पृथ्वी" नाम कई बार आया है, जिन्हें निखिल भवन की अधिष्ठात्री देवी कहा गया है। "द्यावा-पृथिवी" का स्थान देवता-मण्डल में सर्वोच्च है। 'शिव' के सम्बन्ध में मार्शल साहब का यह कहना कि वैदिक देवतागण में इस देवता का कोई स्थान नहीं था, सर्वथा चिन्त्य है। ऋग्वेदीय 'रुद्र' शब्द 'शिव' के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त एक स्थल (ऋ० १०।९२।९) पर 'शिव' को सर्वहितकारी कहा गया है। उनकी जटाओं के वर्णन में ही 'कपर्दिन्' शब्द आया है (ऋ० १।११४।१–४), जहाँ उन्हें योगी का रूप दिया गया है। 'योग' ऋग्वेदीय आर्यों के लिये कोई अपरिचित शास्त्र नहीं था (ऋ० १०।१३६); वे इस दिशा में पारङ्गत थे। 'योगी' के अर्थ अथवा पर्याय रूप में 'मुनि' शब्द का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में (२।३४।१; ११।२) 'शिव' को पशुपति और सहस्राक्ष कहा गया है, (अ० ११।२।३ और ७)—वे चारों ओर देख सकते थे।

'य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्' में शिव 'पशुपति' शब्द के द्वारा अभिहित किये गये। एक दूसरे मन्त्र में शिव 'सहस्राक्ष' (हजार आँखवाले) कहे गये हैं—

अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना।
रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ॥
(अथर्व ११।२।७)

सम्भवतः मोहञ्जोदारो की एक चतुर्मुखी मुद्रा इसी भाव की द्योतिका है। इस चतुर्मुखी देवता को हम ऋग्वेदीय रुद्र कह सकते हैं। 'मोहनजोदड़ो' में अग्निकुण्ड नहीं मिले हैं। इससे क्या ? वैदिक आर्यों के घर-घर अग्निकुण्ड था, यह बात भी प्रमाणिक नहीं मानी जा सकती। कारण, इस सिद्धान्त की पुष्टि में कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। सम्भव है वैदिक युग के परवर्ती काल में अग्निकुण्ड की अधिकता हो गयी हो।

(ज) शिव की पूजा का प्रचार ऋग्वेद काल के अनन्तर बराबर बढ़ता गया। ऋग्वेद में विष्णु के समान ही रुद्र भी एक साधारण देवता हैं। यजुर्वेद में रुद्र का पद देवमण्डली में ऋग्वेद की अपेक्षा बढ़ कर है। रामायण तथा महाभारत के काल में शिव का दर्जा इतना बढ़ गया कि वह हिन्दू धर्म की त्रिमूर्ति में अन्यतम रूप में प्रतिष्ठित हो गया। इस विकास पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि सिन्धु सभ्यता में शिव की भूयसी प्रतिष्ठा ऋग्वेद से नितान्त अर्वाचीन काल के विकास की द्योतिका है। इससे भी सिन्धु-सभ्यता का वेदोत्तरकालीन होना सिद्ध होता है।

परिशिष्ट ३

वैदिक व्याकरण और स्वरप्रक्रिया

ध्वनियों की उच्चारण-सम्बन्धी विशेषताएँ

स्वरवर्ण

उदात्तादि स्वरों की सत्ता वैदिक भाषा की एक विशेषता है। लौकिक संस्कृत में उदात्तादि स्वरों का महत्त्व नहीं होता, परन्तु वैदिक भाषा में स्वर-वर्णों का उच्चारण उदात्तादि स्वरों में से किसी न किसी के साथ ही होता है। उदात्तादि स्वर स्वर-वर्णों के धर्म हैं। ये संक्षेप में तीन कहे जा सकते हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इनके अतिरिक्त एक प्रचय स्वर भी होता है। ये स्वर प्रायः अर्थ समझने में भी सहायक होते हैं। इनका विस्तार से वर्णन आगे किया जायगा।

मात्रा—स्वरों के उच्चारण में मात्रा का भी विचार होता है। मात्रा उच्चारण का काल बतलाती है। ह्रस्व स्वर-वर्णों का उच्चारण एक मात्रा काल में होता है। 'मात्रा ह्रस्वः'—(ऋ० प्रा० प० १ सू० २७)। दीर्घ स्वर-वर्ण का उच्चारण दो मात्रा काल में होता है। 'द्वे दीर्घः—(ऋ० प्रा० प० १ सू० २९)। प्लुत स्वर-वर्ण का उच्चारण तीन मात्रा काल में होता है। 'तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः'—(ऋ० प्रा० प० १ सू० ३०)। ऋक्-प्रातिशाख्य में 'अधः स्विदासी ३ त्, 'उपरि स्विदासी ३ त्' और 'भीरिव विन्दन्ती ३' ये तीन प्लुत के उदाहरण दिये गये हैं। इन उदाहरणों में क्रिया-पद के अन्तिम स्वर प्लुत हैं।

अनुनासिकीकरण—पद के अन्त में आनेवाले प्रथम आठ स्वर, अर्थात् अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ और ऌ, अवसान (अन्त) में हों तो अनुनासिक हो जाते हैं। जैसे 'इन्द्यो नूनमैत्तँ' (ऋ० १।१।२), 'इन्दवो वामुशन्ति हिँ' (ऋ० १।२।४) (ऋ० प्रा० प० १ सू० ६३), परन्तु यह नियम शाकल-शाखा में नहीं माना जाता। उस शाखा में केवल प्लुत स्वर यदि अवसान में हो तो उसे अनुनासिक किया जाता है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ६४)।

अनुस्वार आदि—ऋक्-प्रातिशाख्य के अनुसार अनुस्वार में स्वर और व्यंजन दोनों के धर्म हैं। इसीलिये इसे स्वर और व्यञ्जन से भिन्न वर्ण माना गया है। 'अनुस्वारो व्यंजनं वा स्वरो वा' (ऋ० प्रा० प० १ सू० ५)। इसका उच्चारण नासिका से होता है। 'नासिक्ययमानुस्वरान्' (ऋ० प्रा० प० १ सू० ४८) । आजकल इसका उच्चारण शुद्ध नहीं होता। 'सिंह' का उच्चारण 'सिङ्ह' किया जाता है। ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार विसर्ग, जिह्वामूलीय और और उपध्मानीय व्यंजन हैं। 'सर्वः शेषो व्यञ्जनान्येव' (ऋ० प्रा० प० १ सू० ६), तथा 'उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः' (ऋ० प्रा० प० १ सू० १०)। विसर्गों के उच्चारण का स्थान कण्ठ माना गया है। 'प्रथमपञ्चमौ च द्वा ऊष्मणाम्' (ऋ० प्रा० प० १ सू० ३९)। इनके उच्चारण में भी आजकल कुछ दोष आ गया है। विसर्गों के अन्त में लोग 'ह' की ध्वनि निकालते हैं। जिह्वामूलीय का उच्चारण जिह्वामूल से (ऋ० प्रा० प० १ सू० ४१) और उपध्मानीय का उच्चारण ओष्ठ से माना गया है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ४७)। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय से विसर्ग भिन्न पदार्थ है। विसर्ग के उच्चारण के बाद मुख खुला रहता है, परन्तु जिह्वामूलीय के बाद गला और उपध्मानीय के बाद ओष्ठ बन्द हो जाते हैं।

व्यञ्जन वर्ण—

लौकिक संस्कृत के सभी व्यञ्जन वर्ण वैदिक संस्कृत में भी हैं। उनके अतिरिक्त 'ळ' और 'ळ्ह' दो व्यञ्जन वैदिक संस्कृत में अधिक हैं। दो स्वरों के बीच में आनेवाला 'ड' 'ळ' हो जाता है। वही 'ड' यदि 'ह' के साथ आवे तो 'ढ' होकर 'ळ्ह' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ५२)। यह विशेषता ऋग्वेद के ही मन्त्रों में पाई जाती है, अथर्व के मन्त्रों में यह परिवर्तन नहीं होता। वहाँ ड तथा ढ अपरिवर्ति रहते हैं। जैसे 'इळा' 'साळ्हा' इन उदाहरणों में 'इ' और 'आ' के बीच में आनेवाला 'ळ' और 'ढ' 'ळ्ह' हो गया है। 'वीड्वङ्ग' और 'मीढ्वान्' का 'ड' और 'ढ' दो स्वरों के बीच न होने से परिवर्तित नहीं होता, परन्तु 'विड्वङ्गः' को यदि अवग्रह के साथ पढ़ा जाय तो उसका भी 'ड्' 'ळ्' हो जाता है। जैसे—'वीळुऽअङ्गः'।

यम—वैदिक भाषा में अननुनासिक स्पर्श-संज्ञक वर्ण ('क' से 'म' तक, वर्गों के पञ्चम वर्णों को छोड़कर) अनुनासिक स्पर्श-संज्ञक वर्ण (वर्गों के पञ्चम वर्ण) के परे रहते अपने-अपने यम हो जाते हैं। जैसे 'पलिक्नीः' में 'क्' के बाद 'न' है, इसलिये उसका उच्चारण 'कँ' होता है, 'मुमुच्महे' में 'च्' के बाद

'म' है, इसलिये उसका उच्चारण 'चूँ' होता है। यमों की संख्या वर्णों के आधार पर बीस है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ५० पर उव्वट-भाष्य), परन्तु वर्गों में स्थान के आधार पर वे चार ही माने जाते हैं। इनका उच्चारण नासिका से होता है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ४८)।

क्रम—वैदिक भाषा में उच्चारण के समय परिस्थिति-विशेष में व्यञ्जन वर्णों को द्वित्व हो जाता है। इस द्वित्व को क्रम कहते हैं। इसके बहुत से नियम और उनके अपवाद ऋक्प्रातिशाख्य में दिए हैं। परिचय के लिए कुछ नियम यहाँ दिये जाते हैं:—

(१) स्वर और अनुस्वार के बाद आनेवाले संयुक्त वर्ण के आदि के व्यञ्जन को द्वित्व हो जाता है, यदि वह विसर्ग के बाद न आया हो; जैसे—आत्त्वा रथं यथोतये (ऋ० ८।६८।१)। यहाँ 'आ' स्वर के बाद आनेवाले 'त्वा' संयुक्त वर्ण के आदि के व्यञ्जन 'त्' को द्वित्व हो गया है। सोमानं स्स्वरणम् (ऋ० १।१८।१)। यहाँ 'न' के अनुस्वार के बाद आनेवाले 'स्व' संयुक्त वर्ण के आदि के व्यञ्जन 'स' को द्वित्व हुआ है। यदि उपर्युक्त व्यञ्जन सोष्म वर्ण हो तो उसका अपने आदि के वर्ण के साथ उच्चारण होता है। जैसे—अब्भ्रातेव पुंसः (ऋ० १।१२४।७)। यहाँ 'अ' स्वर के बाद 'भ्रा' संयुक्त वर्ण है। उसके आदि का व्यञ्जन 'भ्' सोष्म वर्ण है। उसका अपने पूर्व वर्ण 'ब्' के साथ उच्चारण होता है। यहाँ 'पूर्व वर्ण' का अर्थ है अपने वर्ग में अपने पूर्व का वर्ण। पवर्ग में 'ब' पहिले आता है, बाद 'भ'।

(२) स्वर के बाद आनेवाले संयोगादि रेफ के बाद के व्यञ्जन वर्ण को द्वित्व होता है। जैसे—अर्द्ध वीरस्य (ऋ० ७।१८।१६)। यहाँ 'अ' स्वर के बाद के संयोगादि रेफ के बाद के 'ध्' को द्वित्व हुआ है। 'ध' सोष्म है, इसलिये उसका उच्चारण अपने पूर्व वर्ण 'द्' के साथ होता है।

(३) स्वर के बाद आनेवाले संयोगादि 'ल्' के बाद के स्पर्श वर्ण ('क' से 'म' तक) को द्वित्व होता है। 'परं रेफात्' (= ऋ० प्रा० प० ६ सू० ५) जैसे—महत्तदुल्ब्बं स्थविरम् (ऋ० १०।५१।१) यहाँ 'उ' स्वर के बाद के 'ल्' के बाद 'ब' को द्वित्व हुआ है।

(४) ऊष्म वर्ण के बाद आने वाले वर्ग के प्रथम और द्वितीय स्पर्श वर्णों को विकल्प से द्वित्व होता है (ऋ० प्रा० प० ६ सू० ६)। जैसे—प्रास्त्तौदृष्वौजा ऋष्वेभिः (ऋ० १०।१०५।६)। यहाँ ऊष्म वर्ण 'स्' के बाद वर्ग के प्रथम स्पर्श 'त्' को द्वित्व हुआ है। जब द्वित्व नहीं हुआ होता तब 'प्रास्तौदृष्वौजा' होता है।

(५) संयुक्त वर्ण के आदि के अनुपध ऊष्म वर्ण को विकल्प से द्वित्व होता है (ऋ० प्रा० प० ६ सू० ९)। जैसे—ह्ह्वयाम्यग्निम् (ऋ० १।३५।१)। यहाँ 'ह्व' संयुक्त वर्ण है। इसके आदि का 'ह्' अनुपध है, अर्थात् उसके पहिले कोई वर्ण नहीं है। उसे द्वित्व हुआ है। जब द्वित्व नहीं होता तब 'ह्वयाम्यग्निम्' होता है।

(६) ह्रस्व स्वर के बाद आने वाले अथवा 'मा' के बाद आने वाले 'छ' को चाहे वह संयुक्त वर्ण के आदि का हो या न हो, द्वित्व होता है (ऋ० प्रा० प० ६ सू० ३ और १३)। जैसे—उपच्छायामिव धृणेः (ऋ० ६।१६।३८)। यहाँ 'छ' संयुक्त वर्ण के आदि का नहीं है। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासित् (ऋ० १०।१२९।३)। यहाँ 'छ' संयुक्त वर्ण के आदि का है। मा च्छेद्म रश्मीं रिति (ऋ० १।१०९।३)। यहाँ 'मा' के बाद 'छ' को द्वित्व हुआ है। सोष्म वर्ण होने से प्रथम 'छ' का च हो जाता है।

(७) शाकल-शाखा में ये विधान प्रायः नहीं लागू होते (ऋ० प्रा० ६.१४)। आ त्वा रथं यथोतपे (ऋ० ८।६८।१) के स्थान पर आ त्वा रथं यथोतये ही होता है (द्र० उक्त सूत्र पर उव्वट का भाष्य)।

स्वरभक्ति—स्वर के बाद आने वाले रेफ से परे यदि व्यञ्जन हो तो रेफ से ऋकार-वर्णा स्वरभक्ति उत्पन्न होती है (ऋ० प्रा० प० ६ सू० ४६)। यह रेफ और व्यञ्जन के बीच होती है। स्वरभक्ति का अर्थ है स्वर-प्रकार (ऋ० प्रा० प० १ सू० ३२ पर उव्वट-भाष्य)। यह दो प्रकार की होती है—द्राघीयसी और ह्रस्वा। जिस स्वरभक्ति के बाद श, ष, और ह आवे वह द्राघीयसी कहलाती है (ऋ० प्रा० प० ६ सू० ४८)। जैसे—यद्यद् कर्हि कर्हि चित् (ऋ० ८।७३।५)। यहाँ रेफ से स्वरभक्ति उत्पन्न होती है और उसके बाद 'ह' है, अतः यह द्राघीयसी स्वरभक्ति है। यदि स्वरभक्ति के बाद श, ष, स और ह को द्वित्व हुआ हो तो उनके पूर्व की स्वरभक्ति ह्रस्वा होती है। जैसे—वर्ष्ष्यान् (ऋ० ५।८३।२)। यहाँ रेफ के बाद 'ष्' है। उसे द्वित्व हुआ है। अतः उसके पूर्व के रेफ से उत्पन्न होने वाली स्वरभक्ति ह्रस्वा है श, ष, स, और ह को छोड़कर अन्य किसी भी वर्ण के पहिले की स्वरभक्ति ह्रस्वा होती है। जैसे—अर्चन्त्यर्क-मर्किणः (ऋ० १।१०।१)। यहाँ स्वरभक्ति के बाद 'च' और 'क' वर्ण हैं। अतः यह स्वरभक्ति ह्रस्वा है। द्राघीयसी स्वरभक्ति के उच्चारण का काल अर्ध-मात्रा है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ३३); ह्रस्वा स्वरभक्ति का उच्चारण काल पाद-मात्रा है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ३५)। स्वरभक्ति जिस व्यञ्जन से उत्पन्न होती है उस व्यञ्जन के सहित वह पूर्व स्वर का अंग होती है।

अभिनिधान——वर्णों का संधारण और श्रुति का संवरण अभिनिधान कहलाता है (ऋ० प्रा० प० ६ सू० १७)। यह उच्चारण की स्पष्टता के लिये संयुक्त वर्णों का विच्छेद है। यह संधि-कार्य हो जाने पर स्पर्श वर्ण और रेफ को छोड़ कर अन्तस्थ वर्ण को दूसरा स्पर्श वर्ण परे रहते होता है। जैसे—अर्वाग् देवा अस्य (ऋ० १०।१२९।६)। यहाँ 'अर्वाक्' के 'क्' को 'ग्' करना संधि-कार्य है। उसके हो जाने पर 'ग्' को 'ग्दे' संयुक्त वर्ण से तोड़ कर अलग कर लिया गया है। 'ग्' और 'दे' के बीच सूक्ष्म विराम है। वही 'ग्' पर अभिनिधान है। उसके कारण 'ग्दे' संयुक्त वर्ण का उच्चारण सुनकर हो जाता है। उप मा षड् द्वाद्वा (ऋ० ८।६८।१४) यहाँ 'ड्' पर अभिनिधान है। उल्कामिव' और 'दधिक्रावृणः' में क्रमशः 'ल्' और 'व्' पर अभिनिधान है। शाकल-शाखा में यदि 'ल्' के बाद ऊष्म वर्ण आवे तो तो 'ल्' पर अभिनिधान होता है। जैसे—वनस्पते शतवल्शः (ऋ० ३।८।११)। यहाँ 'श' ऊष्म वर्ण पर रहते 'ल्' पर अभिनिधान है। स्वरभक्ति के ज्ञान के लिये अभिनिधान को अच्छी तरह समझना आवश्यक है।

व्यूह और व्यवाय—छन्दों के किसी चरण में वर्ण की कमी पड़ने पर पूर्ति (संपद्) के लिये एकाक्षरीभावापन्न संधियों को तोड़ कर दो वर्ण बना लिये जाते हैं। इस प्रक्रिया को व्यूह कहते हैं। व्यूह का अर्थ है पृथक्-करण। जैसे-प्रेता जयता नरः (ऋ० १०।१०३।१३)। यहाँ 'प्रे' में 'अ' और 'इ' का एकीभाव है। इसे तोड़कर 'प्रइता' पढ़ने से छन्द की पूर्ति हो जाती है। क्षैप्र वर्ण (य्, व्, र्, ल्) वाले संयोगों मे छन्द की पूर्ति के लिये व्यवाय करना चाहिये। व्यवाय का अर्थ है व्यवधान। क्षैप्रवर्ण से सम्बद्ध उसके पूर्व व्यञ्जन को अलग करके समान स्वर के साथ पढ़ना चाहिये। ऐसा करने से एक वर्ण बढ़ जाता है और छन्द की कमी पूरी हो जाती है। जैसे—त्र्यम्बकं यजामहे (ऋ० ७।५९।१२)। यहाँ 'त्र्य' में 'य' क्षैप्र वर्ण है। उसके साथ 'त्र्' का संयोग है। ऐसे स्थान पर 'त्र्' को अलग करके 'य' के समान स्थान वाले स्वर 'इ' के साथ 'त्रियम्बकं' पढ़ना चाहिये। कुछ आचार्यों का मत है कि व्यवाय केवल 'य' और 'व' के संयोग में ही करना चाहिये; 'र' और 'ल' के संयोग में नहीं। इस विषय में और भी मतभेद हैं। उनके लिये ऋक्-प्रातिशाख्य देखना चाहिये।

—•—

सन्धि-प्रकरण

स्वरसंधि

वैदिक भाषा में सन्धि के नियम प्रायः वही हैं जो लौकिक संस्कृत में। कुछ ही नियम नये हैं। कुछ सन्धियाँ वही होने पर भी उनके पारिभाषिक नाम भिन्न हैं। उन नामों को भी जानना चाहिये।

वैदिक व्याकरण में दीर्घसन्धि, गुणसन्धि और वृद्धिसन्धि को 'प्रश्लिष्ट' सन्धि कहते हैं। लौकिक भाषा की यण् सन्धि को क्षैप्र सन्धि कहते हैं। पद के अन्त के 'ए' और 'ओ' के बाद आने वाले पादादि 'अ' का पूर्वरूप हो जाता है। जैसे—सुगं तत्ते तावकेभ्यो रथेभ्योऽग्ने (ऋ० १।९४।११); दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषेऽग्ने (ऋ० १।९४।११)। इस सन्धि को अभिनिहित सन्धि कहते हैं। इस सन्धि के कई नियम और अपवाद ऋक्प्रातिशाख्य में दिये हैं।

'ऐ' और 'औ' के बाद यदि कोई स्वर आवे तो उनके स्थान पर 'आ' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० २ सू० २५)। जैसे—सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ (ऋ० १।२४।८)। यहाँ 'वै' का 'वा' हो गया है। उभा उ नूनम् (ऋ० १०।१०६।१)। यहाँ 'भौ' का 'भा' हो गया है। इनको पदवृत्ति सन्धि कहते हैं।

'ए' और 'ओ' के बाद यदि कोई स्वर आवे तो उनके स्थान पर 'अ' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० २ सू० २८)। जैसे—अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः (ऋ० ५।४६।२)। यहाँ 'अग्ने' का 'ग्न' हो गया है। वाय उक्थेभिर्जरन्ते (ऋ० १।२।२)। यहाँ 'यो' का 'य' हो गया है। इन सन्धियों को उद्ग्राह संधि कहते हैं। यदि उद्ग्राह संधि में परवर्ती स्वर दीर्घ हो तो उसे उद्ग्राहपदवृत्ति कहते हैं। जैसे—क ईषते तुज्यते (ऋ० १।८४।१७) यहाँ 'के' का 'क' हो गया। उसके बाद दीर्घ 'ई' है। यदि उद्ग्राह संधि के फलस्वरूप 'ओ' और 'औ' के स्थान पर होनेवाले 'अ' और 'आ' के बाद कोई ओष्ठ्य स्वर हो तो दोनों के बीच 'व्' का आगम होता है। इस सन्धि को भुग्न संधि कहते हैं। कुछ परिवर्तन के साथ इन नियमों का पाणिनि ने 'एचोऽयवायवः' (अष्टा० ६।१।७८) और 'लोपः शाकल्यस्य (अष्टा० ८।३।१९) के द्वारा उपदेश किया है।

प्रकृतिभाव

संधि संभव होने पर भी उसका न होना 'प्रकृतिभाव' कहलाता है। प्रकृतिभाव का शब्दार्थ है जैसा है-वैसा रहना। इसके कुछ नियम तो वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं में समान हैं। 'ई' 'ऊ' और 'ए' अन्तवाले द्विवचनों को

स्वर परे रहते प्रकृतिभाव होता है। जैसे—इन्द्रवायू इमे सुताः (ऋ० १।२।४) यह नियम लौकिक संस्कृत में तथा ऋषिदृष्ट संहिता पाठ में समान रूप से चलता है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ७१ तथा प० २ सू० ५२)। ऐसे नियमों के अतिरिक्त वैदिक भाषा में प्रकृतिभाव करनेवाले कुछ विशेष नियम भी हैं :—

(१) तीन वर्णों वाले ईकारान्त द्विवचनों को 'इव' परे रहते संहिता में प्रकृतिभाव नहीं होता। जैसे—दम्पतीव क्रतुविदा (ऋ० प्रा० प० २ सू० ५५), परन्तु 'बृहती इव' अपवाद है। (ऋ० प्रा० प० २ सू० ७४)।

(२) किसी को पुकारते समय पद के अन्त में आनेवाले 'ओ' को इतिकरण में तथा ऋषि-निर्मित संहिता-पाठ में प्रकृतिभाव होता है। जैसे—इन्दो इति (ऋ० प्रा० प० १ सू० ६८ तथा प० २ सू० ५१)

स्वतन्त्र पद के रूप में आनेवाले 'ओ' को भी इतिकरण में तथा संहिता-पाठ में प्रकृतिभाव होता है। जैसे—प्रो इति; प्रो अयासीदिन्दुः (ऋ० प्रा० प० १ सू० ६९, प० २ सू० ५१ और ५२)।

(३) अस्मे, युष्मे, त्वे, अमी इन पदों को प्रकृतिभाव होता है। जैसे—अस्मे आ वहतं रयिम्; त्वे इद्धयते हविः। (ऋ० प्रा० प० १ सू० ७३ तथा प० २ सू० ५२)।

(४) 'उ' को इतिकरण में प्रकृतिभाव होता है। जैसे—ऊँ इति। (ऋ० प्रा० प० १ सू० ७५ तथा प० २ सू० ५१)।

(५) यण्-संधि से उत्पन्न होनेवाले 'य' अथवा विवृत्ति के बाद के 'उ' को प्रकृतिभाव होता है। जैसे—प्रत्यु अदर्शि। यहाँ वस्तुतः 'प्रति उ अदर्शि' है। 'ति' के इकार को यण्-सन्धि होकर 'प्रत्यु हुआ है। अतः 'यु' के बादवाले 'उ' को प्रकृतिभाव हुआ है। अभूद् भा उ अंशवे। यहाँ 'भा' और 'उ' के बीच विवृत्ति है। अतः 'उ' को प्रकृतिभाव हुआ है और इसीलिए उसकी 'अ' से सन्धि नहीं हुई है।

ऋक्-प्रातिशाख्य में प्रकृतिभाव के बहुत नियम दिये हैं। प्रकृतिभाव होने पर दो स्वरों के बीच के अन्तर को 'विवृत्ति' कहते हैं (ऋ० प्रा० प० २ सू० ३)। विवृत्ति का काल स्वरभक्ति के काल के बराबर या उससे कुछ अधिक होता है। (ऋ० प्रा० प० २ सू०)। स्वरभक्ति दो प्रकार की होती है—ह्रस्वा और द्राघीयसी। ह्रस्वा स्वरभक्ति का काल पादमात्रा और द्राघीयसी का अर्ध-

मात्रा होता है—यह पहिले कहा जा चुका है। विवृत्ति यदि दो ह्रस्व स्वरों के बीच हो तो उसका काल पादमात्रा और यदि एक ह्रस्व और एक दीर्घ स्वर के बीच हो तो उसका काल अर्धमात्रा होता है। दो दीर्घ स्वरों के बीच की विवृत्ति का काल पौन मात्रा होता है।

विसर्ग सन्धि

वैदिक और लौकिक भाषा में विसर्ग सन्धि के सामान्य नियम प्रायः एक ही हैं। वैदिक भाषा के कुछ विशेष नियम हैं। उनका सारांश नीचे दिया जाता है।

(१) ह्रस्व या दीर्घ स्वर के बाद का विसर्ग स्वर या घोषवत्-संज्ञक वर्ण (वर्गों के प्रथम दो वर्णों को छोड़कर बाकी सब व्यञ्जन, ह और य, र, ल, व,) परे रहते रेफ हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० २७)। जैसे—प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे। यहाँ 'प्रातरग्निं' में ह्रस्व स्वर के बाद वाले विसर्ग की स्वर परे रहते 'र' हुआ है। शं नो देवीरभिष्टय—यहाँ दीर्घ स्वर के बादवाले विसर्ग को स्वर परे रहते 'र्' हुआ है। प्रातर्मित्रावरुणा—यहाँ ह्रस्व स्वर के बादवाले विसर्ग को घोषवत् वर्ण परे रहते 'र्' हुआ है। अश्वावतीर्गोमतीर्नः—यहाँ दीर्घ स्वर के बाद वाले विसर्ग को घोषवत्-वर्ण परे रहते 'र्' हुआ है।

(२) विसर्ग के बाद 'क' या 'ख' आवे तो वह विकल्प से जिह्वामूलीय हो जाता है। जैसे—य≍ ककुभो निधारयः; यः ककुभो निधारयः। इसी तरह यदि विसर्ग के बाद 'प' या 'फ' आवे तो वह विकल्प से उपध्मानीय हो जाता है। जैसे—य≍ पञ्च चर्षणीरभि; यः पञ्च चर्षणीरभि। (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ३३)।

(३) एक पाद में विग्रह में आया हुआ अकारपूर्व विसर्ग दो अक्षर वाले पुरुषवाचक 'पति' शब्द परे रहते 'स्' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ४२)। जैसे—उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते; वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्।

(४) वास्तोः शब्द का विसर्ग 'पति' शब्द परे रहते 'स्' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ४६)। जैसे—वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणा।

(५) आकारपूर्व विसर्ग करं, कृतं, करत्, कर् परे रहते तथा पदान्तप्राप्त परि रहते 'स्' हो जाता है। जैसे—अहं न्यन्यं सहसा सहस्करम्; सोमं न चारु मघवत्सु नस्कृतम्; उरुकृदुरु णस्कृधि; कुविन्नो वस्यसस्करत्; नि काव्या वेधसः शश्वतस्कः; तदुत्तानपदस्परि।

(६) इळायाः, गाः, नमसः, देवयुः, द्रुहः, मातुः, इळः—इन शब्दों के विसर्ग को 'पद' शब्द परे रहते 'स्' हो जाता है (ऋ० प्रा० पा० ४ सूत्र ४९)। जैसे—इळायास्पदे सुदिनत्वे अह्लाम्; य ऋते चिद् गास्पदेभ्यो दात्; उपो एनं जुजुषुर्नमसस्पदे। प्रवोऽच्छा रिरिचे देवयुष्पदम्; मा न स्तेनेभ्यो ये अभि द्रुहस्पदे; मातुष्पदे परमे अन्ति षद्गोः; इळस्पदे समिध्यसे। विश्वतः, वीळितः, रजः—इन शब्दों के विसर्ग को 'स्' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ५४)। जैसे—गिरिर्न विश्वतस्पृथुः; पतिर्दिवः; रध्रचोदः श्नथनो वीळितस्पृथुः; वि यामेषि रजस्पृथु।

(७) यदि विसर्ग से नत या अनत ऊष्म वर्ण परे हो और उसके बाद कोई अघोष-संज्ञक वर्ण (वर्गों के प्रथम और द्वितीय वर्ण तथा श, ष, स, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और अनुस्वार) आता हो तो विसर्ग का लोप होता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ३६)। जैसे—समुद्र स्थः कलशः सोमधानः, यहाँ 'द्र' के बाद के विसर्ग का लोप हुआ है 'स्' ऊष्म वर्ण परे रहते। 'स्' के बाद 'थ' अघोष वर्ण का उदय हुआ है। प्र व स्पळक्रन् सुवि-ताय दावने—यहाँ 'व' के बाद के विसर्ग का लोप हुआ है 'स्' ऊष्म वर्ण परे रहते। 'स्' के बाद 'प' आघोष वर्ण का उदय हुआ है। ये दोनों उदाहरण 'अनति' के हैं। दन्त्य 'स्' का मूर्धन्य 'ष्' होना नति कहलाता है। कः स्विद् वृक्षो नि ष्ठितः—यहाँ 'निः' के विसर्ग का लोप हुआ है। 'स्' को 'ष्' होने से यहाँ 'नति' है।

व्यञ्जन संधि

(१) पदान्त के 'म्' के बाद पदादि य्, व्, ल् परे रहते 'म्' के स्थान पर यँ, वँ, लँ हो जाते हैं। (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ७) जैसे—यय्यँय्युँजं कृणुते; भद्रैषाल्लँक्ष्मीः; तव्वँ इंद्रं न सुक्रतुम्। इन उदाहरणों में यम्, षाम् और तम् के 'म्' को य, ल, व परे रहते क्रमशः यँ, लँ, वँ हो गया है।

(२) पदान्त के 'म्' के बाद यदि असवर्ण स्पर्श वर्ण आवे तो 'म्' के स्थान पर आगे आनेवाले स्पर्श वर्ण का सवर्ण पञ्चम वर्ण हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ६)। जैसे—यङ् कुमार नवं रथम्, अहञ्च त्वञ्च वृत्रहन्, तन्ते माता परि योषा जनित्रा। इन उदाहरणों में यम्, त्वम्, तम् के 'म्' को क, च और त परे रहते क्रम से ङ्, ञ् और न् हो गया है।

नकार-विकार

'आ' के बाद आनेवाला 'न्' चाहे वह पदान्त का हो चाहे अपदान्त का, स्वर परे रहते लुप्त होता है और उसके पूर्व का 'आ' सानुनासिक (आँ) हो जाता है। जैसे—महाँ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्राः; पोवोअन्नाँ रयिवृधः;

दधन्वाँ यः; जुजुर्वाँ यः; स्ववाँ यातु, ददाँ वा इन पाँच उदाहरणों में 'आ' के बाद 'न्' का 'य', 'र' परे रहते लोप होता है और पूर्व का 'आ' सानुनासिक (आँ) हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ६७, ६८ और ८०)।

हतम्, योनौ, वचोभिः, यान्, युवन्यून्, वनिपीष्ट—इनके परे रहते 'ई' और 'ऊ' के बाद का 'न' 'ईँर्' 'ऊँर्' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ६९ और ८०)। जैसे—उत्पर्णीँहतमूर्म्या मदन्ता; वि दस्यूँर्योनावतः इत्यादि।

'ई' और 'ऊ' के बाद के न् का, स्वर परे रहते, 'ईँर्' 'ऊँर्' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ७० और ८०)। जैसे—परिधीँरति ताँ इहि; अभीशूँरिव सारथिः। यह नियम पाद के भीतर की अवस्था के लिये है।

'दस्यूँरेकः' में पादान्त के 'न्' को उत्तर पाद के आरम्भ का एकः पद परे रहते 'ऊँर्' हुआ है। 'नॄँरभि' में ऋकार के बाद के 'न्' को 'अभि' परे रहते 'ॠँर्' है। ये दो विशेष उदाहरण हैं (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ७१ और ८०)।

शब्द-रूप

लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक भाषा शब्दरूपों की दृष्टि से अधिक सम्पन्न है। इस भाषा में एक-एक विभक्ति के प्रत्येक वचन में शब्दों के अनेक रूप बनते हैं। लौकिक संस्कृत के शब्दरूप तो इस भाषा में चलते ही हैं, इस भाषा के कुछ विशेषरूप भी होते हैं।

वैदिक भाषा में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त शब्दों के अन्त में 'आः' और 'आसः' दोनों आते हैं। जैसे—ब्राह्मणासः, पितरः, सोम्यासः। 'ते अज्येष्ठा अकनिष्ठासः' (ऋग० ५।५९।६); आज्जसेरसुक् (अष्टा० ७।१।५०)। तृतीया विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त शब्दों के अन्त में 'ऐः' और 'एभिः' आते हैं। जैसे—'आदित्यैर्यातमश्विना' (ऋ० ८।३५।१३); अंगिरोभिरागहि यज्ञियेभिः' (ऋ० १०।१४।५)।

षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में 'श्री' और 'ग्रामणी' शब्दों के अन्त में 'नाम्' आता है। जैसे—श्रीणामुदारो धरुणो रयिणाम्, सूतग्रामणीनाम्। श्रीग्रामण्योश्छन्दसि (अष्टा० ७।१।५६)। ऋक्पाद के अन्त में वर्तमान 'गो' शब्द के षष्ठी विभक्ति के बहुवचन के रूप के अन्त में 'नाम्' आता है। जैसे—विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम्। कभी-कभी केवल 'आम्' भी आता है। जैसे—हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्। (गोः पादान्ते: पा० अष्टा० ७।१।५७)। षष्ठ्यन्त शब्द के बाद प्रयुक्त 'पति' शब्द का रूप तृतीया के एकवचन में 'पतिना' भी बनता है। जैसे—क्षेत्रस्य पतिना वयम्। (षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा, अष्टा० १।४।९)।

उपर्युक्त नियम शब्दरूप बनाने के विशेष नियमों के उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त शब्दरूप बनाने के कुछ साधारण नियम भी हैं :—

(१) किसी शब्द के किसी विभक्ति के किसी वचन के स्थान पर उस शब्द के प्रथमा के एकवचन का प्रयोग हो सकता है। जैसे—अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थाः। ऋग्वेद में 'पन्थाः' पथिन् का बहुवचन रूप है।

(२) किसी मूल शब्द का उसके किसी विभक्ति के किसी वचन के स्थान पर प्रयोग हो सकता है। जैसे—आर्द्रे चर्मन्। यहाँ 'चर्मणि' के स्थान पर 'चर्मन्' का प्रयोग किया गया है। यह शून्यविभक्तिक पद का दृष्टान्त है।

(३) स्वरान्त शब्दों के अन्तिम स्वर को दीर्घ करके उसका उसकी किसी विभक्ति के किसी वचन के स्थान पर प्रयोग हो सकता है। जैसे—'धीत्या' के स्थान पर 'धीती' का प्रयोग अथवा 'मत्या' के स्थान पर मती का प्रयोग। विभक्तिलोप कर वर्णान्त को दीर्घ बनाने की यह वैदि प्रक्रिया है।

(४) कभी-कभी शब्दों में विभक्ति के स्थान पर 'आ', 'आत्', 'ए', 'या', 'ई' जोड़े जाते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपर्युक्त नियमों का एक ही सूत्र में संग्रह है—सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (अष्टा० ७।१।३९)

कारकों के प्रयोग में अन्तर

वैदिक भाषा में 'हु' धातु का कर्म तृतीया और द्वितीया दोनों विभक्तियों में रखा जा सकता है। जैसे—यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति। यहाँ यवागू भी 'जुहोति' का कर्म है। तद्वाचक शब्द तृतीया विभक्ति में रखा गया है। तृतीया च होश्छन्दसि (अष्टा० २।३।३)।

वैदिक भाषा में कभी-कभी चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी और षष्ठी के स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग होता है। जैसे—गोधाकालकादार्वाघाटास्ते वनस्पतीनाम्। यहाँ 'वनस्पतीभ्यः' के स्थान पर 'वनस्पतीनाम्' आया है। अहल्यायै जारः—यहाँ अहल्ययाः' के स्थान पर 'अहल्यायै' आया है। चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि (अष्टा० २।३।६२) तथा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या (पूर्व सूत्र पर वार्तिक)।

यज् धातु का करण षष्ठी और तृतीया दोनों विभक्तियों में रखा जा सकता है। जैसे—घृतस्य घृतेन वा यजते। यजेश्च करणे (अष्टा० २।३।६३)।

समास

वैदिक भाषा में दो या चार पदों से अधिक समासान्त पद नहीं मिलते। इनमें भी तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुव्रीहि तथा द्वन्द्व समास ही पाये जाते हैं, द्वन्द्व समास के दो प्रकार की प्रक्रिया है—(क) दोनों पद विशेषण होते हैं जैसे नीललोहित, ताम्रधूम्र आदि आदि। (ख) देवता-द्वन्द्व है जिसके प्रत्येक पद द्विवचनान्त होते हैं, जैसे मित्रावरुणा, सूर्याचन्द्रमसा, परन्तु परवर्ती ऋचाओं में ये रूप लुप्त होने लगे हैं।[1] ऋग्वेद में अकारान्त पुलिंग के द्विवचन का प्रत्यय 'आ' है। फलतः 'मित्रावरुणा' पद में दोनों ही पद अलग-अलग द्विवचन हैं। बहुव्रीहि के अनेक प्रकार हैं—(क) पूर्वपद विशेषण—उग्रबाहु, हतमातृ, रुशद्वत्स (चमकनेवाले बछड़े वाली), सुपर्ण आदि इसके उदाहरण हैं। (ख) पूर्व पद षष्ठ्यन्त या सप्तम्यन्त पद होता है। यह अलुक् समास है जिसमें विभक्ति का लोप नहीं होता। 'रायस्काम' (धन की कामना वाला) 'दिवियोनि' (स्वर्ग में उत्पत्ति वाला), 'भासा केतु' (प्रकाश से पहचानने योग्य), 'त्वांकाम' (तुमको चाहने वाला) इस प्रभेद के दृष्टान्त हैं। यहाँ पूर्वपद की विभक्ति प्रतिष्ठित रखी गई है। (ग) अन्य पदार्थ प्रधान होने से विशिष्ट संज्ञाओं के अभाव में इनका प्रयोग होता है। जैसे 'बृहदुक्थ' (बड़ी स्तुति वाला ऋषि), 'बृहद्दिव' (बड़े स्वर्ग में रहनेवाला) ये ऋषियों के वाचक पद हैं। इसी प्रकार अन्य समासों के भी प्रकार वेदों में उपलब्ध होते हैं।

सामान्यतः द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में समस्त शब्द का लिंग परवर्ती शब्द के लिंग के समान होता है, परन्तु वैदिक भाषा में हेमन्त और शिशिर शब्दों का द्वन्द्व समास करने पर समस्त शब्द का लिंग पूर्वशब्द के समान

---

1. वाकरनागेल—आल्तिंदिशे ग्रामातीक, भाग १, पृ० १०१।

होता है। जैसे—हेमन्तश्च शिशिरश्च हेमन्त-शशिरौ। यहाँ पूर्व शब्द 'हेमन्त' पुल्लिङ्ग है। समस्त शब्द का लिङ्ग उसी के समान हुआ है। लौकिक संस्कृत में हेमन्तशिशिरे होता है। अहन् और रात्रि शब्दों के द्वन्द्व समास में भी समस्त शब्द का लिंग पूर्वशब्द के अनुसार होता है। जैसे—अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रे। हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि (अष्टा० २।४।२८)।

पितृ शब्द और मातृ शब्द का द्वन्द्व समास करने पर वैदिक भाषा में 'पितरामातरा' रूप बनता है। वैदिक साहित्य में 'मातरापितरा' का भी प्रयोग मिलता है। पितरामातरा च छन्दसि (अष्टा० ६।३।३३)।

धातुरूप और लकार

धातुरूप लकारों के प्रयोग की दृष्टि से भी वैदिक भाषा लौकिक भाषा की अपेक्षा अधिक सम्पन्न है। वैदिक भाषा में लौकिक संस्कृत के दश लकारों के अतिरिक्त लेट् लकार का भी प्रयोग होता है। लौकिक संस्कृत में इनका प्रयोग नहीं होता। लेट् का प्रयोग लिङ् के अर्थों में होता है। लिङर्थे लेट् (अष्टा० ३।४।७)। अर्थात् विधि, निमन्त्रण आदि और हेतु-हेतुमद्भावादि लिङ् के सब अर्थों में वैदिक भाषा में लिङ् और लेट् दोनों का प्रयोग होता है।

लेट् प्रकार (Subjunctive mood)

लेट् लकार में धातु के अनेक प्रकार के रूप बनते हैं। कभी-कभी लेट् के रूप में धातु के बाद 'इस्' आता है और उसका 'इष्' हो जाता है। जैसे—जोतिषत् तारिषत्, मंदिषत् इत्यादि। जब 'इस्' नहीं आता तब 'पताति', 'च्यावयाति', 'भवाति' इत्यादि रूप बनते हैं। सिब्बहुलं लेटि (अष्टा० ३।१।३४) तथा आर्द्धधातुकस्येड् वलादेः (अष्टा० ७।२३।५)।

लेट् के रूप में 'स्' आने पर कभी-कभी धातु के प्रथम स्वर की वृद्धि होती है। जैसे—तारिषत्। यहाँ प्रथम स्वर को वृद्धि हुई है। मन्दिषत्—यहाँ प्रथम स्वर को वृद्धि नहीं हुई है।

लेट् के परस्मैपद के रूप में कभी-कभी विभक्ति के 'इ' का लोप हो जाता है। जैसे—तारिषत्, मन्दिषत्। इन उदाहरणों में विभक्ति के 'इ' का लोप हो गया है। भवाति, यजाति—यहाँ विभक्ति के 'इ' का लोप नहीं हुआ है। इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (अष्टा० ३।४।९७)

लेट् के रूप में कभी-कभी विभक्ति के पूर्व 'अ' या 'आ' आता है। जैसे—तारिषत्। यहाँ 'त्' के पूर्व 'अ' है। भवाति इस उदाहरण में 'ति' के पूर्व 'आ' है। लेटोऽडाटौ (अष्टा० ३।४।९४)।

लेट् के उत्तम पुरुष के रूप में पद के अन्त के विसर्ग का विकल्प से लोप होता है। जैसे—करवाव, करवावः। एक रूप में विसर्ग का लोप हुआ है, दूसरे में नहीं। स उत्तमस्य (अष्टा० ३।४।९८)।

लेट् के आत्मनेपद के रूप में प्रथम और मध्यम पुरुष के द्विवचन के अन्त में क्रमशः 'ऐते' और 'ऐथे' आते हैं। जैसे—मन्त्रयैते, मन्त्रयैथे। पहिला प्रथम पुरुष का द्विचन है और दूसरा मध्यम पुरुष का द्विचन है। आत ऐ (अष्टा० ३।४।९५)। लेट् के आत्मनेपद के प्रथम और मध्यम पुरुष के द्विवचनों को छोड़कर अन्य रूपों मे अन्त के 'ए' को विकल्प से 'ऐ' हो जाता है। जैसे—ईशै, गृह्यान्तै इत्यादि। वैतोऽन्यत्र (अष्टा० ३।४।९६)।

'लेट्' (सबजंक्टिभ मूड) का प्रयोग दो अर्थों में होता है—(क) उपसंवाद=प्रतिज्ञा, जैसे यदि तुम यह काम करोगे, तो मैं तुम्हें अभीष्ट वस्तु दूँगा। (ख) आशंका=सम्भावना ('उपसंवादाशङ्कयोश्च' अष्टा० ३।४।८)। विधिलिङ् का प्रयोग सम्भावना के ही अर्थ में प्रधानतया होता है, परन्तु लेट् संकेत करता है इच्छा जिसके कारण किसी कार्य का सम्पादन सुगम हो जाता है। ऋग्वेद के एतत्-प्रयोगों के तुलनात्मक अध्ययन से यह भेद स्पष्ट हो जाता है। वक्ता के सामर्थ्य के भीतर ही किसी कार्य का सम्पादन है—इस अर्थ की सूचना लेट् के उत्तम पुरुष के द्वारा दी गई है। कार्य वक्ता के सामर्थ्य के बाहर है और उसका सम्पादन सम्भावना कोटि में ही है—इस अर्थ की सूचना विधिलिङ् के द्वारा दी जाती है।[1] यथा—'प्रणु वोचा सुतेषु वाम्' (५।६९।१) वक्ता की इच्छा का स्पष्ट द्योतक है। 'हनो वृत्रं जया अपः' (१।८०।३) में मध्यम पुरुष-प्रयुक्त यह क्रियापद वृत्र को मारने तथा जल को जीतने के लिए प्रेरणा का अर्थ रखता है। यह प्रायः लोट् के मध्यम पुरुष के संग में प्रयुक्त होता है—अग्ने शृणुहि, देवेभ्यो ब्रवसि (१।१३९।७)। प्रश्नसूचक या निषेधार्थक प्रधान वाक्यों में इसका बहुत प्रयोग मिलता है—न दभाति तस्करः। कथा महे रुद्रियाय ब्रवाम (५।४१।११)।

१. मैकडोनल—वेदिक ग्रामर फार स्टूडेन्ट्स§२१५ c, पृ० ३५२।

इन्जंक्टिभ मूड (Injunctive mood)

पश्चिमी विद्वानों ने सब्जंक्टिभ मूड के अतिरिक्त वेद में इनजंक्टिभ मूड नामक नवीन क्रिया-पदों की सत्ता मानी है। मेरी दृष्टि में यह हमारे यहाँ 'लेट्' के भीतर ही गतार्थ है। दोनों के रूप तथा अर्थ में अन्तर बहुत थोड़ा है। इनजंक्टिभ सामान्यतः किसी इच्छा को प्रकट करता है और इसके भीतर लोट्, विधिलिङ् तथा लेट् इन तीनों लकारों का अर्थ सन्निविष्ट रहता है।[1] सब्जंक्टिभ की तुलना में यह मुख्यतया प्रधान वाक्यों में ही प्रयुक्त होता है, यद्यपि कभी-कभी यत् और यदा से आरब्ध गौण वाक्यों में भी उपलब्ध होता है।

(क) उत्तम पुरुष ऐसी इच्छा को प्रकट करता है जिसका सम्पादन वक्ता के सामर्थ्य पर आश्रित रहता है। जैसे 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि **प्रवोचम्**' (१।३२।१) यहाँ 'वोचम्' इन्जंक्टिभ मूड में है। वाक्य का अर्थ है—अब मैं इन्द्र के वीरता सूचक कार्यों का प्रशंसन करूँगा।

(ख) मध्यम तथा अन्य पुरुष किसी को प्रेरणा तथा उत्साह देने के अर्थ में प्रयुक्त होता है, प्रायः लोट् लकार (आज्ञा) के संग में। जैसे 'सुगानः सुपथा कृणु; पूषन्निह क्रतुं **विदः**' (=हे पूषन् हमारे सुगमता से पार करने के योग्य मार्ग बनाइए तथा यहाँ हमारे लिए ज्ञान का लाभ कीजिए) यहाँ 'विदः' इन्जंक्टिभ है। और कृणु (आज्ञा) के संग में प्रयुक्त है।

(ग) यह अकेले ही अथवा स्वतः भी प्रयुक्त होता है आज्ञा के अर्थ में। जैसे 'इमा हव्या **जुषन्त** नः' (६।५२।११) वे हमारे हविष्य को स्वीकार करें। यहाँ '**जुषन्त**' आज्ञा के अर्थ में प्रयुक्त है। निषेध वाक्यों में '**मा**' के साथ यही सर्वदा प्रयुक्त होता है—'मा तन्तु**श्छेदि**'=सूत्र को तोड़ मत दो (२।२८।५)।

(घ) दूसरा रूप लङ् (अद्यतन भूत) तथा लुङ् (सामान्य भूत) के आदिम आगम (अ या आ) से विरहित रूप के समान ही होता है। धातुज लुङ् (Root aorist) से व्युत्पन्न रूप अधिकता से मिलते हैं। जैसे करम्, दर्शम्, भोजम्, भूम (बहुवचन में)। 'सस्' तथा 'सिस्' प्रत्ययों के योग वाले लुङ् से भी अनेक रूप इसके बनते हैं। जैसे अन्य पुरुष में अशीत्; मध्यम पुरुष में आविः, तारिः, योधि; उत्तम पुरुष में श्रमिष्म (ब० व०) हासिष्ट, हासिषुः, हासिष्टाम्, रंसिषम् इसी मूड के रूप हैं।

---

[1] **मैकडोनल—वैदिक ग्रामर फार स्टूडेन्ट्स§२१५ c, पृ० ३५०-३५२।**

(ङ) ऋग्वेद में ही यह प्रचुरता से प्रयुक्त होता है। ब्राह्मणों से तो यह बिल्कुल लुप्त ही हो गया है। केवल प्रतिषेधार्थक "मा' निपात के साथ यह ब्राह्मणों में एक ही रूप में पाया जाता है। पाणिनि के अनुसार 'मा' के संग लङ् होता है, परन्तु आरम्भ में अट् या आट् का आगम नहीं होता (माङि लुङ्) यह Injunctive mood का ही विशिष्ट रूप है।

भूतकाल

लिट् लकार का प्रयोग लौकिक संस्कृत में परोक्ष भूत में होता है, परन्तु वैदिक भाषा में इसका प्रयोग वर्तमान के लिए भी होता है। विद्वानों का कहना है कि मूल भाषा में लिट् का प्रयोग वर्तमान के लिए ही किया जाता था, जो ग्रीक तथा वैदिक भाषा में अक्षुण्ण बना रहा[1]। फलतः 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्' का अर्थ यही है कि वह पृथ्वी तथा आकाश को धारण करता है। वैदिक लिट् वर्तमान कालिक धातुओं के संग में प्रयुक्त होता है जिससे उसके वर्तमान काल का अर्थ स्पष्टतः संकेतित होता है। यथा 'सेदु राजा क्षयति चर्षणीना मरान् न नेमिः परि ता बभूव' (१।३२।१५) यहाँ बभूव 'क्षयति' (शासन करता है) वर्तमानकालिक क्रिया के समान वाक्य में प्रयुक्त है। लुङ् वेद में भूतकाल में होने वाली घटना का सामान्य रूप से संकेत करता है। यह सीधे तौर से किसी तथ्य को कहता है और इस प्रकार यह वर्तमान का अर्थ रखता है। यथा 'प्रति दिवो अदर्शि दुहिता' (४।५२।१) में 'अदर्शि' सूचित करता है कि आकाश की पुत्री अभी प्रकट हुई है। पाणिनि ने भी यह तथ्य प्रकट किया है कि वैदिक भाषा में लुङ्, लङ् और लिट् लकारों का किसी भी लकार के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है। छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अष्टा० ३ । ४ । ६)।

लोक भाषा में वर्तमान काल के उत्तम पुरुष के बहुवचन के अन्त में 'मः' आता है। वैदिक भाषा में उसके स्थान पर 'मसि' आता है। जैसे—मिनीमसि, एमसि इत्यादि। इदन्तो मसि (अष्टा० ७।१।४६)।

'एनम्' शब्द परे रहते 'ध्वम्' के 'अम्' का लोप हो जाता है। जैसे—यजध्वैनम्। 'यजध्वमैनमिति च' (अष्टा० ७ । १ । ४३)।

लौकिक संस्कृत में लुङ्, लङ् और लृङ् लकारों के रूपों के आदि में 'अ' जोड़ा जाता है। जैसे—अकार्षीत्, अकरोत्, अकरिष्यत्। यदि धातु अजादि (स्वरादि) हुए तो उनमें 'आ' जोड़ा जाता है। जैसे—ऐक्षिष्ट, ऐक्षत,

---

१. मैकडानेल—वैदिक ग्रामर § २१३ ए, पृ० ३४२।

ऐक्षिष्यत; परन्तु यदि 'मा' या 'मा स्म' का प्रयोग किया जाय तो 'अ' या 'आ' नहीं जोड़ना पड़ता। जैसे—मा भवान् कार्षीत्, मा स्म करोत्। यह नियम वैदिक भाषा में नहीं माना जाता। लुङ्, लङ् और लृङ् का प्रयोग बिना 'अ' या 'आ' जोड़े ही किया जाता है। जैसे—जनिष्ठा उग्र सहसे तुराय। यहाँ 'जनिष्ठा' लुङ् का रूप है, परन्तु उसमें 'अ' नहीं जोड़ा गया है। मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः—यहाँ 'मा' का प्रयोग होने पर भी 'अवाप्सुः' में 'अ' जोड़ा गया है। बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (अष्टा० ६।४।७५)।

लुङ्—वेद में उपलब्ध लुङ्-लकारीय पदों की समीक्षा से प्रतीत होता है कि इस लकार के तीन मुख्य प्रकार हैं—(१) जिसमें कोई विशिष्ट प्रत्यय न जोड़कर धातु से ही सामान्य प्रत्यय आते हैं। इसे अंग्रेजी में 'Root aorist' के नाम से पुकारते हैं। इसके भी दो प्रकार हैं—(i) अकारान्त, आकारान्त अथवा धातु में 'अ' के योग से अकारान्त धातु से निष्पन्न, जैसे अविदन्, अवोचन्; अस्थुः, अयुः। (ii) व्यञ्जनान्त धातु से, जैसे कृ धातु का रूप अकः, अकर्ताम्, अक्रन्, अकः, अकर्तम्, अकर्त, अकरम्, अकर्व, अकर्म।

(२) धातु से द्वित्व करने पर निष्पन्न रूप, जैसे जन् से अजीजनत्; पृ—अपीपरत्; क्लृप्—अचीक्लृपत्।

(३) धातु में स, सिष्, तथा ष् प्रत्ययों के योग से निष्पन्न—हृ-अहार्षम्; बुध—अभुत्सि, अबुद्धाम्, अभुत्साथाम्; या—अयासिषम्, अयासिषुः।

ज् श् ष् तथा ह् से अन्त होनेवाले धातुओं से 'ष' जोड़ा जाता है। रुह—अरुक्षम्, अरुक्षाव; दुह—(आ०) अधुक्षि, अधुक्षाताम्, अधुक्षन्त।

लौकिक संस्कृत में उपसर्ग क्रियापद के पहिले जोड़े जाते हैं। वैदिक भाषा में यह नियम अनिवार्य नहीं है। वे क्रियापद के बाद भी जोड़े जाते हैं। कभी-कभी उपसर्गों और क्रियापदों के बीच शब्दों का व्यवधान भी होता है। जैसे—'हन्ति नि मुष्टिना' में निहन्ति। 'आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि' में आयाहि।

कृदन्त

वैदिक भाषा में सोपसर्ग धातु से भी क्त्वा प्रत्यय जोड़ा जाता है। जैसे—यजमानं परिधापयित्वा। क्त्वापि छन्दसि (अष्टा० ७।१।३८)।

त्वा = त्वाय और कभी-कभी त्वी; दिवं सुपर्णो गत्वाय। स्नात्वी और पीत्वी (= गत्वा, स्नात्वा, पीत्वा)

तव्य = तवे, ए, एन्य, त्व। जैसे—अन्वेतवे, नावगाहे, शुश्रुषेण्यः, कर्त्वन् (कृत्यार्थे तवैकेन केन्यत्वनः—अष्टा० ३।४।१४)।

तुमर्थक प्रत्यय—

तुम् = ए, असे, से, अध्यै, ध्यै, तवै, तवे (अष्टा० ३।४।९)। तुमर्थक पदों की परीक्षा करने पर यही प्रतीत होता है कि ये वस्तुतः धातुज संज्ञा पदों के चतुर्थ्यन्त, द्वितीयान्त, पंचमी-षष्ठ्यन्त तथा सप्तम्यन्त रूप ही हैं। इन चारों प्रकारों में चतुर्थ्यन्त द्वितीयान्त की अपेक्षा ऋग्वेद में बारह गुना तथा अथर्ववेद में तिगुना अधिक है। लौकिक संस्कृत का 'तुम्' प्रत्यय तो ऋग्वेद में केवल पाँच बार ही आया।

चतुर्थ्यन्त पद—(क) इसका सामान्य प्रत्यय 'ए' है, जो धातु के अन्तिम 'आ' के साथ युक्त होकर 'ऐ' बन जाता है—भुवे (होने के लिए), परादै (देने के लिए), दृशे (द्रष्टुम्)। (ख) नौ प्रकार के प्रत्ययों से निष्पन्न धातुज संज्ञा पदों से यह 'ए' प्रत्यय संयुक्त होता है:—(१) 'अस्' प्रत्ययान्त संज्ञा से—अवसे, चक्षसे, चरसे, पुष्यसे। (२) 'इ' प्रत्ययान्त संज्ञा से—दृशये (अर्थात् दृश + इ + चतुर्थी), महये, युधये, गृहये (ग्रहीतुम्)। (३) 'ति' प्रत्ययान्त संज्ञा से—पीतये (पातुं) सातये (४) प्रत्ययान्त संज्ञा से (यह 'तु' प्रत्यय जोड़ने से धातु में गुण् हो जाता है और कभी-कभी इडागम भी होता है। सबसे अधिक लोकप्रिय यही रूप है) ए-तवे, ओ–तवे (√ऊ = वै), कर्-तवे, गन्–तवे (गन्तुम्) पा–तवे, वक्–तवे (वक्तुम्)। (५) 'तवा' प्रत्ययान्त संज्ञा से ('ए' योग से यही 'तवै' बन जाता है। इसमें उदात्त दो रहते हैं, धातु पर तथा प्रत्यय पर)—ए–तवै, ओ–तवै, गन्–तवै, सर्–तवै। (६) 'ध्या' प्रत्ययान्त संज्ञा से (ऋग्वेद में ही 'अध्यै' का प्रयोग सीमित है)—गमध्यै, पिबध्यै (पातुम्), हुवध्यै (होतुम्), चरध्यै। (७–९) 'मन्', 'वन्' तथा 'त्या' प्रत्ययान्त धातुज संज्ञाओं के चतुर्थ्यन्त का उदाहरण अत्यन्त अल्प है, यथा—त्रामणे (त्रातुम्), दामने (दातुम्), दावने (दातुम्), धूर्वणे (हानि पहुँचाने के लिए), इत्यै (एतुम्)।

द्वितीयान्त पद—दो प्रकार के प्रयोग मिलते हैं—(१) धातु सामान्य से निष्पन्न संज्ञा में 'अम्' के योग से–संपृछम् (संप्रष्टुम्), आरभम् (आरब्धुम्), शुभम् (शोभितुम्)। (२) 'तु' प्रत्ययान्त संज्ञा से ('तुं' का प्रयोग 'तवे' की अपेक्षा बहुत ही न्यून है), यथा—दातुम्, प्रष्टुम्। लौकिक संस्कृत का यह विख्यात प्रत्यय ऋग्वेद में केवल पाँच बार ही आया है।

पञ्चम्यन्त-षष्ठ्यन्त पद—इस श्रेणी के प्रयोगों के अन्त में 'अस्' या तोस्) तोः जोड़ा जाता है जो धातुज संख्या के पञ्चम्यन्त या षष्ठ्यन्त रूप प्रतीत होते हैं। यथा—(१) संपृचः (संपृक्तुम्); आतृदः; (२) 'तोः' प्रत्ययान्त—एतोः, गन्तोः, जनितोः (जनितुत्), हन्तोः (हन्तुम्) ।

सप्तम्यन्त पद—(१) धातु-संज्ञा से—बुधि, दृशि, संदृशि (संद्रष्टुम्); (२) 'सन्' प्रत्ययान्त संज्ञा से—नेषणि (नेतुम्), पर्षणि, तरीषणि (तर्तुम्), गृणीषणि (गाने के लिए) ।

वैदिक स्वर

उदात्तादि स्वरों की सत्ता वैदिक भाषा की विशेषता है। प्रत्येक अक्षर का उच्चारण किसी न किसी स्वर के साथ होता है। उपलब्ध सभी संहिता-ग्रन्थों में स्वर लगे हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में आरण्यक-सहित तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा बृहदारण्यक-सहित शतपथ-ब्राह्मण में स्वर लगे हैं। अन्य ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों में स्वरों के चिह्न नहीं मिलते।

अक्षर के उच्चारण में दो प्रकार के स्वर लगाये जाते हैं—एक होता है स्वर का आरोह (Rising tone), और दूसरा होता है स्वर का अवरोह (Falling tone)। इनकी एक मिश्रित दशा भी तब होती है जब उच्चारण-कर्ता उच्च स्वर से एकदम नीचे स्वर की ओर उतरता है, जहाँ आरोह से एकदम अवरोह की ओर आता है। यहाँ एकदम उतरना सम्भव न होने से बीच में वह टिकता है। इसे ही आधुनिक ध्वनिविद् "rising-falling tone" कहते हैं। हमारे यहाँ ये स्वर क्रमशः उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के नाम से पुकारे जाते हैं। इनके लक्षण हैं—

(१) **उदात्त**—जिस अक्षर के उच्चारण में गात्रों की शक्ति का आरोह होता है, अर्थात् गात्र ऊपर खींच जाते हैं, वह 'उदात्त' कहलाता है। "उच्चैरुदात्तः=आयामेन ऊर्ध्व-गमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते स उदात्तसंज्ञो भवति" (शुक्लयजुःप्रातिशाख्य १।१०९ तथा उव्वट की टीका) ।

(२) **अनुदात्त**—जिस अक्षर के उच्चारण में गात्रों की शिथिलता होती है (अधोगमन), वह अनुदात्त कहलाता है (शु० प्राति० १।१०९) ।

(३) जहाँ प्रथमतः उदात्त स्वर के कारण गात्रों का आरोह हो, और तदनन्तर अनुदात्त स्वर के कारण गात्रों का अवरोह होता है, वहाँ दोनों प्रयत्नों का मिश्रित स्वर **स्वरित** कहलाता है। **उभयवान् स्वरितः** (शु० प्राति० १।११०) ।

(४) जहाँ स्वरित के बाद आने वाले अनुदात्त स्वरों के उच्चारण में एक साथ गात्रों का मार्दव या शैथिल्य पाया जाता है, वहाँ प्रचय स्वर (या 'एक श्रुति') होता है। स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः—ऋ० प्राति० ३।१९। आचार्य शौनक ने ऊपर निर्दिष्ट उच्चारण-स्थिति के लिए **आयाम**, **विस्रम्भ** और **आक्षेप** संज्ञाओं का प्रयोग किया है। उपर्युक्त उदात्तादि स्वर अकारादि स्वरवर्णों में ही आये हैं, व्यञ्जनों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतएव ये स्वरवर्णों के धर्म कहे गये हैं। अक्षराश्रयाः (ऋक्प्राति० ३।२)।

प्रातिशाख्यों में स्वरित के पाँच प्रकारों का वर्णन उपलब्ध होता है—सामान्य स्वरित, जात्य स्वरित, अभिनिहित स्वरित, प्रश्लिष्ट स्वरित तथा क्षैप्र स्वरित। इन पाँचों प्रकारों का सामान्य वर्णन नीचे दिया जाता है :—
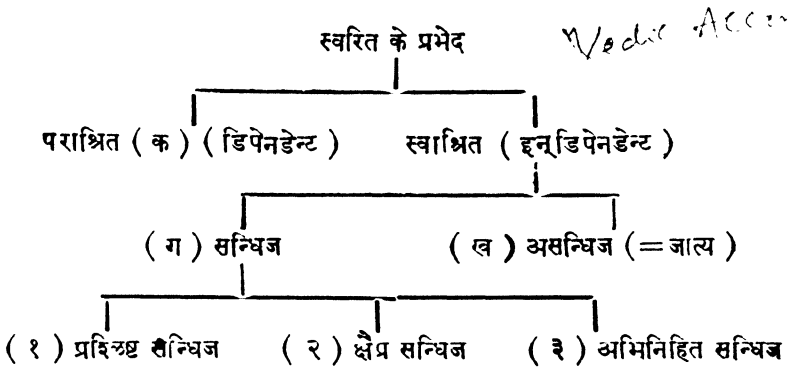
इस प्रभेद को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। सामान्यतः स्वरित दो प्रकार के होते हैं—(क) उदात्त के पश्चाद् आनेवाला अनुदात्त नियमेन स्वरित हो जाता है और इसलिए इसका नाम है—**पराश्रित स्वरित**। (ख) स्वतन्त्र स्वरित का ही पारिभाषिक नाम है—जात्य स्वरित (स्वाभाविक स्वरित)। यह उदात्त की पूर्व सत्ता पर आश्रित नहीं होता, प्रत्युत यह सर्वदा स्वरित ही रहता है। (ग) सन्धिज स्वरित से तात्पर्य उस स्वरित का है, जो त्रिविध सन्धियों के स्थल में उत्पन्न होता है—

(१) **प्रश्लिष्ट स्वरित**—'प्रश्लेष' शब्द का अर्थ है दो स्वरों की एक स्वर के रूप मे परिणति। पाणिनि के 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।१०१), 'आद्गुणः' (६।१।८७) तथा 'वृद्धिरेचि' (६।१।८८) सूत्रों से जायमान दीर्घ-सन्धि, गुणसन्धि तथा वृद्धि-सन्धि—इन तीनों का समावेश 'प्रश्लिष्ट सन्धि' मे होता है। प्रश्लिष्ट स्वरित केवल दीर्घसन्धि-जन्य ईकार के स्थल पर होता है—इ+इ=ई; यथा स्रुचि+इव=स्रुचीव।

क्षैप्र स्वरित—पाणिनि के यण् सन्धि का ही वैदिक अभिधान क्षैप्र सन्धि है। तज्जन्य स्वरित इस नाम से पुकारा जाता है। इसमें पहिला स्वर उदात्त होगा तथा दूसरा अनुदात्त और दोनों की सन्धि से जायमान स्वर स्वरित होगा। यथा—नु+इन्द्र = न्विन्द्र।

(३) **अभिनिहित स्वरित**—पदान्त एकार तथा ओकार के पश्चाद् आनेवाले अकार का जो पूर्वरूप होता है, वह सन्धि 'अभिनिहित' कहलाती है। तज्जन्य स्वरित इस नाम से पुकारा जाता है। यथा—ते + अवर्धन्त = तेऽवर्धन्त, ध्यातव्य है कि इन तीनों सन्धि-जन्य स्वरितों में प्रथम स्वर उदात्त और दूसरा स्वर अनुदात्त होता है और इन तीनों दशाओंमें इस सम्मिलन का परिणत फल स्वरित होता है। इन दशाओंसे अतिरिक्त स्थलों में पूर्व उदात्त तथा परवर्ती अनुदात्त से उदात्त ही होता है, स्वरित नहीं।

(ख) असन्धिज स्वरित को 'जात्य स्वरित' के नाम से पुकारते हैं (जात्य = जन्मजात, स्वभावतः)। जात्य स्वरित यकार और वकार के ऊपर ही वर्तमान होता है। आधुनिक विद्वान् इस स्थल को क्षैप्रसन्धिज का ही उदाहरण मानते हैं। जैसे—क्व वोऽश्वाः; (यहाँ क्व = कु + अ); वीर्याणि प्रवोचम् (यहाँ वीरि आणि)—इन दोनों दृष्टान्तों में उ + अ से 'व' निष्पन्न है तथा इ + अ के संयोग से 'र्य' सिद्ध हुआ है। फलतः इन्हे 'क्षैप्रसन्धिज' मानना कथमपि अनुचित नहीं है।

अब इन प्रकारों को विशेष रूप से समझाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(१) **सामान्य स्वरित**—वेद का यह नियम है कि प्रत्येक पद में एक उदात्त स्वरवाला अक्षर अवश्य होगा। उदात्त वाले अक्षर से भिन्न अक्षर अनुदात्त हो जाते हैं अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५८), परन्तु उदात्त से पश्चाद् आने वाला अनुदात्त नियमेन स्वरित हो जाता है, यदि उसके बाद कोई उदात्त या स्वरित न हो—जैसे अग्निभिः। यहाँ इकार में उदात्त स्वर है और इसीलिए 'अ' और 'भि' दोनों अनुदात्त हो गए, परन्तु उदात्त 'ग्नि' के बाद आनेवाला 'भिः' स्वरित हो गया। पाणिनि का एतत्सूचक सूत्र है—उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः। यह तो पाठ पाद की स्थिति में होता है, परन्तु संहिता-पाठ में यदि अनुदात्त से पीछे उदात्त या स्वरित आता हो, तो उदात्तपूर्वक होने पर भी वह अनुदात्त स्वरित में परिवर्तित नहीं होता। उदाहरणार्थ 'यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः (ऋ० १।१५४।६ ब)। इस ऋगंश के स्वरों की परीक्षा

कीजिए—'अयासः' का 'सः' उदात्तपूर्व होने से स्वरित हो गया है, परन्तु 'यत्र' में यकार उदात्त है, उसके पीछे वाला 'त्र' इसीलिए स्वरित नहीं होता कि उसके बाद उदात्त बैठा है। इसी प्रकार—'गावो' में गा उदात्त है, परन्तु 'वो' स्वरित नहीं हुआ, क्योंकि 'भूरिश्रृंगा' में 'भू' उदात्त उसके अनन्तर विद्यमान है। पदपाठ में अगले उदात्त से सम्बन्ध न होने से यह गतिरोध नहीं होगा। इसलिए इस अंश का पद पाठ होगा—यत्रं गावः भूरिऽशृङ्गा अयासः। इस स्वरित को पाश्चात्य विद्वान् 'परतन्त्र' (dependent) स्वरित के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि इसकी स्थिति उदात्त की पूर्ववर्तिता पर अवलम्बित रहती है।

(२) **जात्य स्वरित**—एक पद में यदि अकेले ही स्वरित हो, अर्थात् उससे पूर्व कोई भी स्वर न हो (अपूर्व) अथवा उससे पूर्व कोई अनुदात्त स्वर हो (अनुदात्तपूर्व), तो उसे जात्य स्वरित कहते हैं। किन्हीं वैदिक पदों में जात्य स्वरित ही प्रमुख स्वर होता है और यह विशेषतः 'य' 'व' वाले संयुक्ताक्षर में पाया जाता है। यदि जात्य स्वरित के अनन्तर उदात्त आता हो तो दीर्घ होने से उसके अनन्तर ३ का अंक लिखकर उसमें अनुदात्त चिह्न (आड़ी रेखा) तथा स्वरित चिह्न (सीधी रेखा) दोनों लगाते हैं। ह्रस्व होने पर १ का अंक उभय चिह्नों के साथ युक्तकर लिखते हैं। 'स्वः' तथा 'कन्या' में 'स्वः' तथा 'न्या' में जात्य स्वरित है। प्रथम स्वरित अपूर्व है तथा दूसरा अनुदात्तपूर्व है। 'आविर्दूतान् कृणुते वर्ष्या ३ अहं, तथा 'यत् पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं १ नभः (ऋ० ५।८३) इन पादों में वर्ष्य का 'स्य' अनुदात्तपूर्वक होने से जात्य स्वरित है जिसके अनन्तर उदात्त स्वर आया है ('अहं' में अ तथा नभः का न उदात्त है)'। फलतः प्रथम दृष्टान्त में दीर्घ स्वरित के बाद उभय स्वर चिह्नित ३ का अंक तथा द्वितीय दृष्टान्त में ह्रस्व स्वरित के अनन्तर १ का अंक है। जात्य स्वरित की यह स्वरांकन-पद्धति ध्यान देने योग्य है। जात्य स्वरित वाले 'य' तथा 'व' इ और उ के ही सन्ध्यात्मक रूप हैं। फलतः इसके उच्चारण में इन मूल स्वरों का पुनर्निविष्ट करना होता है। इस प्रकार रथ्यम् तथा तन्वम् में थ्य तथा न्व का उच्चारण द्व्यक्षर न होकर त्र्यक्षर होता है—रथिअम् तथा तनुअम्, जिनमें द्वितीय अक्षर उदात्त स्वर सम्पन्न है।

(३) अभिनिहित, प्रश्लिष्ट और क्षैप्र सन्धियों के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाले स्वरित तत्तत् सन्धियों के नाम पर अभिनिहित स्वरित, प्रश्लिष्ट स्वरित और क्षैप्र स्वरित कहलाते हैं। इस कार्य के लिये प्रश्लिष्ट सन्धि दो इकारों की होनी चाहिये—इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च। उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्यैव

माचरेत् (ऋ० प्रा० प० ३ सू० १३)। जैसे पूर्वोक्त त्रिविध स्वरितों के क्रमशः उदाहरण—तेऽवर्धन्त; स्रुची'व; योजा न्विन्द्र ते हरी'। अभिनिहितादि स्वरित भी जात्य स्वरित की तरह अपूर्व या नीचपूर्व होते हैं। पाश्चात्त्य विद्वान् जात्य और अभिनिहितादि स्वरितों को स्वतन्त्र (Independent) स्वरित कहते हैं, क्योंकि पदों में इसकी सत्ता स्वतन्त्र होती है।

वैदिक ग्रन्थों में उदात्तादि स्वरों को पहिचानने के लिये चिह्न लगे रहते हैं। ये चिह्न सब वेदों में समान नहीं हैं। ऋग्वेद, अथर्ववेद और कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के चिह्न समान हैं। शुक्ल यजुर्वेद के कुछ चिह्न ऋग्वेद के चिह्नों के समान और कुछ भिन्न हैं। कृष्ण यजुर्वेद की काठक और मैत्रायणी शाखाओं के चिह्न अपने-अपने स्वतन्त्र है। ऋग्वेद में उदात्त पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता, वह सदा अचिह्नित ही रहता है। अनुदात्त के नीचे एक बेड़ी रेखा लगाई जाती है; स्वरित के सिर पर एक खड़ी रेखा लगाई जाती है। प्रचयों पर भी कोई चिह्न नहीं लगाये जाते। उदात्त और प्रचय दोनों पर कोई चिह्न न रहने के कारण पहिचानने में कुछ कठिनाई हो सकती है। अनुदात्त के बाद के बिना चिह्न वाले वर्ण को उदात्त समझना चाहिये और स्वरित के बाद के बिना चिह्न वाले वर्णों को प्रचय समझना चाहिये। उदात्त से पूर्व प्रचय में अनुदात्त का चिह्न लगाते हैं। 'अग्निना' में ग्नि उदात्त है तथा अ अनुदात्त औ ना स्वरित।

सामान्य नियम

वैदिक भाषा के प्रत्येक शब्द में उदात्त सामान्यतः एक ही होता है और उसके अतिरिक्त अन्य स्वर अनुदात्त होते हैं (इन्हीं का नाम है—निघात स्वर) अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (अष्टा० ६।१।१५८)। इसके अपवाद भी हैं, जब एक ही पद में दो उदात्त रहते हैं अथवा उदात्त का सर्वथा अभाव होता है।

(क) द्व्युदात्त पद—देवता-द्वन्द्व में (जब दोनों पद द्विवचनान्त होते हैं)—यथा—मित्रावरुणौ (यहाँ 'त्रा' और 'व' दोनों उदात्त हैं); अलुक्षष्ठी समास में जैसे बृहस्पतिः (बृ तथा स्प के स्वर उदात्त हैं), 'तवै' युक्त पद में एतवै (अन्तश्च तवै युगपत्; अष्टा० ६।१।२००)। यहाँ 'ए' तथा 'वै' दोनों उत्तार स्वर से युक्त हैं।

(ख) उदात्त का अभाव

उदात्त का अभाव वैदिक पदों में विशिष्ट दशाओं में होता है, जिनमें से तीन मुख्य दशायें ये हैं—

(१) सम्बोधन पदों में यदि ये, वाक्य या पाद के आरम्भ में स्थित नहीं होते। आरम्भ स्थिति में उदात्त की सत्ता बनी रहती है। यथा—'अग्नेः पुष्टानि स जनास इन्द्रः' (ऋ० २।१२।४)। यहाँ 'जनासः' सम्बोधन पद, पाद के आदि में नहीं है। फलतः यहाँ उदात्त नहीं है, तीनों अक्षर अनुदात्त ही हैं—जनासः।

(२) क्रियापदों में यदि ये वाक्य या पाद के आरम्भ में विद्यमान न हों। यथा—'प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण' (ऋ० १।१५४।२)। यहाँ पादादि से भिन्न स्थिति होने से स्तवते क्रियापद का उदात्त लुप्त हो गया है और ये तीनों अक्षर अनुदात्त ही हैं—स्त व ते। यह प्रधान वाक्य की क्रिया के विषय में है। अप्रधान वाक्य (Dependent clause) की क्रिया होने पर पूर्वोक्त नियम नहीं लगता। यथा—यः सुन्वन्तमवति (ऋ० २।११।१४) में अवति क्रियापद पादादि न होने पर भी अप्रधान वाक्य का है। फलतः उसमें उदात्त का अभाव नहीं ('अवति' का अ उदात्त ही है)।

(३) सर्वनाम शब्दों के वैकल्पिक रूप, जैसे मा, त्वा, नः, वः आदि उदात्त हीन होते हैं।

(ग) **सन्धि-स्वर**—सन्धि के कारण स्वरों में परिवर्तन होता है जिसका सामान्य रूप यह है:—

(१) उदात्त + उदात्त = उदात्त।
(२) अनुदात्त + उदात्त = उदात्त।
(३) स्वरित + उदात्त = उदात्त।
(४) जात्य स्वरित + उदात्त = उदात्त।
(५) उदात्त + अनुदात्त = प्रश्लिष्टादि स्वरित। इनका विस्तार निम्नलिखित प्रकार से समझना चाहिये—

(क) उदात्त 'इ' + अनुदात्त 'इ' = ई प्रश्लिष्ट स्वरित।
(ख) उदात्त 'इ', 'उ', 'ऋ', (ह्रस्व या दीर्घ) + कोई असदृश अनुदात्त स्वर = क्षैप्र स्वरित।
(ग) उदात्त 'ए', 'ओ' + अनुदात्त 'अ' = एऽ, ओऽ। अभिनिहित स्वरित।
(घ) उदात्त 'ई' + अनुदात्त 'इ' (ह्रस्व या दीर्घ) = उदात्त 'ई'।
(ङ) उदात्त 'अ' + कोई अनुदात्त स्वर = उदात्त।
(च) उदात्त + स्वरित = असंभव।
(छ) उदात्त + जात्यादि स्वरित = असंभव।

पदपाठ के नियम

स्वरों के परिवर्तन के सामान्य नियम हैं जिसका उपयोग पदपाठ तथा संहिता-पाठ में सर्वत्र किया जाता है।

(१) उदात्त के बाद आनेवाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है यदि उसके बाद कोई उदात्त या स्वरित न आता हो (उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः, अष्टा० ८।४।६६)। यथा–'गणपतिं' पद में 'ण' पर उदात्त होने से अन्य तीनों स्वर अनुदात्त हो गये; परन्तु इस नियम से 'ण' से अव्यवहित पर अनुदात्त 'प' को स्वरित हो गया है।

(२) स्वरित के बाद के समस्त अनुदात्त प्रचय हो जाते हैं और उन पर कोई चिह्न नहीं लगता, परन्तु उदात्त से अव्यवहित-पूर्व अनुदात्त का प्रचय नहीं होता और इसीलिए वह अनुदात्त के चिह्न (नीचे आड़ी रेखा) चिह्नित होता है।

(३) उदात्त से अव्यवहित पूर्व का अनुदात्त कभी नहीं बदलता। वह न स्वरित होता है, न प्रचय। यथा—वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः (ऋ० १।३२।२), यहाँ 'श्रा' उदात्त से परे अनुदात्त 'इ' स्वरित हो गया है (प्रथम नियम से), 'धेनवः' यदि स्वतन्त्र रहेगा, तो उदात्त 'न' के अनन्तर 'वः' स्वरित हो ही जायगा, परन्तु संहिता-पाठ में अगले उदात्त 'य' से पूर्ववर्ती होने से यह बदलता नहीं (प्रथम नियम)। स्यन्दमाना' में स्वरित 'द' के अनन्तर मा और ना दोनों प्रचय स्वर हैं, परन्तु संहिता-पाठ में इसके अनन्तर आता है 'अञ्जः' जिसका 'अ' उदात्त है। फलतः उदात्त से अव्यवहित पूर्ववर्ती होने से 'ना' अनुदात्त ही रहा और तदनुसार अनुदात्त का चिह्न वहाँ विद्यमान है (तृतीय नियम)। इसी प्रकार स्वरित 'व' के अनन्तर 'ज' प्रचय है, परन्तु उदात्त 'आ' से अव्यवहित पूर्ववर्ती 'ग्मु' अनुदात्त ही है (द्वितीय नियम)। पदपाठ करते समय इन नियमों का पालन नितान्त आवश्यक होता है।

संहिता-पाठ को पदपाठ में परिवर्तन करने के लिए कई नियम हैं, निचे दिये जाते हैं जिन पर ध्यान देना नितान्त आवश्यक होता है—

(१) सब सन्धियों को पृथक् कर देना चाहिए।

(२) समासयुक्त पदों के बीच में अवग्रह (ऽ) रखकर उन्हें अलग कर देना चाहिए, परन्तु पूर्व पद में किसी प्रकार के परिवर्तन होने पर यह नियम नहीं लगता।

(३) दो से अधिक पद वाले समस्त पद में, केवल अन्तिम पद ही, अन्य पदों से पृथक् किया जाता है।

(४) किसी प्रकार के स्वर-परिवर्तन के अभाव में सु, भिः तथा भ्यः, तर और तम, मत और वत्, अकारान्त नामधातुओं में अकार के दीर्घ होने पर भी य और यु—ये सब अवग्रह के द्वारा पृथक् किये जाते हैं।

(५) सन्धिजन्य मूर्धन्य वर्ण का परिवर्तन दन्त्य में होता है। पदान्त में तथा दीर्घीकृत आ और ई को लघु कर देते हैं।

(६) ओकारान्त सम्बोधन, द्विवचनान्त तथा अन्य प्रगृह्य स्वरों के साथ 'इति' शब्द जोड़ा जाता है। 'सदो द्वा चक्राते उपमा दिवि' (ऋ० ८।२९। ९) में प्रगृह्यसंज्ञक 'चक्राते' का पदपाठ 'चक्राते इति' होगा। संहितास्थ 'उ' का पदपाठ 'ऊँ इति' होता है।

(७) स्वरों के परिवर्तन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। उदात्त स्वर तो यथास्थान बना रहता है। कहीं अनुदात्त का स्वरित हो जाता है और कहीं स्वरित को अनुदात्त में परिवर्तित कर देते हैं। स्वरों के जो नियम ऊपर दिये गये हैं उन्हीं के अनुसार यह परिवर्तन होता है।

पदपाठ का दृष्टान्त नीचे दिया जाता है। इन्द्रसूक्त (२।१२) का प्रथम मन्त्र—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्
देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां
नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥

इसका पदपाठ, जिसमें पदों का क्रम संहिताक्रम के अनुसार ही होता है इस प्रकार होगा—यः जातः एव प्रथमः मनस्वान् देवः देवान् क्रतुना परिऽअभूषत्। यस्य शुष्मात् रोदसी इति अभ्यसेताम् नृम्णस्य मह्ना स जनासः इन्द्रः। इसमें प्रथमतः सन्धि का विच्छेद कर दिया गया है। 'रोदसी' के द्विवचनान्त होने से इसके बाद इति शब्द का प्रयोग किया गया है। मूल क्रियापद और उपसर्ग परि के बीच में अवग्रह रखा गया है। स्वरों का परिवर्तन ध्यान देने योग्य है। संहितापाठ में 'यस्य' में यकार उदात्त तथा स्य अनुदात्त है, जो दूसरे पद के 'शु' उदात्त के कारण 'स्य' अनुदात्त ही बना रहता है, परन्तु पदपाठ में दोनों पदों का पार्थक्य होने से 'स्य' का अनुदात्त स्वरित ही हो गया है

'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' नियम के अनुसार। 'जनासः' सम्बोधन पद है और इसलिए इसमें उदात्त का लोप हो गया है और तीनों स्वर अनुदात्त हो गये हैं, परन्तु संहिता में उदात्त 'सः' के बाद होने से आदिम अनुदात्त (अर्थात् 'जनासः' का ज) स्वरित हो गया था, परन्तु पदपाठ में तीनों में अनुदात्त के चिह्न रखे गये। इसी प्रकार अन्य स्वरों का भी परिवर्तन ध्यान देने योग्य है।

वैदिक भाषा का सूक्ष्म विश्लेषण

वैदिक भाषा के व्याकरण का सामान्य परिचय ऊपर दिया गया है, परन्तु गाढ़ अनुशीलन से संहिताओं की भाषा से ब्राह्मणों और उपनिषदों की भाषा में स्पष्ट पार्थक्य है। इतना ही नहीं, प्रत्येक संहिता की भाषा अन्य संहिताओं की भाषा से अनेक रूपों में भेद रखती है। ऋग्वेद का दशम मण्डल तो आरम्भिक मण्डलों की अपेक्षा भी भाषा की दृष्टि से पार्थक्य रखता है। इन्हीं विशेषताओं का सामान्य विवरण यहाँ दिया जाता है।

(क) ऋग्वेद की भाषा

ऋग्वेद में स्वरों के मध्यस्थ ड तथा ढ को क्रमशः ळ और ळह के रूप में परिवर्तित करते हैं। जैसे—मृळीक तथा जिहीळान। वेद में 'ल' की स्थिति के विषय में पर्याप्त पार्थक्य है। ऋग्वेद के पिछले मण्डलों में प्राचीन मण्डलों की अपेक्षा लकार अठगुना अधिक है, तथा ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्व में यह सात गुना अधिक प्रयुक्त है (वाकरनागल—आल्तिन्दिशे ग्रामातीक, भाग १)। वेद में रेफ के स्थान पर लकार का बहुल प्रयोग प्राच्य प्रभाव का द्योतक है। आर्य लोग सारस्वतमण्डल से ज्यों-ज्यों पूरबकी ओर बढ़ने लगे, त्यों-त्यों उनकी भाषा में रेफ के स्थान पर लकार प्रयुक्त होने लगा। मूल भारोपीय भाषा में भी लकार की सत्ता थी, परन्तु ल की अपेक्षा रेफ की स्थिति अधिक थी[1]। 'हेऽरयः' के स्थान पर 'हेऽलयः' का उच्चारण प्राच्य लोग करते थे। फलतः वैदिक आर्य इस अशुद्ध उच्चारण के कारण उन्हें 'असुर' के नाम से पुकारने लगे थे[2]।

ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न मण्डलों के रचयिताओं ने स्वेच्छया शब्दरूपों को प्रयुक्त किया है। अत्रि (पंचम) मण्डल में क्रियार्थक क्रिया के लिए 'तु' प्रत्यय का प्रयोग नहीं मिलता। काण्वों ने (मण्डल ८ तथा १) ने जानबूझ

---

१. दोनों की तुलना के लिए देखिए बटेकृष्ण घोषः लिंग्विस्टिक इन्ट्रोडक्शन टू संस्कृत (कलकत्ता, १९३७) पृ० ८०-८२।

२. महाभाष्य—पस्पशाह्निक में प्रदत्त उदाहरण।

कर 'तुम्' तथा 'तवै' का प्रयोग नहीं किया। वासिष्ठ ऋषिगण (सप्तम मण्डल) पूर्वकालिक क्रिया के सूचनार्थ 'त्वा' तथा 'त्वा' प्रत्ययों के प्रति स्वाभाविक घृणा रखते हैं। इस प्रकार की विशिष्टता स्पष्टतः सूचित करती है कि ऋग्वेदीय भाषा एकाकार वाली नहीं मानी जा सकती।

अनेक सन्धियों के हो जाने पर भी उच्चारण के समय उनका विश्लेषण कर दिया जाता था। क्षैप्र (यण्) तथा प्रश्लिष्ट (दीर्घ) सन्धि होने पर उसे पुनः दो अक्षरों के रूप में उच्चारण के समय रखना आवश्यक होता था। अभिनिहित सन्धि में भी यही निमम लागू था, अर्थात् पाद के भीतर या दो पादों के भीतर उसे दो स्वरों के रूप में पुनः स्थापना आवश्यक रहता था। छन्द की विशिष्टता से पता चलता है कि एक ही पद के भीतर व्यञ्जन और रेफ के संयोग होने पर दोनों के बीच में लघुस्वर का योग करना पड़ता है। 'इन्द्र' का उच्चारण 'इन्दर' किया जाता था। 'मरुद्भिरग्न आ गहि' आदि ऋचाओं में 'अग्न' के उच्चारण में ग तथा न के बीच बड़े ही हल्के ढंग का आकार भी उच्चरित होता है—'मरुद्भिरगन आ गहि'। इ, उ, और ऋ से अन्त होने वाले शब्दों का षष्ठी-सप्तमी का द्विवचन योः, वोः तथा रोः बनता है, परन्तु उच्चारण दो अक्षरों का ही होता है।

ह्रस्व ऋकार दीर्घ ऋ का भी कार्य करता है। दृढ़ ऋढ़ के स्थान पर प्रयुक्त मिलता है, यद्यपि मुनीन् और साधून् के सादृश्य पर 'पितॄन्' में ऋकार विद्यमान है। ऋग्वेद की भाषा में प्राकृत के नियमों की भी सत्ता मिलती है। 'द्युत्' से 'ज्योतिः', उष्ट्रानाम् से उष्टानाम्, 'श्रिथिर' से 'शिथिर' का उदय प्राकृतभाषीय नियम के आधार पर है। नीड, दूडम और षोडश का रूप पूर्ववैदिक है। ऋग्वेद की भाषा में भारोपीय युग का एक बहुमूल्य अवशेष है षष्ठी बहुवचन में 'आम्' प्रत्यय का योग, जब इस पद का उच्चारण अ-अःम् रूप से करना पड़ता है।

दशम मण्डल के रचनाकाल में गोत्र मण्डल वैदिक कर्मकाण्ड की परम्परा में अन्तर्निविष्ट कर दिये गये थे, क्योंकि १०।१८१ सूक्त से बृहत्साम (६।४६।१-२) तथा रथन्तर साम (७।३२।२२-२३) के गायन का स्पष्ट उल्लेख है। ये साम क्रमशः षष्ठ तथा सप्तम मण्डल की विशिष्ट ऋचाओं पर गाये जाते हैं। दशम मण्डल की रचना में पूर्वमण्डल के मन्त्रों का निर्देश मिलता है (१० मण्डल के २०-२६ सूक्तों का आरम्भ 'अग्निमीळे' से होता है, जो प्रथम मण्डल का आदिम पद है)।

दशम मण्डल की व्याकरण सम्बन्धी विशिष्टतायें ये हैं—(क) प्राचीन मण्डल में उदात्त इ और उ सन्धि के द्वारा य और व नहीं बदलते थे, परन्तु अब यह सन्धि होने लगी। (ख) आसस् तथा आस् अकारान्त पुल्लिङ्ग बहुवचन के बनाने में बराबर संख्या में मिलते थे, लेकिन यहाँ 'आसस्' का प्रयोग कम होने लगा। (ग) पूर्वकालिक क्रिया के लिए 'त्वाय' का प्रयोग एकान्त नवीन है। (घ) 'कृणु' के स्थान पर 'कुरु' का प्रयोग प्राकृत भाषा के नियम के आधार को सूचित करता है। (ङ) नवीन शब्दों का उदय दृष्टिगोचर होता है और प्राचीन शब्द—जैसे पृत्सु, विचर्षणि तथा 'वीति'—अब प्रयोग से लुप्त हो गये। (च) 'सीम्' जो प्रथम नौ मण्डलों में ५० बार उपलब्ध होता था दशम मण्डल में केवल एक बार ही प्रयुक्त है और अथर्व से वह नितान्त अन्तर्हित है। (छ) इस मण्डल में प्रयुक्त नवीन शब्द हैं—आज्य, काल, लोहित, विजय आदि। लभ धातु का प्रयोग यहाँ नूतन है। बालखिल्य सूक्तों तथा दशम मण्डल में समान रूप से प्रयुक्त कतिपय ये शब्द हैं—मोघ, सर्व, भगवन्त, हृदय, प्राण, लोक (प्राचीन 'उलोक' के लिए जो 'उरुलोक' का संक्षिप्त रूप है)। (ग) प्राचीन निपात 'ईं' दशम मण्डल में बिल्कुल ही नहीं मिलता, परन्तु उससे कम प्राचीन निपात 'ईम्' भी केवल आधे दर्जन ही मिलता है। इस प्रकार प्राचीन मण्डलों में उपलब्ध वैयाकरण रूप अब विरल तथा दुष्प्राप्य हो गये।

(ख) सामवेद की भाषा

सामवेद में स्थित ऋग्-मन्त्रों की भाषा में प्राचीन रूपों की उपलब्धि होने से डा० लुड्विग् का अनुमान था कि सामवेदीय भाषा ऋग्वेदीय भाषा से भी प्राचीनतर साम्प्रदायिक पाठ का अनुसरण करती है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। सामवेदस्थ ऋग्वेदीय मन्त्रों में नवीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं, प्राचीनतर निपात 'ईम्' अब बहुत न्यून स्थलों में रखा गया है और उसे हटा देने की प्रवृत्ति प्रमुख है। यथा 'अभीम् ऋतस्य' (ऋग्वेद) सामवेद में 'अभृतस्य' हो गया है। पूर्वकालिक क्रिया-सम्बन्धी 'त्वी' प्रत्यय केवल दो मन्त्रों में उपलब्ध होता है, परन्तु उसे 'त्वा' के रूप में बदल दिया गया है। उदात्त 'इ' की ऋग्वेद के आरम्भ के नव मण्डलों में सन्धि नहीं होती थी, परन्तु साम में वह 'य' के रूप में परिवर्तित है। यथा 'वि अशेम देवहितम्' (ऋ० १।८९।८) सामवेद में हो जाता है='व्यशेमहि देवहितम्' जहाँ एक अक्षर की पूर्ति के लिए 'अशेम' को बदल कर 'अशेमहि' कर दिया गया है, जो अर्वाचीन है और ऋग्वेद में बिल्कुल ही नहीं मिलता।

(ग) यजुर्वेद की भाषा

भाषा की दृष्टि से वाजसनेयी संहिता से निश्चित प्राचीनतर है तैत्तिरीय संहिता। डा० कीथ का यह कथन सत्य है कि तैत्तिरीय की भाषा ऋग्वेद तथा ब्राह्मणों की भाषा के मध्यस्थित विकाश की सूचक है, यद्यपि वह ऋग्वेद की विशिष्टताओं से अधिक मिलती है। कृष्ण यजुर्वेदीय इतर संहिताओं की भाषा की भी वही दशा है। डा० श्रोदर का मैत्रायणीय तथा काठक संहिता की भाषा को प्राचीनतर सिद्ध करने का प्रयास सफल नहीं है। तैत्तिरीय के मन्त्र-भाग में, जो ऋग्वेद से स्वतन्त्र है, नवीन रूप ही मिलते हैं। यथा 'ऐ' के लिए एभिः का, एन के लिए आ, आः के लिए आसः, आनि के लिए आ का प्रयोग अवनति की ओर है। इसी प्रकार ऋग्वेदीय धातुप्रत्यय—मसि, थन, तथा तन–अब रूपों से बहिष्कृत किये जाते हैं। लुट् का प्रयोग जो ऋग्वेद में नहीं होता था अब होने लगा है (अन्वागन्ता)। तव्य और अनीयर् प्रत्ययों का अभी प्रयोग नहीं मिलता, परन्तु प्राचीन प्रत्यय आय्य और त्व एकदम अन्तर्हित हो जाते हैं। शुक्ल-यजुःसंहिता के प्राचीन भाग भी (अध्याय १–१८) तैत्तिरीय के मन्त्र-भाग से अर्वाचीन ही हैं। यह संहिता ऋग्वेदीय विशिष्टता बनाये रखती है और इसीलिए काण्व संहिता में ळ तथा ळ्ह की उपलब्धि होती है।

(घ) अथर्व का भाषा-वैशिष्ट्य

अथर्व के २० वें काण्ड में ऋग्वेद के मन्त्र, दशम मण्डल के तथा अन्य मण्डलों के ज्यों के त्यों उद्धृत किये गये हैं। इन उद्धृत मन्त्रों में दशम मंडल के मन्त्र तथा बालखिल्य सूक्त के भी मन्त्र उपलब्ध होते हैं, जो निश्चित रूप से परवर्ती काल की रचना माने जाते हैं। अथर्व का २० काण्ड, सूक्त ५१ के प्रथम दो मन्त्र बालखिल्य सूक्त (८।४९) के आदिम दोनों मन्त्र हैं तथा तीसरा चौथा मन्त्र द्वितीय बालखिल्य (८।५०) की प्रथम दोनों ऋचायें हैं। इस प्रकार अथर्व का २० वाँ काण्ड भाषा की दृष्टि से महत्त्वहीन है। प्रथम १९ काण्डों में ऋग्वेद का लगभग सप्तमांश उद्धृत है। यहाँ उद्धृत ऋग्वेदीय मन्त्रों के पाठभेद बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इनका विश्लेषण अवान्तरकालीन प्रवृत्तियों का पर्याप्त सूचक है :—

अथर्व वेद के समय उच्चारण में भी अन्तर पड़ने लगा। ऋग्वेद के विशिष्ट उच्चारण अब समाप्त हो जाते हैं और लौकिक संस्कृत का उच्चारण ही दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेदीय विशिष्ट व्यञ्जन ळ और ळ्ह अन्तर्हित हो जाते हैं और इनके स्थान पर अवान्तरकालीन ड और ढ उपलब्ध होने लगते हैं। ऋग्वेद के उद्धृत

मन्त्रों में भी यह पार्थक्य लक्षित होता है। 'वि शत्रून् ताळ्हि वि मृधो नुदस्व' (ऋ० १०।१८०।२) का 'ताळ्हि' पद 'ताढि' के रूप में उद्धृत किया गया है (अथर्व ७।८४।३); 'स्योन' का उच्चारण ऋग्वेद में त्र्यक्षरात्मक था, परन्तु अथर्व में वह लौकिक संस्कृत के अनुरूप द्व्यक्षरात्मक ही उच्चरित होने लगता है। ऋग्वेद का 'ग्रभ्' धातु न प्रत्यय के द्वारा संयुक्त होने पर 'ग्रह्' के रूप में परिवर्तित हो जाता है (गृभ्णामि = गृह्णामि)।

सुप् प्रत्ययों में अकारान्त पुल्लिङ्ग के तृतीया बहुवचन में 'ऐः' और 'एभिः' दोनों प्रत्ययों का प्रयोग ऋग्वेद में संख्या में प्रायः बराबर होता था; अथर्व में 'ऐः' का प्रयोग २६३ बार तथा 'एभिः' का प्रयोग केवल ५३ बार ही मिलता है। ऋग्वेद का बहुवचनान्त पद 'पन्थाः' अथर्व में 'पन्थानः' बन जाता है (सम्भवतः 'अध्वानः' के मिथ्या सादृश्य पर)। एक स्थान पर तो छन्दो-भङ्ग होने पर भी ऋग्वेदीय मन्त्र का 'पन्थाः' 'पन्थानः' के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। 'अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थाः' (ऋक् १०।८५।२३ क) उद्धृत होने पर 'अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानः' (अथर्व १४।१।३४ क) रूप ग्रहण कर लेता है, यद्यपि इस पद-परिवर्तन में छन्दो-भङ्ग नितान्त स्पष्ट है। 'वान्स्' प्रातिपदिक का सम्बोधन के एकवचन में रूप 'वः' में अन्त करता है, अथर्व में 'वन्' में (चिकित्वः—ऋग् = चिकित्वन्—अथर्व)। इसी प्रकार 'वन्त्' प्रातिपदिकों के सम्बोधन एकवचन की दशा है (भगवः, ऋक् = भगवन्, अथर्व)।

कृदन्त के रूप में भी अन्तर है। ऋग्वेद में पूर्वकालिक क्रिया के द्योतनार्थ 'त्वाय' अथवा 'त्वी' का प्रयोग होता है, परन्तु अथर्व में नियमतः इन दोनों के स्थान पर 'त्वा' प्रत्यय की ही उपलब्धि होती है। (ऋग्वेद का 'हित्वाय' तथा 'भूत्वी'=अथर्व में क्रमशः 'हित्वा' और 'भूत्वा')। तिङन्त प्रत्ययों में पार्थक्य है। लेट् लकार के मध्यम पुरुष एकवचन का ऋग्वेद में प्रत्यय है 'असे' (वर्धासे), परन्तु अथर्व में 'असै' प्रत्यय उसका स्थान ले लेता है ('नयासै' जो ब्राह्मणों में प्रयुक्त मिलता है)। अन्यपुरुष के एकवचन का परस्मैपदी प्रत्यय ऋग्वेद में 'अते' है और यही अथर्व में 'अतै' बन जाता है (ऋग्वेद में 'श्रमाते' = अथर्व में 'श्रमातै')। दो धातुओं के योग से सम्पन्न लिट् लकार (Periphrastic perfect) अथर्व में ही मिलता है। एक ही प्रयोग उपलब्ध है। 'मृत्युर्ममस्यासीद् दूतः प्रचेताः, असून् पितृभ्यो गमयां चकार' (अथर्व १८।२।२७) में 'गमयां चकार' इसी संयुक्त लिट् का नव्य प्रयोग है। इसी प्रकार लुट् का भी प्रयोग अथर्व से ही आरम्भ होता है (अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति—अथर्व

६।१२३।१ ग, २ ग)। अथर्व में कृत्य प्रत्यय का प्रयोग नया है। 'तव्य' तथा 'अनीयर' का प्रथम प्रयोग यहीं उपलब्ध होता है। अथर्ववेद की भाषा में ब्राह्मण ग्रन्थों तथा ऋग्वेद की भाषा को जोड़ने वाली शृंखला यहाँ स्पष्टतः उपलब्ध होती है।

(ङ) ब्राह्मणों की भाषा

ब्राह्मण गद्यात्मक हैं। वे लोकव्यवहार में आनेवाली बोल-चाल की संस्कृत के बड़े ही सुन्दर रूप प्रस्तुत करते हैं। शतपथ तथा जैमिनीय ब्राह्मण का गद्य साहित्यिक शैली में निबद्ध रोचक गद्य का भव्य दृष्टान्त है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के वैयाकरण वैशिष्ट्य के प्रधान उदाहरण ये हैं—(क) स्त्रीलिङ्ग शब्दों के पञ्चमी तथा षष्ठी एकवचन में 'आः' के स्थान पर 'ऐ' का प्रयोग (भूम्याः' के स्थान पर 'भूम्यै' का प्रयोग जो अथर्व के गद्य में भी विद्यमान है)। जैमिनीय में यह रूप पूर्णतया उपलब्ध होता है, यद्यपि काण्वों के शतपथ में इसका पूर्ण अभाव है। (ख) 'अन्' मे अन्त होने वाले शब्दों की सप्तमी एकवचन में सर्वत्र 'इ' प्रत्यय जोड़ा मिलता है, केवल अहन् और आत्मन् ही इसके अपवाद हैं। (ग) 'मा' के योग में ही भूतकालिक उपकरण अट् और आट् धातु के आदि में नहीं जोड़े जाते हैं और ब्राह्मणों में इन्जंकूटिभ का यही रूप अवशिष्ट है। (घ) कर्तृवाचक निष्ठा प्रत्यय 'तवत्' का कभी-कभी प्रयोग होने लगता है। (ङ) 'ईश्वर' शब्द के साथ तुमुन् के लिए 'तोः' का प्रयोग मिलता है। (च) 'रूपं करोति' का प्रयोग 'होना' के अर्थ में ब्राह्मणों का वैशिष्ट्य है। (छ) भूतकालिक लकारों का बहुत प्रयोग बड़ी सूक्ष्मता के साथ मिलता है। लिट् मे द्वित्व-करण पर्याप्त रूप में है। लुङ् का प्रयोग साक्षात् कथन में ही विशेष है। वर्णन के निमित्त लङ् ही विशेष प्रयुक्त है। (ज) कृ के योग से जो लिट् की रूप-निष्पत्ति अथर्व से आरम्भ होती है वह यहाँ व्यापक रूप धारण करती है, परन्तु लौकिक संस्कृत के समान 'भू' और 'अस्' का योग अभी यहाँ नहीं होता। पाणिनि ने ब्राह्मणों की भाषा के इन वैशिष्ट्यों का गम्भीर संकेत किया है। (झ) ग्रीक तथा लैटिन भाषा के आदर्श गद्य तथा वर्तमान जर्मन भाषा के समान निपात, नियमतः कारक से पूर्व ही प्रयुक्त होता है। इस विषय में ब्राह्मणों का गद्य ग्रीक और लैटिन गद्य से पार्थक्य रखता है। ब्राह्मणों में प्रयुक्त ४१ उपसर्गों में केवल १२ ऐसे हैं जो सर्वदा कारक के पूर्ववर्ती रखे जाते हैं और इस दृष्टि से ये वास्तव में उपसर्ग हैं। ऐसे उपसर्ग ये हैं—आ, साकम्, उपरि, तिरः, पश्चात्, अवस्तात्, अधस्तात्, प्राक्, प्राङ्, अर्वाक्, पराचीनम्, अवाङ् (१२)। अन्य अव्ययों का स्थान कारक के

पश्चात् ही किया गया मिलता है। शतपथ-ब्राह्मण में यह वैशिष्ट्य अधिकतर दृष्टिगोचर होता है। अन्य ब्राह्मणों में कारकों से पूर्ववर्ती स्थान ही इन अव्ययों का है। 'अधि नु ह वै शश्वद् अस्मिन्नेव लोकेऽसौ लोकः' (जै० ब्रा० १०३) यहाँ अधि और लोके के बीच में छः पदों का व्यवधान है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उपसर्ग कारक-पदों का केवल सहायक नहीं माना जाता था, प्रत्युत उसकी स्वतन्त्र सत्ता थी। यह तथ्य बड़े महत्त्व का है[1]। कभी-कभी एक ही अव्यय परसर्ग का काम करता है और कभी उपसर्ग का। जैसे 'ऋते' का दोनों रूप—ऋते वाचः (वाक् के विना; शांख्या० २।७), प्राणेभ्य ऋते (शतपथ ९।२।१।१५)। ऊर्ध्व का द्विविध प्रयोग—'ऊर्ध्वम् अन्तरिक्षात्' और 'प्रणीतादूर्ध्वम्'। ऋते अन्तरा, उपरिष्टात् , ऊर्ध्वम् , पुरस्तात् , पुरः—इनका प्रयोग लौकिक संस्कृत में परसर्ग के रूप में ही मिलता है और इस प्रवृत्ति का उदय ब्राह्मणयुग में ही हो गया था। परसर्ग के विशेष प्रयोग शतपथ-ब्राह्मण में अधिकतर उपलब्ध होते हैं।

(च) उपनिषदों की भाषा

उपनिषदों की भाषा वैदिक संस्कृत की अपेक्षा लौकिक संस्कृत से विशेष साम्य रखती है; तथापि प्राचीनता के कतिपय चिह्न मिलते हैं। संहिता-भाषा के विशिष्ट लकार लेट् का नितान्त अभाव है, परन्तु प्राचीन उपनिषदों में कतिपय प्रयोग मिलते हैं। आत्मनेपद और परस्मैपद का प्रयोग अभी तक निश्चित धातुओं के साथ नहीं है। एक ही धातु से दोनों प्रत्यय जोड़े जाते हैं। साहित्यिक दृष्टि से यह भाषा बड़ी सरस तथा प्राञ्जल है। कतिपय विशिष्टतायें—(क) सीधी घरेलू उपमाओं तथा रूपकों की बहुलता; (ख) गाढ़ ग्रहण तथा स्मरण के निमित्त उन्हीं शब्दों में किसी विचार की आवृत्ति; (ग) रोचकता की अभिवृद्धि के लिए बड़ी सूक्ष्म बातों का वर्णन; (घ) नीरस आध्यात्मिक विवरण से पहिले ध्यान आकृष्ट करने के लिए छोटी कहानियाँ; (ङ) मनोवैज्ञानिक पद्धति पर विषय का विवेचन तथा श्रद्धा उत्पन्न करने वाले लौकिक विश्वासों के द्वारा दार्शनिक तथ्य की पुष्टि। इन्हीं विशेषताओं के कारण उपनिषदों का विवेचन भाषा तथा भाव उभय दृष्टियों से हृदयावर्जक तथा आकर्षक है।

श्रुतीनां तथ्यसर्वस्वं व्याकृत्या समन्वितम्।
समर्प्यत इदं भक्त्या विश्वनाथपदाम्बुजे॥

---

१. Annas of Bhandarkar Institute भाग २१, १९४२, पृ० ६३३–६५६। डा० सिद्धेश्वर वर्मा का यह विस्तृत लेख वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

(मूल ग्रन्थ)

१. ऋग्वेद—मैक्समूलर सम्पादित, लण्डन, चौखम्भा वाराणसी; वैदिक संशोधन मण्डल पूना; स्वाध्यायमण्डल पारडी।
२. मैत्रायणी संहिता—श्रेडर सम्पादित, लेपजिग १८८८
३. तैत्तिरीय संहिता—महादेवशास्त्री सम्पादित, मैसूर १८८४
४. वाजसनेयी संहिता—वेबर-सम्पादित, बर्लिन १८५२; लक्ष्मणशास्त्री-सम्पादित, बम्बई १८९४
५. काठकसंहिता—श्रेडर सम्पादित, लेपजिग १९००
६. सामवेद—थ्योडरबेनफे-सम्पादित, लेपजिग १८४८
७. यजुर्वेद—उव्वट-महीधर-भाष्यसहित, चौखम्भा १९१२
८. अथर्ववेद—राथ-ह्विटने सम्पादित, बर्लिन १८५६; सतवलेकर, पारडी १९५७
९. कपिष्ठल कठसंहिता—डा० रघुवीर सम्पादित, लाहौर १९३२
१०. ऐतरेय ब्राह्मण—ए० हाग सम्पादित, बम्बई १८६३; सत्यव्रत सामश्रमी सम्पादित, कलकत्ता १८९५
११. आर्षेय ब्राह्मण—बर्नेल सम्पादित, मंगलोर १८७६
१२. पञ्चविंश ब्राह्मण—आनन्दचन्द्र सम्पादित, कलकत्ता १८७०
१३. शतपथ ब्राह्मण—वेबर-सम्पादित, लाइपजिग १९२४; चौखम्भा १९६५; वेंकटेश्वर १९४०
१४. कौषीतकि ब्राह्मण—लिण्डेनर-सम्पादित, जेना १८८७
१५. तैत्तिरीय ब्राह्मण—सामशास्त्री सम्पादित, मैसूर १९२१
१६. वंश ब्राह्मण—सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता १८९२; केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति १९६५
१७. दैवत ब्राह्मण—जीवानन्द, कलकत्ता; तिरुपति १९६५
१८. जैमिनीय ब्राह्मण—रघुवीर-सम्पादित, नागपुर १९५४
१९. छान्दोग्य ब्राह्मण—दुर्गामोहनभट्टाचार्य-सम्पादित, कलकत्ता १९५८
२०. काण्व शतपथ (प्रथमकाण्ड)—कैलेण्ड सम्पादित, लाहौर

२१. संहितोपनिषद् ब्राह्मण—बर्नेल सम्पादित, मंगलोर तिरुपति १९६५
२२. गोपथ ब्राह्मण—गास्ट्रा सम्पादित, लीडेन १९१९
२३. अथर्वणपोनिषद्—जैकोब सम्पादित, बम्बई १८९१
२४. ऋक्प्रातिशाख्य—मंगलदेवशास्त्री-सम्पादित, इलाहाबाद १९३१
२५. अथर्वप्रातिशाख्य—सूर्यकान्तशास्त्री-सम्पादित, लाहौर १९३९
२६. ऋक्तन्त्रम्—सूर्यकान्तशास्त्री-सम्पादित, लाहौर १९३३
२७. काठकसंकलन—सूर्यकान्तशास्त्री-सम्पादित, लाहौर १९४३
२८. पुष्पसूत्र—चौखम्भा १९२२
२९. तैत्तिरीयप्रातिशाख्य—रंगाचार्य, मैसूर १९०६
३०. वाजसनेयिप्रातिशाख्य—युगलकिशोरपाठक, बनारस १८८८
३१. आश्वलायनश्रौतसूत्र—मंगलदेवशास्त्री, बनारस १९३८
३२. आश्वलायनगृह्यसूत्र—स्टेंज़लर, लेपजिग १८६४; हरदत्तभाष्यसहित, ट्रिवेण्ड्रम १९२३; गार्ग्यनारायण की टीकासहित, कलकत्ता १८९३
३३. अग्निवेश्यगृह्यसूत्र—रविवर्मा, ट्रिवेण्ड्रम १९४०
३४. आपस्तम्बगृह्यसूत्र—चिन्नस्वामी, बनारस १९२८; विन्तरनित्स वियना, १८८७; महादेवशास्त्री, मैसूर १८९३
३५. आपस्तम्बधर्मसूत्र—महादेवशास्त्री
३६. आपस्तम्बशुल्बसूत्र—श्रीनिवासाचार्य, मैसूर १९३१
३७. ,, श्रौतसूत्र—आर० गार्बे, कलकत्ता १८८२; चिन्नस्वामी, बड़ौदा १९५५
३८. बैजवापगृह्य—सं० भगवद्दत्त, लाहौर १९२८
३९. बोधायनगृह्यसूत्र—सं० श्रीनिवासाचार्य, मैसूर १९०४
४०. ,, धर्मसूत्र—चिन्नस्वामी, बनारस १९३४
४१. ,, पितृमेधसूत्र—कैलेण्ड, लेपजिग १८९६
४२. ,, शुल्बसूत्र—कैलेण्ड, कलकत्ता १९१३
४३. ,, श्रौतप्रवर ,, ,, १९१३
४४. ,, श्रौतसूत्र ,, ,, १९१३
४५. भरद्वाजगृह्यसूत्र—सोलोमन, लीडेन १९१३
४६. ,, श्रौतसूत्र (अपूर्ण)—रघुवीर, लाहौर १९३६
४७. द्राह्यायणगृह्यसूत्र—गणेशशास्त्री, पूना १९१४; मुजफ्फरपुर १९३४

४८. द्राह्यायणश्रौतसूत्र—जे० रायटर, लण्डन १९०४
४९. कात्यायनश्रौतसूत्र—विद्याधरशर्मा, बनारस १९२८
५०. ,, शुल्बसूत्र—चौखम्भा १९०९
५१. कौशिकगृह्यसूत्र—चिन्नस्वामी, मद्रास १९४४; ब्लूमफील्ड, जर्नल आफ ओरियण्टल रिसर्च सोसाइटी अमेरिका, भाग १४, ई० १८८९
५२. काठकगृह्यसूत्र—कैलेण्ड, लाहौर १९२५
५३. क्षुद्रसूत्र—कैलेण्ड, लेपजिग १९०८; राजाराम, लाहौर १९२१
५४. गोभिलगृह्यसूत्र—सी० भट्टाचार्य, कलकत्ता १९३५; यू० एन० सिंह, मुजफ्फरपुर १९०६
५५. गौतमधर्मसूत्र—स्टेंजलर, लण्डन १८७६; श्रीनिवासाचार्य, मैसूर १९१७
५६. गौतमपितृमेध—कैलेण्ड, लीपजीग, १८७६
५७. जैमिनीयगृह्यसूत्र—कैलेण्ड, लाहौर १९२२
५८. जैमिनीयश्रौतसूत्र—डी० गास्ट्रा, लीडेन १९०६
५९. ,, सूत्रपरिशिष्ट—गास्ट्रा, लीडेन १९०६
६०. ,, सूत्रकारिका ,, ,, १९०६
६१. ,, श्रौतसूत्र ,, ,, १९०६
६२. लाट्यायन श्रौतसूत्र—कलकत्ता १९०२; चौखम्भा १९३३
६३. मानवगृह्यसूत्र—बड़ौदा १९२६
६४. ,, श्रौतसूत्र—नावर (Knauer) सेन्ट पेटर्सवर्ग १९००
६५. पारस्करगृह्यसूत्र—चौखम्भा, बनारस
६६. पिङ्गलसूत्र—जीवानन्द १८९२
६७. वाराहगृह्यसूत्र—रघुवीर, लाहौर १९३२
६८. वसिष्ठधर्मसूत्र—फुहरू, बम्बई १९१६
६९. बाधूलश्रौतसूत्र—कैलेण्ड, १९२४-२८
७०. वैखानसगृह्यसूत्र—कैलेण्ड, कलकत्ता १९२६
७१. ,, श्रौतसूत्र— ,, ,, १९४१
७२. ,, धर्मसूत्र—रंगाचार्य, मैसूर, मद्रास
७३. वैतानसूत्र—रिचार्ड गार्बे, लण्डन, १८७८
७४. शांख्यायनगृह्यसूत्र—ओल्डेनबर्ग, लीपजिग १८७८
७५. हिरण्यकेशीगृह्यसूत्र—क्रिस्टे, वियना १८८५

७६. सत्याषाढश्रौतसूत्र—आनन्दाश्रम १९०७
७७. शांख्यायनश्रौतसूत्र—हिलब्राण्ट, कलकत्ता १८८८
७८. ऋग्वेदानुक्रमणी—मैकडानल, आक्सफोर्ड १८८६
७९. अथर्ववेदीयबृहत्सर्वानुक्रमणी—रामगोपाल, लाहौर १९२२
८०. सामवेदीय सर्वानुक्रमणी (नेगेयी शाखा)—वेबर, लीपजिग, १८८५
८१. शुक्लयजुःसर्वानुक्रमणी—बनारस १८९३
८२. अथर्वपरिशिष्ट—बोलिंग तथा नेगलिन। लीपजिग १९०९
८३. शिक्षासंग्रह—बनारस संस्कृत सीरिज १८७३
८४. निरुक्त—राजवाडे, पूना १९०४
८५. बृहद्देवता—मैकडानल १९०४ (हारवर्ड), हिन्दी अनु० चौखम्भा १९६४

—×—

वेदविषयक व्याख्याग्रन्थ

रघुनन्दनशर्मा—वैदिक सम्पत्ति (द्वितीय सं०, १९९६; प्रकाशक सेठ शूरजी वल्लभदास बम्बई)

विन्टरनित्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर (प्रथम भाग) वैदिक साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) (नवीन सं०, चौखम्भा काशी १९६४)

मैकडानेल—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (आरम्भिक नौ परिच्छेद) इसका हिन्दी अनुवाद (दिल्ली)

वेबर—हिन्दी आफ इण्डियन लिटरेचर (प्रकाशक—चौखम्भा विद्याभवन, काशी १९६६)

मैक्समूलर—हिस्ट्री आफ एनसिएन्ट संस्कृत लिटरेचर (पुनर्मुद्रण—पाणिनि आफिस इलाहाबाद)

मैकडानेल और कीथ—वेदिक इंडेक्स (हिन्दी अनुवाद) दो भागों में, (प्रकाशक—चौखम्भा विद्याभवन, काशी १९६५)

सूर्यकान्तशास्त्री—वैदिक कोश (प्रकाशक हिन्दी विश्वविद्यालय, १९६५)

कीथ—रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ वेद एण्ड उपनिषद् (हिन्दी अनुवाद) दो भाग (प्रकाशक-मोतीलाल बनारसीदास, १९६६)

ब्लूमफील्ड—रिलीजन आफ दी वेद
सत्यव्रत सामश्रमी—त्रयी परिचय (कलकत्ता)
,, ,, ,, निरुक्तालोचनम् (कलकत्ता)
,, ,, ,, ऐतरेयालोचनम् (कलकत्ता)
ब्लूमफील्ड—अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण (हिन्दी अनुवाद) (प्रकाशक—चौखम्भा विद्याभवन काशी, १९६५)
मैकडोनल—वैदिक माइथोलाजी (हिन्दी अनुवाद) (प्रकाशक—चौखम्भा विद्याभवन, काशी, १९६४)
लूईरेनो—वैदिक इण्डिया
,, ,, वैदिक बिब्लीओग्राफी (पेरिस)
आर० एन० दाण्डेकर—वैदिक बिब्लीओग्राफी (पूना)
घाटे—लेक्चर्स आन ऋग्वेद (पूना)
,, वैदिक एज (प्रकाशक—भारतीय विद्याभवन, बम्बई) डा० म्यूर—ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स के पाँच भागों का हिन्दी अनुवाद। मूल संस्कृत उद्धरण भाग १ तथा २ प्रकाशित; (चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४)
मेकडानेल—दी वेदिक ग्रामर (स्ट्रासबुर्ग, जर्मनी)
,, दी वेदिक ग्रामर फार स्टूडेन्ट्स (आक्सफोर्ड)
,, दी वेदिक रीडर (आक्सफोर्ड)
आरनाल्ड—दी वेदिक मीटर (,,)
डा० रामगोपाल—सोशल कन्डिशन इन गृह्यसूत्रज (दिल्ली)
,, वैदिक व्याकरण (प्रथम खण्ड) दिल्ली।
भगवतशरण उपाध्याय—ओमैन इन दी ऋग्वेद (प्रो० नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, काशी)

BARTH, A, The Religions of India. London, 1882

BENFEY, T., in J. S. Ersch and J. G. Gruber, Allgemeine Encyklopadie der Wissenschaften and Kunste, II. xvii. 185–213 Leipzig, 1840.

COLEBROOKE, H. T., Essays. Revised ed. by W. D. Whitney. 2 Vols. London, 1871–72.

COLEMAN, Co, Mythology of the Hindus. London,1832

COOMARASWAMY, A. K., Mediaeval Sinhalese Art. London, 1908.
The Arts and Crafts of India and Ceylon. London, 1913.

EGGELING, H. J., "Brahman," in Encyclopadia Britannica, 11th ed., iv. 378–79.
"Brahmanism," in Encyclopadia Britannica, 11th ed., iv. 381–87.
"Hinduism," in Encyclopadia Britannica, 11th ed., xiii. 501–13.

FERGUSSON, J., Tree and Serpent Worship. 2nd ed. London, 1873.
History of Indian and Eastern Architecture. London, 1878. Revised ed. By J. Burgess and R. Phene Spiers. 2 vols. London, 1910.

FRAZER, R.W., Indian Thought Past and Present. London, 1915.

GARBE, R., Indian und das Christentum. Tubingen, 1914.

GRISWOLD, H. DEWITT, Brahman : A study in the History of Indian Philosophy. New York, 1900.

HAVELL, E.B., Indian Sculpture and Painting. London, 1908.

The Ideals of Indian Art. London, 1911.

The Ancient and Medieval Architecture of India. London, 1915.

HOPKINS, E.W., The Religions of India, Boston, 1895.

India Old and New. New York, 1901.

LASSEN, C., Indische Alterthumskunde. 4 vols. Bonn and Leipzing, 1847–61, 2nd ed. of i–ii. Leipzig, 1867–73.

LYALL, A.C., Asiatic Studies. 2 series. London, 1882–99.

MACDONELL, A.A., Sanskrit Literature. London, 1900.

MACNICOL, N., Indian Theism. Oxford, 1915.

MONIER-WILLIAMS, Sir M., Brahmanism and Hinduism. 4th ed. London, 1891.

Indian Wisdom. 4th ed. London, 1893.

MOOR, E., The Indian Pantheon. London, 1810. New ed. by W.O. Simpson. Madras, 1897.

MOORE, G.E., History of Religions, chh. xi-xiv. Edinburgh, 1913.

MUIR, J., Original Sanskrit Texts on the Origin and History of the People of India, their Religion and Institutions. 5 vols. London, 1858–72. 3rd ed. of i, London, 1890; 2nd

ed. of ii, 1871; 2nd ed. of iii, 1868; 2nd ed. of iv, 1873; 3rd ed. v, 1884.

MULLER, F. MAX—Lectures on the Origin and Growth of Religion. London, 1878.
Contributions to the Science of Mythology. 2 vols. London 1897.

NOBLE, M. E., and COOMARASWAMY, A. K., Myths of the Hindus and Buddhists. London, 1913.

OLDHAM, C. F., The Sun and the Serpent. London, 1905.

OLTRAMARE, P., L'Histoire des idees theosophiques dans l'Inde. Paris, 1906.

OMAN, J. C., The Brahmans, Theists and Muslims of India. London, 1907.

ORELLI, C. von, "Indische Religionen," in Allgemeine Religions-geschichte, ii. 4-140. 2nd ed. Bonn, 1911-13.

SMITH, V.A., History of Fine Art in India and Ceylon. London, 1911.

SPIEGEL, F., Die arische Periode. Leipzig, 1881.

WARD, W., A View of the History, Literature and Mythology of the Hindoos. 5th ed. Madras, 1863.

WHITNEY. W.D., Oriental and Linguistic Studies. 2 vols. New York, 1873-74.

WILKINS. W.J., Hindu Mythology. 2nd ed. Calcutta, 1882.

WILSON, H.H., Works, ed. R. Rost. 7 vols. London, 1861-62.

WINTERNITZ, M., Geschichte der indischen Litteratur. 2 vols. Leipzig, 1905-13.

NURM, P., Geschichte der indischen Religion. Basel, 1874.

BERGAIGNE, A., La Religion vedique. 4 vols. Paris, 1817–83.

BLOOMFIELD, M., The Religion of the Veda. New York, 1908.

COLINET, P., "Le symbolisme solaire dans le Rig-Veda," in Melanges Charles de Harlez, PP. 86–93. Leyden, 1896.

DEUSSEN, P., Philosophie des Veda (Allgemeine Geschichte der Philosophie mit besonderer Berucksichtigung der Religionen, i, Part I). 3rd ed. Leipzig, 1915.

HARDY, E., Die vedisch-brahmanische Periode der Religion des alten Indians. Munster, 1893.

HENRY, V., La Magie dans L'Inde antique. 2nd ed. Paris, 1909.

HILLEBRANDT, A., Vedische Mythologie. 3 vols. Breslau, 1891–1902.

HOPKINS, E. W., "Henotheism in the Rig-Veda," in Classical Studies in Honour of Henry Drisler, pp. 75–83. New York, 1894.

"The Holy Numbers of the Rig-Veda," in Oriental Studies. A Selection of the Papers Read before the Oriental Club of Philadelphia, pp. 141–59. Boston, 1894.

KAEGI. A., Der Regveda. 2nd ed. Leipzig, 1881. English translation by R. Arrowsmith. Boston, 1886.

KUHN, A., Die Herabkunft des Feuers und des Gottertranks. 2nd ed. Gutersloh, 1886.

LEVI, S., La Doctrine du sacrifice dans les brahm·anas. Paris, 1898.

MACDONELL, A. A., Vedic Mythology. Strassburg, 1897.

MACDONELL, A. A., and KETTH, A. B., Vedic Index of Names and subjects. 2 vols. London, 1912.

OLDENBERG ? H., Die Religion des Veda. Berlin, 1894.

PISCHEL. R., and Geldner, K., Vedische Studien. 3 vols. Stuttgart, 1887–1901.

ROTII, R., "Die hochsten Gotter der arischen Volker." in ZDMG vi. 67–77 (1852).

SANDER, F., Rigveda und Edda. Stockholm, 1893.

SCHROEDER, L. von, Indiens Literature und Kultur. Leipzig, 1887.

Mystérium und Mimus in Regveda. Leipzig, 1908.

SIEG. E., Die Sagenstoffe des Rgveda. Stuttgart, 1902.

DE LA VALLEE Poussin, L., Le Vedisme. Paris, 1909.

Le Brahmanisme. Paris, 1910.

WEBER, A., "Vedische Beitrage," in Sitzungsberichte der koniglich preussischen Akademie der Wissenschaften, 1894–1901.

WALLIS, H. F., Cosmology of the Regveda. London, 1887.

HOPKINS, E. W., "Dyaus, Visnu, Varuna, and Rudra," in Proceedings of the American Oriental Society, 1894, pp. cxlv–cnlvii.

HILLEBRANDT, A., Varuna und Mitra. Breslau, 1877.

OLDENBERG, H., "Varunna und die Adityas," in ZDMG l.43–68 (1896).

EGGERS, A., Der arische Gott Mitra. Dorpat, 1894.

PERRY, E. D., "Notes on the Vedic Deity Pusan," in Classical Studies in Honour of Henry Drisler, pp. 240–43. New York, 1894.

HOPKINS, E. W., "Indra as the God of Fertility." in JAOS xxxvi, 242–68 (1917).

PERRY, E. D., "Indra in the Rigveda," in JAOS xi. 117–208 (1885).

MACDONELL, A. A., "The God Trita," in JRAS 1893, pp. 419–96.

KEITH, A. B., "The Vratyas," in JRAS 1913, pp. 155–60.

KEITH, A. B., "Some Modern theories of Religion and the Veda," in JRAS 1907, pp. 929–49.

MACDONELL, A. A., "Mythological Studies in the Rigveda," in JRAS 1895, pp. 168–77.

BLOOMFIELD, M., "Contributions to the Interpretation of the Veda," in JAOS xv. 143–63 (1893).

MULLER, F. Max, India, What can it teach us ? pp. 133–38. London, 1883.

GELDNER, K., "Yama und Yami, "in Gurupuja-kaumudi, Festgabe Albrecht Weber, pp. 19–22. Leipzig, 1896.

KETTH. A. B., "Pythagoras and the Doctrine of Transmigration." in JRAS 1909, pp. 569–606.

SCHERMAN, L., Materialien Zur Geschichte der indischen Visionslitteratur. Leipzig, 1892.

Raghavan, V.–Indian Heritage : An Anthology of Sanskrit litrature (UNESCO collection of Representative works) Bangalore 1956.

Raghuvir : Vedic Mysticism (International Academy of Indian Culture, Nagpur)

Law. B. C.–Indological studies, Calcatta 1952

Renon. L.–Sanskit et culture : L'apport de L'Irde a La civilisation humaine Paris, 1950.

Srauta kosha (Vaidika samsodhana Mandal, Poona, 1958)

James, E. I.–Religions of the East.

Mehta, P. D.–Early Indian Religious Thonght. London, 1956

Gowen H. H :–A History of Indian litreature from Vedic Times to the Present day (Appleton, New york, 1931.)

Dandekar, R. N. : Vedic Bibliography
Vol. I (Karnat Publishing House, Bombay, 1946)
Vol II (University of Poona, Poona, 1961)

विशिष्टशब्दानुक्रमणी

भौगोलिक पद-सूची

*

ऐतिहासिक-सूची

ग्रन्थकार-सूची

पुस्तक-सूची